संस्कृत-नाटक

[उद्भव और विकास : सिद्धांत और प्रयोग]

मूल लेखक
A. BERRIEDALE KEITH

भाषांतरकार
डा० उदयभानु सिंह
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

© मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
नेपाली खपरा, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
बांकीपुर, पटना-४ (बिहार)

By arrangement with
M/s. OXFORD UNIVERSITY PRESS

प्रथम रूपान्तर १९६५

श्री शांतिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
द्वारा मुद्रित तथा श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा-मंत्रालय के तत्त्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महँगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी-पाठक उन्हें खरीदकर पढ़ सकें। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं, उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशकों को या तो वित्तीय सहायता प्रदान करती है अथवा निश्चित संख्या में, प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ खरीद कर उन्हें मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद और कापीराइट इत्यादि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है तथा इसमें वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है, यह योजना सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय होगी।

विश्वनाथ प्रसाद
सदस्य-सचिव

वैज्ञानिक तथा तकनीकी
शब्दावली आयोग

प्राक्कथन

प्रोफ़ेसर सिल्वन लेवी (Sylvain Levi) की प्रशंसनीय कृति Lé théatre Indien को प्रकाशित हुए बत्तीस वर्ष बीत चुके हैं। उस कृति में प्रथम बार भारतीय नाटक और नाट्य-शास्त्र के उद्भव और विकास का विशद रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया था। तब से महान् बौद्ध कवि अश्वघोष के नाटकों के महत्त्वपूर्ण अंश और यशस्वी भास के नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनसे भारतीय नाटक के प्रारंभिक इतिहास पर अप्रत्याशित प्रकाश पड़ा है। प्रोफ़ेसर वान श्रेडर, पिशेल, हर्टल, सर डब्ल्यू० रिज्वे, लूडर्स, कोनो और स्वयं मेरे द्वारा नाटक के उद्भव के प्रश्न पर विस्तृत अनुसंधान किया गया है। अतएव अब समय आ गया है कि अधुना उपलब्ध नयी सामग्री के प्रकाश में संस्कृत-नाटक के उद्भव और विकास की फिर से छानबीन की जाए।

प्रतिपाद्य विषय को परिमित परिधि में ही प्रस्तुत करना था, अतः मैंने अपने को संस्कृत अथवा प्राकृत नाटक तक ही सीमित रखा है, और जनपदीय भाषाओं के नाटकों का निर्देश नहीं किया है। नाट्य-शास्त्र के निरूपण में मैंने उन महत्त्वहीन सूक्ष्म विवरणों को भी छोड़ दिया है जो केवल उपविभाजन और वर्गीकरण की दृष्टि से ही रोचक प्रतीत हुए। ऐसा करते हुए मैंने विशेष संकोच का अनुभव नहीं किया, क्योंकि मुझे इस बात में संदेह नहीं है कि मूल्यवान् एवं गंभीर भारतीय काव्य-शास्त्र मूल-ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन बातों के गड्डमड्ड उपस्थापन के कारण ही मान्यता प्राप्त करने में असफल रहा। नाटक के विकास का अध्ययन करते समय मैंने महान् लेखकों और पहली सहस्राब्दी तक के नाटककारों को महत्त्व दिया है। परवर्ती रचनाओं में से कतिपय प्रकारात्मक नमूने ही विवरण के लिए चुने गये हैं। उन रूपकों का विवेचन अनावश्यक प्रतीत हुआ जो मुख्यतः प्राचीन आदर्शों एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों पर अत्यंत निर्भर दिखायी देते हैं, और जिनका प्रमुख गुण (यदि कोई है तो) पद्य-रचना के कौशल तथा अभिरुचि में पाया जाता है। श्री Montgomery Schuyler की Bibliography of the Sanskrit Drama (१९०६) एवं प्रोफ़ेसर कोनो की कृति में रूपकों की महत्त्वपूर्ण सूची समाविष्ट है, इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ में उल्लिखित रूपकों के अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा सुलभ संस्करणों और इन रचनाओं के उपरांत प्रकाशित कृतियों का निर्देश मात्र किया गया है। इससे अधिक कुछ करना अनावश्यक प्रतीत हुआ।

यद्यपि स्थान की कमी के कारण इस ग्रंथ में नाटककारों की शैली का सम्यक् विवेचन नहीं हो सका है तथापि प्रोफ़ेसर लेवी की भाँति इस पक्ष पर बिल्कुल ही विचार न करना मैंने उचित नहीं समझा। उद्धृत लेखांशों के अनुवादों का उद्देश्य मुख्य तात्पर्य का संप्रेपण मात्र है, इसलिए मैंने गद्य का प्रयोग किया है और उनमें निहित संकेतों तथा व्याख्या की समस्याओं की कोई छानबीन नही की है। संस्कृत-श्लोकों के पद्यानुवादों में कभी-कभी सचमुच ही बड़ी उत्कृष्टता आ जाती है, परंतु सामान्यतः उनका रूप ऐसा होता है जो संस्कृत-काव्य से ठीक-ठीक मेल नहीं खाता। इस कारण, और नाटकों के गद्यांशों के पद्यानुवाद के कारण भी, एच० एच० विलसन के Theatre of the Hindus में दिये गये संस्कृत-नाटकों के लेखांशों के अनुवाद, अपने अनेक निजी गुणों के बावजूद संस्कृत-नाटक के प्रभाव का समुचित भावन कराने में असफल रहे हैं।

प्रभूत सहायता और आलोचना के लिए मैं अपनी धर्मपत्नी का ऋणी हूँ।

A. Berriedale Keith

Edinburgh University,
अप्रैल, १९२३.

प्रस्तावना

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन में स्व० प्रोफ़ेसर ए० बी० कीथ का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अनेक वैदिक ग्रंथों का प्रामाणिक संपादन किया है, विद्वत्तापूर्ण अनुवाद किये हैं, पठनीय ग्रंथों की रचना की है, विभिन्न विषयों पर गवेषणात्मक निबंध लिखे हैं। उन्होंने अपने व्यापक अनुसंधान और आलोचना से संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन को संपन्न किया है।

संस्कृत-नाटक के उद्भव और विकास पर लिखित The Sanskrit Drama भी उनकी एक उत्कृष्ट कृति है। अब से लगभग बयालीस वर्ष पूर्व लिखित होने पर भी उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने नाटक की उत्पत्ति से लेकर उसके विकास और ह्रास तक का ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। साथ ही, पुस्तक के अंतिम भागों में भारतीय नाट्य-शास्त्र और नाट्य-प्रयोग का भी संक्षिप्त किंतु सारगर्भित अध्ययन किया गया है। हिंदी के ज्ञान-भांडार को समृद्ध बनाने के लिए इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण कृतियों का अनुवाद अपेक्षित है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने उनके प्रसिद्ध ग्रंथ A History of Sanskrit Literature का हिंदी-भाषांतर लगभग पाँच वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया था। संस्कृत-साहित्य पर लिखित उनके दूसरे गौरवग्रंथ The Sanskrit Drama का हिंदी-अनुवाद हिंदी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम संतोष का अनुभव कर रहे हैं।

डा० कीथ के ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद करना बड़ा दुस्साध्य कार्य है। एक तो सुदूरस्थ विदेशी भाषा में प्रणीत ग्रंथ, और दूसरे, लेखक की पांडित्यविशिष्ट आलोचना-पद्धति एवं कठिन भाषा-शैली! फिर भी मूलग्रंथ के अभिप्राय को हिंदी में ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने का असामयिक प्रयास किया गया है।

अनुवादक को उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त एक और कठिनाई का भी सामना करना पड़ा है। मूललेखक ने संस्कृत के नाटकों, नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों एवं अन्य कृतियों में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों के तात्पर्य को अपने ढंग से अँगरेजी में प्रस्तुत किया है; उदाहरण के लिए—cake (मोदक), red jacket (काषायकंचुकी), parrot (सारिका), car (प्रवहण), park (उद्यान), millionaire (कुबेर), doctor (वैद्य), lawful wife (धर्मपत्नी), sea (सरोवर), social intercourse (गोष्ठी), religious pupilship (ब्रह्मचर्य), offering of fresh

flesh (महामांसविक्रय), late book (उत्तर-कांड) आदि। मूल कृति में अनेक स्थलों पर नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द कोष्ठक में दे दिये गये हैं, परंतु सर्वत्र नहीं। उन्होंने संस्कृत के साध्यवसान रूपकों के पात्रों के नामों का अँगरेजी में अनुवाद कर दिया है और कहीं-कहीं कोष्ठक में भी मूल नाम नहीं दिये गये हैं। Patience (क्षमा), Gentleness (सोमता) आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। यथासंभव मूल ग्रंथों को देखकर अनुवाद को उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है।

अनुबंध में अनुक्रमणिका के अतिरिक्त शब्दसूची भी दे दी गयी है। भाषांतर में अपेक्षानुसार वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली का प्रयोग हुआ है, नाट्यशास्त्रीय विवेचन में नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का। एकाध स्थलों पर मुद्रण में अशुद्धियाँ हो गयी हैं, अतः ग्रंथ के अंत में आवश्यक शुद्धि-पत्र भी संलग्न है।

उदयभानु सिंह

दिल्ली विश्वविद्यालय
अप्रैल, १९६५ ई०

विषय-सूची

भाग १ : संस्कृत-नाटक का उद्भव

: १ : वैदिक साहित्य में नाटकीय तत्त्व

: २ : वेदोत्तर साहित्य और नाटक का उद्भव

भाग २ : संस्कृत नाटक का विकास

: ३ : अश्वघोष और बौद्ध रूपक

: ४ : भास

भाग ४ : नाट्य-प्रयोग

: १४ : भारतीय रंगशाला

अनुवंध

संक्षेप-संकेत

AID.	Über die Anfänge des indischen Dramas, Munich, 1914.
AJP.	Amerian Journal of Philology.
AP.	Agni Purāṇa, ed. BI.
BI.	Bibliotheca Indica, Calcutta.
BS.	Bhās-Studien, Leipzig, 1918.
BSS.	Bombay Sanskrit Series.
CHI.	Cambridge History of India.
DR.	Daśarūpa, cited from Hall's ed. BI.
EI.	Epigraphia Indica.
GGA.	Göttingische gelehrte Anzeigen
GIL.	Geschichte der indischen Litteratur, by M. Winternitz, Leipzig, 1904-22.
GN.	Nachrichten der königl. Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen.
GOS.	Gaekwad's Oriental Series.
GSAI.	Giornale della Societá Asiatica Italiana.
HOS.	Harvard Oriental Series.
IA.	Indian Antiquary.
ID.	Das indische Drama, Berlin, 1920.
IS.	Indische Studien.
JA.	Journal Asiatique.
JAOS.	Journal of the American Oriental Society.
JBRAS.	Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society of Bengal.
JRAS.	Journal of the Royal Asiatic Society.
KF.	Aufsätze zur Kultur-und Sprachgeschichte Ernst Kuhn gewidmet. Breslau, 1916.
KM.	Kāvyamālā Series, Bombay.
N.	Nāṭyaśāstra.
R.	Rasārṇavasudhākara, ed. TSS. 1916.
SBWA.	Sitzungsberichte der königl. Akademie der Wissenschaften zu Berlin.
SP.	Studies in the History of Sanskrit Poetics, I, London, 1923.
SD.	Sāhityadarpaṇa, cited by the sections of the BI. ed.
TI.	Le Théâtre indien, Paris, 1890.
TSS.	Trivandrum Sanskrit Series.
VOJ.	Vienna Oriental Journal.
ZDMG.	Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft.

: १ :

वैदिक साहित्य में नाटकीय तत्त्व

१. नाटक की उत्पत्ति की भारतीय परंपरा

नाट्य-सिद्धांत के प्राचीनतम ग्रंथ नाट्यशास्त्र' में परिरक्षित भारतीय परंपरा नाटक की दैवी उत्पत्ति, और ईश्वरीय वेदों से उसके घनिष्ठ संबंध का दावा करती है। सभी प्रकार के दुःखों से अनभिज्ञ स्वर्ण-युग को इस प्रकार के मनोरंजन की कोई आवश्यकता नहीं थी। शोक (जो कला के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि हर्ष) असंकल्पनीय था। इस नये साहित्य-रूप का निर्माण रजत-युग के लिए अवशिष्ट रहा, जब देवता जगत्पिता ब्रह्मा के पास गये एवं उनसे ऐसी वस्तु के निर्माण की प्रार्थना की जो कानों तथा नेत्रों को समान रूप से आनंद दे सके और जो चतुष्टयी के विसदृश एक पंचम वेद हो जो केवल द्विजातियों की ही ईर्ष्य संपत्ति न हो अपितु शूद्र भी जिसके अंशभागी हो सकें। ब्रह्मा ने उनका निवेदन सुना, और ऐसे वेद को रूप देने की अभिकल्पना की जिसमें पुरुषार्थ-निरूपण इतिहास तथा शिक्षा से समन्वित हो। अपने कार्य-संपादन के लिए उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य-तत्त्व, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय, और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया। तब उन्होंने देव वास्तुशिल्पी विश्वकर्मा को प्रेक्षागृह के निर्माण की आज्ञा दी। उस प्रेक्षागृह में इस प्रकार सर्जित कला के प्रयोग के लिए उन्होंने भरत मुनि को अनुदेश दिया। देवताओं ने नयी रचना को सहर्ष स्वीकार किया। शिव ने रौद्र-व्यंजक तांडव-नृत्य का योगदान किया और उनकी अर्धांगिनी पार्वती ने सुकुमार एवं शृंगारिक लास्य का। नाट्य मात्र के प्रभाव के लिए अनिवार्य चार नाट्य-वृत्तियों के आविष्कार का दायित्व विष्णु ने निभाया। इस दिव्य वेद को नाट्यशास्त्र के अवर तथा छिन्न रूप में भूतल पर स्थानांतरित करने का कार्य भरत को करना पड़ा।

यह व्याख्यान दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है—इस नयी कला के सर्जन में हिंदू त्रिमूर्ति के प्रत्येक सदस्य का सहयोग प्राप्त करने का संकल्प है, और यह दावा करने का प्रयास किया गया है कि परंपरा-प्रथित पंचम वेद नाट्यवेद था।

इतिहासकाव्य में अभिलिखित और उपयोजित परंपरा[1] बहुत-सी परंपराओं को **पंचम वेद** मानती है। इन परंपराओं का समावेश करने वाले रूप में **नाट्यवेद** का निरूपण कर के **नाट्यशास्त्र** इस बात को ध्वनितार्थतः स्वीकार करता है। यह उपाख्यान बहुत पुरातन नहीं है, और न तो उसे **नाट्यशास्त्र** के संकलन के बहुत पहले का मानना चाहिए। उस ग्रंथ का समय अनिश्चित है, परंतु हम किसी निश्चय के साथ उसे तीसरी शती ई० के पूर्व नहीं रख सकते। दैवी उत्पत्ति खोजने की भारतीय प्रवृत्ति के कारण हो सकता है कि यह परंपरा बहुत पहले रही हो, किन्तु किसी समर्थक प्रमाण के अभाव में यह प्राक्कल्पना मात्र रहेगी। इसके लिए कोई निर्णायक आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई नाट्यशास्त्री वैदिक संहिताओं से ऐसे उदाहरण नहीं देता जिसे हम नाटक का प्रतिरूप कह सकें। इससे यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि उनके समय में ऐसी कोई भारतीय परंपरा प्रचलित नहीं थी जो वेदों में नाटक के परिरक्षण की ओर संकेत करती हो। हाँ, (यदि उपयोगी हो तो) यह निष्कर्ष न्यायतः निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्य में नाटक का अभाव माना गया था। इसीलिए देवताओं को एक सर्वथा नवीन साहित्य-रूप की (जो वैदिक युग के परवर्ती काल के उपयुक्त हो) सृष्टि के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी।

२. वेद के संवाद

भारतीय परंपरा का मौन और भी अवेक्षणीय है, क्योंकि **ऋग्वेद** में ही ऐसे अनेक सूक्त पाये जाते हैं जो प्रत्यक्षतः संवाद हैं, और जो प्रारंभिक भारतीय परंपरा द्वारा इस रूप में स्पष्टतया स्वीकृत हैं।[2] ऐसे सूक्तों की संख्या अनिश्चित है, क्योंकि जिनका संवाद-रूप स्पष्ट है उनमें अन्य सूक्त भी जोड़े जा सकते हैं जिनकी व्याख्या में (पात्रों के विभाजन की कल्पना करके) सुधार किया जा सकता है। परंतु, कम से कम पंद्रह सूक्त ऐसे हैं जिनका संवाद-रूप सर्वथा निर्विवाद है, और इनमें से अधिकतर सूक्त विशेष महत्त्वयुक्त हैं। इस प्रकार १०।१० में आदिम मिथुन **यम-यमी** (जिनसे उस उपाख्यान में मानव-जातियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है) वाद-विवाद में प्रवृत्त होते हैं। उपाख्यान की अपेक्षा अधिक परिष्कृत भाव वाला कवि इस कौटुंबिक-व्यभिचार के विषय में क्षुब्ध है। वह **यमी** को इस रूप में निरूपित करता है कि वह अपने निवेदित प्रेम को स्वीकार करने और सफल बनाने के लिए यम को प्रेरित करने के प्रयास में निरत होती है। लेकिन वह प्रयास (जहाँ तक सूक्त का संबंध है) निष्फल जाता है। उसी

१. Hopkins, Great Epic of India, pp. 7, 10, 53.

२. Keith, JRAS. 1911, pp. 981 ff.

मंडल का एक कष्टकर, किंतु निस्संदेह रोचक, सूक्त (१०।९५) **पुरूरवा** और अप्सरा **उर्वशी** का संवाद प्रस्तुत करता है। **पुरूरवा उर्वशी** की चंचलता की भर्त्सना करता है, परंतु उसे अपनी आसक्त दृष्टि से ओझल होने से रोकने में सफल नहीं होता। ७।१०० में **नेम भार्गव** इंद्र की स्तुति करता है, जिसका इंद्रदेव प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं। कभी-कभी तीन संभाषक होते हैं। इस रीति से **अगस्त्य** मुनि का अपनी पत्नी **लोपामुद्रा** और पुत्र के साथ प्रहेलिका-रूप वार्तालाप (१।१७९) होता है। १०।२८ में इंद्र और **वसुक्र** का कथोपकथन कम दुर्बोध नहीं है। उसमें वसुक्र की पत्नी छोटी-सी भूमिका अदा करती है। ४।१८ में हमें इंद्र, **अदिति** और **कामदेव** का वहुत ही गड़वड़ संवाद मिलता है। उससे भी कम बुद्धिगम्य इंद्र, उनकी पत्नी **इंद्राणी** और **वृषाकपि** का प्रसिद्ध वाद-विवाद (१०।८६) है, जिसका प्रत्येक व्याख्याता अपने पूर्ववर्तियों के विवरण की अयुक्तता दिखलाने में कुशल है लेकिन अपने ही दोषों को पहचानने में असमर्थ प्रतीत होता है। अथवा संभाषकों में से एक पक्ष व्यक्ति न होकर व्यक्ति-समूह हो सकता है। इस रीति से, इंद्र की दूती **सरमा** अपहृत गायों को खोजती हुई असुरों (**पणियों**) के पास जाती है, और इनसे रोचक वाद-विवाद करती है (१०।१०८)। देवताओं को भी अपने पास तक मर्त्यों की हवि पहुँचाने का खेदजनक कार्य करते रहने के लिए **अग्नि** को समझाने में कठिन अध्यवसाय करना पड़ता है (१०।५१।३)। जिस कथोपकथन में वे प्रवृत्त होते हैं वह अत्यंत विशद है, यहाँ तक कि एक ऋचा को दो संभाषकों के लिए खंडों में तोड़ दिया गया है। अपने ऐतिहासिक संकेतों के कारण दो संवाद ध्यान देने योग्य हैं—**विश्वामित्र** और उन नदियों का वार्तालाप (३।३३) जिन्हें वे पार करना चाहते हैं, और अपने पुत्रों के साथ **वसिष्ठ** का वार्तालाप (७।३३), यदि वह वस्तुतः उस सूक्त के संभाषकों का सही विवरण है। इंद्र पुनः **मरुतों** से विवाद करते हैं (१।१६५, १७०), जिन्होंने **वृत्रासुर** के विरुद्ध रण-संमर्द में इंद्र का साथ छोड़ कर अपने को उनकी दृष्टि में अवमानित कर लिया था, किंतु जो अंततोगत्वा उनके क्रोध को शांत करने में सफल हुए थे। पहले सूक्त में **अगस्त्य** (अंत में परिणाम का समाहार करते हुए और अपने लिए देवताओं के अनुग्रह की प्रार्थना करते हुए) बीच में पड़ने को प्रस्तुत जान पड़ते हैं। उसी प्रकार **विश्वामित्र** के संवाद का वृत्तांत इस दृढ़ कथन के साथ समाप्त होता है कि अपने पुरोहित की मध्यस्थता से मार्ग प्राप्त कर के **भरतों** ने लूट के माल की खोज में नदियों को सफलतापूर्वक पार किया। कवि ने स्वयं ही उस रोचक, किंतु सुबोध, सूक्त (४।४२) का (जिसमें इंद्र और वरुण अपनी सापेक्ष श्रेष्ठता के लिए विवाद करने को उद्यत

जान पड़ते हैं) स्पष्ट विवरण दिया है। जहाँ अनिवार्य नहीं है वहाँ भी उसका हस्तक्षेप संदेह की वस्तु है।

यह बात स्पष्ट है कि कल्प-साहित्य को यह ज्ञात नहीं था कि **ऋग्वेद** के संवादों का क्या किया जाए। रचना की यह शैली पिछले वैदिक काल में लुप्त हो गयी। यह अर्थपूर्ण है कि **अथर्ववेद** में इस प्रकार का केवल एक सूक्त (५।११) है, जिसमें ऋत्विज प्राप्य गौ के लिए अथर्वा देवता से प्रार्थना करता है; देवता उसकी प्रार्थना स्वीकार करने को अनुग्रहशील नहीं है, लेकिन अंत में अनुनय से द्रवीभूत होकर प्राप्य पारितोषिक के साथ ही शाश्वत मैत्री का वचन देता है। अतएव यह बात तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है कि ई० पू० पाँचवीं शती में हम **यास्क** और **शौनक** को इस विषय में मतभेद रखते हुए पाते है कि सूक्त १०।९५ संवाद है, (जैसा कि पहले ने माना है) अथवा उपाख्यान मात्र (जैसा कि दूसरे ने समझा है)[१]। **सायण-भाष्य** से हमें पता चलता है कि परंपरा लगभग सभी सूक्तों का कर्मकांड-संबंधी प्रयोग बताने में असमर्थ रही। १०।८६ की स्थिति अपवाद है, परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस सूक्त में यथार्थ संवाद का तत्त्व नगण्य है। उसके तीनों वक्ता वार्तालाप न करके पहेलियाँ-सी बुझाते हैं। अतएव, उत्तरकालीन कर्मकांड में इसको जो नगण्य स्थान मिला है उसमें इसको बिठा देना सरल था। अतएव, हमें मानना पड़ेगा कि इन संवादों में उस काव्य-शैली के अवशेष मिलते हैं जो पिछले वैदिक काल में प्रचलित नहीं रही।

इसका मूल उद्देश्य अस्पष्ट है, परंतु सन् १८६९ ई० में **मैक्समूलर** ने ऋग्वेद १।१६५ के विवरण के प्रसंग में एक बहुत ही रोचक सुझाव प्रस्तुत किया था।[२] उनका अनुमान है कि '**मरुतों** की आराधना में किये गये यज्ञों के अवसर पर इस संवाद का पाठ होता था अथवा संभवतः दो दलों द्वारा इसका अभिनय किया जाता था, एक दल **इंद्र** का प्रतिरूपण करता था और दूसरा **मरुतों** एवं उनके अनुयायियों का'। १८९० ई० में इस सुझाव को प्रोफ़ेसर लेवी (Levi) ने अनुमोदन के साथ दोहराया।[३] उन्होंने एक और तर्क यह दिया है कि **सामवेद** से सूचित होता है कि वैदिक युग तक संगीत-कला का पूर्ण विकास हो चुका था। और, इसके पहले ही **ऋग्वेद**[४] से ज्ञात होता है कि शोभन-वेश-भूषित बालाएँ नाचती तथा प्रेमियों को आकर्षित करती थीं। **अथर्ववेद**[५] से पता चलता है कि पुरुष किस प्रकार वाद्य की गत पर नाचते और गाते थे। इसलिए तर्क-बुद्धि से

१. Sieg, Die Sagenstoffe des Ṛgveda, p. 27.

२. SBE, xxxii. 182 f.

३. TI. i. 307 f.

४. i. 92. 4.

५. xii. 1. 41.

यह मान लेने में कोई घातक आपत्ति नहीं है कि ऋग्वेदीय काल में नाटकीय प्रदर्शनों की जानकारी थी; जिनका स्वरूप धार्मिक था; जिनमें पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

इस मत का तर्कसंगत परिणाम प्रोफ़ेसर **वान श्रेडर** (Von Schroeder) के श्रमपूर्वक निष्पादित सिद्धांत में मिलता है।[1] वह यह है कि संवादात्मक सूक्त, और कतिपय एकालाप भी (उदाहरणार्थ १०।११९, जिसमें रुचिकर सोम-पान के नशे में इंद्र अपना गुण-गान करते हुए दिखायी देते हैं) वैदिक रहस्यों के अवशेष हैं। वे बीजरूप में भारोपीय काल के रिक्थ हैं। मानवजाति-विज्ञान से हमें बहुत-सी जातियों में गीत, नृत्य और नाटक के घनिष्ठ संबंध की सूचना मिलती है। यह एक विचित्र बात है कि वैदिक धर्म देवताओं के नर्तक-रूप से परिचित है। इसकी संतोषप्रद व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक यह न मान लिया जाए कि पुरोहित लोग कर्मकांड-संबंधी नृत्यों का प्रदर्शन देखने के आदी थे। वे नृत्य ब्रह्मांड में चल रहे उस महानृत्य के अनुकरण थे जिससे (एक मत के अनुसार) विश्व की सृष्टि हुई थी। इस प्रकार के नृत्यों में समानुभूति उत्पन्न करने का जादू होता है। उनका प्रतिरूप उन महान् याज्ञिक अनुष्ठानों में मिलता है जो 'ब्राह्मण'-युग में (ब्रह्मांड-रचना का धरती पर प्रदर्शन करने के लिए) किये जाते थे। यह यथार्थ है कि ऋग्वेद में हमें लिंगमूलक (Phallic) नृत्य नहीं मिलते जिनका **यूनान** और **मेक्सिको** में नाटक की उत्पत्ति के साथ घनिष्ठ संबंध माना जाता है। इसका कारण यह था कि ऋग्वेद के पुरोहित अनेक विषयों में कठोर संयमी थे, और उन्होंने किसी भी प्रकार के लिंगमूलक देवताओं को अस्वीकार किया। अतएव, कर्मकांड-संबंधी रूपक नाटक के विकास की मुख्य रेखा के कुछ बाहर-से हैं। उनका लोकप्रचलित पक्ष युगों को पार करता हुआ बंगाल के साहित्य में सुप्रसिद्ध यात्राओं में अपरिष्कृत रूप में बच रहा है। इसके विपरीत, परिष्कृत और यज्ञोपयोगी रूप में ढाला गया वैदिक रूपक विलीन हो गया। और उसकी कोई साक्षात् परंपरा शेष नहीं रही।

वैदिक संवाद बीज-रूप में रहस्यात्मक रूपक हैं,—इस मत को डा० हर्टल (Hertel) का स्वतंत्र समर्थन प्राप्त है[2]। उनका तर्क विशेष कर के इस

१. Mysterium und Mimus in Rigveda (1908); VOJ. xxii. 223ff.; 270f.

२. VOJ. xviii. 59 ff., 137 ff.; xxiii. 273 ff.; xiv. 117 ff. मिलाकर देखिए—Charpentier, VOJ. xxiii. 33 ff.; Die Suparṇasage (1922) किंचित् भ्रांत और अनालोचनात्मक है.

सिद्धांत पर आधारित है कि वैदिक मंत्र सदैव गाये जाते थे, और गान में विभिन्न संभाषकों में अपेक्षित भेद करना एक ही गायक के लिए संभव नहीं हो सकता था, यह तभी संभव होता यदि मंत्र गाये न जाते रहे होते। इसलिए वे सूक्त नाट्य-कला का आरंभिक रूप प्रस्तुत करते हैं। उन सूक्तों की तुलना **'गीतगोविन्द'** के रूप से की जा सकती है[1]। परंतु, अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डा० **हर्टल** **सुपर्णाध्याय**[2] में विस्तृत पैमाने पर एक वास्तविक रूपक खोजने की कोशिश करते हैं। वह एक विलक्षण और अपेक्षाकृत उत्तरकालीन वैदिक रचना है। इस प्रकार, उनके मत से, वैदिक रूपक की स्थिति विच्छिन्न नहीं है; **ऋग्वेद** में वह अपने प्रारंभिक रूप में दृष्टिगोचर होता है, **सुपर्णाध्याय** उसे और अधिक विकास के मार्ग पर प्रदर्शित करता है, और यात्राओं में हम उस प्राचीन रूप की अनुवृत्ति देख सकते हैं; इससे हमें वैदिक रूपक से भारतीय प्रतिष्ठित नाटक के विकास को समझने में सहायता मिलती है। इस विषय में नाट्य-सिद्धांत के दोनों पक्षपोषकों में स्पष्ट मतभेद है, क्योंकि प्रोफ़ेसर **वान श्रेडर यात्राओं** को ही उत्तरकालीन नाटक से वस्तुतः संबद्ध मानते हैं। उनके मतानुसार उत्तरकालीन नाटक **विष्णु-कृष्ण** और **रुद्र-शिव** की उपासना-पद्धति के निरंतर संपर्क से संवर्धित हुआ, किंतु वैदिक संवादों की भांति उसी मूल से एक भिन्न विकास के रूप में। नाटक के इस दूसरे पक्ष का संकेत उन्हें नाट्य के साथ गंधर्वों और अप्सराओं के परंपरा-प्रथित संबंध में मिलता है, क्योंकि ये देवता उनकी दृष्टि में तत्त्वतः लिंगमूलक देवता हैं।

हाँ, यह निस्संदेह संभव है कि इन संवादों द्वारा प्राचीन कर्मकांड के अंशों का अभिनय किया जाता था जिसमें पुरोहित देवों या असुरों का रूप धारण करते थे, क्योंकि इस प्रकार के अनुमान के लिए प्रचुर उदाहरण मौजूद हैं। लेकिन इतना पुष्ट आधार नहीं है जो इन सूक्तों की इस प्रकार की व्याख्या के लिए हमें बाध्य करे। **ऋग्वेद** में यज्ञ-संबंधी बातों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यह ऐसी अभिधारणा है जो स्वयं भारतीयों द्वारा नहीं बनायी गयी है। इसका एक मात्र औचित्य इस बात में है कि यह सममिति की इच्छा से अनुप्राणित है। इसके प्रतिकूल, **ऋग्वेद** को सूक्त-संग्रह मानना सर्वथा तर्कसंगत और कहीं अधिक स्वाभाविक है। उसके अधिकांश सूक्त कर्मकांडमूलक हैं। किंतु उसमें कुछ धर्म-निरपेक्ष काव्य भी समाविष्ट है। हम **वशिष्ठ-विश्वामित्र**-संघर्ष के सूक्तों को यथोचित रूप से केवल इसी वर्ग के अंतर्गत रख सकते हैं। अतः यह तथ्य स्वाभाविक है कि उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार के मंत्र दृष्टिगोचर

---

१. देखिए— ch. xi. §9; Winternitz, GIL. iii. 130f.

२. Jarl Charpentier, Die Suparṇarage (uppsala, 1922) भी देखिए.

नहीं होते, क्योंकि वह साहित्य निर्विवाद रूप से कर्मकांडोपयोगी सूक्तों का ही संग्रह प्रस्तुत करता है, और इसलिए उसमें कोई ऐसी वस्तु समाविष्ट नहीं की गयी जो उसके लिए उपयुक्त न हो। अतएव, यह मान लेना असंगत है कि सभी सूक्तों की कर्मकांडपरक व्याख्या आवश्यक है, और उन्हें कर्मकांड-संबंधी रूपक समझना तर्क-विरुद्ध है। किसी भी दशा में इस मत को स्वीकार करने का औचित्य केवल इस बात में है कि यह किसी अन्यथा प्रतिपादित समाधान की अपेक्षा अधिक अच्छी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

इस बात की निश्चयात्मक प्रतीति नहीं होती कि किसी भी पक्ष में आवश्यक प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। सूक्त ९।११२ (जो चार ऋचाओं में विभिन्न पुरुषार्थों का कुछ परिहासमय शैली में वर्णन करता है, जिनकी टेक है—**इन्द्रायेन्दो परिस्रव**)' ऐसे लोकप्रचलित पर्व के प्रयाण-गीत में रूपांतरित हो गया है जिसमें स्वाँग करने वाले लोग कृषि-देवताओं का रूप धारण करते और प्रजनन के प्रतीक लेकर चलते हैं। इन बातों की कोई परंपरागत जानकारी नही है, और निश्चय ही इस सूक्त से सामान्य तर्कशील व्यक्ति को इस विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत होता है कि यह विनोद-व्यंग्य की बड़ी स्वाभाविक रचना है, जिसकी पुष्टि टेक के प्रयोग द्वारा होती है। ऋग्वेद में अभिव्यक्त प्रगतिशील तथा संदेहवादी विचार प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों में व्यंग्य की संभावना को अस्वीकार करना निश्चय ही अविवेकपूर्ण है।[1] यह व्याख्या कि **वृषाकपि**-सूक्त (१०।८६) नाट्य-रूप में एक प्रजनन-चमत्कार-विषयक रचना है विदग्धतापूर्ण है। किंतु, दुर्भाग्यवश इससे प्रस्तुत सूक्त की व्याख्या में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, और इस कारण से यह उतनी ही महत्त्वहीन है जितनी कि अन्य प्रस्तुत की गयी संभावित व्याख्याएँ। विलक्षण **मुद्गल**-सूक्त (१०।१०२) में वर्णित उत्सव के अवसर पर किसी अनुकरणात्मक दौड़ के अन्वेषण का प्रयास भी उसी प्रकार तिरस्करणीय है। यह सूक्त (यदि यह कुछ भी बोधगम्य है) पौराणिक निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है, किसी वास्तविक अथवा अनुकरणात्मक दौड़ का नहीं।

सूक्त १०।११९ (जो सोम-पान का गुण-गान करते हुए **इंद्र** के मुख से निःसृत एक सरल एकालाप है) उस कर्मकांड का एक भाग माना जाना चाहिए जिसमें (उस अनुष्ठान में सोमपान की समाप्ति पर) एक पुरोहित इंद्र की

---

१. यह सोम 'काम्य'-याग की विधि के सर्वथा अनुकूल है जैसा कि Oldenberg ने इंगित किया है, *GGA.* 1909, *pp.* 79 ff. *Ṛgveda-Noten*, ii. 67 में vii. 103 पर उनकी टिप्पणी से मिलान करके देखिए.

भूमिका ग्रहण करके आगे आता है, और एकालाप द्वारा सोमरस की शक्ति की प्रशंसा करता है,—यह सिद्ध करने के लिए मानवजाति-विज्ञान-संबंधी सादृश्य उपस्थित करने का प्रयत्न पटुतापूर्ण है। **चोल** जातियों में, मधुपानोत्सव के बाद, मधुपान का प्रभाव प्रदर्शित करता हुआ एक देवता प्रवेश करता है, जब कि एक गायक उसके प्रभावकारी गुणों का गान करता है। किंतु, इस उपपत्ति में एक घातक दोष है; सूक्त अपने आप में सर्वथा स्पष्ट है, और इतनी खींचतान करके उसकी व्याख्या का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय है। **मण्डूक-सूक्त** (७।१०३) में मेंढकों के चेहरे लगाए हुए वृष्टि-प्राप्ति के लिए टोटके के रूप में नृत्य करते हुए, पुरुषों द्वारा गाये गये गीत के अन्वेषण का प्रयत्न भी उसी प्रकार गर्हणीय है। यदि हम मान लें कि यह सूक्त वस्तुतः वर्षा के लिए किये गये टोटके के रूप में अभिप्रेत है (जो प्रमाणित न होने पर भी कुछ-कुछ संभाव्य है), तो इसके लिए किसी प्रकार की अतिरिक्त व्याख्या अपेक्षित नहीं है। यदि हम इस सुझाव को न स्वीकार करके यह प्राचीनतर दृष्टि अपनाते है कि इस सूक्त में किन्हीं कर्म-कांडियों की विचित्र क्रियाओं की हास्यास्पद ढंग से नकल की गयी है तो इसका प्रजनन-संबंधी टोटके वाला रूप बिल्कुल ही लुप्त हो जाता है। कहा गया है कि अक्षसूक्त (१०।३४), जिसमें एक जुआरी उस पाँसे के प्रति अपने घातक राग पर पश्चात्ताप करता है जो उसकी पत्नी तक के सत्यानाश का कारण हुआ है, एक नाटकीय एकालाप है जिसमें नट उछलते तथा गिरते हुए पाँसों का अभिनय करते हैं। इस ऊट-पटाँग निष्कर्ष में अध्ययन-विधि की त्रुटियाँ बहुत अच्छी तरह दिखायी देती हैं। **यम** एवं **यमी** का संवाद एक प्रजनन-संबंधी रूपक के रूप में परिणत होता है जिसमें से मिथुन के समागम का महत्त्वपूर्ण अंश वैदिक युग की अतिविनीतता के कारण छोड़ दिया गया है। जिस विलक्षण सूक्त (४।१८) में इंद्र की अस्वाभाविक उत्पत्ति का वर्णन है, वह इस कल्पना से रूपक बन जाता है कि तेरह ऋचाओं में से सात स्वयं कवि पर आरोपित हैं। वस्तुतः प्रत्येक उदाहरण में हमारे सामने संभावना मात्र प्रस्तुत की गयी है, जिसमें कहीं-कहीं हास्यास्पदता आ गयी है, और जो सूक्तों की व्याख्या में हमारी कुछ भी सहायता नहीं करती। एक मत है कि **सरमा** और **पणियों** के सूक्त का दो भिन्न दलों द्वारा पाठ किया जाता था, और इस प्रकार वह बीजरूप में एक कर्मकांड-संबंधी रूपक था। इस मत की कोई बात कल्पना के परे नहीं है। निश्चित बात यह है कि उत्तर वैदिक काल इस प्रकार के प्रयोग से बिल्कुल अपरिचित था। केवल एक संवादात्मक सूक्त (१०।८६) का प्रयोग मिलता है जिसका नियोजन ऐसे स्थल पर किया गया है जहाँ कुछ भी नाटकीय नहीं है। संपूर्ण प्रक्रिया के

बेढंगेपन का कदाचित् पूर्णतम प्रदर्शन **अगस्त्य-लोपामुद्रा**-विषयक सूक्त (१।१८९) के विवेचन में होता है, क्योंकि यह फसल कट जाने के बाद किया जाने वाला एक प्रजनन-संबंधी अनुष्ठान बन जाता है; 'लोपामुद्रा' की व्याख्या की जाती है—'जिस पर लोप की मुहर लगी हुई है'। यह अद्भुत निर्वचन वैदिक भाषा में असंभव है। यह सूक्त ही 'पातिव्रत धर्म को छोड़ कर रति का आनंद लेने वाली' इस स्पष्ट वैकल्पिक अर्थ[1] के कहीं अधिक अनुकूल पड़ता है। इंद्र और मरुतों के सूक्तों (१।१७०, १७१, और १६५) की व्याख्या के लिए हमें मानना होगा कि उनमें नाटकीय प्रदर्शन के तीन दृश्य हैं। यह प्रदर्शन सर्प **वृत्र** पर इंद्र की विजय के समारोह में सोमयज्ञ के अवसर पर किया जाता है, जिसकी समाप्ति शस्त्र-सज्जित युवकों द्वारा प्रदर्शित मरुतों के नृत्य से होती है। यह शस्त्र-नृत्य प्राचीन वनस्पति-याग का, पुराने वर्ष को, शीत ऋतु को अथवा मृत्यु को खदेड़ने का, अवशेष है; जो रोमन Salii, ग्रीक Kouretes, फ्रीजिअन Korybantes और जर्मन तलवार (का चमत्कार दिखाने वाले) नर्तकों के नृत्यों का आधार है। जो (सूक्ष्म विवरणों को छोड़ कर) बिना गंभीर कठिनाई के अपने आप में ग्राह्य हैं ऐसे सूक्तों की व्याख्या करने के लिए उपपत्तियों का जाल बुनना कैसे न्यायसंगत हो सकता है ?

डा० **हर्टल** का कथन है कि मंत्र गाये जाते थे और एक ही गायक की आवाज विभिन्न संभाषकों में भेद नहीं कर सकती थी, इसलिए प्रयोक्ताओं के दो दलों की कल्पना आवश्यक है। उक्त आधार पर प्रतिपादित तर्कों को भी अकाट्य समझना असंभव है। इसमें संदेह नहीं कि यदि हम इस आवश्यकता को स्वीकार कर लेते तो कारणपूर्वक यह मानने को प्रवृत्त होते कि अभिनय-तथा-नृत्य के साथ गीत गाया जाता, जिससे नाटक विकास के मार्ग पर अग्रसर होता। परंतु हमें यह पता नहीं कि **ऋग्वेद** के मंत्र सदैव गाये जाते थे। इसके विपरीप, हम ध्रुव निश्चय के साथ यह जानते हैं कि (जब कि सामवेद के मंत्र गाये जाते थे) **ऋग्वेद** की ऋचाएँ **'शंसित'** होती थीं। यह ठीक है कि उस शंसन (पाठ) के यथार्थ रूप की ठीक-ठीक जानकारी हमारे पास नहीं है, किंतु यह मानने के लिए तनिक भी आधार नहीं है कि पाठ-कर्ता अपनी पाठ-विधि की भिन्नता से दो भिन्न संभाषकों के पार्थक्य को सूचित नहीं कर सकता था। उक्त तर्क में इस बात की उपेक्षा की गयी है। यह तथ्य उसके लिए घातक है। इसके अतिरिक्त, हमें यह मान लेना चाहिए कि इन मंत्रों के रचयिताओं अथवा पाठ-कर्ताओं को पात्रों के पार्थक्य का ज्ञापन जिस मात्रा में अभीष्ट था उसके विषय में हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। हम सम्यक् रूप से नहीं जानते, और न कर्मकांड की पाठ्यपुस्तकें

---

१. Oldenberg, GGA. 1909, p. 77, n. 4.

जानती थी, कि इन मंत्रों का किस रीति से प्रयोग किया जाता था। हमें **ऋग्वेद** में अनेक दार्शनिक सूक्त मिलते हैं, जैसे **यम-यमी**-संवाद। यह माँग किये विना कि यह कर्मकांड का एक अंश है, हम यह क्यों न मान लें कि इस प्रकार का दार्शनिक संवाद संभव है? सातवें मंडल में हमें ऐतिहासिक सूक्त मिलते हैं। **विश्वामित्र** और सरिताओं के संवाद को हम नाटक के रूप में क्यों परिवर्तित करें? हम यह आग्रह क्यों करें कि सभी मंत्र कर्मकांड के उपयोग के लिए रचे गये थे, जब कि हम यह जानते हैं कि अंत्येष्टि-संस्कार के अनंतर कालक्षेप के लिए उपयुक्त वार्तों में से प्राचीन कहानियाँ भी होती थीं, और राजा के व्यापक एकाधिपत्य की घोषणा के लिए अनुष्ठित महान् अश्वमेध के अवसर पर अवकाश के समय ब्राह्मण और सैनिक दोनों ही समय काटने के लिए गीत गाते थे? हम औचित्य के साथ मान सकते हैं कि **ऋग्वेद** में ऐसे सूक्त उपलब्ध हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रयोजन कर्मकांड या टोटका नहीं है; **अक्षसूक्त** को कल्पना की किसी बुद्धिसंगत खींच-तान द्वारा कर्मकांड-संबंधी सूक्त नहीं माना जा सकता।[१]

इस दृष्टि को अपनाना भी असंभव है कि वैदिक रूपक पुरोहितों द्वारा प्रजनन-याग की अस्वीकृति के निराशाजनक प्रभाव के फलस्वरूप लुप्त हुआ। इसके प्रतिकूल, हम देखते हैं कि प्रजनन-याग आगे चलकर **महाव्रत**-समारोह में, और अश्वमेध में भी पूर्णतः मान्य है। ये दोनों अन्य वैदिक संहिताओं को विदित हैं, यद्यपि **ऋग्वेद** में अनुष्ठान की यह विशिष्टता (कम से कम प्रत्यक्षतः) निर्दिष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि प्रजनन-याग की अस्वीकृति वास्तविक भी होती तो वह रूपक का अंत क्यों कर देती? **अग्नि** एवं **देवों** के, **सरमा** एवं **पणियों** के, **वरुण** एवं **इंद्र** के, **इंद्र** एवं **उद्गाता**—और कदाचित् **वायु** के भी (८।१००) कथोपकथनों का प्रजनन से कोई संबंध नहीं है। अतः रूपक के इस पक्ष का लोप नहीं होना चाहिए था। विकास के, ह्रास के नहीं, लक्षण बतलाने का डा० **हर्टल** का दावा अवश्य सही है, परंतु **सुपर्णाध्याय** में एक पूरा नाटक खोजने के उनके महाप्रयत्न को निश्चित रूप से असफल ही कहना चाहिए। उसमें रंगमंचीय निर्देशों की क्लिष्ट-कल्पना की, प्रायः कल्पना के आधार पर नाटकीय पात्रों की सूची के निर्माण की, और इस मत के आधार पर रचना के अनुवाद की उलझनें हैं। उसमें निश्चित रूप से पायी जाने वाली भ्रांति विस्तारपूर्वक दिखलायी जा सकती है। इसमें यह तथ्य भी जोड़ लीजिए कि भारतीय परंपरा में ऐसा कोई संकेत नहीं है कि **सुपर्णाध्याय** (जो मूल वैदिक कृति का बाह्यतः पश्चात्कालीन अनुकरण है) का कभी कोई नाटकीय उद्देश्य या उपयोग था।

---

१. Keith, JRAS. 1911, p. 1006.

इन सूक्तों के प्रयोजन के संबंध में एक नितांत भिन्न मत वह है जिसके लिए हम प्रोफ़ेसर विन्डिश (Windisch)[१] ओल्डेनबर्ग (Oldenberg)[२], और पिशेल (Pischel)[३] के ऋणी हैं। वे सूक्त महाकाव्य-शैली की रचना के प्राचीन (पुराकालीन भारोपीय) प्रकार का नमूना प्रस्तुत करते है, जिनमें उच्चतम भावों के तत्त्वों का निरूपण करने वाले पद्य परिरक्षित थे, और शृंखला मिलाने के लिए ऐसे गद्य का प्रयोग किया गया था जो रूढ़िग्रस्त नहीं था। इसी कारण से वह आज उपलब्ध नहीं है। उक्त मत के साथ यह सुझाव भी संमिलित किया जा सकता है कि ये संवादात्मक सूक्त नाटकीय थे। इस प्रकार प्रो० पिशेल ने संस्कृत-नाटक में गद्य और पद्य के संयोग की व्याख्या इस प्रारंभिक साहित्य-रूप (जो इस रीति से महाकाव्य और नाटक दोनों की उद्देश्य-पूर्ति कर सकता था) के अवशेष के रूप में की।[४] समय-समय पर इस मत के अतिशय प्रचार, और प्रोफ़ेसर **ओल्डेनबर्ग** (जिन्होंने इसके आधार पर भारतीय गद्य के विकास के जटिल सिद्धांत का प्रतिपादन किया) के द्वारा इसके प्रबल पक्षपोषण के बावजूद हम इस मत को स्वीकार करने में संदेहशील हैं।[५] यहाँ पर भी नितांत वास्तविक कठिनाई यह है कि परंपरा में इन सूक्तों के इस वैशिष्ट्य की जानकारी के कोई लक्षण नहीं दिखायी देते, और संपूर्ण वैदिक साहित्य में वस्तुतः इस रूप में हमें कोई रचना नहीं मिलती। इस प्रकार के आरोपित उदाहरण, (जैसे—**ऐतरेय ब्राह्मण** में **शुनःशेप** की कहानी, अथवा **शतपथ ब्राह्मण** में **पुरूरवा** एवं **उर्वशी** के उपाख्यान का नियोजन) इस मत के साथ संगति बिठाने के लिए संभवतः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। दूसरे उदाहरण में हमें एक कहानी मिलती है, जो **ऋग्वेद** के मंत्रों से स्फुटतया मेल नहीं खाती, और जो प्रकट तथा प्रत्यक्ष रूप से उस सूक्त को कर्मकांड में खपाने का प्रयास है। पहले में विषय के सोदाहरण स्पष्टीकरण के लिए सूक्त्यात्मक पद्यों का प्रयोग पाया जाता है। साहित्य का यह रूप पद्य-प्रबंधों के अंशों, तथा संस्कृत-गद्य के इतिहास में आद्योपांत परिरक्षित है। इस प्रकार असली नमूना, अर्थात् मनोवेग के अवसर पर, अतः विशेष

---

१. Cf. Sansk. Phil. pp. 404 ff.

२. ZDMG. xxxvii. 54 ff.; xxxix, 52 ff.; GGA 1909, pp. 66 ff.; GN. 1011, pp. 441ff.;
Zur Geschichte der altindischen Prosa (1917), pp. 53ff; Das Mahabharata, pp. 21ff.

३. VS. ii. 42ff. GGA. 1891, pp. 351ff.

४. तुलना कीजिए—Oldenberg, Die Literatur des alten Indien, p. 241.

५. देखिए—Keith, JRAS. 1911, pp. 891ff.; 1912, pp. 429ff; Rigveda Brāhmaṇas, pp. 68ff,

करके, मार्मिक वक्तव्य तथा उत्तर देने के लिए प्रयुक्त पद्यों का उदाहरण, वैदिक साहित्य के किसी मूलसंग्रह में उपलब्ध नहीं है। क्या इस मत के द्वारा परिगृहीत अर्थ में उसका कभी कोई अस्तित्व भी था, क्या पालि-जातकों में उसके कोई संकेत हैं,अथवा क्या उसका अस्तित्व होने पर भी उसके विषय में कोई भ्रांत धारणा है—ऐसे प्रश्न हैं जिनका संस्कृत-नाटक के उद्भव से महत्त्वपूर्ण संबंध नहीं है। अतएव यहाँ पर उनका विवेचन अनावश्यक है। तथापि, एक बात प्रसंगवश विचारणीय है। यदि इस मत के अनुसार वैदिक संवादों की व्याख्या आवश्यक होती तो वह उन्हें कर्मकांड-संबंधी रूपकों के अवशेष मानने के सिद्धांत की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता और सरलता के साथ अन्य प्रकार से की जा सकती थी। दोनों ही मतों के विषय में सबसे गंभीर आपत्ति यह है कि वे वस्तुतः आवश्यक नहीं हैं। प्रोफ़ेसर गेल्डनर[1] (Geldner) ने, जिन्होंनें पहले ओल्डेनवर्ग के मत को प्रश्रय दिया था, प्रस्तुत सूक्तों की भावगीतों (Ballads) के रूप में व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[2]

संस्कृत-नाटक में गद्य और पद्य के मिश्रण का हेतु बताने के लिए इस मत का कोई उपयोग करना भी निस्संदेह अनावश्यक है। गद्य का प्रयोग किसी पक्ष-पोषण अथवा व्याख्या की अपेक्षा नही रखता। मनोरंजन के रूप में तथा वैदिक एवं परवर्ती युगों की उपासना में गीत का महत्त्व रहा है, और हमारे उपलब्ध नाटकों ने पद्यमय रचनाओं में परिरक्षित इतिहासकाव्य-परंपरा से प्रायः वस्तु ग्रहण की है। इस तथ्य को देखते हुए कहा जा सकता है कि पद्य का प्रयोग अनिवार्यतः अपेक्षणीय था। वस्तुतः संस्कृत-साहित्य में प्रत्येक वस्तु, विधि, ज्योतिष, वास्तुशिल्प, अलंकारशास्त्र, यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र को भी छंदोवद्ध रूप में ढालने की प्रवृत्ति से अधिक ध्यान देने योग्य कोई दूसरी बात नहीं है। नाट्यशास्त्री इस बात का कोई संकेत नहीं देते कि पद्यों की अपेक्षा गद्य का रूप किसी प्रकार से कम स्थिरीकृत समझा जाता था, अथवा यह कि नाटककार इस बात के लिए बाध्य नहीं था कि वह एक की रचना में उतना ही सावधान रहे जितना दूसरे की रचना में, और नाटक की हस्तलेख-परंपरा, जहाँ तक स्रोत

१. Die indische Balladendichtung (1913). cf. G. M. Miller, The Popular Ballad (1905).

२. इतिहासकाव्य में इस रूप का अस्तित्व अत्यंत असंभाव्य है, और जातकों में वारंवार नहीं मिलता, Oldenberg, GN. 1918, pp. 429ff. Oldenberg, GN. 1918, pp. 429ff.; 1919, pp. 61ff. के साथ मिलाकर देखिए,—Charpentier, Die Suparṇasage, और विन्टरनित्स की स्वीकृतियाँ GIL. ii, 368.

का संबंध है, दोनों की किसी भिन्नता का इंगित नहीं करती।

३ वैदिक कर्मकांड में नाट्यतत्त्व

ऋग्वेद के प्रहेलिका-रूप संवादों का विचार छोड़ देने पर हम देख सकते हैं कि वैदिक कर्मकांड में ही नाटक के बीज अंतर्निहित थे, जैसा कि एक प्रकार से प्रत्येक आदिम उपासना-पद्धति के संबंध में सत्य है। कर्मकांड में केवल गीतों का गान या देवताओं का स्तुतिपाठ ही नहीं संमिलित था; उसके अंतर्गत अनुष्ठानों का एक जटिल चक्र था जिनमें से कुछ में नाटकीय प्रदर्शन का तत्त्व विद्यमान था; अर्थात् संस्कार-कर्ता उस समय के लिए अपने व्यक्तित्व से भिन्न रूप धारण करते थे। सोम-यज्ञ के लिए किये जाने वाले सोम-क्रय की विधि में इसका रोचक दृष्टांत मिलता है। कतिपय विवरणों में सोम-विक्रेता अनुष्ठान की समाप्ति पर दाम से वंचित किया गया है, और पीटा गया है या ढेलों से मारा गया है। ऐसी दशा में यह संदेह नहीं हो सकता कि यहाँ पर सोम-व्यापार के निषेध का प्रतिबिंब नहीं बल्कि संरक्षक गंधर्वों से सोम प्राप्त करने का नाटकीय वृत्तांत मिलता है। इस प्रकार दुर्व्यवहृत विक्रेता की भूमिका अदा करने वाले शूद्र की मध्ययुगीन रहस्य-रूपकों के प्राय: दुर्व्यवहृत शैतान के साथ की गयी तुलना में कुछ सच्चाई है।[1] परंतु हमें अभिनय की मात्रा की अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए। उसमें नाटकीय दृष्टि की अत्यंत कमी है। यह बात प्रोफ़ेसर **वान श्रेडर** के द्वारा उनके ऊहापोह में आद्योपांत उपेक्षित है। वास्तविक नाटक के अस्तित्व में आने की बात तभी कही जा सकती है जब अभिनेता, लाभ के लिए न सही, अपने को और दूसरों को आनंद देने के लिए, अभिनय के उद्देश्य से सोच-समझ कर भूमिका अदा करें। यदि कर्मकांड में अभिनय के तत्त्वों का समावेश है तो उसका उद्देश्य अभिनय नहीं है, बल्कि अभिनेता किसी साक्षात् धार्मिक अथवा चमत्कारक फल के लिए प्रयत्नशील है। उदाहरण के लिए, विवाह-संस्कार में आकाश और पृथ्वी के साथ पति और पत्नी के तादात्म्य को किसी भी अर्थ में नाटकीय मानना, अथवा **इंद्र** के दिव्य अभिषेक पर अवधानपूर्वक आधारित किसी राज्याभिषेक के अनुष्ठान में नाटक का दर्शन करना हास्यास्पद होगा। इस अनुष्ठान के मूल में निहित धारणा यह थी कि राजा उतने समय के लिए इंद्र-रूप समझा जाता था, और अपने प्रताप की कुछ मात्रा इस प्रकार प्राप्त करता था।

महाव्रत[2] में हमें ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो महत्त्व के हैं, क्योंकि वे उन उपादानों

---

१. Hillebrandt. Ved. Myth., i. 69 ff.

२. Keith, शांखायन आरण्यक, pp., 72 ff.

का निर्देश करते हैं जिनसे नाटक का विकास संभव था। महाव्रत स्पष्टतया ऐसा अनुष्ठान है जिसका उद्देश्य मकरसंक्रांति के अवसर पर सूर्य को शक्तिशाली बनाना है, जिससे वह अपना ओज पुनः ग्रहण कर सके और धरती को उपजाऊ बना सके। तदनंतर अनुष्ठान का एक आवश्यक अंश है—गौरवर्ण वैश्य और कृष्णवर्ण शूद्र का एक चिकनी सफेद खाल के लिए संघर्ष, जो अंततोगत्वा विजयी वैश्य के पल्ले पड़ती है। इस अनुष्ठान के वास्तविक स्वरूप की अवज्ञा किये बिना, इसमें सूर्य के लाभार्थ तमोबल (शूद्र) के विरुद्ध संघर्षशील तेजोबल (आर्य) के अनुकरणीय द्वंद्व को न देखना असंभव है। मानवजातिविज्ञान-संबंधी उदाहरणों की अवहेलना करके ग्रीष्म और शीत के द्वंद्व (जिसमें पहला गौर आर्य द्वारा और दूसरा काले शूद्र द्वारा प्रतिरूपित होता था) के बहुसंख्यक रूपों से इस प्रसंग को विच्छिन्न करना भी असंभव है। वस्तुतः हमें एक आदिम नाटकीय कर्मकांड मिलता है, और कहा जा सकता है कि वह सारे वैदिक युग में लोकप्रिय था। उसी अनुष्ठान में एक विचित्र उपाख्यान की विशेषता पायी जाती है; एक दूसरे को भद्दी गाली देते हुए एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी तथा गणिका का प्रवेश कराया गया है। कर्मकांड के प्राचीनतर रूप में हम वस्तुतः देखते हैं कि प्रजनन-याग के रूप में लैंगिक संयोग विहित है, यद्यपि परवर्ती काल की रुचि के अनुसार यह प्रथा अवांछनीय समझ कर छोड़ दी गयी। इस गाली का कर्मकांडपरक उद्देश्य निर्विवाद है; इसका प्रयोग उर्वरता उत्पन्न करने के लिए किया गया है। इसका बिल्कुल ठीक उदाहरण अश्वमेध में उस अवसर पर प्रयुक्त भाषा (जिसका भाषांतर असंभव है) में मिलता है जब अभागिनी पटरानी आहत अश्व के बगल में लेटने के लिए विवश की जाती है। हम कल्पना कर सकते हैं कि इसका प्रयोजन उस राजा के लिए, जिसका विजयोत्सव इस प्रकार मनाया गया है, पुत्र-लाभ का दृढ़ विश्वास प्राप्त करना है।[1]

परंतु, यहाँ पर मूलतत्त्वों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। और, तर्कसंगत निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उस समय नाटक की जानकारी नहीं थी। यजुर्वेद में हमें हर संभव प्रकार का व्यवसाय करने वाले प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की लंबी सूची मिलती है, और 'नट' शब्द (जो उत्तरकालीन साहित्य में अभिनेता का प्रसामान्य अभिधान है) अज्ञात है। हमें केवल एक शब्द[2] 'शैलूष' मिलता है, जो बाद में निरंतर उस अर्थ का द्योतक है, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि उसका अर्थ अभिनेता है। उसका मुख्यार्थ गायक या नर्तक हो सकता है,

---

१. Keith, HOS, xviii. cxxxv. २. VS. xxx. 4; TB. iii, 4. 2.

क्योंकि नर्तन तथा गान दोनों का उल्लेख विल्कुल सान्निध्य में किया गया है।

दूसरी ओर, प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड (Hillebrandt)[१] इस वात से संतुष्ट हैं कि हमें वास्तविक कर्मकांड-संबंधी रूपक मिलता है। प्रोफ़ेसर **कोनो** (Konow)[२] का आग्रह है कि ये वस्तुतः कर्मकांड-संबंधी रूपक है, और कर्मकांड ने तत्कालीन लोकप्रचलित स्वाँग से उन्हें ग्रहण किया है, जिनमें संवाद, अश्लील कथोपकथन तथा मुक्का-मुक्की का अवश्य प्रयोग होता रहा होगा, परंतु जिसके मुख्य अंग थे—नृत्य, गीत एवं वाद्य जिनकी **कौशीतकिब्राह्मण**[३] में कलाओं के रूप में गणना की गयी है, किंतु द्विजातियों के लिए जिनके उपयोग का **पाराशरगृह्यसूत्र**[४] ने निषेध किया है। इस अनुमान के लिए अपेक्षित प्रमाण का सर्वथा अभाव है, और यह अत्यंत अर्थपूर्ण है कि वैदिक रचनाएँ 'नट' की उपेक्षा करती हैं,[५] जिसकी सक्रियता (सभी प्रमाणों के अनुसार) परवर्ती युग में पायी जाती है। हाँ, चुप्पी के आधार पर किसी तर्क का परिहार करना सदा संभव है, यद्यपि इस प्रतिवाद का मूल्य इस वात से ही घट जाता है कि **यजुर्वेद** के पुरुषमेध की कंडिकाओं में व्यवसाय के विभिन्न रूपों की अवेक्षणीय परिगणना की गयी है, जहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पित पुरुषमेध में ब्राह्मण-कल्पना ने मानव-गतिविधि के प्रत्येक रूप के परिगणन का आयास किया है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि धार्मिक की अपेक्षा धर्मनिरपेक्ष मूकनाट्य विश्व भर में प्राचीनतर है, और न तो इस वात का कोई संकेत मिलता है कि भारत के विषय में ऐसा था। अतः नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रोफ़ेसर **कोनो** के सुझाव को मानना विलकुल असंभव प्रतीत होता है।

नाटक में प्रवेश करने वाले अन्य तत्त्वों में से सामवेद के गान तथा समारोहों में किये जाने वाले नृत्य हैं। इस प्रकार **महाव्रत** के अवसर पर फसल के हेतु पानी बरसाने तथा जनसमूह की समृद्धि-प्राप्ति के लिए वालाएँ टोटके के रूप में आग के चारों ओर नृत्य करती हैं। विवाह-संस्कार के समापन के पहले[६]

१. AID. pp. 22 f. २. ID. pp. 42 ff. ३. xxix. 5. ४. ii. 7. 3.

५. वैदिक 'नृतु' और 'नृत्त' के विरुद्ध इस शब्द का प्राकृत रूप इस वात का उचित प्रमाण है कि कठपुतली के नाच का विकाश पुरोहित-समाज की अपेक्षा जन-मंडलों में अधिक हुआ हैं। परंतु इससे यह विलकुल सूचित नहीं होता कि इस प्रकार जा नाच मूलतः धर्मनिरपेक्ष था, अथवा यह कि धार्मिक नृत्य की अपेक्षा इस नृत्य ने नाटक को अधिक योगदान दिया.

६. शाङ्खायनगृह्यसूत्र i. 11. 5.

सौभाग्यवती नारियों का नृत्य होता है। प्रत्यक्ष है कि इसका उद्देश्य विवाह को स्थायी तथा सफल बनाना है। जब किसी की मृत्यु होती है, और विसर्जन के लिए अस्थि-संचय किया जाता है तब मातम मनाने वाले उस सजे हुए पात्र (जिसमें मृत व्यक्ति के अंतिम अवशेष रखे होते हैं) के चारों ओर घूमते हैं, और नर्तक उपस्थित रहते हैं जो वीणा एवं वंशी की गत पर नाचते हैं; नाच, बाजे, और गाने का क्रम मातम के सारे दिन चलता रहता है।[1] भारतीय नाट्यकला के संपूर्ण इतिहास में नाटक के साथ नृत्य घनिष्ठतया संबद्ध है, और शिव तथा विष्णु-कृष्ण की पूजा-पद्धति में इसका महत्त्वपूर्ण भाग है। अतएव प्रोफ़ेसर ओल्डेनबर्ग ने इस सिद्धांत का समर्थन किया[2] कि नाटक का उद्भव धार्मिक नृत्य से हुआ है; स्वभावत:, मूकनाट्य के स्वरूप वाले आंगिक अभिनय से सहचरित यह नृत्य गीत से संयुक्त हुआ, और बाद में संवाद से संपन्न हुआ, यही नाटक के उद्भव का कारण हुआ होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम यह मत भी मान लें कि अश्वमेध और महाव्रत के अवसर पर प्रयुक्त अपवचनों में दृष्टिगत याज्ञिक तत्त्व से संवाद संमिलित किये गये थे, तो हम वैदिक कर्मकांड में ही नाटक के विकास के मूलतत्त्वों को विद्यमान देख सकते हैं।

इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि नाटक का उद्भव वैदिक युग में हुआ, परंतु यह संदेहास्पद है कि इस प्रकार के प्रस्ताव से कोई लाभ भी हुआ है। जब तक ऋग्वेद के सूक्तों में हमें यथार्थ रूपक नहीं मिल जाता, जो सर्वथा संदिग्ध है, तब तक हमारे पास इस बात का तनिक भी प्रमाण नहीं है कि मूलतत्त्वों का सामंजस्य और कथानक का विकास (जो वास्तविक नाटक का संघटन करते हैं) वैदिक युग में किये गये थे। इसके विपरीत, इस विश्वास के सभी प्रमाण मौजूद हैं कि इतिहासकाव्य की उक्तियों के द्वारा ही नाटक की सुप्त संभावनाएँ प्रबुद्ध हुईं, और साहित्यिक रूप निर्मित हुआ। इस विषय में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात निश्चित रूप से प्राय: उपेक्षित रही है। संस्कृत-नाटक के आवश्यक उपादान-तत्त्व (जैसा कि उक्त मत से सूचित होता है) गीत और गद्य नहीं हैं। बहुसंख्यक श्लोक (जो नाटक की प्रमुख विशेषताओं में से एक है) पढ़े जाते थे, गाये नहीं जाते थे, और इसमें संदेह नहीं कि पाठ की प्रथा इतिहासकाव्य से ही मुख्यतया प्राप्त हुई थी। प्रोफ़ेसर ओल्डेनबर्ग[3] नाटक के विकास में इतिहास-

१ Caland, Die altindischen Todten-und Bestattungsgebräuche, pp.138ff.

२ Die Literature dee alten Indien, p. 237; Macdonell, Sanskrit Literature, p. 347.

३ Die Literatur des Indien, p. 241. मेक्सिको में विधि-संबंधी नाटक का उपादान मिलता है (K.Th. Preuss, Archiv für Anthropologie, 1904, pp.158ff.), किंतु इतिहासकाव्यात्मक तत्त्व नहीं।

काव्य का अत्यधिक महत्त्व वस्तुतः स्वीकार करते है, तथापि यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि इतिहासकाव्य के पाठ के बिना किसी भी दशा में नाटक न होता और न हो सकता था। ग्रंथिकों द्वारा इतिहास-काव्य के उद्धरणों के पाठ का पक्का विश्वास प्राप्त करने के बाद तक (जैसा कि आगे देखा जाएगा) नाटक-जैसी वस्तु के अस्तित्व का हमें कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

: २ :

वेदोत्तर साहित्य और नाटक का उद्भव

१. इतिहासकाव्य

भारत के महान् इतिहासकाव्य **महाभारत** से, उसके प्राचीनतर अंशों के संपूर्ण आयाम में, नाटक के अस्तित्व का किसी व्यक्त रूप में पता नहीं चलता।[१] 'नट' शब्द अवश्य प्रयुक्त हुआ है, और, यदि इसका अर्थ अभिनेता मानें, तो नाटक का अस्तित्व सिद्ध हो जाए, परंतु यह शब्द समान औचित्य के साथ केवल मूक-अभिनेता का वाचक हो सकता है। इसके अतिरिक्त, इस निष्कर्ष का दृढ़ समर्थन इस विलक्षण तथ्य से होता है कि, यदि **महाभारत** को नाटक की जानकारी होती तो क्या वह उसकी किसी विशेषता अथवा विदूषक-जैसे स्थायी पात्र का कहीं भी उल्लेख न करता। इससे भी अधिक अर्थपूर्ण यह है कि इस इतिहास-काव्य के परवर्ती भागों में भी, जैसे कि **शांति** तथा **अनुशासन** पर्वों में, कला का स्पष्ट निर्देश नहीं है। क्योंकि, शांतिपर्व का वह स्थल[२] जिसमें प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड ने नाट्य-शिल्पी का निर्देश बतलाया है पूर्ण औचित्य के साथ मूक-अभिनय पर लागू हो सकता है, और **अनुशासन पर्व**[३] के उस स्थल से, जिसमें टीकाकार **नीलकंठ** नटों तथा नर्तकों का निर्देश समझते है, बिलकुल सही अर्थ निकलता है—मूक-अभिनेता और नर्तक। ये दोनों ही व्यवसाय वहाँ पर ब्राह्मणों द्वारा निषिद्ध हैं। नाटक का पता लगाने के लिए हमें हरिवंश[४] का सहारा लेना पड़ेगा, जो **महाभारत** का उद्देश्यपूर्ण अनुबंध है। उसमें निश्चित साक्ष्य उपलब्ध होता है, क्योंकि उससे हमें ऐसे नटों की जानकारी प्राप्त होती है जिन्होंने **रामायण** के उपाख्यान से नाटक का निर्माण किया। परंतु नाटक का समय निश्चित करने के उद्देश्य से इसका कोई महत्त्व नहीं है; **हरिवंश** का समय अनिश्चित है, किंतु अधिक संभावना इस बात की है कि अपने वर्तमान रूप में यह दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० के पूर्व का नही हो सकता। इसमें संदेह नहीं है कि इस समय के बहुत पहले ही संस्कृत-नाटक अस्तित्व में आ चुका था।

---

१. Hopkins, The Great Epic of India, pp. 55ff. ii. 11. 36 में 'नाटक' बहुत बाद का है; JRAS. 1903, pp, 571f.

२. xii, 140. 21   ३. xiii, 33. 12.   ४. ii. 88ff.

नाटक का पुराकालीन अस्तित्व सिद्ध करने के प्रयत्न में **रामायण** से कुछ सहायता नहीं मिलती। हमें समारोहों तथा समाजों की, जिनमें नट एवं नर्तक आनंद मनाते हैं,[1] और नाटकों के उल्लेख[2] की भी सूचना मिलती है। एक अन्य स्थल पर 'व्यामिश्रक'[3] शब्द, यदि हम टीकाकार पर विश्वास करें, मिश्रित भाषा के रूपकों का संकेत करता है। परंतु, इन सब उल्लेखों को वास्तविक मानते हुए भी, जिसके लिए हम बाध्य नहीं हैं, उक्त स्थल नाटक के पुराकालीन होने का साफ दावा नहीं कर सकते। इसके अन्य कारण भी हैं। अतः उसके पुराकालीन होने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता।

परंतु, यद्यपि इतिहासकाव्यों को नाटक से परिचित नहीं कहा जा सकता तथापि इस बात का पर्याप्त साक्ष्य मौजूद है कि उनके पाठ ने नाटक के विकास पर गंभीर प्रभाव डाला। इन पाठों की अविच्छिन्न लोकप्रियता संपूर्ण साहित्य में प्रमाणित है। सातवीं शताब्दी ई० के आरंभ में[4] **कंबोडिया** के राजपरिवार के संबंधी ब्राह्मण **सोमशर्मा** ने भारतीय सभ्यता की उस सुदूरवर्ती बाहरी चौकी के एक मंदिर को संपूर्ण '**भारत**' की एक प्रति भेंट की, जिससे उसका निरंतर पाठ होता रहे। लगभग उसी समय में **बाण** ने **कादम्बरी** में इतिहासकाव्य का पाठ सुनने के लिए शिव के मंदिर में पहुँचने के लिए शीघ्रता करती हुई रानी का चित्रण किया है। चार शताब्दियों बाद **क्षेमेंद्र** अपने समसामयिक जनों की इस बात पर भर्त्सना करते हैं कि वे इस प्रकार के पाठ सुनने के लिए तो समान रूप से आतुर हैं, किंतु उनमें निहित श्रेष्ठ उपदेशों को कार्यान्वित करने के प्रति उदासीन हैं। आधुनिक समय में मंदिरों में ही नहीं अपितु गाँवों में भी इस प्रकार के पाठ का विशद वृत्तांत मिलता है। समस्त उपयोगी ज्ञान का विश्वकोश तथा सुंदरतम काव्य होने का दावा करने वाले विशालकाय काव्यग्रंथ के पारायण के लिए, किसी धनी व्यक्ति की उदारता से, यदि आवश्यकता पड़े तो तीन महीने या अधिक समय के लिए, कथकों को बुलाया जाता है। कथावाचक दो वर्गों में विभाजित हो जाते हैं—पाठक, जो काव्यपाठ करते हैं, और धारक, जो लोगों की ज्ञान-वृद्धि के लिए व्याख्या करते हैं। पाठ में उनकी अगाध रुचि प्रमाण-सिद्ध है। यदि पाठ के लिए इतिहासकाव्य **रामायण** चुना गया है, तो नायक **राम** के वन-गमन

१. ii. 67. 15. २. ii. 69. 3.

३. ii. 1. 27. Hillebrandt ZDMG. lxxii. 229, n. 1; contra, SBAW. 1916, p. 730.

४. Barth, Inscr. Sansc. du Cambodge, p. 30. महाभारत के अन्त में इस प्रकार के पाठों का अस्तित्व स्पष्टतया स्वीकृत है; Oldenberg, Das Mahabharata, p. 20.

के प्रसंग से अभिभूत होकर वे, पाठ में बाधा होने पर भी, अश्रुपात करने और सिसकने लगते हैं। जब **राम** वापस आकर सिंहासनासीन होते हैं तब रोशनी और फूलमाला से गाँव सजाया जाता है।[१] सौभाग्यवश **सांची** से प्राप्त एक उद्भृत-चित्र-लेख (bas-relief)[२] में, जो विश्वासपूर्वक सन् ई० के पहले का माना जा सकता है, हमें इन कथकों की एक मंडली का प्रतिरूपण मिलता है। इसमें हम देखते हैं कि वे किसी सीमा तक वाद्य की गत पर पाठ करते, नाचते, और अनुकार्य पात्रों के भावों का आंगिक अभिनय द्वारा प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार हमें ऐसी वस्तु मिलती है जो निश्चय ही अनाटकीय नहीं है। उसमें संवाद की योजना कर देने पर अविकसित नाटक का रूप प्राप्त हो जाएगा। **रामायण**[३] के उत्तरकालीन परिवर्धित अंशों में दिये गये उस काव्य के प्रथम पाठ के वृत्तांत में इस उपाय का पूर्वसंकेत किया गया है, किंतु प्रयोग नहीं। **राम**-चरित के प्रबंध के रचयिता **वाल्मीकि** वह काव्य बालक **कुश** तथा **लव** को पढ़ाते हैं, जिनका पालन-पोषण निर्वासित **सीता** ने **राम** के लिए किया है। राजा **राम** के अश्वमेध के अनुष्ठान के समय वे दोनों अयोध्या में प्रविष्ट होते हैं, और स्वयं राजा के मन में उत्सुकता जागृत करते हैं। **राम** उन दोनों महाकाव्य-पाठकों से अपने चरित का पाठ सुनते हैं, और उन्हें अपने ही पुत्र के रूप में पहचान लेते हैं।

'भरत' शब्द[४], जो बाद के ग्रंथों में नट की एक संज्ञा है, नाटक के विकास के साथ महाकाव्य-पाठकों का संबंध प्रमाणित करता है। यह शब्द पाठकों के एक समुदाय के द्योतक 'भाट' के आधुनिक रूप में जीवित बच रहा है, जो इतिहासकाव्यों के पाठ की परंपरा के उत्तराधिकारी हैं, और वंशावली के विशेषज्ञ हैं। वे सार्वजनिक प्रतिष्ठा के पात्र हैं, और किसी काफिले के साथ उनकी उपस्थिति मात्र से उसका सुरक्षित रूप से पार हो जाना निश्चित है। भरतों को भारत-कुल-संबंधी[५] होना चाहिए, जिनकी प्राचीन भारतीय इतिहास में बड़ी ख्याति है, जिनकी विशिष्ट अग्नि का पता ऋग्वेद से चलता है, और जिनका अपना विशिष्ट होत्र है। **महाभारत** उस कुल का महान् इतिहासकाव्य है, जिसको उन्होंने सावधानी से सुरक्षित रखा है। इसमें संदेह नहीं है कि समय बीतने के साथ ही उन महाकाव्य-पाठकों ने नाटक की अभिनव कला का काम हाथ में ले लिया। **उत्तररामचरित** से सूचित होता है कि **भवभूति** को उस नाटक पर इतिहास-

---

१. Max Müller, India, p. 81. मिलाकर देखिए— Winternitz, GIL. iii. 162, n. 1.

२. E. Schlagintweit, India in Wort und Bild, i. 176.

३. vii. 93.

४. Lévi, TI. i. 311f.

५. Macdonell और Keith, Vedic Index, ii. 94ff.

काव्य के ऋण का बोध है, और अब उस महान् इतिहासकाव्य के प्रति व्यापक रूप से ऋणी **भास** के नाटकों में इसका स्पष्टतम प्रमाण उपलब्ध है।

'कुशीलव' शब्द, जो कभी-कभी अभिनेता का द्योतन करता है, **रामायण** के 'कुश' और 'लव' से प्रत्यक्षतः व्युत्पन्न हुआ है। समास-रचना का ढंग अवश्य विलक्षण है, क्योंकि यह स्पष्ट नहीं होता कि इसकी रचना ऐसे समास के रूप में क्यों की गयी है जिसका पहला पद स्त्री-वाची है। परंतु, यह समझना भी यदि अधिक नहीं तो उतना ही कठिन है कि 'कु'-पूर्वक 'शील' से, जिसका ('कुशील'का) अर्थ 'बुरे आचरण वाला' है, इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे संभव हुई। वैदिक रचनाओं के 'शैलूष', और नट-सूत्र से संबद्ध **शिलालिन्** के साथ इस नाम की तुलना का **वेबर** द्वारा किया गया प्रयास असंगत है। संभव है कि मूलतः 'कुश' और 'लव' से व्युत्पन्न यह नाम बाद में व्यंग्योक्ति के द्वारा, सामान्यतया बुरे समझे जाने वाले अभिनेताओं के आचरण पर आक्षेप के रूप में, 'कुशीलव' में परिवर्तित हो गया।[१]

२. वैयाकरण

पाणिनि[२] ने **शिलालिन** और **कृशाश्व** द्वारा रचित बताये जाने वाले नटसूत्रों का, जो नटों के लिए रचित पाठ्यपुस्तकें हैं, उल्लेख किया है। यह तथ्य उनके अनुयायियों (शिलालियों तथा कृशाश्वियों) के द्वारा गृहीत नामों की रचना के प्रसंग में अभिलिखित है। ये नाम विलक्षण है। प्रोफ़ेसर **लेवी** का सुझाव है कि उनमें व्यंग्यात्मक उपाधियाँ द्रष्टव्य हैं—कृशाश्वी वे है जिनके अश्व कृश हैं, और शिलाली वे हैं जिनकी शय्या शिला मात्र है। यह अवस्था उसी नाम की वैदिक शाखा की, जिसके शैलालि ब्राह्मण से हम परिचित हैं, ख्याति के मुकाबले में दयनीय है। परंतु दुर्भाग्य से यहाँ भी हम पहले की भाँति ही ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि 'नट' का अर्थ निश्चित कर सकें। संभव है कि उसका अर्थ 'मूक अभिनेता' से अधिक कुछ न हो। इसका निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बहुत संभाव्य है कि **पाणिनि** का समय चौथी शताब्दी ई०पू० है, और यह तथ्य अर्थपूर्ण है कि उनके पास निश्चित रूप से 'नाटक'-वाचक कोई शब्द नहीं है।

पतंजलि-कृत **महाभाष्य**[३] में, जिसका समय उचित निश्चय के साथ लगभग १४० ई०पू० अवश्य ही मानना चाहिए, नाटक के अस्तित्व के संबंध में कहीं

१. Konow, *ID.* p. 9; Lévi, *ID.* ii. 51. इन महाकाव्य पाठकों के विषय में मिलाकर देखिए—Jacobi, Das Rāmāyaṇa, pp. 62ff.; GGA. 1899, pp. 877 ff.; Hopkins, The Great Epic of India, pp. 364ff.

२. iv. 3. 110f. ३. iii. 2. 111.

अधिक सार्थक प्रमाण मिलता है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वतः देखी गयी वस्तु के विषय में लङ के प्रयोग को लक्ष्य कर के पूर्ववर्ती कात्यायन द्वारा निर्धारित नियम की पतंजलि-कृत आलोचना से विदित होता है कि उनके समय में वाक्यों का इस प्रकार व्यवहार असामान्य था मानो वह घटना वक्ता की आँखों के सामने घटी हो। हम इसको किसी प्रकार के नाटकीय प्रयोग के पात्र के संबंध से ही समझ सकते हैं, और यह अर्थपूर्ण है कि उक्त व्यवहार के उदाहरण-रूप में उद्धृत वाक्य है—'वासुदेव ने कंस का वध किया है।' प्रस्तुत संदर्भ वसुदेव-पुत्र कृष्ण और उनके मामा कंस के प्रसिद्ध उपाख्यान का है, जिसने पहले उनके बचपन में उनको विनष्ट करने का प्रयत्न किया, और बाद में उन्हीं के हाथों मर कर अपने पापों का दंड पाया। इस संकेत का और अधिक स्पष्टीकरण एक विख्यात स्थल पर मिलता है, जिसका पहले पहल निर्देश वेबर ने किया था। उक्त स्थल पर पतंजलि इस प्रकार के वाक्यों का जैसे—'वह कंस का घात कराता है, और 'वह वालि को बँधवाता है।'[1] औचित्य समझाते हैं। ये दोनों कृत्य, वास्तविक हनन तथा वास्तविक बंधन, सुदूर अतीत की घटनाएँ हैं; उनके लिए वर्तमान का प्रयोग कैसे हो सकता है? इसका उत्तर दिया गया है—वे घटनाएँ वर्तमान काल में वर्णित हैं क्योंकि वहाँ पर तात्पर्य यह न होकर कि वे कृत्य वस्तुतः किये जा रहे हैं, यह है कि उनका वर्णन किया जा रहा है। तदनंतर वर्णन के कम से कम तीन प्रकार बतलाये गये हैं। सबसे पहले शौभिकों या शोभनिकों का नाम आता है, है, जो दर्शकों की आँखों के सामने वास्तव में कंस-वध करते हैं तथा वालि को बाँधते हैं,—स्पष्ट है कि पहले उदाहरण में केवल आभास-रूप में। जहाँ तक कि इस स्थल की शब्दावली से विदित होता है, वे दुष्ट कंस के वध और पापी वालि के बंध का आंगिक अभिनय करते हैं, वाचिक नहीं। दूसरे, चित्रकार हैं। अपनी

---

१ ये तावदेते शोभानिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षम् वालिम् बन्धयन्ति। चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपातिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंस-कर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्या-विनाशादृद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो वुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते: केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति: केचित् कालमुखा भवन्ति, केचिद् रक्तमुखाः। देखिए—३।१।२. केवल कुछ हस्तलेखों में प्राप्त निरर्थक 'ऋद्धीः' के स्थान पर, जिसका पक्षपोषण लूडर्स (Lüders) ने किया है, 'बुद्धीः' का निवेश कर के अंशतः संदिग्ध पाठ का संशोधन किया जाना चाहिए। देखिए—Weber, IS. xiii. 487 ff. 'शौभिक' पाठांतर है.

चित्रकारी द्वारा वे वर्णन करते हैं, क्योंकि चित्र-पट पर ही हम कंस के ऊपर प्रहारों की बौछार और उसका इधर-उधर घसीटा जाना देखते हैं, अर्थात् चित्रकार इन घटनाओं का वर्णन करने वाले दृश्य का चित्रण करके कंस-वध और बालि-बंध करता है। तीसरे, ग्रंथिक है, जो शब्दों का प्रयोग करते हैं, शौभिकों की भाँति आंगिक व्यापार नहीं। वे भी अपने कथानायकों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए श्रोताओं को उनकी वास्तविक रूप में प्रतीति कराते हैं। इसके हेतु वे अपने को दो दलों में विभाजित कर लेते है—कृष्ण-भक्त और कंस-भक्त। वे भिन्न रंगों का चेहरा बनाते हैं—कंस-भक्त काले रंग का, और कृष्ण-भक्त लाल रंग का;. यद्यपि अनेक हस्तलेखों में, संभवतः भ्रांतिपूर्ण संशोधन के कारण, ये रंग विपरीत-क्रम से आरोपित किये गये हैं।

यह बात स्पष्ट और बुद्धिगम्य है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हाल में ही प्रोफ़ेसर लूडर्स (Lüders)[1] ने इसको गलत समझा है। इस संकेत को समझने के प्रयत्न में वे अनर्थपूर्ण परिणामों पर पहुँचे हैं। शौभिक लोग सामाजिकों के प्रति छाया-चित्रों की व्याख्या करने वाले व्यक्ति बतलाये गये हैं। यह मत भारतीय परंपरा द्वारा समर्थित नहीं है, और, जैसा कि आगे देखा जाएगा, यह भारत में छाया-नाट्य के विषय में ज्ञात तथ्यों के सर्वथा विरुद्ध है, जहाँ इसका उल्लेख केवल उत्तर-मध्यकाल में हुआ है। भारत में उक्त कथन की परंपरा-प्राप्त व्याख्या एक हजार से अधिक वर्षों के बाद कैयट द्वारा अभिलिखित है। वह सचमुच दुरूह है। प्रोफ़ेसर लेवी[2] इसका अर्थ लगाते हैं कि शौभिक वे हैं जो कंस आदि का रूप धारण करके अभिनेताओं को पाठ की विधि सिखाते हैं। यह व्याख्या निस्संदेह बहुत जटिल है। इसी में स्वर मिला कर प्रोफ़ेसर लूडर्स ने अर्थ किया है कि शौभिक सामाजिकों के समक्ष मूक-अभिनेता का रूप प्रस्तुत करते हैं। यह नाटक के उसी रूप का उल्लेख है जैसा कि आधुनिक काल में बंबई और मथुरा की झाँकियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, परंतु प्राचीन भारत में जिसके अस्तित्व का निश्चित प्रमाण नहीं है, क्योंकि यही एक मात्र स्थल है जो खींचतान करके ही उस रूप की ओर निर्देश करने वाला माना जा सकता है।

---

१ SBAW. 1916, pp. 698ff. Cf. Hillebrandt, ZDMG, lxxii. 227 f. Keith, Bulletin of School of Oriental Studies, I. iv. 27ff. Winternitz (ZDMG. lxxiv. 118ff.) Lüders का निष्फल समर्थन करते हैं, यद्यपि वे इस दृष्टि की असाधारण जटिलताओं को स्वीकार करते हैं। यह भ्रांति, कला और आंगिक अभिनय की उपेक्षा कर के, इस कल्पना के कारण हुई है कि वर्णन (आचष्टे) केवल शब्दों में किया जा सकता है.

२ TI. i. 315. शब्द हैं: कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः।

वेवर[1] का सुव्यक्त मत है कि उक्त स्थल पर मूक-अभिनय के रूप में हनन और बंधन का निर्देश उपलब्ध है। यह मत अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रेरणार्थक क्रिया के प्रयोग का समाधान इस बात से किया गया है—यदि वालि और कंस वर्तमान काल के व्यक्ति होते तो उनके बंधन और हनन को साधारण क्रिया व्यक्त करती; चूँकि अभिनेता ही हैं, इसलिए प्रेरणार्थक क्रिया प्रयुक्त हुई है, और उसका प्रयोग सूचित करता है कि वह क्रिया वर्तमान काल में यथार्थ नहीं है वल्कि किसी व्यतीत क्रिया का प्रस्तुतीकरण है। 'वह वालि को बँधवाता है' का अर्थ है 'वह वालि के बाँधे जाने का वर्णन करता है'। इस स्थल के संबंध में एक मात्र उचित संशय इस बात के विषय में है कि **शौभिकों** के अभिनय का यथार्थ रूप क्या था। मूल-रचना में प्रयुक्त 'प्रत्यक्षम्' पद का आग्रह है कि यह कृत्य दर्शकों के समक्ष किया गया है, और हम औचित्य के साथ अनुमान कर सकते हैं कि वे आंगिक अभिनय करते थे। क्या वे संवाद का भी प्रयोग करते थे? उक्त स्थल में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह सूचित हो कि वे करते थे या नहीं। वाद में चल कर शब्द के माध्यम का प्रयोग करने वाले ग्रंथिकों के संबंध में दिखाई देने वाला वैषम्य काफी स्पष्टता से सूचित करता है कि वे शब्दों के प्रयोग के साथ ही आंगिक अभिनय भी करते थे। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि अभिनेता के वाचक-रूप में **'शौभिक'** या **'शोभनिक'** परवर्ती काल में प्रचलित नहीं है, जो इस मत के विरुद्ध समझा जा सकता है कि यहाँ पर **पतंजलि** यथार्थ नाटक का वस्तुतः निर्देश कर रहे हैं। यह तर्कना कि यदि उन्हें यथार्थ नाटक का पता होता तो वे उसका स्पष्टतया उल्लेख अवश्य करते **पतंजलि** की रीति की सर्वथा अवहेलना है। जिन बातों का उन्हें अवश्य ज्ञान रहा होगा उनके विषय में उनका मौन उतना ही प्रसिद्ध है जितना कि तत्कालीन प्रचलित विषयों का प्रासंगिक उल्लेख।

प्रोफ़ेसर लूडर्स ने उक्त स्थल की शाब्दिक विवृति करते हुए आग्रह किया है कि वह शब्दों द्वारा कथा करने वालों के विभिन्न प्रकारों का निर्देश करता है, उनकी यह भ्रांति **पतंजलि** द्वारा निर्दिष्ट व्यक्तियों के दूसरे वर्ग के विषय में विशेष रूप से उभर कर सामने आती है। भारतीय टीकाकारों ने स्पष्टतया स्वीकार

---

१. Weber के कथन का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि वास्तविक हनन में उनकी प्रतीति थी, परंतु, यदि ऐसा है तो वे स्पष्ट रूप से भ्रांत थे, और सच बात यह है कि उन्होंने इसे केवल संभव कहा है (IS. xiii. 490.). उस शब्द के अन्यत्र प्रयोग से सूचित होता है कि शौभिक शारीरिक कार्य करते थे और मूलतः वक्ता नहीं थे; इस प्रकार 'काव्यमीमांसा' में, पृ० ५५, वे रज्जुनर्तकों और मल्लों के वर्ग में रखे गये हैं.

किया था कि चित्रकार के चित्रपट ही जीवंत वाणियाँ हैं। **हरदत्त** ने सरलतम एवं स्पष्टतम भाषा में बतलाया है कि जब लोग उस चित्र को देखते है जिसमें **वासुदेव** के हाथों **कंस** की मृत्यु प्रदर्शित की गयी है तब वे चित्र का अर्थ करते हैं--भगवान् **वासुदेव** के द्वारा दुष्ट **कंस** का हनन, और इस प्रकार चित्रगत **वासुदेव** के द्वारा चित्रगत **कंस** का वध करवाते हैं, क्योंकि चित्र का प्रेक्षण करते समय वे यही अवधारणा बनाते हैं। बहुत ही सहज रूप से वे आगे कहते हैं कि चित्रकारों के संबंध में 'कंस-वध करवाते हैं, **बालि**-बंध करवाते है' इस प्रकार की उक्तियों के प्रचलन का यही कारण है।[1] यह समझना कठिन होगा कि यह विचार इससे अधिक समर्थता के साथ कैसे व्यक्त किया जा सकता था, परंतु प्रोफ़ेसर लूडर्स इसका अर्थ लगाते हैं कि चित्रकार अपने निज के चित्रों को कभी-कभी दूसरों को समझाते हैं। यह विचार निरा असंभव ही नहीं है, अपितु **हरदत्त** के कथन को अर्थहीन बना देता है। उक्त आधार पर वे समझते हैं कि **शौभिकों** ने अपने छाया-चित्रों को समझाने के व्यवसाय में दूसरों के चित्रों के प्रदर्शन और व्याख्यान का व्यवसाय शामिल कर लिया। इस विषय में भी उनका मत परंपरा पर आश्रित नहीं है।

अंततः, प्रोफ़ेसर लूडर्स इस बात को अस्वीकार करते हैं कि **ग्रंथिक** लोग अपने को दो दलों में विभाजित करते थे। काव्यसंग्रही महाकाव्य-पाठकों के संबंध में उन्होंने डा० दाहलमान (Dahlman)[2] द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार का प्रत्याख्यान किया है। वे इस नाम की व्युत्पत्ति टीकाकारों की भाँति कथा-पाठ में प्रयुक्त हस्तलिखित ग्रंथों के उपयोग से मानते हैं। अर्थ की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति इतनी काल्पनिक है कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता, परंतु इसमें संदेह नहीं है कि **ग्रंथिक** कथक थे। अर्थ-व्यंजना के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त युक्ति का सम्यक् बोध नहीं होता क्योंकि मूलग्रंथ में पाठांतर है, और अधिकतम संभाव्य पाठ (शब्द-गडु-मात्रम्)[3] में प्रयुक्त दूसरे शब्द का ठीक ठीक अर्थ बिल्कुल अज्ञात

---

१. येऽपि चित्रं व्याचक्षतेऽयम् मथुराप्रासादोऽयं कंसोऽयम् भगवान् वासुदेवः प्रविष्ट एताः कंसकर्षिण्यो रज्जवा एता उद्गूर्णा निपातिताश्च प्रहारा अयं हतः कंसोऽयमाकृष्ट इति तेऽपि चित्रगतं **कंसं** तादृशेनैव वासुदेवेन घातयन्ति। चित्रेऽपि हि तद्बुद्धिरेव पश्यताम्। एतेन चित्रलेखका व्याख्याताः। Lüders की दृष्टि से दूसरा वाक्य व्यर्थ है.

२. Genesis des Mahābhārata, pp. 163ff. महाभारत xiv. 70. 7 में 'ग्रंथिक' का प्रयोग हुआ है; मिलाकर देखिए--ग्रंथिन्, मनु० xii. 103.

३. SBAW. 1916, p. 726. Hillebrandt ने (ZDMG. lxxii. 228)

है। अतएव यह कहना कि वे केवल शब्दों का प्रयोग करते थे, और इस आधार पर यह बात अस्वीकार करना कि वे उपयुक्त रंगरूप बना कर अपने को **कंसभक्तों** और **कृष्णभक्तों** के दो दलों में विभाजित करने वाले माने जा सकते हैं सर्वथा असंगत है। यह दृष्टिकोण हमें इस असंभव मत को मानने के लिए बाध्य करता है कि दलों का विभाजन सामाजिकों की ओर निर्देश करता है। संस्कृत भाषा के प्रति, जिसकी रचना में (यह मान लेना चाहिए कि) **पतंजलि** अवश्य समर्थ रहे होंगे, संमान के प्रश्नों की बात तो दूर रही, इस मत से यह हास्यास्पद परिणाम निकलता है कि **कृष्ण**-भक्त धार्मिक सामाजिकों के बीच बहुत-से **कंस**-भक्तों की कल्पना आवश्यक है—उस नृशंस मामा के भक्तों की कल्पना, जिसके पापों का प्रायश्चित करने के लिए एक भी पुण्य नहीं है, और जिसके विध्वंस पर धार्मिक एवं भक्तिपरक संस्कृत-साहित्य में तनिक भी खेद नहीं प्रकट किया गया है। **'वर्णान्यत्वम्'** का एक मात्र अर्थ बतलाया गया है—रंग-परिवर्तन। यह निराधार है। रंग-परिवर्तन का संबंध दर्शकों से जोड़ा गया है—यदि वे **कंस**-पक्ष के हुए तो, क्रोध से लाल हो जाते हैं, यदि **वासुदेव**-पक्ष के हुए तो, भय से काले पड़ जाते हैं। प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड ने दुर्भाग्य से इस नवीन मत को इस सीमा तक स्वीकार किया है कि वे यह विश्वास करते हैं कि ऐसे लोग थे जो चित्रों की फेरी करते थे और जीविका के लिए उनकी व्याख्या करते थे। परंतु वे इस संभावना में विश्वास करने से औचित्यपूर्वक इन्कार करते हैं कि हिंदू सामाजिकों में ऐसे भी लोग थे जो **कंस** की सफलता की कामना करते थे। वे इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करते हैं कि **ग्रंथिक** भूमिका ग्रहण करते थे। तथापि, वे बतलाते हैं कि रंग दोनों पक्षों द्वारा अनुभूत भावों के प्रतीक हैं। इस मत के समर्थन में **नाट्य-शास्त्र** का प्रमाण है जिसमें प्रत्येक भाव पर वर्ण का आरोप किया गया है। कीलहार्न (Kielhorn) के पाठ को स्वीकार करके वे यह मानने के लिए विवश हैं कि **कंस** के पक्षधर मंच पर स्थायी भाव के रूप में क्रोध प्रदर्शित करते थे, इसके विपरीत कृष्ण के पक्षधर अपने पक्ष के स्थायी भाव के रूप में भय की व्यंजना के लिए बाध्य थे। परंतु यह बात स्पष्ट ही अविश्वसनीय है कि जो अजेय है और शांति तथा वीरता के साथ विजय पर विजय करता हुआ आगे बढ़ता है, जिसकी विजय की पराकाष्ठा दुष्ट मामा के अनायास विध्वंस में होती है, उस **कृष्ण** के अनुगामी स्थायी भाव के रूप में भय प्रदर्शित करें। इस मत के अनुसार हमें वह

Lüders की व्याख्या की प्रभावपूर्ण आलोचना की है, मिलाकर देखिये—R. i. 243 में ग्रंथगडुत्व.

पाठ स्वीकार करना चाहिए जिसमें वर्णन का क्रम उलटा है,[1] अर्थात् कंस-भक्तों के लिए भय निर्धारित किया गया है, और कृष्ण भक्तों के लिए वध एवं प्रतिशोध का क्रोध। परंतु इस लक्षण में, जैसा आगे देखा जाएगा, नाटक की धार्मिक उत्पत्ति का संकेत मिलने की अधिक संभावना है।[2]

३. धर्म और नाटक

वस्तुतः **महाभाष्य** में हमें ऐसे अवस्थान के साक्ष्य का आभास मिलता है जिसमें नाटक के सभी तत्त्व विद्यमान थे; मूक-नाट्य में अभिनय मिलता है, वाणी का भी प्रयोग न सही; और पाठ का विभाजन दो दलों में किया गया है। इसके अतिरिक्त, हमें नटों के विषय में सूचना मिलती है जो केवल पाठ ही नहीं करते किंतु गाते भी हैं। हमें पता चलता है कि **महाभाष्य** के युग में नट की क्षुधा उतनी ही लोक-प्रसिद्ध थी जितना मयूर-नृत्य, उस पर मार पड़ जाना कोई असाधारण बात नहीं थी, उपयुक्त नेपथ्य-रचना करके स्त्रियों का अभिनय करने वाले नट के लिए एक विशिष्ट शब्द प्रचलित था--**भ्रूकुंस**[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि **महाभाष्य** में नारियों का नर्तकियों तथा गायिकाओं के अतिरिक्त रूप स्वीकृत नहीं है।[4] अतः बहुत संभव है कि नाट्यकला के शैशव-काल में स्त्रीपात्रों की

---

१. इससे Lüders के इस मत की अशुद्धता की पुष्टि होती है कि उन्हें विवश होकर 'वृद्धीर्' का, जो 'बुद्धीर्' का उनके द्वारा स्वीकृत पाठ है, अर्थ 'Schicksale' करना पड़ा है। इसलिए वृद्धि का कदाचित् इस अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता; इसका अर्थ 'ऐश्वर्य' है और **कंस** या **बालि** से संबद्ध होने पर हास्यास्पद है। तात्पर्य यह है कि दल बनाकर **ग्रंथिक** दर्शकों के समक्ष पात्रों की भावनाओं को यथार्थ रूप देते हैं, यह सिद्धांत **नाट्यशास्त्र**-प्रतिपादित अभिनेता के कर्तव्य के सर्वथा अनुरूप है। शौभिकों के विषय में Hillebrandt का यह मत कि वे परवर्ती **स्थापक** (**नाट्यशास्त्र**, v. 154ff.; **दशरूपक** iii. 3; **साहित्यदर्पण**, 283) की भाँति सामाजिकों के प्रति रूपक के विषय का विवरण देते थे 'प्रत्यक्षम्' शब्द का प्रत्याख्यान करता है।

२. Lüders के मतानुसार भी, Winternitz (ZDMG. lxxiv. 122) विपर्यय के पक्ष में हैं, यद्यपि Lüders मूल पाठ को महत्त्व देते हैं.

३. i. 4. 29 (नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति); ii. 4. 77 (अगासीन् नटः); ii. 3. 67 (नटस्य भुक्तम्); iii. 2. 127 (नटमाघ्नानाः); iv, 1,3,

४. vi. 3. 43

भूमिकाएँ भी पुरुषों के लिए सुरक्षित थीं, यद्यपि संस्कृत के अभिजात-नाटक में यह कदापि आवश्यक बात नहीं थी। हम यह बात सर्वथा सिद्ध नहीं कर सकते कि **पतंजलि** के समय में नाटक वाचिक और आंगिक अभिनय के सहित अपने पूर्ण रूप में विद्यमान था, परंतु हम जानते हैं कि इसके सभी तत्त्व विद्यमान थे, और हम तर्कसंगति एवं औचित्य के साथ इसका आदिम रूप में अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं।

नाटकीय प्रदर्शनियों के विषयों के स्पष्ट उल्लेख से हम अनुमान कर सकते हैं कि नाटक का आदिम स्वरूप धार्मिक था। **कंसवध** में, **कृष्ण** के हाथों **कंस** की मृत्यु में, प्राचीनतर वनस्पति-याग का परिष्कृत रूपांतर (जिसमें वनस्पति-शक्ति का जीर्ण प्रतिनिधि विनष्ट किया जाता है) न देखना कठिन है। इस मत में रंग की कल्पना इस तथ्य के आधार पर की गयी है कि एक पाठ में युवा **कृष्ण** के पक्ष-धरों को लाल रंग में और **कंस** के पक्षधरों को काले रंग में प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात्, चूंकि **कृष्ण** का नाम काले रंग का द्योतक है, इसलिए, सदाशय लिपि-कारों को यह अनिवार्य-सा प्रतीत हुआ कि कृष्ण के अनुयायियों पर मूलतः आरोपित वर्ण 'रक्त' का संशोधन करके '**कृष्ण**' कर दिया जाए। अधिकांश हस्तलेखों में इन दोनों शब्दों के स्थान-परिवर्तन का यही सफल समाधान है। **कंस**-भक्तों के काले रंग के प्रतिकूल **कृष्ण**-भक्तों के लाल रंग में हमें कदाचित् वनस्पति-शक्ति के विनाश के दूसरे पक्ष का भिन्न संस्मरण मिलता है।[१] यह द्वंद्व प्रायः ग्रीष्म और शीत के बीच उपस्थित किया गया है। हमने महाव्रत में जो देखा है वह संभवतः इस द्वंद्व का आदिम रूप है। सूर्य के लिए गोरा वैश्य काले शूद्र से लड़ता है, और उसके प्रतीकात्मक रूप पर अधिकार कर लेता है। तदनुसार **कृष्ण** के अनुयायियों का लाल रंग उन्हें ग्रीष्म के वृद्धिसामर्थ्य के रूप में उद्घोषित करता है जो शीत के अंधकार को पराजित करते हैं।

ग्रीष्म और शीत के अनुकरणात्मक संघर्ष से यूनानी नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त, जैसा कि डा० फ़ार्नेल (Farnell) द्वारा विकसित किया गया है,[२] इस मत के साथ अत्यंत रोचकता से मेल खाता है। Boiotian Xanthos और Neleid Melanthos के द्वंद्व के उपाख्यान में हमें ज्ञात होता है कि द्वंद्व के

---

१ Keith, ZDMG, lxiv. 534 f.; JRAS. 1911. pp.979ff.; 1912. pp. 411 ff

२ The Cults of the Greek States, v. 233 ff. Miss Harrison, Prof. Gilbert Murray, और Themis में Dr. Cornford, तथा Dieterich, Archiv f. Religionswissenschaft, xi. 163ff. के मतांतर कहीं अधिक अग्राह्य हैं.

समय Melanthos ने अपने शत्रु के बगल में एक आकार देखा, और इस पर ताना मारा कि वह अपनी सहायता के लिए एक साथी लाया है। Xanthos पीछे घूमा, और Melanthos ने उसे मार दिया। वह आकार Dionysos Melanaigis का था, और उसके हस्तक्षेप के लिए एथीनिअनों (Athenians) ने उसको स्वाँग-समारोह Apatouria में प्रवेश देकर पुरस्कृत किया। इस प्रकार काला Melanthos काले मेषचर्म वाले Dionysos की सहायता से गोरे का वध करता है; काला शीत ग्रीष्म के प्रकाश को विनष्ट करता है। आधुनिक युग में भी Northern Thrace[1] में एक सार्वजनिक समारोह मनाया जाता है। उसमें किसी मेषचर्मधारी पुरुष की राजा के रूप में जयजयकार की जाती है। वह जन-समूह पर बीज बिखेरता है—प्रत्यक्षतः प्रजननशक्ति की प्राप्ति के लिए—जो अंततोगत्वा नदी में फेंक दिया जाता है। जीर्ण वनस्पति-शक्ति की यही सामान्य गति है। थ्रेस की प्राचीन राजधानी के समीप प्रदर्शित इसी प्रकार के एक मूक-नाट्य में वर्णन मिलता है कि मेषचर्म-धारी मूक-अभिनेताओं की एक मंडली है, जिनमें से एक मारा जाता है और उसकी पत्नी विलाप करती है। इससे यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि त्रासदी (Tragedy) का मूल मेषचर्मधारी पुरुषों द्वारा प्रदर्शित आदिम भाव-नाट्य में था, जिसमें किसी दिव्य शक्ति के अवतार की हत्या होती थी और शोक प्रकट किया जाता था, जिससे ग्रीक नाटक का शोकगीत-सदृश स्वरूप विकसित हुआ।

आदिम भारतीय-रूपक त्रासदी की उपरिसंकेतित उत्पत्ति से एक तात्त्विक बात में भिन्न है। जैसा कि हम देख चुके हैं उसमें कृष्ण की, वैश्य की, विजय होती है; काले कंस की, काले शूद्र की, नही। अतएव हमें शोक नहीं होता, यद्यपि वहाँ मृत्यु है। यह एक तथ्य है कि संस्कृत-नाटक सुखांतता पर बल देता है। इस तथ्य का निर्विवाद रूप से सफल समाधान तब होगा जब इसका संबंध इस तथ्य से स्थापित कर दिया जाए कि नाटक का मूल भाव-नाट्य में है, जिसका पर्यवसान मृत्यु के द्वारा (शोक में न होकर) आनंद में होता था। भास के नाटकों की प्राप्ति से इस मत की असाधारण मात्रा में पुष्टि हुई है। वह नाटककार परवर्ती शास्त्र के इस नियम का पालन नहीं करता कि रंगमंच पर वध का दृश्य वर्जित है, बल्कि वह अत्यंत दृढ़ निश्चय के साथ कंसवध के इस सिद्धांत के अनुरूप चलता है कि वध देव-विरोधी का होना चाहिए। उरुभंग भ्रांतिवश[2] एक त्रासदी

१. Dawkins, *Journ. Hell. Stud.*, 1906, pp. 191 ff.

२. Lüders (SBAW. 1916, p. 718, n. 3) इस मत के लिये उत्तरदायी हैं कि दुर्योधन नायक है Lindenau (BS. p. 30) इसे स्वीकार करते हैं, परंतु

समझा गया है। इसके विपरीत, उसमें कृष्ण के एक विरोधी की शोचनीय गति का चित्रण है। हमें **भास** का ही **वालचरित** मिलता है जिसमें कृष्ण के हाथों अनेक दानवों की मृत्यु का वर्णन है, और अंततः स्वयं **कंस** की मृत्यु का।

अरिस्तू के अनुसार[1] ग्रीक-नाटक के विकास के योगदान में वहाँ के दीप्तिप्रधान सामूहिक गीत (dithyramb) का विशिष्ट स्थान है। दो दलोंमें विभाजित ग्रंथिकों द्वारा किये गये पाठ में हमें उसके साथ महत्त्वपूर्ण सादृश्य मिलता है। आंगिक अभिनय न तो उक्त गीत के गायकों के लिए आवश्यक था और न ग्रंथिकों के लिए ही, परंतु दोनों ही स्थितियों में आवश्यकता केवल इस वात की थी कि आंगिक अभिनय का समावेश किया जाए। इस प्रकार नाटक का रूप पूर्ण हो जाता।

ग्रीक और **संस्कृत** दोनों के नाटकों में प्रतिद्वंद्विता के आवश्यक तत्त्व संघर्ष का अस्तित्व है, जिससे उनकी उत्पत्ति का इस प्रकार पता लगाया जा सकता है। **ग्रीक**-नाटक में विकसित यह संघर्ष आगे चल कर रूपक पर छा गया, और भारतीय नाटक में यह विशेपता वहुत कम उभरी। परंतु कला के सभी श्रेष्ठ रूपों में यह स्पष्टतया विद्यमान है। इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि प्राचीन अकृत्रिम उपादानों से नाटक का उदय हुआ, और इस संघर्ष से ही उसके श्रेष्ठ रूप विकसित किये गये।

नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के संवंध में एक और तथ्य भी प्रस्तुत किया जा सकता है—भारतीय रूपक के प्रसामान्य नायक राजा के स्थायी और विश्वस्त सहचर विदूपक का चरित्र। 'विदूपक' का संकेतित अर्थ है—भ्रष्ट करने वाला,[2] और नाटकों में अनेक स्थलों पर वह नायिका की किसी परिचारिका के साथ वक्रोक्तिपूर्ण उग्र वाद-विवाद में प्रवृत्त है। उस विवाद में वह अधिक अच्छा प्रभाव नहीं डालता। इस विपय में महाव्रत के ब्राह्मण एवं गणिका के उस संवाद की उपेक्षा करना अनुचित होगा, जिसमें गाली-गलौज प्रजनन के लिए किये गये टोने के रूप में अभिप्रेत है।

ऐसा सुझाया गया है कि विदूपक में विद्यमान एक अन्य धार्मिक तत्त्व की

वास्तविक तथ्य प्रस्तुत करते हैं (pp. 32, 33), वे स्पष्टतः यह नहीं समझ पाते कि दोनो दृष्टियाँ परस्परविरोधिनी हैं। कृष्ण-भक्तों के लिए **'उरुभंग'** का उपसंहार सुखांत है, दुःखांत नहीं.

१. Poetics, 1449 a 10 ff.

२. मिलान कीजिए—the connection of Greek Comedy with ritual cathartic cursing, Keith, JRAS. 1912, p. 425, n. कम न्यायसंगत मतों के लिए देखिए—F. M. Cornford, The Origin of Attic Comedy (1914), Ridgeway, Dramas and Dramatic Dances, pp. 401 ff.

कल्पना की जा सकती है। वह तत्त्व है सोम-क्रय के समारोह में पीटे गये शूद्र की आकृति का संस्मरण। संभवतः विदूषक पर आरोपित कुत्सित आकृति का कारण यही है। प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड[1] उसके साथ Harlequin के इतिहास की तुलना करते हैं, जो मूलतः विनोदी पात्र न हो कर शैतान (Devil) का प्रतिनिधि था। हो सकता है कि ये तत्त्व विदूषक के चरित्र को रूप देने में सहायक रहे हों। परंतु, वह ब्राह्मण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस तथ्य से निष्कर्ष निकलता है कि उसके चरित्र का अश्लील पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही उसके प्राकृत-प्रयोग का असंदिग्ध कारण है। यह असंकल्पनीय था कि ब्राह्मण के द्वारा देववाणी में अश्लील कथोपकथन किया जाता। **महाव्रत** की आदिम सामाजिक अवस्था में गणिका से इस बात की अनुभूति की आशा नहीं की जा सकती थी। प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड ने सुझाया है कि **नाट्यशास्त्र** में दिये गये विवरण की तुलना में साहित्य-गत विदूषक का चरित्र कुछ भिन्न है, परंतु इस दृष्टि के लिए स्पष्टतया कोई उपयुक्त आधार नहीं है।

नाटक और धर्म के घनिष्ठ संबंध के विषय में और भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। यह तथ्य कृष्ण के उपाख्यान से प्रमाणित है। उनके द्वारा **कंस**-वध का अद्भुत कार्य जनता के समक्ष अखाड़े में निष्पन्न होता है, जहाँ वे अपने मामा के दरबारी पहलवानों को पछाड़ते हैं, और अंत में उस अत्याचारी शासक का वध करते हैं। **कृष्ण**-जन्म का महोत्सव तत्त्वतः एक लोकप्रिय झाँकी है। अपने विकसित रूप में उसके विवरण ने Nativity के साथ उसकी तुलना करने के लिए प्रायः प्रेरित किया है।[2] प्रसूता **देवकी,** अपने बच्चे को चिपकाये हुए, अस्तबल में बिछौने पर दिखलायी जाती है। **यशोदा** भी अपनी नन्हीं बालिका के साथ है। वह बालिका **कंस** के द्वारा कृष्ण के लिए निर्धारित गति (मृत्यु) प्राप्त करती है। देवता और अप्सराएँ उन्हें घेर लेती हैं। खड्गहस्त **वसुदेव** उनकी रक्षा के लिए खड़े होते हैं। अप्सराएँ गाती हैं, गंधर्व नाचते हैं, गोपियाँ जन्मोत्सव मनाती हैं, और सामाजिक इस शानदार दृश्य के प्रेक्षण में सारी रात बिताते हैं। इसके अतिरिक्त **कृष्ण** गोपियों के प्रेमी हैं और प्रेम के उत्साहपूर्ण नृत्य **रासमंडल** के आविष्कर्ता हैं। इस विषय में विशेष महत्त्वपूर्ण है यात्राओं की लोकप्रियता का स्थायित्व। ये यात्राएँ शास्त्रविदित संस्कृत-नाटक के ह्रास के बाद भी जीवित बची हुई हैं। वे कृष्ण और उनकी अतिशय प्रिय गोपी राधा की प्रेम-लीलाओं की अभिव्यक्ति करती हैं, क्योंकि पशुचारण-काव्य में गोपियाँ योरपीय पशुपालनादि-

---

१. AID. p. 27.

२. Weber, Ueber die कृष्णजन्माष्टमी (1868).

विषयक (idyllic) काव्य की गड़ेरिनों की स्थानपूर्ति करती है। **कृष्ण** अवश्य ही अनुकूल प्रेमी नहीं हैं, परंतु अंत में उन्हें **राधा** की प्रीति का भोग सदैव मिलता है। और **जयदेव** के गीतगोविन्द में यात्रा के सारतत्त्व की अभिव्यक्ति साहित्यिक रूप[1] में मिलती है, जिसके गेय गीतों में वाद्य और नृत्य का आकर्षण जोड़ देने की आवश्यकता है। एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचार है जिससे नाटक पर **कृष्ण**-संप्रदाय का प्रभाव प्रमाणित होता है: नाटक की प्रसामान्य गद्य-भाषा **शौरसेनी** प्राकृत है, और हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि इसका कारण यह है कि जिन लोगों के बीच नाटक के निश्चित रूप का प्रारंभिक विकास हुआ था उनकी सामान्य भाषा यही थी। इसके एक बार रूढ़ हो जाने पर यह निश्चित था कि जहाँ-जहाँ नाटक फैलेगा वहाँ-वहाँ इसका व्यवहार होता रहेगा। हमें इसका आधुनिक साक्ष्य मिलता है—शौरसेनी के प्राचीन प्रदेश में मुस्लिम आक्रमणों के बाद **कृष्ण**-संप्रदाय के पुनरुज्जीवन की भाषा **ब्रजभाषा** अपने प्राकृतिक क्षेत्र की सीमाओं के बाहर भी **कृष्ण**-भक्ति की भाषा के रूप में बनी रही।[2] **कृष्ण**-पूजा के महान् केन्द्र **मथुरा** में अब भी होली का त्योहार ऐसे धार्मिक कृत्यों के साथ मनाया जाता है जो प्राचीन इंग्लैन्ड के मई-दिवस (May-day) के आमोद-प्रमोद के समरूप हैं, और उनका इससे भी अधिक सादृश्य Juvenal द्वारा वर्णित अंधविश्वासी रोम की लिंग-पूजा के साथ है। **ग्राउज़** (Growse)[3] ने **होली** और **मई-दिवस** के धार्मिक कृत्यों की तुलना की है। **हरप्रसाद** शास्त्री को भारतीय नाटक के मूल का संकेत इस तथ्य में दिखायी पड़ता है कि नाटक के पूर्वरंग में इंद्र-ध्वज की, वर्णों तथा ध्वजपट से अलंकृत ध्वजदंड की, वंदना पर विशेष ध्यान दिया गया है।[4] यह संयोग की बात महत्त्वपूर्ण है। नाटक की उत्पत्ति के भारतीय उपाख्यान में बतलाया गया है कि जब ब्रह्मा द्वारा आविष्कृत दिव्य कला को पृथ्वी पर सिखाने के लिए भरत को आदेश दिया गया था तब इसके लिए निर्धारित अवसर इंद्र का '**ध्वजमह**' ही था। क्रुद्ध असुर उठ खड़े हुए, परंतु इंद्र ने अपना ध्वजदंड लेकर उन्हें मार भगाया। तब से नाटक के आरंभ में संरक्षण-रूप में ध्वजदंड (जर्जर) का प्रयोग होता है। अतएव, किसी समय नाटक शीत ऋतु की समाप्ति पर जंगल से Maypole लाने के अनुष्ठानों से संबंधित था, परंतु भारत में यह धार्मिक कृत्य वर्षा ऋतु की समाप्ति पर हुआ, और यह अनुष्ठान

---

१ 'विक्रमोर्वशी' पर कृष्णोपाख्यान का प्रभाव बतलाया गया है; Gawroński les sources de quelques drames indiens, pp. 33 ff.

२. Levi, TI. i. 331 f. मिलान कीजिए—Bloch, Langue Marathe, pp. ix. 12f.

३. मथुरा, pp. 91f., 101f.

४. JPASB. v. 351ff.

बादलों पर, असुरों पर, इंद्र की विजय के धन्यवाद-समारोह में बदल गया। यह मत अपने में अपर्याप्त है परंतु नाटकों का पूर्वरंग यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि देवाराधन को असाधारण महत्त्व दिया जाता था। प्राचीन धार्मिक उपासना का यह अवशेष, यदि नाटक का उद्भव धर्मनिरपेक्ष होता तो, बिल्कुल असंगत होता।

कृष्ण के महत्त्व के कारण हमें नाटक के इतिहास में शिव के महत्त्वपूर्ण स्थान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उनको और उनकी अर्धांगिनी को ही तांडव[1] और लास्य के आविष्कार का श्रेय है। वे उग्र एवं सुकुमार तथा मोहक नृत्य हैं, जो नाटक के अभिनय में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। यह भी आश्चर्यजनक नहीं है कि एक देवता जो वैदिक युग में ही प्रत्येक पेशे और व्यवसाय के लोगों के पालक-रूप में वंदित था, कलाकारों का विशिष्ट आश्रयदाता माना जाए। परंतु यह संभाव्य है कि नाटक में शिव का महत्त्व कृष्ण के महत्त्व के बाद प्रतिष्ठित हुआ। यह बात अभिप्राय-रहित नहीं है कि **भास**, जो किसी अन्य संस्कृत-नाटककार की अपेक्षा प्राचीन हैं, अन्य नाटककारों के विसदृश, **कृष्ण** की विस्तार से वंदना करते हैं, और वे वैष्णव हैं। इसके प्रतिकूल **शूद्रक**, **कालिदास**, **हर्ष**, और **भवभूति** अपनी प्रस्तावनाओं में समान रूप से **शिवभक्त** हैं। **कालिदास** के **मालविकाग्निमित्र** में एक नाट्याचार्य का प्रवेश होता है जो रुद्र के द्वारा नृत्य की सृष्टि और नृत्य एवं नाटक के घनिष्ठ संबंध का उल्लेख करता है। जीवों के ईश्वर के रूप में शिव की उपासना करने वाले **पाशुपत**-संप्रदाय के लोग अपने धार्मिक कृत्यों में गीत और नृत्य का समावेश करते हैं। उस नृत्य में नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार आंगिक चेष्टाओं द्वारा भक्तों के भावों की व्यंजना की जाती है। तंत्रों के ह्रासोन्मुख समावेशों में धार्मिक कृत्यों के अंतर्गत पुरुष शिव का रूप धारण करते हैं, और स्त्रियाँ उनकी अर्धांगिनी **पार्वती** का।

नाटक के विकास में **राम** का योग स्वयं कृष्ण की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि **रामायण** का पाठ देश भर में लोकप्रिय था, और बाद में भी बना रहा है। **रामलीला** अथवा **दशाह्र**-महोत्सव की सफलता से राम-कथा की लोकप्रियता पूर्णतया प्रमाणित होती है, जिसमें उनकी कहानी मूक-नाट्य के रूप में प्रस्तुत की जाती है, यात्रियों तथा अन्य लोगों के विशाल समूह के सामने बच्चे **राम**, **सीता**, और **लक्ष्मण** का स्थान ग्रहण करते हैं। पात्रों की भूमिका के वाचिक

---

१. Megasthenes ने भारतीय Dionysos (शिव) को Kordax का कारण बताया है; Arrian, Ind. 7. Bloch ने (ZDMG. lxii. 655) उनके महत्त्व की अतिशयोक्ति की है.

अभिनय का प्रयत्न नहीं किया जाता, परंतु मूक-नाट्य (Tableux) की दृश्यावली संपूर्ण कथा से परिचित भक्तों की मनोदृष्टि के सामने नायक का जीवन-वृत्त—उसका निर्वासन, उसके द्वारा सीता की खोज, और अंतिम विजय—उपस्थित कर देती है। राम के विषय में नाटक पर इतिहासकाव्य का प्रभाव अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में दिखायी देता है।[1]

नाटक का धार्मिक महत्त्व उसके प्रति बौद्धों की अभिवृत्ति में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।[2] बौद्ध सुत्तों के रचनाकाल की अत्यंत संदिग्धता के कारण प्राचीन काल में नाटक के अस्तित्व के विषय में किसी संतोषजनक निर्णय पर पहुँचना असंभव है, और 'विसूकदस्सन', 'नच्च', और 'पेक्खा' आदि शब्दों के प्रयोग, तथा 'समज्जा' के उल्लेख से हमें वास्तविक नाटक में विश्वास करने का कोई आधार नहीं मिलता। तथापि, हम देखते हैं कि इन प्रदर्शनों के प्रेक्षण से, उनका चाहे जो स्वरूप रहा हो, मनोरंजन करने के विषय में भिक्षुओं पर धर्म-शास्त्र द्वारा लगाया गया प्रतिबंध धीरे-धीरे शिथिल हो गया, और यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्राचीनतम नाटक, जो खंडित रूप में हमें ज्ञात हैं, अश्वघोष के बौद्ध नाटक हैं। नाटक की स्वीकृति के साथ ही, ललितविस्तर[3] में बुद्ध की सिद्धियों में उनके नाटक-ज्ञान का भी निस्संकोच-भाव से उल्लेख किया गया है, बुद्ध को महान् धर्म का नाटक देखने के लिए प्रवेश करने वाला बतलाया गया है। यह उपाख्यान यह मानने को प्रस्तुत है कि बुद्ध के समय में भी नाटक थे, क्योंकि बिंबिसार ने नाग राजाओं के युग्म के संमान में एक नाटक का अभिनय कराया था,[4] और धार्मिक कथाओं के संग्रह अवदानशतक[5] में नाटक की अति पुरातनता बतलायी गयी है। एक बहुत दूरवर्ती बुद्ध ककुच्छंद की आज्ञा से शोभावती नगरी में अभिनेताओं की एक मंडली द्वारा इसका अभिनय किया गया था; निर्देशक

---

१. सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय नाटक के विषय में, मिलान कीजिए—Ridgeway, Dramas and Dramatic Dances, p. 190, और pp. 192 ff.

२. Lévi, TI. i. 319 ff. इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता नहीं कि प्रारंभिक बौद्ध रचनाओं (यथा—पधानसुत्त, पब्बज्जासुत्त; मारसंयुत्त, भिक्खुनीसंयुत्त; छद्दन्त-, उम्मदन्ती-, महाजनक-, अथवा चन्दकिन्नर-जातक; थेरगाथा, 866 ff.; थेरीगाथा, 912 ff.) में से कोई रचना वस्तुतः नाटकीय है; देखिए—Winternitz, VOJ. xxvii. 38 f.

३. xii. p. 178. दिव्यावदान, pp. 357, 360, 361, में नाटक की ओर संकेत किया गया है.

४. Schiefner, IS. iii. 483, Indian Tales, pp. 236 ff. ५. ii. 24 (75).

ने स्वयं बुद्ध की भूमिका ग्रहण की, जब कि मंडली के अन्य सदस्यों ने भिक्षुओं की। उसी मंडली ने परवर्ती काल में, स्वयं **गौतम** बुद्ध के अधीन, राजगृह में प्रदर्शन किया। अभिनेत्री **कुवलया** अतिशय ख्याति प्राप्त करती हुई भिक्षुओं को सत्पथ से डिगाती रही, जब तक कि बुद्ध ने उसे कुत्सित वृद्धा के रूप में परिवर्तित करके उसकी वृत्ति का अंत नहीं कर दिया। अतः उसने पश्चात्ताप किया और सिद्ध-पद की प्राप्ति की। **तिब्बत** में एक अन्य कहानी में बुद्ध के जीवन से संबंधित रूपक की वही कल्पना सुरक्षित है, जिसमें एक दाक्षिणात्य अभिनेता बुद्ध के जीवन का रूपक प्रस्तुत करने में भिक्षुओं से प्रतिस्पर्धा करता है। ये बौद्ध नाटक अपनी छाप स्वयं **सद्धर्मपुण्डरीक** पर छोड़ गये हैं, जिसमें **ललितविस्तर** में पायी जाने वाली इतिहासकाव्य की कोई विशेषता नहीं है। वह एक संवाद-माला के रूप में ग्रथित है जिसमें अब अतिप्राकृत माने जाने वाले बुद्ध स्वयं, एकमात्र तो नहीं किंतु, मुख्य संभाषक हैं। वाद्य, गीत तथा नृत्य के प्रयोग में कला के प्रभावों के प्रति और सिंहल में एक राजकुमार द्वारा आयोजित थूपों के शिलान्यास-संबंधी समारोह में दृश्य के प्रभाव के प्रति बौद्धों की वही रुचि दृष्टिगोचर होती है। **महावंस** की मान्यता है कि ऐसे अवसरों पर नाटकों का प्रदर्शन होता था, यद्यपि यह काल-दोष हो सकता है। **अजंता** के भित्तिचित्रों से वाद्य, गीत और नृत्य के विषय में सूक्ष्म मर्मज्ञता सूचित होती है। हालाँ कि वे ऐसे समय से आरंभ होते हैं जब से नाटक के पूर्ण अस्तित्व का निश्चित प्रमाण मिलता है। **तिब्बत**[1] में हमें मानव-जाति के लिए दैवी और आसुरी शक्तियों के द्वंद्व में प्राचीन लोकप्रचलित धार्मिक रूपकों के अवशेष मिलते हैं, जो वसंत एवं शरद् के उत्सवों के अंग हैं। अभिनेता विचित्र वस्त्र और चेहरे धारण करते हैं; भिक्षु मनुष्यों की दैवी शक्तियों का, और साधारण जन आसुरी शक्तियों का प्रतिरूपण करते हैं। सारी मंडली पहले प्रार्थना और मंगल के गीत गाती है। तत्पश्चात् एक आसुरी शक्ति मनुष्य को पाप की ओर ले जाने का प्रयत्न करती है। वह झुक जाता यदि उसके मित्र हस्तक्षेप न करते। फिर आसुरी शक्तियों की सेना आ पहुँचती है। संघर्ष आरंभ होता है। उसमें मनुष्य पराजित हो जाते यदि दैवी शक्तियाँ हस्तक्षेप न करतीं। अंत में आसुरी शक्तियों के प्रतिनिधियों को मार कर भगा दिया जाता है।

जैनधर्म में भी वही बात है जो बौद्धधर्म में है। उसमें नाटक-जैसी कलाओं

---

१ E. Schlagintweit, Buddhism in Tibet, p.233; JASB. 1865, p.71. Ridgeway ने Dramas, &c., में तिब्बत की उपेक्षा की है. समरूप चीनी प्रदर्शनों के लिए, देखिए—Annales Guimet, xii. 416 f.

के द्वारा काल्पनिक मनोरंजन की निंदा पायी जाती है, परंतु धर्मसूत्रों में गीत, वाद्य, नृत्य, और रंगमंचीय प्रदर्शनों को मान्यता भी प्राप्त है।[1] परंतु, उनके संग्रह-काल की अत्यंत संदिग्धता को दृष्टि में रखते हुए, नाटक के युग के विषय में उनसे कोई निष्कर्ष निकालना व्यर्थ है। बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म ने भी अपने मत के प्रचार के साधन-रूप में नाटक का प्रसन्नता के साथ उपयोग किया।[2]

धर्म और नाटक के घनिष्ठ संबंध की प्रामाणिकता निश्चित है, और इससे स्पष्टतया सूचित होता है कि धर्म से नाट्य-रचना को सुनिश्चित प्रेरणा मिली। इतिहासकाव्य का महत्त्व निस्संदेह बहुत अधिक है, किंतु इतिहासकाव्य का पाठ मात्र, नाटक के चाहे जितने समीप पहुँचता हो, नियमित सीमा से आगे नहीं बढ़ता। उसमें जिस तत्त्व की कमी रह जाती है वह है नाटकीय द्वंद्व, ग्रीक नाटक का Agon। अनुमान किया गया है कि इसकी पूर्ति **महाव्रत**-जैसे वनस्पति-यागों के विकास से हुई, जब तक कि उन्होंने **कृष्ण** और **कंस** के उपाख्यान का मूर्त और मानवीय रूप नहीं ग्रहण कर लिया—यह कल्पना विचारणीय होती (किंतु बिना किसी प्रमाण की संभावना के), यदि हमारे पास **महाभाष्य** की सूचना न होती। **महाभाष्य** से स्पष्टतया सूचित होता है कि **कृष्ण** और **कंस** की कहानी अपने चेहरे रँग कर अपने अनुकार्य पात्रों के भावों को जीवंत रूप में अभिव्यक्त करने वाले **ग्रंथिकों** के द्वारा भी प्रदर्शित की जा सकती थी, और मूक-नाट्य में दृश्य-रूप से शौभिकों के द्वारा भी। यदि **पतंजलि** के रचना-काल में वास्तविक नाटक (जिसमें ये पक्ष संघटित थे) का अस्तित्व नहीं था तो यह कहना संगत है कि उनके थोड़े ही समय बाद उसके विकास का न होना आश्चर्य की बात होगी। हमारे पास इसका पूर्णतः निश्चित प्रमाण है कि **पतंजलि** के 'नट' नर्तक या कलाबाज के अतिरिक्त बहुत कुछ थे; वे गाते और पाठ करते थे। अतएव संतुलित दृष्टि से संभाव्य यह है कि संस्कृत-नाटक यदि दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्यकाल के पहले नहीं तो उसके थोड़े ही समय बाद अस्तित्व में आया; और वह इतिहास-काव्य के पाठों तथा **कृष्णोपाख्यान** (जिसमें एक बालक देवता शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष करके उन्हें पराजित करता है) के नाटकीय प्रभाव के संमिलन से अग्रसर हुआ।

---

१. आयारंगसुत्त, ii. 11. 14., राजप्रश्नीय, IS. xvi. 385. गीत और नृत्य के प्रति भारतीयों का प्रेम यूनानी परंपरा में अभिलिखत है; Arrian, Anabasis, vi.2.

२ दुर्भाग्य की बात है कि इस दृष्टि-परिवर्तन का समय अनिश्चित है। किसी प्रारंभिक जैन नाटक का निश्चित अभिलेख नहीं मिलता। कई मध्यकालीन रचनाएँ हाल में मुद्रित हुई हैं। देखिए—E. Hultzsch, ZDMG. lxxv. 59 ff.

यह निश्चित समझना चाहिए कि पतंजलि के समय में विकासशील नाटक, आभिजात्य संस्कृत-नाटक की भाँति, ऐसा था जिसमें पात्रों के भाषणों में प्राकृत के साथ संस्कृत का मेल था। उनके द्वारा अभिलिखित कंस-वध के इतिहासकाव्य-संबंधी पाठ संस्कृत में ही रहे होंगे, परंतु नाटक को लोकप्रिय बनाने के लिए—और नाट्यशास्त्र नाट्यकला के उद्भव के आख्यान में उसकी इतिहासकाव्यात्मक एवं लोकरूढ़ दोनों प्रकार की विशेषताओं को स्वीकार करता है—उसमें भाग लेने वाले निम्नवर्गीय लोगों को अपनी जनपदीय भाषा में बोलने की छूट रही होगी। यह बात आभिजात्य रंगमंच के नाटक के असामान्य गद्य के रूप में शौरसेनी के प्रयोग से स्पष्टतया मेल खाती है। प्रोफ़ेसर लेवी की दृष्टि इससे भिन्न है।[1] उनकी धारणा है कि नाटक का उद्भव पहले प्राकृत में हुआ, इसके विपरीत संस्कृत का प्रयोग परवर्ती काल में तब हुआ जब वह, धर्म-भाषा के रूप में बहुत समय तक आरक्षित रहने के बाद, साहित्य-भाषा के रूप में पुनः व्यवहृत होने लगी। उनका तर्क है कि भारत ने यथार्थता के साथ संपर्क की कभी चिंता नहीं की, और यह मान लेना असंगत है कि जिस काल तथा जिन क्षेत्रों में नाटक का उद्भव हुआ उनकी वास्तविक बोलचाल की अनुकृति के रूप में संस्कृत एवं प्राकृत का संमिश्रण हुआ। इस तर्क की पुष्टि इस आलोचना से होती है कि नाट्यशास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द विलक्षण प्रतीत होते हैं, और मूर्धन्य वर्णों के बारंबार प्रयोग से यह सूचित होता है कि उनका मूल प्राकृत है। उनके तर्क को संतोषजनक मानना कठिन है; और न यही स्पष्ट है कि पतंजलि के साक्ष्य के साथ उसका सामंजस्य किस प्रकार संभव है। यह साफ प्रतीत होता है कि आरंभिक नाटक मूलतः धर्म-निरपेक्ष नहीं था, और प्रोफ़ेसर लेवी बल देकर इसे कृष्ण-संप्रदाय पर आश्रित बताते हैं। अतएव, उसमें संस्कृत के प्रयोग का निषेध अत्यंत आश्चर्यजनक होगा, जब तक कि हम यह न मान लें कि पतंजलि के यथेष्ट पूर्ववर्ती काल में वास्तविक नाटक का अस्तित्व था, और उसका उद्भव ब्राह्मणेत्तर वातावरण में हुआ। इस प्रकार के वाद में बहुत गंभीर आपत्तियाँ हैं। हम औचित्य के साथ मान सकते हैं कि वास्तविक नाटक के जैसा साहित्य-रूप तब तक निर्मित नहीं हुआ जब तक कि ब्राह्मण-प्रतिभा ने भारत के साहित्यिक इतिहास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण नयी रचना में नैतिक एवं धार्मिक प्रभावशील अभिप्रायों को मिला नहीं दिया।

---

१. JA. sér. 9, xix. 95ff. यदि ऐसी बात होती तो हाल की रचना में इस प्रकार के साहित्य के प्रचुर उल्लेख मिलते, जहाँ केवल V. 344 नाटक के पूर्वरंग का संकेत करता है (रइणाडअपुव्वरंगस्स).

नाट्यशास्त्र में अनेक प्राकृत शब्दों का विद्यमान होना संभाव्य है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि नाट्य-शास्त्र पहले प्राकृत में परिकल्पित हुआ। मुख्य शास्त्र के सभी तत्त्व संस्कृत में निरूपित हैं। प्राकृत से कतिपय गौण महत्त्व के पारिभाषिक शब्द मात्र लिये गये हैं। इन शब्दों का ग्रहण गीत, वाद्य, नृत्य, और स्वाँग आदि साधारण कलाओं से किया गया है। ये कलाएँ नाटक की सहायता करती हैं किंतु उसका संविधान नहीं करतीं।

डा० रिज्वे (Ridgeway) ने, व्यापक प्रस्थापना के अंश-रूप में ही सही, कृष्णपूजा से संस्कृत-नाटक की धार्मिक उत्पत्ति मानी है।[१] उनका कथन है कि ग्रीक नाटक, और सारे विश्व के नाटक, मृतात्माओं के प्रति व्यक्त की गयी श्रद्धा के परिणाम हैं, और यह सभी धर्मों का स्रोत है, यह वस्तुतः सर्वात्मवाद के सिद्धांत का (उसके एक स्वगुणार्थ में) पुनःप्रवर्तन है। भारतीय नाटक पर लागू किये गये इस तर्क में इस मत का अंतर्भाव है कि आदिम नाटक में अभिनेता मृतात्माओं के अनुकारक थे, और यह कि अभिनय का प्रयोजन दिवंगतों को प्रसन्न करना था। इसका समर्थन इस सिद्धांत से होता है कि किसी समय केवल **राम** और **कृष्ण** ही मनुष्य नहीं माने जाते थे, अपितु शिव की उत्पत्ति भी मानवीय समझी जाती थी[२]। निश्चय ही सभी देवताओं की उत्पत्ति महात्माओं की स्मृति से हुई है। इस प्रस्थापना के पक्ष में निर्दिष्ट प्रमाण का सर्वथा अभाव है। सामग्री के एक बहुमूल्य संग्रह से, जिसका श्रेय सर जे० एच० मार्शल (Marshall) को है, यह सिद्ध होता है कि **राम** और **कृष्ण** की लीला मनाने वाले लोकप्रिय नाटकीय प्रदर्शनों का प्रचलन संपूर्ण भारत में था, और आधुनिक भारतीय नाटक में **अशोक** या **चन्द्रगुप्त** के जैसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के जीवन का भी वर्णन है। परंतु यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि नाटकीय दृश्यों के प्रदर्शन द्वारा दिवंगतों को प्रसन्न करने की कल्पना भारत में किसी के मन में पहले या बाद में कभी विद्यमान थी। नाटक-जैसी पश्चात्कालीन कला के उदय के बहुत पूर्व शिव की भाँति ही **राम** एवं **कृष्ण** भी भक्तों की दृष्टि में महान् देवता थे।

---

१. The Origin of Tragedy (1910); Dramas and Dramatic Dances of non-European Races (1915); JRAS. 1916, pp. 821ff.; Keith, JRAS. 1916 pp. 335ff.; 1917, pp. 140ff.; 1912, pp. 411 ff.

२. Drama, &c.. p. 129 का दृढ़ कथन है कि यह मत 'महत्तम आप्त पुरुषों' का है; बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इन अद्भुत आप्त पुरुषों का उल्लेख नहीं किया गया है. मिलाकर देखिए— E. Arbman, Rudra (Uppsala, 1922); Keith, Indian Mythology, pp. 81ff.

उनके विषय में यह समझना हास्यास्पद है कि वे मृत मनुष्य हैं जिन्हें आनंद देने के लिए प्रेतकर्म की आवश्यकता है। सर्वात्मवादी सिद्धांत के आधार पर उनके द्वारा की गयी वैदिक धर्म की नयी व्याख्या की आलोचना भी अधिक आवश्यक नहीं है, क्योंकि उद्गम-संबंधी इन वादविषयों का भारतीय नाटक के उद्भव के विशिष्ट प्रश्न के साथ कोई संभावित संबंध नहीं है। यह बात अत्यंत संदेहास्पद है कि अन्य देशों में नाटक प्रेत-पूजा का परिणाम है। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय नाटक से सर्वाधिक सादृश्य रखने वाले ग्रीक नाटक की प्रेतकर्म-संबंधी मनोरंजक प्रदर्शनों से उत्पत्ति बताने वाला साक्ष्य सर्वथा दोषपूर्ण है।

महाभारत के अनुबंध **हरिवंश** में दिये गये नाटकीय प्रदर्शनों के विवरण में नाटकोत्पत्ति-विषयक इस मत का निश्चित समर्थन देखा जा सकता है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, वह रचना किसी निश्चित या संभाव्य रूप में **अश्वघोष** के नाटकों के पहले की नहीं मानी जा सकती, और इसलिए उसको नाट्यकला के संप्रति उपलब्ध प्राचीनतम उल्लेख का साक्षी नहीं माना जा सकता। परंतु यह एक अन्य रूप में महत्त्वपूर्ण है। इससे यह सूचित होता है कि प्रारंभिक काल में कृष्णोपासना पद्धति के साथ नाटक का कितना घनिष्ठ संबंध था। इस प्रकार **महाभाष्य** से प्राप्त निष्कर्षों का पोषण, और **भास** के साक्ष्य का समर्थन होता है। **अंधक** की मृत्यु के बाद यादवों द्वारा किये गये समारोह के अवसर पर, हम देखते हैं कि वहाँ की नारियों ने वाद्य की गत पर नृत्य तथा गान किया, और **कृष्ण** ने अप्सराओं को तदनुरूप प्रदर्शनों द्वारा आमोद-प्रमोद में सहायता करने के लिए प्रेरित किया। इनके अंतर्गत उन अप्सराओं ने, प्रत्यक्षतः नृत्य के द्वारा, **कंस** और **प्रलंब** की मृत्यु, अखाड़े में **चाणूर**-वध, तथा कृष्ण के अन्य पराक्रमों का प्रदर्शन किया। जब वे प्रदर्शन कर चुकीं तब **नारद मुनि** ने, कहा जा सकता है कि, हास्योत्पादक चेष्टाओं की शृंखला के द्वारा सामाजिकों का मनोरंजन किया। उन्होंने **सत्यभामा**, **केशव**, **अर्जुन**, **बलदेव**, और युवती राजकुमारी **रेवती** के जैसे प्रसिद्ध पात्रों के अंगविक्षेप, गति, और हास का भी अनुकरण कर के दर्शकों का अपार मनोरंजन किया, जो हमें नाटक में विदूषक के अभिनय की याद दिलाता है। तदनंतर यादवों ने भोजन किया, और इस रसास्वादन के बाद अप्सराओं ने पुनः नाच-गान किया, जिनका इस प्रकार प्रदर्शन आधुनिक संगीतबहुल नृत्यनाट्य (ballet) के समान था।[१]

आगे चल कर असुर **वज्रनाभ** की (जिसको समाप्त कर देने के लिए **इंद्र** ने

१. ii. 88.

कृष्ण से कहा था) कहानी से संवद्ध एक स्थल[1] पर हमें एक अभिनेता भद्र का पता चलता है जिसने अपनी श्रेष्ठ अभिनय-शक्ति से सबको आनंदित किया। वज्रनाभ उसके घर में उपस्थित होने की माँग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, और कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न तथा उनके साथी भीतर घुसने के लिए छद्मवेश धारण करते हैं। प्रद्युम्न नायक वनते हैं, सांव विदूषक, और गद सूत्रधार के सहायक, जब कि गीत, नृत्य तथा वाद्य में प्रवीण बालाएँ अभिनेत्रियाँ बनती हैं। वे राक्षसराज का वध करने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण विष्णु की कहानी का अभिनय कर के असुरों का मनोविनोद करते हैं। यह रामायण का नाटकीकृत रूप है, जिसमें राम-लक्ष्मण का, और मुख्यतया ऋष्यश्रृंग एवं शांता के प्रासंगिक वृत्त का, जो प्रजनन और वर्षा से संवद्ध कर्मकांड पर आधारित विलक्षण प्राचीन उपाख्यान है,[2] अभिनय किया गया है। उस अभिनय के बाद अभिनेताओं ने आतिथेयों द्वारा सुझायी गयी मार्मिक कथास्थितियों को दर्शाने में अपना कौशल दिखलाया। स्वयं वज्रनाभ उनसे कुवेर के उपाख्यान के एक प्रसंग का, रंभा के संकेत-मिलन का, अभिनय करने के लिए आग्रह करता है। वाद्यवृंद-वादन के पश्चात् अभिनेत्रियाँ गाती हैं, प्रद्युम्न प्रवेश करते हैं और नांदी तथा नाटक की विषय-वस्तु से संबद्ध गंगावतरण-विषयक एक श्लोक का पाठ करते हैं। तदनंतर वे नलकूवर की भूमिका ग्रहण करते हैं, सांव उनके विदूषक हैं, शूर रावण का अभिनय करता है और मनोवती रंभा बनती है। नलकूवर रावण को शाप देता है, और रंभा को आश्वस्त करता है। यादवों के कुशल अभिनय से, जिन्होंने माया के द्वारा रंगमंच पर कैलास का दृश्य दिखाया था, दर्शक आनंदित हुए।

४. नाटक की धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति के मत

प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड[3] और कोनो[4] इस मत से प्रायः सहमत हैं कि धार्मिक अनुष्ठानों में नाटक के मूल कारण का समाधान देखना भूल है। ठीक है, इन धार्मिक अनुष्ठानों का नाटक के विकास में आंशिक योगदान है, परंतु वे स्वयं कर्मकांड में समाविष्ट ऐसे तत्त्व हैं जिनका मूल लोक में है। यह विश्वसनीय है कि लोक-प्रचलित स्वाँग का पहले से अस्तित्व था, जो, इतिहासकाव्य के साथ, संस्कृत-नाटक के मूल में स्थित था।

---

१. ii. 91. 26ff. मिला कर देखिए— Hertel, VOJ. xxiv. 117ff., रविवर्मन्, प्रद्युम्नाभ्युदय, अंक III, p. 23.

२. मिला कर देखिए—Von Shroeder, Mysterium and Mimus, pp. 292ff. यह बात अत्यंत असंभाव्य है कि यह मूलतः कर्मकांड-संबंधी नाटक था.

३. AID. pp. 22ff. ४. ID. pp. 42ff.

यह बात एकदम स्वीकार्य है कि नाटक की उत्पत्ति के पहले विद्यमान माने जाने वाले स्वांगियों के विषय में अत्यल्प प्रामाणिक सूचना उपलब्ध है। प्रोफ़ेसर **कोनो** उनको गीत, नृत्य, एवं वाद्य में, और बाजीगरी, मूकनाट्य, तथा समवर्गी कलाओं के विषय में प्रवीण मानते हैं। उनके वक्तव्य का आधार ऐसा साक्ष्य है जो या तो **महाभाष्य** का समसामयिक है या उसका परवर्ती। नट गाते थे—यह तथ्य हमें **महाभाष्य** में अभिलिखित मिलता है, जो निश्चय ही वास्तविक अभिनेताओं का निर्देश करता है, स्वाँग के अध्यापकों का नहीं। मधुर वाणी के साथ उनका संबंध **जातक** के गद्य में ही मिलता है, जिसका समय वास्तविक नाटक के प्रादुर्भाव के कई शताब्दियों बाद है। हाँ, हमें इस बात में संदेह नहीं करना चाहिए कि वैदिक युग में लोकप्रिय वाद्य, गीत, एवं नृत्य ने संपूर्ण परवर्ती काल में अपना स्वरूप सुरक्षित रखा, और अशोक के समय से लेकर हमें ऐसे समाजों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है जिनकी अशोक ने निंदा की। असंदिग्ध रूप से इसका कारण यह था कि उनमें पशुओं की लड़ाइयाँ करायी जाती थीं।[1] ऐसे समारोहों में 'नट' और 'नर्तक' उपस्थित होते थे—इसकी सूचना हमें **रामायण** से प्राप्त होती है; परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे मूक-अभिनेता और नर्तक निर्दिष्ट हैं अथवा अभिनेता और नर्तक। वस्तुतः आदिम स्वाँग के विषय में हमारा ज्ञान सोपाधिक है, और फलतः कतिपय तर्कों पर आश्रित है जो प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं कि नाटक का मूल धार्मिक न होकर लौकिक है। उनके मत का समर्थन इस सामान्य तर्क से होता है कि कामदी (सुखांतिकी) के रूप में नाटक मानव के आदिम आनंदमय जीवन तथा परिहास-विनोद की अनुभूति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। परंतु, इस सामान्य सिद्धांत की, जिसका पक्षपोषण उन्होंने डा० ग्रे (Gray) द्वारा स्वीकृत सिद्धांत के विरुद्ध किया है, छान-बीन करना अनावश्यक है। (डा० ग्रे के मतानुसार यह अत्यंत संदिग्ध है कि अभिनेताओं अथवा दर्शकों की आनंदानुभूति के किसी मत का आदिम नाटक से संबंध है या नहीं।) बहुत बाद में रचित भारतीय प्रतिष्ठित नाटक की उत्पत्ति के वास्तविक प्रश्न की दृष्टि से ये मूल कारण महत्त्वहीन हैं। यह बात मान्य है कि अनुकरण की विशेषता मनुष्य में निसर्गतः पायी जाती है; विचारणीय तात्त्विक बात यह है कि संस्कृत-नाटक की विशेषताओं में धार्मिक उत्पत्ति के लक्षण पाये जाते हैं अथवा धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति के।

---

१. Hardy, Album Kern, pp. 61 f. Thomas, JRAS. 1914, pp. 392 f.

प्रोफ़ेसर हिल्ब्रान्ड द्वारा उपस्थित किये गये तर्कों में से अधिकांश का प्रस्तुत विवेचन से कोई संबंध नहीं है। संस्कृत-नाटक में संस्कृत और प्राकृतों का प्रयोग उसकी लौकिक उत्पत्ति का प्रमाण माना जाता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, प्राकृत-तत्त्व इस बात के कारण हैं कि नाटक में **कृष्णोपासना** का महत्त्वपूर्ण लौकिक (किंतु साथ ही धार्मिक) तत्त्व पाया जाता है। गद्य एवं गीत का मिश्रण, और उन दोनों का वाद्य तथा नृत्य के साथ संयोग नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के सिद्धांत के विषय में जितने स्वाभाविक है उतने ही धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति के विषय में भी। भारतीय रंगमंच की सादगी, जिसमें दृश्य-परिवर्तन के विधान की व्यवस्था नहीं मिलती, नाटक की धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति का कोई प्रमाण नहीं है। वैदिक धर्म बाह्य उपकरण को असाधारण रूप से अनावश्यक समझता है। कोई स्थायी यज्ञ-भवन न रखने तथा महान् यज्ञों के लिए इच्छानुसार वेदियाँ बनाने की वैदिक प्रथा एवं स्थायी प्रेक्षागृहों को अनपेक्षित तथा अनावश्यक समझने वाले संस्कृत-नाटकों की संपूर्ण परंपरा में अत्यधिक सादृश्य है।

विदूषक की लौकिक उत्पत्ति प्रत्यक्ष है, परंतु प्रश्न यह है कि क्या यह उत्पत्ति धार्मिक है अथवा धर्मनिरपेक्ष। हम देख चुके हैं कि वैदिक वाङ्मय इस पात्र का आदिरूप, संभवतः सोम-विक्रय के शूद्र के संस्मरण के साथ, महाव्रत के ब्राह्मण के चरित्र में प्रस्तुत करता है। यह तथ्य धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति के सिद्धांत के पक्षपोषकों द्वारा स्वीकृत है। जब वैदिक वाङ्मय से इस पात्र का उद्भव स्पष्ट है तब यह आग्रह करना प्रत्यक्षतः और भी असंगत है कि लोक-प्रथा से इसका सीधे ग्रहण किया गया, जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है, और जो अटकल मात्र है।

अब वह तर्क शेष रहता है जो इस तथ्य से उद्भूत है कि संस्कृत-नाटक का आरंभ सामान्यतः सूत्रधार और प्रायः उसकी पत्नी के रूप में प्रतिरूपित नटी के संवाद से होता है। कहा जाता है कि इसमें हमें प्राचीन लोक-प्रचलित स्वाँग का प्रतिवर्त मिलता है। परंतु भास के नाटकों तथा नाट्यशास्त्र में उपलब्ध प्रयोग और सिद्धांत से सूचित होता है कि नाटक के पूर्वरंग से वास्तविक नाटक तक पहुँचने का आयोजन सरल और सीधा-सादा नहीं है, बल्कि अभिनेता बहुत जटिल साहित्यिक युक्तियों का प्रयोग करते हैं। पूर्वरंग तत्त्वतः लोक-प्रचलित उपासना-पद्धति है। उसका सूक्ष्म विस्तार सूत्रधार तथा उसके सहायकों के हाथ में प्रायः छोड़ दिया जाता था, जो नर्तक-वृंद एवं वादकों की सहायता से संपन्न होता था। पूर्वरंग नाटक की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। इस कौशलपूर्ण एवं सुंदर युक्ति की उद्भावना प्रस्तावना के निर्वाह के लिए की गयी थी, जिससे वास्तविक नाटक का आरंभ प्रभावशाली और संतोषप्रद हो सके। परंतु नाटक

के इस अंग में किसी आदिम लोकप्रचलित धर्मनिरपेक्ष अभिनय के चिह्न खोजना सभी संभावनाओं के विपरीत है।

अतएव, धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति का प्रमाण लुप्त हो जाता है। यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है कि प्रोफ़ेसर **हिलब्रान्ड**[1] स्वयं इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि विदूषक का पाश्चात्य समरूप धर्मनिरपेक्ष सृष्टि न होकर धार्मिक अनुष्ठानों से संबद्ध है। परंतु सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रोफ़ेसर **कोनों** नाटक की धर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति के साक्ष्य-रूप में यात्राओं का उल्लेख करते हैं, जिनका तात्त्विक संबंध **कृष्णोपासना** से, और होलिकोत्सव के अवसर पर **अलमोड़ा** में प्रदर्शित अपरिष्कृत नौटंकियों से है। ये नौटंकियाँ भी तत्त्वतः धार्मिक हैं।[2] यह कल्पना करना कि मनोविनोद की निस्संग प्रवृत्ति के मूल से नाटक के आरंभ की खोज संभव है, हिंदू-जीवन में तत्त्वतः प्रविष्ट धर्म की निस्संदेह उपेक्षा करना है। आधुनिक विचारक के लिए यह समझना प्रत्यक्षतः कठिन है कि धर्म में उन विषयों का भी समावेश है जो हमें उसके साथ मुश्किल से संबद्ध अथवा उसके बिल्कुल विपरीत प्रतीत होते हैं। परंतु यह भ्रम है, जिसका मुख्य कारण यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी प्रांतों की संकुचित और अधिक बढ़ी-चढ़ी धर्म-भावना है।

पिशेल (Pischel)[3] ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि कठपुतली का नाच संस्कृत-नाटक का स्रोत है, और उसका मूल स्थान भारत है,

---

१ AID. p. 25. Lindenau (BS. p. 45) ऋग्वेद, १०।८६ के वृषाकपि में विदूषक का आदिरूप देखते हैं जो शरारत करनेवाला और देवता का सहचर है, किंतु यह क्लिष्ट-कल्पना है। Hertel (Literarisches Zentralbl. 1917, pp. 1198 ff.) इस बात पर बल देते हैं कि राजदरबारों में राजा अपने मनोरंजन के लिए मसखरा रखता था। यदि विदूषक की उत्पत्ति धार्मिक हो तो उसके रूप पर इसका प्रभाव पड़ना संभव है। प्रचलित मतों के लिए देखिए—J. Huizinga, De Vidūśaka en het indisch tooneel (Groningen, 1897); F. Cimmini, Atti della reale Accademia di Archeologia, Lettere et Belle Arti (Naples, 1893). xv. 97 ff.; M. Schuyler, JAOS. xx. 338ff.; P.E. Pavolini, Studi italiani di filologia indo-iranica, ii. 88 f.

२. TD. pp. 43f. मिला कर देखिए—निशिकांत चट्टोपाध्याय, Yātrās (1882).

३. Die Heimat des Puppenspiels (1902), स्पष्ट आपत्तियों का उल्लेख Ridgeway ने किया है, Dramas, &c. pp. 164ff.

जहाँ से वह विश्व भर में फैला। इस विलक्षण और अनूठी कला का उद्गमस्थान भारत अवश्य हो सकता है, किंतु यह मानना सर्वथा अविवेकपूर्ण होगा कि नाटक इसी का परिणाम है। उक्त मत वर्तमान समय में प्रत्यक्षतः स्वीकृत भी नहीं है। इस प्रकार के प्रदर्शन का अस्तित्व **महाभारत**[1] से प्रमाणित होता है, यद्यपि इस प्रकार से इस कला की पुरातनता स्पष्ट नहीं होती। कदाचित् गुणाढ्य की **वृहत्कथा** के अनुसार, जो संभवतः तीसरी शताब्दी ई० की रचना है, **कथासरित्सागर** में वर्णन मिलता है कि अद्भुत शिल्पी **मायासुर** की कन्या ने अपनी सखी का मनोविनोद ऐसी पुतलियों से किया जो वोल सकती थीं, नाच सकती थीं, उड़ सकती थीं, पानी ला सकती थीं, अथवा माला ले आ सकती थीं। राजशेखर के **वालरामायण** में वर्णित है कि **रावण सीता** के सदृश वनायी गयी पुतली से धोखा खा गया था, जिसके मुख में एक तोता उसके निवेदनों का उपयुक्त उत्तर देने के लिए रखा गया था। शंकर **पांडुरंग** पंडित[2] अपने युग का लेखा प्रस्तुत करते हैं कि मराठ और कन्नड़ देश में कठपुतलियों की चलती-फिरती रंगशालाएँ हैं, गाँव वाले नाटक के इसी रूप से परिचित हैं; काठ या कागज की वनी हुई पुतलियों का संचालन **सूत्रधार** द्वारा किया जाता है; वे खड़ी हो सकती हैं या लेट सकती हैं, नाच या लड़ सकती हैं। इस पर से यह सुझाव दिया गया था कि इस कठपुतली के नाच से **सूत्रधार** और उसके सहायक **स्थापक** के नाम परिनिष्ठित नाटक तक पहुँचे। **पिशेल** के मतानुसार विदूपक के उद्भव का श्रेय भी कठपुतली के नाच को है।

प्रोफ़ेसर **हिलब्रान्ड**[3] ने उक्त मत का खंडन इस आधार पर किया है कि कठपुतली के नाच से धारणा वनती है कि नाटक का पूर्व-अस्तित्व था, जिस पर उसे अनिवार्यतः आश्रित होना चाहिए। अतएव वे कठपुतली के नाच की प्राचीनता का उपयोग नाटक के और भी प्राचीनतर अस्तित्व के प्रमाण-रूप में करते हैं। परंतु दूसरा तर्क विभिन्न कारणों से संतोषप्रद नहीं है। इतिहासकाव्य के निर्देशों का काल-निर्धारण अथवा उनको महाभाष्य से प्राचीनतर सिद्ध करना संभव नहीं है। इस वात को जाने दीजिए। हमें इस वात में संदेह है कि इस प्रकार के तर्क का औचित्य सिद्ध करना संभव हो सकता है या नहीं। हाँ, पुतलियों का प्रयोग मूलतः गुड़ियों के साथ खेलने वाले वच्चों के काल्पनिक सत्य से आया है। पुतली के पर्यायवाची ('पुत्रिका', 'पुत्तलिका', 'दुहितृका) शब्दों से, जो

---

१. iii. 30.23; v. 39. 1. २. विक्रमोर्वशीय, pp. 4f.
३. AID. p. 8; ZDMG. lxxii. 231.

'नन्ही लड़की' का द्योतन करते हैं, यह वात सुस्पष्टतया सूचित होती है। और, पुतलियों की लोकप्रियता का संकेत पांचाली-रास के रूप में विख्यात रास-लीला से मिलता है, जिसके पुतली-वाची शब्द 'पांचाली' से सूचित होता है कि भारत में कठपुतली के नाच का उद्गम-स्थान **पांचाल** देश था। इसमें संदेह नहीं कि नाटक के विकास के साथ ही उसके संक्षिप्त अनुकरण के लिए पुतलियों का प्रयोग होने लगा, और नाटक से विदूषक का आगमन हुआ, न कि इसके विपरीत-क्रम से।

यह ठीक है कि **पिशेल** का यह सिद्धांत[1] कि कठपुतली के नाच से नाटक की उत्पत्ति हुई समर्थन नहीं प्राप्त कर सका। परंतु, उसके स्थान पर छाया-नाट्य, जिसके भारत में महत्त्व पर उन्होंने पहले पहल वल दिया था, प्रोफ़ेसर **लूडर्स**[2] के हाथों नाटक के विकास के एक आवश्यक तत्त्व के रूप में उभर कर सामने आया। यह दृष्टिकोण प्रोफ़ेसर कोनो द्वारा भी स्वीकृत है। नाटक का उल्लेख **महाभाष्य** के **शौभिकों** के प्रदर्शन के प्रसंग में है। उक्त स्थल की अशुद्ध व्याख्या के कारण यह माना गया है कि **शौभिक** मूक-अभिनेताओं[3] अथवा छाया-आकृतियों की संपूर्ति के लिए सामाजिकों के प्रति विषयों की व्याख्या करने वाले व्यक्ति थे। प्रोफ़ेसर **लूडर्स** ने यह स्वीकार किया है कि इस वात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन दोनों संभावनाओं में से कौन-सी सही है, परंतु उन्होंने इन दोनों बातों को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्राचीन भारत में छाया-नाट्य का अस्तित्व था और शौभिकों का कार्य उनका प्रदर्शन करना था। **महाभाष्य** की इस अशुद्ध व्याख्या और उससे उद्भूत हवाई प्राक्कल्पना के आधार पर उनका मत है कि इतिहासकाव्य के पाठ को सचित्र बनाने के लिए छाया-आकृतियों के प्रयोग के माध्यम से नाटक पर इतिहासकाव्य का प्रभाव पड़ा; प्राचीन नटों की कला के के साथ इसका संयोग होने पर नाटक का जन्म हुआ। हालाँ कि वे इस निश्चय

---

१. SBAW. 1906, pp. 481ff.

२. SBAW. 1916, *pp.* 698ff. तुलना कीजिए—Hillebrandt, ZDMG. lxxi; 230f. Wiinternitz (ZDMG. lxxiv. 120) शौभिकों को चित्रांकित विषयों का कथावाचक मात्र वताते हैं, यह व्याख्या स्पष्टतया असंभव है, किन्तु Lüders के विरुद्ध संगत है.

३. 'शौभिक' की कैयट-कृत व्याख्या पर आधारित : कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः, स्पष्ट है कि यह Lüders के मत के अनुरूप नहीं है, जैसा कि उन्होंने स्वीकार किया है (pp. 720f.). कैयट इतने अधिक वाद के हैं कि उनका साक्ष्य उपयोगी नहीं है.

पर नहीं पहुँचे हैं कि **पतंजलि** के समय में इस प्रकार के वास्तविक नाटक का अस्तित्व था या नहीं। और **कोनो** ने इसका आविर्भाव बहुत बाद में माना है।

छाया-नाटक के अस्तित्व के विषय में प्रस्तुत किया गया साक्ष्य सर्वथा अविश्वसनीय है। प्रोफ़ेसर **कोनो** का सुझाव है कि **अशोक** के चतुर्थ **शिलालेख** में (जिसमें देवालयों, हाथियों और उत्सवाग्नि के दृश्यों के प्रदर्शन का वर्णन है) प्रयुक्त 'रूप' शब्द छाया-प्रयोग का निर्देश करता है। स्पष्ट है कि वे उसके वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ हैं, जो बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार के प्रदर्शनों की पद्धति से संबंध रखने वाले प्रमाणित तथ्यों द्वारा प्रचुरता से सोदाहरण निरूपित है।[1] वे यह सर्वथा हास्यास्पद दृष्टि अपनाते हैं कि नाटक का पर्यायवाची 'रूपक' शब्द इस प्रकार के छाया-प्रक्षेपों से आया है। इसके प्रतिकूल, वास्तविकता यह है कि यह शब्द 'दृश्य उपस्थापन' का द्योतन करता है, जो 'रूप' का प्रसामान्य एवं प्राचीन अर्थ है। यह जताने का प्रयत्न भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि **सीताबेंगा** गुफा[2] के अग्रभाग में खाँचों (Grooves) के चिन्ह पाये जाते हैं जिनका उपयोग छाया-नाट्य के लिए आवश्यक यवनिका के संबंध में किया गया होगा। अन्यथा गृहीत प्राकृत 'नेवच्छ' से (संस्कृत-नाटक में यवनिका के पीछे के सज्जा-कक्ष के वाचक) 'नेपथ्य' की व्याख्या और भी दुर्भाग्यपूर्ण है। 'नेवच्छ' का संस्कृत-रूप कदाचित् 'नैपाठ्य' होगा, जिसका प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं है, और जो 'पाठक के लिए स्थान' का वाचक रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के अनुसार छाया का कारण यवनिका के पीछे उपस्थित कोई व्यक्ति है। शाब्दिक संमिश्रण सर्वथा असंभव है।

छाया-नाटक के प्राचीन अस्तित्व के विषय में **पिशेल** का साक्ष्य संपूर्णतः महत्त्वहीन है। बौद्ध त्रिपिटक की अपेक्षाकृत प्राचीन **थेरीगाथा** के ५।३९४ में 'रुप्परूपकम्' शब्द आता है, परंतु यह कठपुतली के नाच का द्योतक हो सकता है, और उस ग्रंथ में इसके ठीक पहले ही पुतली के उल्लेख ने इसको बहुत संभाव्य बना दिया है। यदि ऐसा न मानें तो इसका असंदिग्ध अर्थ, जैसा कि टीकाकार ने लिया है, बाजीगरी है, जो भारत में सदैव एक प्रिय कला रही है। दुर्भाग्य से उस रचना का समय अनिश्चित है। अतएव उससे कठपुतली के नाच के ठीक समय का भी पता नहीं चलता। यह निश्चित है कि 'मिलिन्दपञ्ह'[3] जिसका रचना-

---

१. देखिए—Vincent Smith, अशोक (ed. 3), pp. 166 f.

२. Bloch, Arch. Survey of India Report, 1903-4, pp. 123 ff.

३. pp. 344.

काल संदिग्ध है) में प्रयुक्त 'रूपदक्ख' शब्द में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं है, और न तो **जोगीमारा** की गुफा के 'लूपदक्ख' में। महाभारत में 'रूपोपजीवन' को छाया-नाट्य के अर्थ में प्रयुक्त मानना असंगत है। **नीलकंठ** ने उसकी व्याख्या की है,[1] और अपने युग में (सत्रहवीं शताब्दी ई० में) उस प्रथा का अस्तित्व सिद्ध किया है। परंतु उस शब्द का प्रयोग 'रंगावतरण' के बिलकुल सान्निध्य में हुआ है, और इस बात का निर्णायक प्रमाण उपलब्ध है कि वह शब्द अभिनेताओं की शोचनीय अनैतिकता का निर्देश करता है। शब्दकोशों में अभिनेता की एक पर्यायवाची उपाधि मिलती है 'जायाजीव'—अपनी पत्नी (की बेइज्जती) से जीविका चलाने वाला। छठी शताब्दी ई० में **वराहमिहिर** द्वारा चित्रकारों, लेखकों, और गायकों के सांनिध्य में प्रयुक्त 'रूपोपजीविन्' शब्द की व्याख्या भी इस तथ्य से हो जाती है; रूपोपजीवी आवश्यक रूप से धनपरायण होता है।[2] यह सुझाव अस्वीकार्य है कि **रत्नावली, प्रबोधचन्द्रोदय,** और **दशकुमारचरित** की पूर्वपीठिका में इंद्रजाल करते हुए दृष्टिगोचर होने वाले ऐंद्रजालिक वस्तुत: छायानाटककार थे। भारतीय ऐंद्रजालिक वर्तमान समय में भी विख्यात हैं, और माया की वे किसी सीमा तक सृष्टि करते हैं। उसका छाया-नाट्यों से कोई भी संबंध नहीं है। **रत्नावली** में ऐंद्रजालिक राजा के जिन दृश्यों का वर्णन करता है वे सामाजिकों की कल्पना पर छोड़ दिये जाते हैं—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह आभासित आग जिसने अंत:पुर को जलाया और रानी को आवृत कर लिया था। इन उदाहरणों में यथार्थवाद मानना रूपक के ही रंगमंचीय निर्देशों के विरुद्ध पड़ता है। 'शौभिक' नाम से, जिसका प्राकृत-रूप 'सोभिय' है, कोई भी निष्कर्ष नहीं निकलता। इस शब्द का छाया से कोई संबंध नहीं है और उस अर्थ में इसकी आप्त-व्याख्या कहीं नही मिलती।

अतएव 'छायानाटक' शब्द से प्राप्त साक्ष्य ही शेष रह जाता है। **पिशेल** ने उसका अर्थ किया है— 'shadow drama'। उसका प्रयोग बहुत-से नाटकों के लिए किया गया है, जिनमें से प्राचीनतम नाटक **सुभट** का **दूताङ्गद** है जिसका रचना-काल पर्याप्ति निश्चय के साथ तेरहवीं शताब्दी ई० में माना जा सकता है। उस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ अनिश्चित है, क्योंकि वह 'छाया की अवस्था में नाटक' का वाचक हो सकता है, और स्वयं **दूताङ्गद** के साथ इसकी ठीक संगति बैठ जाती है। इस प्रकार का नाटक छाया-नाटक था—इसकी सुंदरतम

---

१. xii. 295, 5.

२. वृहत्संहिता, v. 74; देखिए—Hillebrandt, ZDMG. lxxii. 227.

पुष्टि मेघप्रभाचार्य के धर्माभ्युदय से होती है,[१] जिसको 'छायानाट्यप्रबन्ध' की संज्ञा प्रदान की गयी है। उस नाटक में (जब राजा संन्यासी होने का आशय प्रकट करता है तब) यह निश्चित रंगमंचीय निर्देश दिया गया है कि यवनिका के अंदर संन्यासी के वेष में एक पुतला रख दिया जाए। परंतु इस रूपक का रचना-काल संदिग्ध है। इसको पूर्ववर्ती मानकर एवं दूताङ्गद को परवर्ती मान कर किसी निश्चय के साथ तर्क करना अत्यन्त कठिन है। अनिवार्य प्रश्न उठता है—परवर्ती रूपक में इस प्रकार के रंगमंचीय निर्देश का समावेश क्यों नहीं है ? हम जानते हैं कि छाया-नाटक का उदय भारत के किसी भाग में हुआ, क्योंकि नीलकंठ इसकी पुष्टि करते हैं। परंतु, इस बात का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि 'दूताङ्गद' के समय में इसका अस्तित्व था।

इस मत के विषय में चाहे जो निर्णय दिया जाए,[२] और किसी कारगर साक्ष्य के अभाव में इस विषय को चाहे अनिर्णीत छोड़ देना पड़े, प्रोफ़ेसर लूडर्स के उस तर्क को स्वीकार करना सर्वथा असंगत है जिसके अनुसार दूताङ्गद छाया-नाटक का प्रकार ठहरता है, और जिसके परिणाम-स्वरूप महानाटक तथा हरिदूत छाया-नाटक (shadow drama) माने गये हैं। वास्तविक छाया-नाटक के रूप में समझा जाने वाला 'छायानाट्य' एक साधारण रूपक है जिसका दूताङ्गद से कोई सादृश्य नहीं है, और यही अभ्युक्ति छाया-नाटक के नाम से अभिहित उन अन्य नाटकों पर भी लागू होती है जो हमें ज्ञात हैं। परंतु दूताङ्गद और महानाटक में सादृश्य के तत्त्व हैं—पद्य का (जिसमें प्रायः इतिहासकाव्य की विशेषता पायी जाती है) गद्य पर प्रभुत्व, प्राकृत का अभाव, पात्रों की बहुलता, और विदूषक की उपेक्षा। इन तत्त्वों के कारण का स्पष्टीकरण उत्तरवर्ती उदाहरण में इस धारणा द्वारा सरलता से हो जाता है कि हमारे सामने साहित्यिक नाटक है। वह ऐसा रूपक है जो अभिनय के उद्देश्य से नहीं लिखा गया। राम-विषयक प्राचीनतर नाटकों से की गयी उन रूपकों की साहित्यिक-चोरियाँ इस विश्वास की पुष्टि करती हैं। परंतु, प्रत्येक दशा में, हम संस्कृत-नाटक के पश्चात्कालीन विकसित रूपों पर विचार कर रहे हैं, और यह बात स्पष्ट है कि संस्कृत-नाटक के विकास में छायानाट्य के योगदान की किसी भी धारणा से कोई लाभ नहीं हो सकता। महाभाष्य की प्रोफ़ेसर लूडर्स द्वारा की गयी अपनी व्याख्या से भी केवल इतना ही अभिप्रेत है कि मूक-अभिनेता होते थे, और नाटक का यह रूप आधुनिक काल में भारत के विषय में प्रमाणित है।

---

१. ZDMG. lxxv. 69 f.

२. देखिए—अ० ११.

सूत्रधार और स्थापक को अपने नामों की प्राप्ति कठपुतली के नाच अथवा छाया-नाटक में पुतलियों के संचालन के कारण हुई है—यह सुझाव, हाल में ही डा० Hultzsch द्वारा दोहराये जाने पर भी, ग्राह्य नहीं माना जा सकता।[1] 'स्थापक' शब्द विशिष्टतारहित है, और 'प्रदर्शक' मात्र का वाचक हो सकता है। यदि यह कठपुतली के नाच से आया है तो यह समझना कठिन है कि सूत्र-संचालन करने वाले सूत्रधार के अतिरिक्त इस प्रकार के व्यक्ति की क्या आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत के अनुसार 'सूत्रधार' स्पष्ट रूप से वह व्यक्ति है जो प्रदर्शन के लिए आवश्यक अस्थायी नाट्यशाला की व्यवस्था करता है, और इस अर्थ में प्रयुक्त 'सूत्रधार' आगे चल कर निदेशक के अर्थ का द्योतन करता है। कुल मिला कर यह व्युत्पत्ति प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड[2] द्वारा स्वीकृत व्युत्पत्ति की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। उनके अनुसार 'सूत्रधार' का अर्थ होगा—वह व्यक्ति जो अपनी कला के नियमों को जानता है।

हम देख चुके हैं कि छाया-नाट्य प्रारंभिक नाटक की प्रगति को प्रभावित नहीं कर सका है। अतएव हम इस प्रश्न की उपेक्षा कर सकते हैं कि छायानाट्य के पूर्व नाटक का अनिवार्यतः अस्तित्व था या नहीं, जैसा कि प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड ने तर्क किया है। इस मत का खंडन करने के लिए जावा का जो सादृश्य प्रस्तुत किया गया है वह स्पष्टतया सर्वथा असंगत है, जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाए कि जावा में छाया-नाट्य का उदय वास्तविक नाटक के ज्ञान के पूर्व हुआ।

५. संस्कृत-नाटक पर ग्रीक प्रभाव

जिस प्रकार की सामग्री भारत में उपलब्ध थी उससे वास्तविक नाटक का निर्माण करना किसी राष्ट्र के लिए निस्संदेह बहुत कठिन है। वेबर (Weber)[3] का यह सुझाव पूर्णतः उचित है कि इस निर्माण की आवश्यक प्रेरणा, अपने साथ यूनानी सेनाओं के साथ ही यूनानी संस्कृति ले आने वाले बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात के राजाओं के दरबारों में ग्रीक-नाटकों के अभिनय के द्वारा, भारत के साथ यूनान के संपर्क से मिली होगी। **महाभाष्य** में भारतीय नाटक के साक्ष्य पर और अधिक विचार करते हुए उन्हें इस मत में सुधार करना पड़ा, और वेबर ने अंतिम रूप से यह मत व्यक्त कर के संतोष किया कि संस्कृत-नाटक पर ग्रीक

१. देखिए—अ० १४

२. AID. p. 8, n. 2. On Javan drama, देखिए—Ridgeway, Dramas, etc., pp. 216 ff.

३. IS. ii. 148; Ind. Lit. n. 210; SBAW. 1890, p. 920; मिला कर देखिए IS. xiii. 492.

नाटक का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा है। पिशेल[1] (Pischel) ने इस मत का जोरदार खंडन किया। तत्पश्चात् विन्डिश[2] (Windisch) ने उस प्रभाव की सीमा के अन्वेषण का श्रमपूर्वक प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि वे इसे सिद्ध कर सकेंगे। विन्डिश की अभिवृत्ति विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे उन तत्त्वों को पूर्णतया स्वीकार करते हैं जिन के कारण भारतीय नाटक का स्वतंत्र विकास हुआ। वे तत्त्व हैं—इतिहासकाव्य के पाठ और नट की अनुकरण-कला। 'नृत्'. धातु के प्राकृत-रूप से व्युत्पन्न 'नट' संज्ञा से सूचित होता है कि (इस शब्द के भारतीय अर्थ में) वह मूलतः एक नर्तक था, अर्थात् वह व्यक्ति जो कायिक चेष्टाओं और इंगितों द्वारा विभिन्न प्रकार के भावों का प्रदर्शन करता है, अथवा, ग्रीक तथा रोमन रंगमंच की शब्दावली के अनुसार, मूक-अभिनेता (pantomime) है। परंतु उनका आग्रह है कि महाभाष्य द्वारा सूचित इतिहासकाव्य की सामग्री के नाटकीकरण, और नाटक के प्रतिष्ठित रूप के लक्षणों में प्रभेद है। उसकी प्रतिपाद्य-वस्तु भिन्न है, वीर एवं पौराणिक पात्रों का दैनिक जीवन के संबंध से चित्रण किया गया है, मुख्य विषय सुखांत प्रेम है, कथानक का कलात्मक रूप से विकास किया गया है और कार्य का दृश्यों में विभाजन किया गया है, चरित्रों के प्रकार विकसित हैं, संवाद के विकास के आगे इतिहासकाव्य का तत्त्व गौण है, पद्य के साथ गद्य का और संस्कृत के साथ प्राकृत का मिश्रण है। यह परिवर्तन ध्यान देने योग्य है। क्या यह ग्रीक नाटक के प्रभाव के सहारे हुआ था ? किसी भी मत के अनुसार यह बात मान्य है कि सबल कारणों के द्वारा ही इतना गौरवशाली विकास संभव हो सकता है, और इस प्रकार के प्रभाव की संभावना की उपेक्षा करना अनुचित होगा।

विन्डिश के लेख के समय से, ईसवी सन् के पूर्व और पश्चात् भारत पर ग्रीक प्रभाव का प्रसार बहुत खोज का विषय रहा है। यह अन्वेषण कला के क्षेत्र में सर्वाधिक फलदायक हुआ है। यह निर्विवाद है कि भारत ने गांधार-कला के प्रति उसके मूल स्रोत के रूप में यूनान से प्रेरणा ग्रहण की। उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि आयतन-जैसे किसी प्रतीक के द्वारा बुद्ध की उपस्थिति का संकेत मात्र करने के बजाय उनके मानवीय आकार के चित्रण की प्रथा का प्रचलन यूनानी कलात्मक-प्रभावों के कारण हुआ। यह बात अभी तक अनिश्चित है कि पाश्चात्य धार्मिक

---

१. Die Recensionen der शकुन्तला (1875) p. 19; SBAW. 1906. p. 502.

२. Der griechische Einfluss im indischen Drama (1882); Sansk. Phil. pp. 398 ff. मिला कर देखिए—E. Brandes, Lervognen (1870), pp. iii ff.; Vincent Smith, JASB. lxiii. 1. 184 ff.

एवं दार्शनिक विचारों के समागम से बौद्धधर्मदर्शन के महायान-संप्रदाय का उत्थान किस सीमा तक अग्रसर हुआ। परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रोफ़ेसर **लेवी**[1] ने, जिन्होंने **विन्डिश** के मत का अत्यंत तीव्र विरोध किया था, स्वयं पाश्चात्य प्रभावों को बौद्धधर्मदर्शन में नयी भावना के विकास का कारण बतलाया है। उन्होंने इस भावना की खोज **अश्वघोष** में की है, जिन्हें वे **कनिष्क** के पार्षदों में स्थान देते हैं और जिनका समय पहली शताब्दी ई० पू० बताते हैं। ऐसी स्थिति में, प्रोफ़ेसर **लेवी**[2] ने **विन्डिश** के मत के विरुद्ध कालक्रम-संबंधी जैसी आपत्तियाँ की थीं उनका समर्थन करना निश्चय ही कठिन होगा। जब उन्होंने उस मत का खंडन किया था तब वे उपलब्ध प्राचीनतम संस्कृत-नाटकों को, स्वमतानुसार **कालिदास** के नाटकों को, पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० का बता सके थे। परंतु अब लगभग १०० ई० के नाटक उपलब्ध हैं जो निर्विवाद रूप से अपने प्रकार के प्राचीनतम नाटक नहीं हैं। और, इस बात को अस्वीकार करना असंभव है कि संस्कृत-नाटक उस काल में अस्तित्व में आया जब भारत में यूनानी प्रभाव विद्यमान था। राजनैतिक दृष्टि से वह प्रभाव **महेंद्र** (Menander) के शासन-काल में असंदिग्ध रूप से अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य में (महेंद्र की विजयों के लगभग एक शताब्दी बाद) नये प्रभावों ने, जिनकी पराकाष्ठा **कुषन**[3]-शासन की स्थापना में हुई, ग्रीक राजाओं को लगभग आत्मसात् कर लिया था। परंतु इस बात को मान लेने में कालक्रम-संबंधी कोई कठिनाई नहीं है कि भारतीय नाटक पर ग्रीक नाटक का प्रभाव पड़ा।

तथापि, यह प्रश्न उठता है कि भारत में ग्रीक राजाओं के परिवारों में नाटकीय मनोरंजन का प्रदर्शन किस सीमा तक होता था। इस विषय में उपलब्ध प्रमाण निस्संदेह अत्यल्प है।[4] हमें यह अवश्य ज्ञात है कि **सिकंदर** की अभिनयात्मक प्रदर्शनों में विशेष रुचि थी जिनके द्वारा वह अपनी विजयों के मध्यावकाश में मनोविनोद करता था, और पता चलता है कि एक्बतन (Ekbatana) में यूनान से आये हुए कम से कम तीन हजार कलाकार थे। कहा जाता है कि पारसीक बच्चों, जेड्रोशिया-वासियों (Gedrosians) और सूसा (susa)

---

१. महायानसूत्रालंकार, ii. 16f. मिला कर देखिए—Keith, Buddhist Philosophy, p. 217.

२. TI. i. 345.

३. अथवा कुषाण; ; CHI. i. 580 ff.

४. Plutarch, Alex. 72 ; Fort. Alex. 128 D ; Crassus, 33. Marshall (JRAS. 1909, pp. 1060 f.) का अनुमान है कि पेशावर के एक कलश में Antigone के अभिप्राय की प्रतिकृति है, किंतु वे संदेहशील हैं.

के लोगों ने Euripides एवं Sophocles के नाटकों का गान किया था। यदि Philostratos के Tyana[१] के Apollonios की जीवनी पर विश्वास किया जाए तो एक ब्राह्मण ने इस बात की डींग हाँकी कि उसने Euripdes के Herakleidai को पढ़ा था। प्लूतार्क (Plutarch) ने पार्थिया (Parthia) के Orodes के दरबार के उस विलक्षण दृश्य का अनुपम रीति से वर्णन किया है। जब दूत Crassus का सिर लेकर वहाँ पहुँचा, अभिनेता Iason ने Bakchai में (जिसका वह उस समय प्रदर्शन कर रहा था) Pentheus के सिर के बदले उस भयानक अवशेष को स्थानापन्न कर दिया। इन बातों तथा अन्य लेखांशों के आधार पर सिकंदर के साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में ग्रीक नाटकों के अभिनय के अस्तित्व के विषय में हमें संदेह नहीं करना चाहिए। इस विषय में प्रोफ़ेसर लेवी की संशयालुता[२] स्पष्टतया अमान्य है। यह सर्वथा सत्य है कि भारत में नाटकीय प्रदर्शनों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किंतु भारत में यूनानियों के राज्यों के विषय में उपलब्ध अत्यंत अल्प सूचना को दृष्टि में रखते हुए देखा जाए तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होती। यह बात भी संभाव्य नहीं है कि जो राजा सुंदर सिक्कों के निर्माण के लिए बहुत दक्ष कलाकारों की नियुक्ति कर सकते थे वे यूनान की महत्तम साहित्य-सृष्टि कही जाने वाली वस्तु के प्रति उदासीन रहे होंगे।

दोनों देशों की सभ्यताओं के अत्यधिक अंतर (भारतीय बहिष्कार-वृत्ति, विदेशी भाषाओं के संबंध में भारतीयों की अनभिज्ञता, अथवा इस प्रकार की सामान्य भावनाओं) के कारण ग्रीक-नाटक से भारत का कुछ ग्रहण करना कठिन था—इस बात पर भी हम विशेष बल नहीं दे सकते। क्योंकि, उस युग के भारतीयों की भावनाओं तथा कार्यों का वस्तुतः कोई महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिस समय यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया था और जिसके अनंतर पार्थियनों, शकों एवं कुषाणों के आक्रमण हुए, जिनके पश्चात् अन्य जातियाँ भी भारत में आयीं जो कम प्रसिद्ध हैं (किंतु महत्त्वहीन नहीं), और जिनके आगमन ने पश्चिमोत्तर भारत की जनता और सभ्यता को विशेष रूप से प्रभावित किया। यह स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ई० के गुप्त-वंश के समय में हिंदूधर्म का महान् पुनरुत्थान हुआ, परंतु यह बात विदित है कि इस पुनरुत्थान ने मुख्यतया पूर्व से ही शक्ति प्राप्त की, और हमें कोई ऐसी निश्चित बात नहीं मालूम है जिसके आधार पर हम कारणपुरस्सर यह तर्क कर सकें कि नाटक-विषयक संमिश्रण संभव था

१. ii. 32.
२. TI. ii. 60.

या नहीं। वास्तविक रूपकों का साक्ष्य ही एकमात्र निर्णायक प्रमाण हो सकता है, और दुर्भाग्यवश उनकी परीक्षा से उपलब्ध परिणाम संतोषजनक नहीं है।

विन्डिश का मत है कि New Attic Comedy को, जिसका उत्कर्ष-काल ३४०-२६० ई० पू० है, भारतीय नाटक पर प्रभाव का स्रोत मानना चाहिए। यह बात निस्संदेह महत्त्वरहित है कि पूर्व में नाटक-संबंधी जो नगण्य सूचनाएँ मिलती हैं उनमें इस कामेडी (Comedy) का कोई उल्लेख नहीं है। इसके प्रतिकूल हमें पता है कि Lagidai के समय में **सिकंदरिता** यूनानी विद्या का महान् केंद्र हो गया था, और **बरीगाजा**[1] (Barygaza) बंदरगाह के द्वारा **सिकंदरिया** एवं **उज्जयिनी** के बीच तेजी से व्यापार-विनिमय होता था जिसने बौद्धिक संपर्क में योग दिया होगा[2], कदाचित् मुख्य रूप से उस काल में जब महेंद्र (Menander) की विजयों के फलस्वरूप सभी प्रकार के **यूनानी** माल का विशेष चलन था। मनुष्य के दैनिक जीवन को अपना वर्ण्य विषय बनाने के कारण New Comedy अनुकरण की प्रेरणा देने के लिए नाटक के किसी अन्य रूप की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त थी।

परंतु, New Comedy और संस्कृत-नाटक के बीच संपर्क के वास्तविक तत्त्व अत्यल्प हैं। **रोमन**[3] और संस्कृत दोनों प्रकार के नाटकों का अंकों में विभाजन, रंगमंच से सभी अभिनेताओं के प्रस्थान द्वारा अंक-समाप्ति की सूचना और पाँच अंकों की प्रसामान्य संख्या (यद्यपि भारतीय नाटकों में इससे अधिक अंक भी मिलते हैं)—ये ऐसे तथ्य है जिन्हें संयोग से अधिक कुछ नहीं समझना चाहिए। संस्कृत-नाटक का विभाजन कार्य के विश्लेषण पर आश्रित है जो **यूनान** या **रोम** में अभिलिखित नहीं है। दृश्य-संबंधी रूढ़ियों में समानता है—अपवारितकों में, पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान में, विशेषकर रंगमंच पर पहले से उपस्थित किसी अभिनेता द्वारा सामाजिकों को नये पात्र के आगमन की प्रायः व्यक्त रूप से सूचना देने की पद्धति में। परंतु ये सब ऐसी बातें हैं जो लगभग समान स्थितियों में किये गये नाटकीय प्रयोगों में प्रायः अनिवार्यतः समान रूप से घटित होती हैं। आधुनिक रंगशाला के कार्यक्रमों में भी रंगमंच पर आने वाले नये पात्रों के स्वरूप की तत्काल सूचना देने की आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव किया जाता है।

---

१. Periplus, 48.

२. मिला कर देखिए—Hultzsch, JRAS. 1904, pp. 399 ff.— दूसरी शताब्दी ई० के एक पपीरस (papyous) पर परिरक्षित ग्रीक कामदी के खंडित अंश में उपलब्ध कन्नड़ शब्द.

३. Menander के उपलब्ध नाटकों में यह दृष्टिगोचर नहीं है, और रचनाकाल अनिश्चित है। मिला कर देखिए—Donatus on Terence. Andria, Prol.

नेपथ्यशाला को आवृत करने वाली और रंगमंच की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायक पटी के लिए 'यवनिका' अथवा उसके प्राकृत रूप 'जवनिका'[१] के प्रयोग पर आश्रित तर्क अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह शब्द मूलतः विशेषण है जिसका अर्थ है—आयोनिअन (ayonian), अर्थात् **यूनानी**, जिनके संपर्क में भारत पहले पहल आया। इसका नियत अर्थ था—**यूनान-संबंधी**। परंतु यह शब्द यूनानी पदार्थों तक ही सीमित नहीं रहा। यूनानी संस्कृति में ढले हुए फारसी साम्राज्य, **मिस्र, सीरिया,** और **बैक्ट्रिया** से संबंधित किसी भी वस्तु के लिए इसका प्रयोग होता है। अतः इसको यूनानी पदार्थों तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। पटी के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द विशेषण है, जो असंदिग्ध रूप से पटी के विदेशी उपादान, संभवतः जैसा कि **लेवी** ने सुझाया है, फारस में बने हुए पर्दे के कपड़े का संकेत करता है जो यूनानी जहाजों और व्यापारियों द्वारा भारत में लाया गया था। रंगशाला की पटी के लिए 'यवनिका' शब्द का प्रयोग विशिष्ट नहीं है। यदि रंगमंच की व्यवस्था के अंग-रूप में यह यूनान से लिया गया होता तो ऐसी बात संभव थी। जहाँ तक पता है, **यूनानी** नाटकों में यवनिका का प्रयोग भी नही होता था जिससे उसका ग्रहण किया जा सकता। **विन्डिश** का तर्क केवल यह था कि पटी को 'यवनिका' कहते थे क्योंकि उसने **यूनानी** रंगमंच के पृष्ठभाग में चित्रित किये जाने वाले दृश्य का स्थान ग्रहण कर लिया था।

इसी प्रकार राजा के अंगरक्षकों में यवनियों (यूनानी युवतियों) के वर्णन[२] से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संस्कृत-नाटक ग्रीक का ऋणी है, क्योंकि **ग्रीक-नाटक** में इसका सादृश्य नही पाया जाता। इससे यही अभिव्यक्त होता है कि भारतीय नरेश[३] यूनान की मोहनी गणिकाओं पर आसक्त थे, और यूनानी व्यापारी इन युवतियों के माल को जहाज द्वारा भेज कर अत्यधिक लाभ उठाने को उद्यत रहते थे।

कथानक-संबंधी सादृश्य की बातें महत्त्व की हैं। नाटिका के मूल विषय और New Comedy के युवक के चित्र में कुछ समरूपता है। नाटिका में राजा किसी

---

१. Konow, 10. p. 5, n. 5 ; Levi, TI. i. 348 ; सामान्य अर्थ के लिए देखिए—अमर०, ii. 6. 3. 22 ; हलायुध ii. 154.

२. भास में पहले से विद्यमान : cf. Lindenau, BS. p. 41, n. 2 ; Lévi Quid de Craecis etc. (1890), pp. 41 f. ; यूनानी प्रभाव के लिए देखिए—Kennedy, JRAS. 1912, pp. 993 ff., 1012 ff.; 1913, pp. 121 ff. ; W.E. Clark, Classical Philogy, xiv. 311 ff.; xv. 10 f., 18 f.; Weber, SBAW. 1890, pp. 900 ff.

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र, i. 21 ; Megasthnes, frag. 26 ; Strabo, xv. 1.55.

युवती से प्रेम करता है, विभिन्न बाधाएँ अवरोध उपस्थित करती हैं, और अंत में वह ऐसी घटनाओं के द्वारा सफल होता है जो इस बात का उद्‌घाटन करती हैं कि वह एक राजकुमारी है, जो उसके साथ विवाह के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है किंतु संयोगवश इस विषय में गुप्त रही। New Comedy का नायक किसी सुंदरी से प्रेम करता है, जो प्रत्यक्षत: ऐसे कुल की प्रतीत होती है जिसके कारण Attic कानून उनके विवाह का निषेध करता है, किंतु यथार्थत: वह समान कुल की है, और अंत में उसका प्रत्यभिज्ञान कराने वाले चिह्न का पता लग जाने पर वह प्रेम सफल होता है। इन नाटकों में प्रत्यभिज्ञान-चिह्न का उपयोग असंदिग्ध रूप से उभयनिष्ठ है। **शकुन्तला** में हमें मुद्रिका[१] मिलती है जो नाटक के '**अभिज्ञान-शाकुन्तल**' नाम का अंशत: कारण है। **विक्रमोर्वशी** में संगममणि है जिससे **पुरूरवा** अपनी प्रेयसी को, लता-रूप में परिवर्तित होने पर भी, पहचानने में समर्थ होता है। **रत्नावली** में हार पाया जाता है जिससे नायिका का प्रत्यभिज्ञान होता है। **नागानन्द** में मणि है जो आकाश से गिर कर नायक के भाग्य का संकेत करती है। **मालतीमाधव** में **मालती** द्वारा धारण की गयी माला है जिसको **सौदामिनी** प्रत्यभिज्ञान-चिह्न के रूप में उपसंहार में प्रस्तुत करती है। **मृच्छकटिका** में मिट्टी की गाड़ी है जिसमें नायक के विरुद्ध साक्ष्य-रूप में पेश किये जाने वाले रत्नाभूषण रखे गये हैं। कुछ अन्य चिह्न भी उसी सामान्य कोटि में आते हैं। **मालविकाग्नि-मित्र** में रानी की मुद्रिका है जिसको विदूषक सर्प-दंश के इलाज के लिए प्राप्त कर के **मालविका** की मुक्ति के लिए काम में लाता है। **विक्रमोर्वशी** में आयु का तीर है, जिससे **पुरूरवा** अपने पुत्र को पहचानता है। **मुद्राराक्षस** में राक्षस की मुद्रा है, जिसका उपयोग **चाणक्य** उसकी योजनाओं को गड़बड़ाने के लिए करता है। कतिपय उदाहरणों में इन चिह्नों के उपयोग की समरूपता घनिष्ठ है। अपहृत मालविका और समुद्र से बचायी गयी **रत्नावली**, तथा Rudens की नायिका में सचमुच सादृश्य है; यह नायिका अपने पिता के यहाँ से अपहारकों द्वारा चुरायी गयी, किसी Leno को बेची गयी, उसका पोत **सिसली** के समुद्रतट पर ध्वस्त हो गया, उसके बचकाने आभूषणों का पता लगने पर उसकी पहचान की गयी।

---

१. इस अभिप्राय के लिए देखिए—Gawronski, les Sources de quelques drames indiens, pp. 39 ff. यूनानी दु:खांत नाटक में प्रत्यभिज्ञान के विषय में देखिए– Aristotle, Poetics, 1452a 29 ff.; Verrall, Choephorae, pp. xxxiii-lxx. आदिम त्रासदी (tragedy) के तत्त्वके रूप में इसकी आवश्यक विशेपता को, देवता के प्रत्यभिज्ञान को, Ridgeway ने ठिकाने लगा दिया है, *Dramas, etc.*, pp. 40f.

ये प्रभावशाली तथ्य हैं। उनका समाधान यह प्रतिपादित करके किया जा सकता है कि संस्कृत-नाटक के अभिप्रायों का साहित्य में प्राचीनतर इतिहास है, और उन्हें स्वाभाविक विकास के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यहाँ पर कठिनाई यह उपस्थित होती है कि उपलब्ध साहित्य या तो कथाओं के रूप में है, जिनका प्रत्येक उपलब्ध रूप संभावित **यूनानी** प्रभाव के बाद का है, या इतिहासकाव्य के रूप में है, जिसका रचनाकाल अनिश्चित है। फलस्वरूप इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि इसका कोई भी गौण बादपद ईसवी सन् के पूर्व का है। इतिहास-काव्य से यह अवश्य सूचित होता है कि **यूनान** के लिए यह अनावश्यक था कि वह नाटक में प्रस्तुत किये गये विचार भारत को दे। परिचारिका का छद्मवेष धारण कर के राजा **विराट** की पत्नी **सुदेषणा** की सेवा करने वाली **द्रौपदी** के प्रति **कीचक** के प्रेम की कहानी दुःखांत है, क्योंकि उसके प्रेम का तिरस्कार किया जाता है, परंतु नाटिका की कथावस्तु के साथ इसका सादृश्य असंदिग्ध है। **नल** और **दमयंती** की प्राचीन कथा के उदाहरण में, नायिका अधिक भाग्यशालिनी है, क्योंकि जब जुए में राज्य हार जाने के कारण उसका विक्षिप्त पति उसे त्याग देता है तब वह वियोगिनी विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रूप में शांतिपूर्वक रहती है। अंत में वह जन्म-चिह्न के द्वारा पहचानी जाती है। **रामायण** में इस प्रकार के चिह्न के प्रयोग का विस्तार कृत्रिम रूपों तक हुआ है। **राम** के यहाँ से चुरायी गयी **सीता** अपने आभूषण पृथ्वी पर डाल देती हैं। वानर उन्हें अपने राजा के पास ले जाते हैं। वह उन्हें **राम** के हाथों में दे देता है। इस प्रकार नायक असंदिग्ध रूप से जान लेता है कि अपहर्ता कौन है। **सीता** के उद्धार का प्रयत्न किये जाने तक निरुद्धावस्था में उन्हें आश्वासन देने के लिए **राम हनुमंत** को अपने संदेश के साथ भेजते हैं, और उनकी पहचान के लिए अपनी मुद्रिका देते हैं। **सीता** उसे देखकर आश्वस्त होती हैं। यह बात मानने योग्य है कि आदिम समाज में, जिसमें प्रत्यभिज्ञान के उपाय आवश्यक रूप से भौतिक अथवा व्यक्तिगत थे, इस प्रकार की घटनाएँ अनिवार्य-सी हैं। संस्कृत-नाटक में इस साधन का अतिबहुल प्रयोग भी नहीं है। पत्र और रूपचित्र[1] (portrait) अन्य साधन हैं, जिनका उपयोग शास्त्र में स्वीकृत है।

विन्डिश ने **मृच्छकटिका** के आधार पर ऋणिता के जिस साक्ष्य की चर्चा की है वह आरंभिक संस्कृत नाटक के रूप में उस नाटक की प्रामाणिकता के

---

१. देखिए—भास-कृत स्वप्नवासवदत्ता, *vi, pp. 51 ff.*

विषय में अधुना उपलब्ध तथ्यों के प्रकाश में पुनर्विचारणीय है। **विन्डिश** को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें आरंभिक युग का प्रत्येक रूप प्रस्तुत किया गया है, और वह **यूनानी** प्रतिमान से घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित करता है। उन्होंने उसके नाम की तुलना Cistellaria, ('नन्ही पेटी') या Aulularia, ('नन्हा पात्र') से की; उसके राजनैतिक कपटयोग और शृंगार-नाटक के मिश्रण की तुलना Plautus के Epidicus तथा Captivi के कार्य की समकालीन राजनैतिक घटनाओं के (प्रासंगिक रूप से ही सही) उल्लेख से की। उनके मतानुसार अधिकरण का का दृश्य यूनानी प्रेरणा का फल था। **चारुदत्त** और **वसंतसेना** के मिलन की तुलना उन्होंने Cistellaria के नायक और नायिका से की; अपनी प्रेयसी दासी को धन देकर मुक्ति कराने के लिए **शर्विलक** की चोरी की तुलना नयी कामदी के नायक द्वारा अपनी प्रणयिनी को खरीदने के साधन प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त खोटे उपायों से की; **वसंतसेना** द्वारा दासी की मुक्ति की तुलना यूनानी नाटक में नारी की मुक्ति-प्राप्ति से की। अंत में, **चारुदत्त** के साथ वैध विवाह के योग्य बनाने के लिए एक चरित्रवती नारी की कोटि तक **वसंतसेना** के उन्नयन की तुलना यूनानी नाटक के नायक की प्रेयसी के जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में उसकी स्वतंत्र स्थिति के अस्तित्व की उपलब्धि से की गयी है। अस्तु, **मृच्छकटिका** को उस अर्थ में भारतीय नाटक का प्रारंभिक प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता जिस अर्थ में **विन्डिश** ने माना है। **मृच्छकटिका** का आधार **भास** का **चारुदत्त** है, जिसमें, कम-से-कम उसके उपलब्ध रूप में, राजनैतिक एवं प्रेम-संबंधी वैदग्ध्यप्रयोग का संमिश्रण नहीं है। प्रचलित आदर्श से भिन्न 'मृच्छकटिका' नाम कदाचित् नये नाटक की पुराने से भिन्नता सूचित करने के लिए जान-बूझ कर चुना गया था। उल्लिखित नाटकों में राजनैतिक और प्रेम-संबंधी वैदग्ध्यप्रयोग का यथार्थ संमिश्रण नहीं है, और अन्य सादृश्य इतने अधिक अस्पष्ट हैं कि उन पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया जा सकता। नयी सामाजिक स्थिति तक **वसंतसेना** का उन्नयन एक असाधारण घटना है, जो नये राजा **आर्यक** के एक कार्य पर आश्रित है, जो (आर्यक), पूर्ववर्ती शासक के विजेता के रूप में, अपनी सर्वोच्च प्रभुता के अधिकार का प्रयोग वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन करके **वसंतसेना** के पक्ष में करता है। इस प्रकार राजनैतिक कपटयोग उस रूपक में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है।

अरिस्तू[1] के मतानुसार नाटक की घटनाएँ एक दिन की अवधि से अधिक की नहीं होनी चाहिएँ, या कुछ ही अधिक की होनी चाहिएँ। भारतीय शास्त्र में

---

१. Poetics, 1449 b. 12 ff.

प्रतिपादित एवं प्रयोग में अनुपालित नियम है कि एक अंक की घटनाएँ एक ही दिन की अवधि में परिसीमित होनी चाहिएँ। इन नियमों की समानता को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यदि यह नियम अरिस्तू से लिया गया था तो उसका अर्थ अत्यंत परिवर्तित हो गया था क्योंकि संस्कृत-नाटक के अंकों के बीच एक वर्ष तक की लंबी अवधि बीत जाने की छूट दे दी गयी है। एक बात और है। भावकों में भ्रांति उत्पन्न करने के लिए कथावस्तु का यथार्थता के संनिकट होना आवश्यक था। यह अनुभवसिद्ध आवश्यकता ही बिना किसी बाह्य प्रभाव के संस्कृत-नाटक की अवस्थिति के निर्माण में समर्थ थी।

नाटक के पात्र ऐसी समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं जिनका समाधान उधार के सिद्धांत के अनुसार नहीं किया जा सकता। पति-प्रणयिनी, कुलीन और गरिमामयी नायिका के स्वरूप की तुलना विन्डिश ने रोमन कामदी (Comedy) की Matrona से की है। अपने पति और नयी प्रेयसी के मिलन को रोकने के लिए किये गये उसके प्रयत्न की तुलना अपने पुत्र को अविवेकपूर्ण विवाह या प्रेम-व्यापार से विमुख करने के लिए किये गये Senex के प्रयत्न के साथ की गयी है। परंतु यह स्पष्ट है कि ये तुलनाएँ असंगत हैं। पुरानी और नयी प्रेमिकाओं की प्रतिद्वंद्विता अंतःपुर के जीवन की घटना है जो बहुपत्नीकता में अनिवार्य है, और इससे कवि को उसके मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम के विभिन्न पक्षों तथा प्रकारों के वैषम्य को चित्रित करने का प्रशस्त अवसर मिलता है। अस्तु, विन्डिश ने विट, विदूषक, तथा शकार इन तीनों पात्रों की यूनानी नाटक के parasite (परजीवी), servus currens, तथा miles gloriosus (विकत्थन भट) के साथ तुलना पर सर्वाधिक बल दिया है, और उनके तर्कों का कुछ महत्त्व है। यह सत्य है कि सूत्रधार और उसके सहायक के साथ ये तीन पात्र नाट्यशास्त्र द्वारा अभिनेताओं की एक सूची में उल्लिखित हैं, और इन पाँचों की यूनानी नाटक के पुरुष-पात्रों के साथ काफी घनिष्ठ संगति बैठ जाती है। यह भी सत्य है कि कालिदास और चारुदत्त-समेत मृच्छकटिका को शकार का पता है किंतु वह परवर्ती नाटक में दृष्टिगोचर नहीं होता, और विट में अपेक्षाकृत अत्यल्प जीवन दिखायी देता है। इससे सूचित होता है कि धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि ग्रीक से वस्तुग्रहण भारत के उपयुक्त नहीं है, और उसका स्वाभाविक रूप से लोप हो गया। परंतु यह तर्क ऋणिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। हाँ, विट का ग्रीक अथवा रोमन कामदी के किसी अन्य पात्र की अपेक्षा परजीवी के साथ अधिक घनिष्ठ सादृश्य है, परंतु उस परजीवी में भारतीय विट की परिष्कृति और संस्कृति का अभाव है। विट जीवन से गृहीत पात्र है, वह विनोदी एवं निपुण सहचर है जो

अपने आश्रयदाता का मनोरंजन करने के लिए वेतन पाता है, किंतु जिसकी परा-श्रयता उसे बदतमीज़ी और भद्दे मजाक का पात्र नहीं बनाती। जैसा कि हम देख चुके हैं, विदूषक का उद्भव, संभवतः, धार्मिक नाटक से हुआ है। उसके ब्राह्मण वर्ण, और उसके प्राकृत-प्रयोग का सुंदरतम समाधान इसी रीति से किया जा सकता है। अन्य सभी मत कहीं अधिक कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं; दास का ब्राह्मण में रूपांतर इतना प्रचंड परिवर्तन है कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। **लेवी**[1] के मतानुसार विदूषक का ग्रहण प्राकृत-नाटक से किया गया है जिसमें धर्म के आवरण में अपने निकृष्ट व्यापार को छिपा कर प्रेम के मामलों में बिचौलिये का कार्य करने वाले ब्राह्मण के इस रूप का यथार्थ चित्रण हुआ है, परंतु यह बात समझ में नहीं आती कि ब्राह्मणों ने उसके इस रूप को संस्कृत-नाटक में बनाये रखने की सहमति क्यों कर प्रदान की। प्रोफ़ेसर **कोनो**[2] का मत भी समान रूप से अविश्वसनीय है जिसमें उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि वह जन-नाटक का पात्र है जो उच्चतर वर्ग का, प्रमुखतया ब्राह्मणों का, मजाक़ उड़ाना पसंद करता था। इस बात का कोई बुद्धिगम्य कारण नहीं मिलता कि ऐसे नाटक में, जो निम्नतर वर्गों को कभी रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ, ब्राह्मण इस प्रकार के पात्र क्यों हुए, और यह बात अर्थसूचक है कि क्षत्रिय-वर्ग के विदूषक-रूप का कोई संकेत नहीं मिलता, यद्यपि जनसाधारण असंदिग्ध रूप से शासकों का उपहास करने के लिए उसी प्रकार तैयार थे जिस प्रकार पुरोहितों का। शकार और Miles Gloriosus (विकत्थन भट) की समरूपता किसी भी प्रकार कम नहीं है, परंतु उधार-विषयक तर्क का खंडन इस समीक्षा से हो जाता है कि इस प्रकार के पात्र की व्याख्या **भास** और **मृच्छकटिका** के युग के भारतीय जीवन के आधार पर सहज ही की जा सकती है, जब कि भारतीयों को धनलोलुप सैनिकों का कटु अनुभव होता रहा होगा।

अभिनेताओं की संख्या यूनानी प्रथा से निश्चय ही मेल नहीं खाती। भास के ही पात्रों की संख्या बड़ी नहीं है, **शकुन्तला** में तीस हैं, **मृच्छकटिका** में उनतीस, **विक्रमोर्वशी** में अठारह, **मुद्राराक्षस** में चौबीस, और केवल उत्तरकालीन एवं कम कल्पनाशील **भवभूति** के **मालतीमाधव** में तेरह तथा **उत्तररामचरित** में ग्यारह की संख्या पायी जाती है।

दोनों (देशों के) नाटकों की प्रस्तावनाएँ रचनाकार के नाम, नाटक के नाम, और सामाजिकों द्वारा सहानुभूतिमूलक संग्रहण के प्रति नाटककार की कामना के ख्यापन का प्रयोजन सिद्ध करती हैं। परंतु, भारतीय प्रस्तावना का पूर्वरंग से

---

१. TI. .i 358·　　　२. ID. p. 15·

घनिष्ठ संबंध है, और उसमें अपनी निजी, निश्चित एवं स्वतंत्र विशेषता सूत्रधार तथा मुख्य अभिनेत्री 'नटी' के संवाद में पायी जाती है। फलतः, उधार का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही इस बात का कोई महत्त्व है कि शिव, जो विशिष्ट अर्थ में नाटक के संरक्षक हैं, Dionysus के निकटतम भारतीय प्रतिरूप हैं। इस बात का भी कोई महत्त्व नहीं है कि जिस समारोह के अवसर पर रूपकों का प्रायः प्रदर्शन किया जाता था उसका समय वसंत था, जैसा कि एथेन्स के महान् Dionysia के विषय में है जब कि नये रूपक सामान्यतः प्रस्तुत किये जाते थे। Protagonist (मुख्य अभिनेता) और सूत्रधार में समरूपता है, क्योंकि दोनों ही नाटक में प्रमुख भाग लेते हैं। परंतु यह और अन्य प्रस्तुत की जा सकने वाली गौण बातें ऐतिहासिक संबंध के साक्ष्य-रूप में महत्त्वहीन हैं।

विन्डिश ने स्वीकार किया है कि नाट्यशालाओं के संबंध में तुलना की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि भारतीय नाट्यशाला स्थायी नहीं थी। परंतु, ब्लाख (Bloch)[1] ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि सीताबेंगा गुफा की नाट्यशाला और यूनानी नाट्यशाला में विशेष सादृश्य है। परंतु, यह प्रयास स्पष्टतया असफल है; संपूर्ण नाट्यशाला की बनावट थोड़े-से दर्शकों के लिए शिला को काट कर बनायी गयी छोटी-सी रंगभूमि की रचना है जिसका किसी भी युग की यूनानी नाट्यशाला से कोई विशेष सादृश्य नहीं है।

इधर हाल में उन लोगों की प्रवृत्ति जो संस्कृत-नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव दिखलाने का प्रयत्न करते हैं इस ओर मुड़ी है कि यूनानी स्वाँग ने कला के रूप में भारत पर प्रभाव डाला। इस प्रकार विन्डिश की युक्तियों को एक नया रूप दे दिया गया है और इस विषय में उनकी अंशतः पुष्टि हुई है।[2] भारतीय नाटक की भाँति यूनानी स्वाँग (mime) का अभिनय मुखौटों और ऊँचे तल्ले के जूतों (buskins) के बिना किया जाता था। स्वाँग में दृश्य-चित्रकारी भी नहीं होती थी, विभिन्न बोलियों का प्रयोग होता था, और अभिनेताओं की संख्या बहुत थी। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटक में स्वाँग के कतिपय प्रतिष्ठित प्रकारों का सादृश्य बतलाया जा सकता है; Zēlotypos का शकार से और mōkos का विदूषक से कुछ सादृश्य है।

---

१. Arch. Survey of India Report, 1903-4, pp. 123 ff. ; Lüders द्वारा ससंभ्रम गृहीत, ZDMG. lviii. 868. देखिए—Hillebrandt, AID. pp. 23 f. ; GIL. iii. 175, n. 1.

२. Der Mimus, i. 694 ff.; DLZ. 1915; pp. 589 ff. E. Müller-Hess, Die Entstehung des inditchen Dramas (1916), pp. 17 ff. ; Lindenau, Festschrift Windisch. p. 41.

रीश (Reich) के इस मत के विरुद्ध प्रस्तुत किये गये तर्कों में से कुछेक निर्विवाद रूप से अमान्य हैं। प्रोफ़ेसर **कोनो** की भाँति यह युक्ति देना असंभव है कि प्राचीन काल की कृति के रूप में **मृच्छकटिका** का उपयोग गलत है, क्योंकि प्राचीनतम सुरक्षित नाटक विल्कुल भिन्न प्रकार के है और **यूनानी** रचनाओं से उनका कोई सादृश्य नहीं है। यह ठीक है कि **मृच्छकटिका** उतनी प्राचीन नहीं है जितनी कि समझी जाती थी; परंतु **चारुदत्त** उसका स्थानापन्न हो सकता है, और केवल **भास** के नाटकों तथा **बौद्ध** नाटकों के कुछ अंशों को छोड़ कर उससे प्राचीनतर नाटक उपलब्ध नहीं हैं। न ही प्राचीनकालीन भारत में स्वाँग के विषय में कोई वहुत संतोषप्रद साक्ष्य उपलब्ध है, क्योंकि स्वाँग का अर्थ नट-कर्म मात्र से अधिक वहुत कुछ है। परंतु उक्त मत की अवहेलना के लिए पर्याप्त आधार है। प्रकारों की समरूपता की वात विल्कुल ही प्रत्यायक नहीं है; स्वाँग से विभिन्न वोलियों के प्रयोग के विचार ग्रहण करने की वात वस्तुतः हास्यास्पद है; और पात्रों की वड़ी संख्या दोनों के ही विषय में समान रूप से स्वाभाविक है। यवनिका-संवंधी युक्ति में कोई प्रमाण-शक्ति नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं 'यवनिका' शब्द केवल उपादान का निर्देश करता है, यदि भारतीय रंगमंच यूनान का ऋणी हो तो यह अत्यंत विचित्र वात होगी कि 'ग्रीक' शब्द यवनिका तक ही सीमित रहे, और, अंततः किंतु अल्पतः नहीं, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि **यूनानी** स्वाँग में यवनिका का प्रयोग होता था। अतएव इस मत का नया रूप पुराने की अपेक्षा अविक प्रत्यय का दावा नहीं कर सकता। वेवर के द्वारा संभाव्य माने गये अर्थ में यूनानी प्रभाव की संभावना को हम निश्चय-पूर्वक अस्वीकार नहीं कर सकते।[1] संभव है कि यूनानी राजदरवारों में अभिनीत नाटक अथवा स्वाँग, वास्तविक नाटक के विकास में सहायक हुआ हो। परंतु, प्रभाव के सकारात्मक (Positive) लक्षणों की खोज के विपय में उपलब्ध साक्ष्य का उत्तर नकारात्मक (negative) ही रह जाता है।

इसमें संदेह नही कि कुछ विचार ऐसे हैं जो उधार-विषयक मत का कारण-पूर्वक प्रत्याख्यान करते है। **यूनान** से **रोम** ने और गौरवग्रंथों (classics) से फ़ान्स ने उधार लिया था। यदि उनके आधार पर निर्णय किया जाए तो हम देखेंगे कि वास्तविक होने पर अनुकरण का लक्षण स्पष्ट तथा सशक्त है। परंतु साम्यानुमान पर आश्रित तर्कों में वहुत अधिक श्रद्धा रखना हमारे लिए कठिन है। दूसरों से गृहीत वस्तु को संपरिवर्तित और आत्मसात् करने की भारत में विलक्षण प्रतिभा है, जैसा कि उसने **यूनानी** आदर्श पर गढ़ी हुई **बुद्ध**-प्रतिमा के

१. मिला कर देखिए—Oldenberg, Die Literatur des alten Indien, pp. 241 ff.

विषय में किया है। इतिहासकाव्य और कथाओं में नाटकों के स्रोत खोजने की संभावना अधिक महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि इस विषय में रचनाकार-संबंधी कठिनाई निरूपण की पूर्णता में बाधक है। यह ठीक है कि संस्कृत-नाटक का स्वरूप बहुत कुछ महाकाव्यात्मक तथा अनाटकीय है, परंतु यह बात व्यापक रूप से लागू नहीं की जा सकती। और, इस दृष्टि को अपनाकर कि (उधार के विषय में) केवल **यूनानी** प्रभाव की बात कही गयी है, भारतीय देशज प्रभावों के अपवर्जन की नहीं, उक्त तर्क को उलटा जा सकता है। प्रोफ़ेसर **कोनो** का कथन है कि पात्रों का प्रकारात्मक (Typical) स्वरूप एक भेदक तत्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह बात भूल-से गये हैं कि यूनानी नाटक, प्रमुखतया नयी कामदी (New comedy), प्रकारों की दृष्टि से संपन्न है, और स्वाँग में भी प्रकारों का चित्रण है। उस कामदी में कुतूहल का कोई विशेष सफल उपचयन अथवा पात्रों की भूमिकाओं से आविर्भूत मार्मिक कथास्थिति का विकास, अथवा समस्या सुलझाने के लिए कृत्रिम उपायों का सहारा लिये बिना समाधानों का उपस्थापन नहीं मिलता। वस्तुतः इन सब बातों में भारतीय नाटक यूनानी नाटक का एक प्रकार से सजातीय है, विजातीय नहीं।

६. शक और संस्कृत-नाटक

प्रोफ़ेसर **लेवी**[१] ने भारतीय नाटक पर यूनानी प्रभाव की संभावना के विषय में **विन्डिश** का विरोध किया था। उस पर विचार किया जा चुका है। वे स्वयं इस सुझाव के लिए उत्तरदायी है कि प्राकृत के अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रचलित धार्मिक नाटक के विसदृश संस्कृत-नाटक के उत्थान का श्रेय शकों को है, जिनका भारत में आगमन पश्चिमोत्तर प्रदेश के यूनानी राज्यों के क्षिप्र ह्रास के कारणों में से एक था। उनके मत का आधार यह सामान्य दृष्टि है कि संस्कृत ब्राह्मणों की पांडित्यपूर्ण और धार्मिक भाषा के रूप में प्रतिबद्ध न रहकर साहित्य की भाषा के पद पर आरूढ़ हो गयी। शिलालेखों से, कुल मिला कर, सूचित होता है कि शिलालेख-भाषा के रूप में संस्कृत का आरंभिक प्रयोग **रुद्रदामन्** ने किया जिसका १५० ई० का **गिरनार** का शिलालेख पूर्णतः संस्कृत में है, हालाँकि १२४ ई० के **उषवदात** के शिलालेख में संस्कृत का आंशिक प्रयोग मिलता है। उनका अभिमत है कि सबसे पहले शकवंशी पश्चिमी क्षत्रप ही संस्कृत को धरती पर लाये, किंतु उसे ग्राम्य नहीं बनाया; इसके प्रतिकूल दक्षिण के हिंदू और परंपरानिष्ठ शातकर्णी

---

१. JA. sér. 9, xix. 95 ff. ; IA. xxxiii. 163ff. मिलाकर देखिए—Bloch, Mélanges Lévi, pp. 15 f. ; Frank, Pāli und Sanskrit, pp. 87 ff. ; Keith, Sans. Lit. ch. I.

तीसरी शताब्दी ई० तक अपने शिलालेखों में प्राकृत का प्रयोग करते रहे। इसके प्रकाश में शकार की भूमिका को समझा जा सकता है। शकों के प्रति शत्रुता के कारण यह एक ऐसे युग की सूचना देता है जब या तो कोई राजा शकों के विरुद्ध था, या शक-अधिराज्य (dominion) का हाल ही में पतन हुआ था जिस की ताजी याद लोगों के मन में बनी हुई थी। संभवतः **मृच्छकटिका** में दूसरी शताब्दी ई० की घटनाओं का गड़बड़ विवरण रक्षित है। शकों और नाटक-निर्माण का विशिष्ट संबंध **नाट्यशास्त्र**, और उनके शिलालेखों की शब्दावली में देखा जा सकता है। **रुद्रदामन्** ने अपने पितामह का 'स्वामिन्' तथा 'सुगृहीतनामन्' के रूप में उल्लेख किया है, और उस वंश के **नहपान** (७८ ई०) आदि राजाओं के शिलाभिलेखों में 'स्वामिन्' का स्वच्छंदता से प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त **रुद्रसेन** अपने शाही पूर्वजों **चाटन, जयदामन्, रुद्रदामन्** और **रुद्रसेन** का उल्लेख करते हुए उन्हें 'भद्रमुख' की संज्ञा प्रदान करता हैं। **लेवी** का तर्क है कि ये शब्द **नाट्यशास्त्र** में उपलब्ध प्रयोग के मेल में है, जिनको **नाट्यशास्त्र** ने औपचारिक व्यवहार से ग्रहण किया होगा। इसके अतिरिक्त, **रुद्रदामन्** ने 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग **पुष्यगुप्त** पर लागू करते हुए किया है, जिसने लगभग साढ़े चार शताब्दी पूर्व **चंद्रगुप्त मौर्य** के शासनकाल में एक कुंड का निर्माण कराया था जिसकी मरम्मत उसने (**रुद्रदामन्** ने) करायी थी। और, यह शब्द **शकुन्तला** तथा **मृच्छकटिका** में राजश्याल (राजा का साला) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसका यह अर्थ प्रतिष्ठित और आप्त प्राचीनतम संस्कृत-कोश **अमरकोश** में दिया हुआ है। इन विचारों में यह भी जोड़ा जा सकता है कि **मालवा** के पश्चिमी क्षत्रपों की राजधानी **उज्जयिनी** ऐसा केंद्र है जिसके चारों ओर नाटकों में प्रयुक्त तीनों महत्त्वपूर्ण प्राकृतें **शौरसेनी, मागधी**, तथा **महाराष्ट्री** पंखे की भाँति फैली हुई हैं, उनके प्रयोग का कारण इस प्रकार समझा जा सकता है, जिसका अन्यथा समाधान कठिन होता।

लेवी ने अपने सुझाव के साथ ही यह स्वीकार किया है कि अपने पहले तर्कों के अनुसार उन्होने **मृच्छकटिका** या उसके स्रोत का जो रचनाकाल समझा था उसकी अपेक्षा वह प्राचीनतर है, और इस प्रकार **यूनानी** प्रभाव की संभावना बढ़ गयी है। प्रोफ़ेसर **कोनो**[1] ने उनके सुझाव को इस महत्त्वपूर्ण सुधार के साथ मान लिया है कि जो प्राचीनतम नाटक हमें ज्ञात हैं (**अश्वघोष** के नाटक के अंश और **भास** के नाटक) उनमें **महाराष्ट्री** की उपेक्षा की गयी है और उनकी प्रसामान्य गद्य-भाषा **शौरसेनी** है। इस तथ्य के आधार पर वे **मथुरा** को उस नाटक की जन्मभूमि मानते हैं, और उसका रचनाकाल पहली शताब्दी ई०

---

१. ID. p. 49.

के मध्य के लगभग बताते हैं। इस मत की पुष्टि वे इस तथ्य से करते हैं कि **मथुरा** के शासक भी **शक** क्षत्रप या सत्रप (satraps) थे, जिनके प्रभुत्व का प्रसार कम से कम पहली शताब्दी ई० के आरंभ से होने लगा था।

संस्कृत-नाटक के उद्भव का ठीक-ठीक काल जानने के प्रबल आकर्षण के बावजूद यह आशंका हो सकती है कि उक्त मतों में से कोई भी मत आलोचनात्मक छानबीन की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा। **अश्वघोष** के नाटक के अंशों की उपलब्धि से यह सूचित होता है कि उस समय तक नाटक सुनिश्चित और पूर्ण रूप प्राप्त कर चुका था, और हम किसी संभाव्यता के साथ यह नहीं मान सकते कि नाटक का उद्भव उसके एक शताब्दी पूर्व नहीं हुआ। और, एक शताब्दी भी मान कर हम पहली शताब्दी ई० के मध्य के और आगे पहुँचते हैं, क्योंकि **कोनो** ने जो **कनिष्क** का समय लगभग १५० ई० बतलाया है[1], वह संभवतः बहुत अधिक परवर्ती है, उसका समय कम से कम पचास वर्ष पहले होना चाहिए। इस प्रकार **रुद्रदामन्** से १५० वर्षों के समय का अंतर पड़ता है, संभाव्यतः और अधिक। अतः यह मत कि पश्चिमी क्षत्रपों ने नाटक में संस्कृत का आरंभिक प्रयोग किया केवल कालक्रम-संबंधी विचारों के आधार पर ही धराशायी हो जाता है।

पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग पर आश्रित तर्क निस्संदेह असंगत है। **रुद्रदामन्** के शिलालेख में प्रयुक्त 'राष्ट्रिय' का अर्थ 'साला' है—यह कथन किसी भी साक्ष्य द्वारा पुष्ट नहीं है, और अत्यंत असंभाव्य है। यह शब्द असंदिग्ध रूप से 'राज्य-पाल' का द्योतक है; और उसका संकुचित प्रयोग परवर्ती विकास है। राजा के संबोधन के प्रकार के रूप में 'स्वामिन्' का प्रयोग नाट्यशास्त्र में अभिलिखित नहीं है, और **कोनो** की भाँति यह तर्क करना बिल्कुल असंभव है कि चूंकि **दशरूप** एवं **साहित्यदर्पण** में यह दिया गया है, अतः **भरत** से गृहीत है। इसके विपरीत, भरत[2] यह संज्ञा युवराज को देते हैं, जो निश्चय ही राजा से भिन्न है। **भास** के बाद के उपलब्ध नाटकों में यह राजा या युवराज के लिए प्रयुक्त नहीं है। 'सुगृहीतनामन्' (जो कदाचित् 'जिसका नाम श्रद्धापूर्वक लिया जाता है' का वाचक है) का उदाहरण **भरत** के **नाट्यशास्त्र** में नहीं है, केवल पश्चात्कालीन शास्त्र में 'सुगृहीताभिध' मिलता है, परंतु जो एक शिष्य, बालक या अनुज द्वारा गुरु, पिता या अग्रज के संबोधन के लिए ही विहित है। इसलिए **रुद्रदामन्** द्वारा प्रयुक्त शब्द से उसका कोई संभाव्य संबंध नहीं है। **भरत** के **नाट्यशास्त्र** में 'भद्रमुख' राजकुमार का संबोधन है। **रुद्रसेन** ने राजाओं के लिए इसका प्रयोग किया है, और साहित्य

---

१. ID. p. 50. इसके विरुद्ध, देखिए— CHI. i. 583.

२. xvii. 75. ; मिलाकर देखिए—साहित्यदर्पण, 431 ; R. iii. 314.

में इसके विशिष्ट एवं राजकीय प्रयोग की उपेक्षा की गयी है। यह वैमत्य पूर्ण एवं विश्वासोत्पादक है। यदि नाटक का उद्भव **उज्जयिनी** के पश्चिमी क्षत्रपों के आश्रय में हुआ होता तो राजभाषा से उसका इतना खुल्लमखुल्ला असामंजस्य न होता।

इन तर्कों की सारी भ्रांति इस विश्वास पर आश्रित है कि संस्कृत में परिवर्तित होने के पूर्व नाटक का विकास प्राकृत-नाटक के रूप में हुआ। बिना तर्कसंगति और सफलता के यही सिद्धांत धर्मनिरपेक्ष संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक विभाग पर लागू कर दिया गया है। **महाभाष्य** में संस्कृत-काव्य का उल्लेख है। उस समय तक प्राकृत-काव्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[१] परंतु इसके अतिरिक्त यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नाटक मूलतः धार्मिक था और इतिहासकाव्य के पाठों से तत्त्वतः संबद्ध था, और दोनों कारणों से संस्कृत आरंभ से ही अपने न्यायोचित पद की अधिकारिणी हुई। यह निश्चित है कि जिन पाठों का निर्देश **पतंजलि** ने किया है वे संस्कृत में थे। इसलिए यह समझना अत्यंत कठिन है कि वास्तविक प्राकृत-नाटक लेवी तथा **कोनो** के मतानुसार किसी भी समय कैसे अस्तित्व में आया। इतिहास-काव्य के पाठ और कोनो को मान्य आदिम स्वाँग के संमिलन के पूर्व, स्वयं उन्हीं के मतानुसार नाटक की संभावना नहीं हो सकती। जब उन दोनों का संमिलन हुआ, संस्कृत पहले से ही विद्यमान रही होगी।

अश्वघोष के नाटक के खंडित अंशों की प्राप्ति से नाटक के उद्भव को, यदि **पतंजलि** के समय तक नहीं तो, **पतंजलि** के समय के बहुत निकट तक ले जाने में निस्संदेह बहुत सहायता मिलती है। पहली शताब्दी ई० पू० को यथोचित निश्चय के साथ सबसे बाद का समय माना जा सकता है जब कि वास्तविक संस्कृत-नाटक का आविर्भाव हुआ। हाँ, यदि प्रोफ़ेसर **लूडर्स** द्वारा पहले बताया गया **कनिष्क** का समय ठीक हो और उसे ५७ ई० पू०[२] के विक्रम संवत् का संस्थापक माना जाए तो संस्कृत-नाटक का आविर्भाव काल एक शताब्दी और पहले होना चाहिए। इस प्रकार एक विरोधमूलक स्थिति उत्पन्न हो जाएगी—प्रोफ़ेसर **लूडर्स** ने **अश्वघोष** का जो समय बताया है उसके अनुसार उन्हें नाटक का आविर्भाव-काल **पतंजलि** के पश्चात् नहीं मानना चाहिए, इसके विपरीत वे **महाभाष्य** के साक्ष्य पर विचार करते हुए नाटक के तत्कालीन अस्तित्व में संदेह करते हैं। प्रोफ़ेसर

---

१. मिलाकर देखिए—IS. xiii. 483 ff. ; Keilhorn, IA. xiv. 326 f. Sansk. Lit., pp. 38 ff.

२. Bruchstucke buddhistischer Dramen, pp. 11, 64. इसके विरुद्ध उनके मत के लिए देखिए—SBAW. 1912, pp. 808 ff., जब वे Oldenberg द्वारा पक्षपोषित बहुत बाद का समय स्वीकार करते हैं, G. N. 1911, pp. 427 ff.

लूडर्स ने इस द्विपाशक (dilemma) पर ध्यान नहीं दिया । उसका परिहार हम यह मान कर कर सकते हैं कि उन्होंने कनिष्क का जो समय बताने की भूल की थी वह १९११ ई० में उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर ही अमान्य था।

७. प्राकृतों का साक्ष्य

अश्वघोष के नाटक के खंडित अंशों की उपलब्धि से प्रोफ़ेसर **लेवी** द्वारा बताये गये संस्कृत-नाटक के उत्थान-काल का निराकरण ही नहीं हो जाता (क्योंकि अश्वघोष **रुद्रदामन्** के संभवतः कम से कम आधी शताब्दी पूर्व हुए थे) अपितु उससे प्राकृतों और संस्कृत के प्रश्न पर भी विशद प्रकाश पड़ता है । यह स्मरण रखना चाहिए कि **अश्वघोष** ऐसे धर्म के निदर्शक थे जिसने आरंभ में संस्कृत के विरुद्ध जनपदीय भाषा का आग्रह किया था, और यह मानना हास्यास्पद होगा कि नाटकों में संस्कृत के प्रयोग की बात उनके मन में बौद्ध प्रेरणा तथा प्रयोजन से आयी। यह बात संभव होती यदि तत्कालीन नाटक में संस्कृत का प्रयोग प्रतिष्ठित न हो चुका होता। इससे हम पुनः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आरंभ से ही नाटक की रचना कम से कम अंशतः संस्कृत में हुई थी, और इसलिए **पतंजलि** द्वारा वर्णित नाटकीय पाठों के साथ, जो संस्कृत में थे, इसका आनुवंशिक संबंध है।

यह अत्यंत संभाव्य प्रतीत होता है कि आरंभ से ही नाटक की रचना अंशतः प्राकृत में भी हुई थी। वस्तुतः इतिहासकाव्य के पाठ मात्र के लिए प्राकृत का बीच में आना आवश्यक नहीं था, परंतु यह बिल्कुल असंभाव्य है कि इस प्रकार के पाठ अपने आप नाटक का निर्माण करते। हम औचित्य के साथ मान सकते हैं कि इन पाठों तथा धार्मिक प्रतिद्वंद्विता के अभिनय के संयोग से नाटक का उद्भव हुआ। हम कल्पना कर सकते हैं कि उस प्रतिद्वंद्विता में निचली श्रेणी के लोगों का प्रतिनिधित्व था और वे अपनी भाषा बोलते थे। यह नहीं माना जा सकता कि वैदिक **महाव्रत** में सूर्य के प्रतीक के लिए वैश्य के अधिकार का प्रतिरोध करने वाला शूद्र संस्कृत में बोलता था, अथवा यज्ञ के समय ब्राह्मण तथा गणिका ने संस्कृत अथवा उसकी पूर्ववर्ती वैदिक भाषा में गाली-गलौज किया। उसी प्रकार उस धार्मिक समारोह में, जिसमें **कृष्ण** के द्वारा **कंस**-वध का दृश्य उपस्थित किया गया था, भाग लेने वाले निचली श्रेणी के लोगों द्वारा जनपदीय भाषा के प्रयोग की आवश्यकता पड़ी होगी। प्राकृत मुख्यतया संवाद में दृष्टिगोचर होती है, संस्कृत प्रधानतया पद्यों में—इस तथ्य से इस मत की पुष्टि होती है कि नवीन नाटक ने पद्य का ग्रहण मुख्यतः इतिहासकाव्य के पाठ से किया, और गद्यमय संवाद का ग्रहण धार्मिक वाद-विवाद से। इन दोनों तत्त्वों का कभी पूर्णतः विलय नहीं

हुआ। धार्मिक समारोह (जो **यूनान** में त्रासदी के विसदृश कामदी के मूल में पाया जाता है) के एक पक्ष से आने वाला विदूषक मुख्यतः इतिहासकाव्य की प्रेरणा से रचित नाटकों में प्रसामान्य पात्र नहीं है; परंतु यह बात यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि नाटक अपने प्रारंभिक काल में कभी केवल संस्कृत में लिखा जाता था। यह बात संभव अवश्य हो सकती है; **भास** के **दूतवाक्य** में प्राकृत नहीं है। और अब तक प्राकृत-मिश्रित संस्कृत के विकल्प-रूप में केवल-संस्कृत के प्रयोग की संभावना पक्ष में अधिक है, विपक्ष में कम।

आरंभिक संस्कृत-नाटक में कितनी प्राकृतों का प्रयोग किया गया था—यह प्रश्न कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह है कि जिस क्षेत्र में नाटक का उद्भव हुआ था उसी की जनपदीय भाषा का व्यवहार हुआ होगा और यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि वह **शूरसेन** देश था। आदि से अंत तक नाटक की प्रसामान्य गद्य-भाषा के रूप में **शौरसेनी** वस्तुतः दृष्टिगोचर होती है; यह विदूषक और गणिका की तथा प्रसामान्यतः रूपक के आर्यावर्तोत्पन्न सभी पात्रों की भाषा है। महत्त्व की दृष्टि से कोई अन्य बोली सैद्धांतिक रूप में भी इसकी बराबरी नहीं कर सकती। **भास** के उपरांत, सिद्धांत और व्यवहार में, गद्य में बोलते समय **शौरसेनी** का प्रयोग करने वाली बालाओं द्वारा गाये गये पद्यों की भाषा का संमान **महाराष्ट्री** को दिया गया है। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि यह आदिम नहीं है, परंतु उस कलानिर्मित प्रगती-काव्य की ख्याति की वृद्धि एवं विकास का प्रतिवर्त है जिसका एक संग्रह हाल (की गाथासत्तसई) के नाम से उपलब्ध है, जो कदाचित् तीसरी या पाँचवीं शताब्दी की रचना हो।[1]

सफलता के साथ यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि किसी अन्य प्राकृत का प्रयोग किस सीमा तक हुआ था। **भास** ने **शौरसेनी** के अतिरिक्त दो प्रकार की **मागधी** का प्रयोग किया है, और जिसे **अर्धमागधी** कहा जा सकता है उसके एकाध संकेत मिलते हैं; **अश्वघोष** ने तीन बोलियों का प्रयोग किया है जिनसे **शौरसेनी, मागधी** तथा अर्धमागधी के अधिक प्राचीनतर रूपों की सूचना मिलती है। **अश्वघोष** द्वारा पात्रों के लिए इन बोलियों के प्रयोग का स्वाभाविक कारण बौद्ध **त्रिपिटक** से उनका परिचय है जिसकी मूल रचना उनकी परिचित **अर्ध-**

१. Jacobi, Ausgew. Erzählungen in महाराष्ट्री, pp. xiv ff., के अनुसार सातवाहन का समय पाँचवीं शताब्दी ई० है। V. Smith द्वारा बताया गया समय (पहली शती ई०) निश्चित रूप से ग़लत है। इस काव्य का समय तीसरी शताब्दी ई० तक प्राचीन हो सकता है; Weber's ed., p. xxiii; Lévi, TI. i. 326; GIL. iii. 102 f.

मागधी[1]-जैसी भाषा में हुई थी। और यह तथ्य कि प्राचीन **मागधी** वोलने वाला 'दुष्ट' है हमें उस दुश्चरित्र की याद दिलाता है जो **मगधवासियों** के मनोरंजन का विषय[2] है। **लेवी**[3] का यह सुझाव कि नाटक की मागधी उसके इतिहासकाव्यात्मक तत्त्व से आयी है, और यह कि **मागध** लोग प्राकृत की इतिहासकाव्यात्मक रचनाओं के पाठक थे, स्पष्ट रूप से अमान्य है। और, वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सुझाव के प्रवर्तक ने उसका परित्याग इस सुझाव के पक्ष में कर दिया कि नाटक की प्राकृतों के विकास का कारण यह था कि नाटक की उत्पत्ति **उज्जयिनी** में हुई, जो विभिन्न वोली-रूपों की मिलन-भूमि थी। **मथुरा** को नाटक और अन्य वोलियों **मागधी** तथा **अर्धमागधी** का प्रधान केंद्र वनाने के लिए इस मत में संशोधन किया जा सकता है। किंतु **भास** के द्वारा **शौरसेनी** के अतिरिक्त किसी अन्य वोली का प्रतिवद्ध प्रयोग सूचित करता है कि अन्य प्राकृतों का प्रयोग क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम था। असल वात यह है कि विकसित नाटक में **शौरसेनी** और **महाराष्ट्री** ही वास्तविक भूमिका अदा करती हैं। वोलियों के अधिक विस्तृत प्रयोग का जो आधार मिलता है उसका कारण साहित्यिक प्रयोजन ही अधिक है, न कि उस काल की वोली के अनुकरण का कोई प्रयत्न, जैसा कि सर **जार्ज ग्रियर्सन** (Sir George Grierson)[4] ने सुझाया है। इस निष्कर्ष का आधार, यथार्थवाद के लिए इतने महान् प्रयत्न की असंभाव्यता के अतिरिक्त, यह है कि ये वोलियाँ (उदाहरणार्थ **मृच्छकटिका** तक में) स्पष्ट रूप से साहित्यिक हैं, वास्तविक जनपदीय भाषाओं के पुनःसर्जन के प्रयत्न की परिणति नहीं।

अश्वघोष द्वारा प्रयुक्त प्राकृतें जिस अवस्था तक पहुँची हैं उससे स्पष्टतया सूचित होता है कि परंपरानिष्ठ संस्कृत-नाटक की प्राकृतें कितनी पश्चात्कालीन हैं,[5] और हम अनुमान कर सकते हैं कि **पतंजलि** के समय या उनके कुछ वाद के नाटक की प्राकृत का संस्कृत से कितना अधिक घनिष्ठ सादृश्य रहा होगा। अभिजात संस्कृत-नाटक में उपलब्ध प्राकृत के टूटे-फूटे रूपों से यह भ्रांत धारणा होती है कि मूल नाटकीय रूप में या तो शायद केवल संस्कृत का (यदि विषय-वस्तु इतिहास-

---

१. Lüders, Bruchstücke buddhistischer Dramen, pp. 40 f.; SBAW. 1913, pp. 1003 ff.

२. देखिए—Keith, CHI. i. 123 f.

३. TI. i. 331.

४. IA. xxx. 556.

५. प्राकृत की एक संक्रमणकालीन अवस्था कदाचित् नाट्यशास्त्र में देखी जा सकती है, किंतु उसका पाठ वहुत अशुद्ध है; मिलाकर देखिए—Jacobi, भविसयत्तकहा, pp. 84 ff.

काव्य से ली गयी हो) या संस्कृत और उसकी विशेष सजातीय शौरसेनी दोनों का प्रयोग होता था।

८. नाटक की साहित्यिक पूर्वपरिस्थितियाँ

अपने उद्भव के लिए नाटक अंशतः भारत के इतिहासकाव्यों का ऋणी है। अपने संपूर्ण इतिहास में इसने उनसे वहुधा प्रेरणा ग्रहण की है। यूनानी महाकाव्य से यूनानी त्रासदी ने जो प्रेरणा ली है[1] उसकी तुलना में यह वात निश्चय ही वहुत अधिक सत्य है। इतिहासकाव्य से परिष्कृत और परिमार्जित काव्य का भी विकास हुआ, जिसका सुंदरतम रूप **कालिदास** के **कुमारसम्भव** और **रघुवंश** में दिखायी देता है। दोनों के विकसित रूप का सादृश्य घनिष्ठ और अद्भुत है। **साहित्य-दर्पण**[2] के अनुसार महाकाव्य अनेक सर्गों की रचना है, उसका नायक देवता या उच्च वंश का क्षत्रिय, धीरोदात्त और श्रेष्ठ होता है, यदि अनेक नायक हों तो वे एक राज वंश के व्यक्ति होते हैं। अंगी रस शृंगार, वीर या कभी शांत होता है, अन्य रस अंग-रूप से कार्य करते हैं। विषय-वस्तु ऐतिहासिक होती है अथवा अनैतिहासिक, परंतु नायक का शीलवान् होना आवश्यक है। किसी स्तुति, आशीर्वाद अथवा विषय-वस्तु के निर्देश से रचना का आरंभ होता है। कथानक के विकास में उन्हीं पाँच संधियों की योजना की जाती है जो शास्त्र द्वारा नाटक के लिए विहित हैं। चार पुरुषार्थों अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में से किसी एक की कार्य द्वारा प्राप्ति की जाती है। सर्गों की संख्या आठ से कम नहीं होनी चाहिए; प्रत्येक सर्ग का अंतिम छंद भिन्न होना चाहिए और उसमें आगामी सर्ग की वस्तु का स्थापन होना चाहिए। सभी प्रकार के वर्णन आवश्यक हैं। इनके विषय हैं—दिन के विभिन्न समय, सूर्य, चंद्र, रात्रि, उषःकाल, संध्या, अंधकार, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुएँ, वन, समुद्र, आकाश, नगर, संयोग का आनंद, प्रिय-वियोग का दुःख, यज्ञ, युद्ध, सेना का प्रयाण, विवाह, पुत्र-जन्म। इन सबका उपयुक्त विस्तार से वर्णन होना चाहिए।

इन लघु महाकाव्यों की आवश्यक विशेषता वर्णन-कला का अत्यधिक विकास है, और यह विशेषता वर्णनात्मक साहित्य के अन्य रूपों कथा तथा आख्यायिका में पायी जाती है, जिनका परस्पर मिश्रण हो गया है। प्रतिपाद्य चाहे कल्पित विषय

---

१. मिलाकर देखिए—Aischylos in Athen., p. 347

२. 559. देखिए—दण्डिन्, काव्यादर्श, 1. 14 ff., और मिला कर देखिए—मङ्खक के 'श्रीकण्ठचरित' (वारहवीं शती) तथा हरिचन्द्र के 'धर्मशर्माभ्युदय' के विश्लेषण, Lévi, TI. i. 337 ff.; Keith, Sansk. Lit, pp.38ff.

हो, जैसे **सुबन्धु** की **वासवदत्ता** में, या ऐतिहासिक हो, जैसे **बाण** के **हर्षचरित** में, उसमें कथा से भिन्न रूप में केवल वस्तुवर्णन मिलता है, किसी अन्य बात का वस्तुतः महत्त्वपूर्ण निरूपण नहीं है। संस्कृत-प्रगीतकाव्य भी, **कालिदास** की श्रेष्ठकृति **मेघदूत** में, तत्त्वतः विवरणात्मक है, जैसा कि **हाल** के संग्रह में परिरक्षित प्राकृत-प्रगीतकाव्य, जो संस्कृत के एक प्राचीनतर प्रगीतकाव्य के आदर्श पर आधारित है, जिसके अस्तित्व की सूचना **महाभाष्य** से मिलती है।

परंतु, विवरणप्रियता कोई नयी बात नहीं है। यह स्वयं इतिहासकाव्य की विशेषता है। **रामायण** से विशेषतया सूचित होता है कि दरबारी काव्य का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया जा रहा था।[1] अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नाटक के पद्य, जब स्वरूपतः सूक्तिमय न हों, तब अत्यधिक विवरणात्मक हैं। **पिशेल**[2] का अनुमान है कि किसी समय केवल पद्य ही परिरक्षित थे, और गद्य आशुरचना के लिए छोड़ दिया गया था। उनका यह मत तभी तर्कसंगत होता जब पद्य संवाद के आवश्यक रूप से महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते, जैसा कि उपकल्पित वैदिक आख्यान-सूक्तों में है। परंतु निश्चित रूप से यह बात नहीं है। पद्यों से नाटक के कार्य में नगण्य सहायता मिलती है। महाकाव्य के पद्यों की भाँति वे कथा-स्थितियों तथा भावों के विवरणों की अभिव्यक्ति करते हैं। नाटक में गति की अपेक्षा होने पर गद्य का आश्रय लेना पड़ता है। अथवा, वे पद्य नीतिवाक्यों का काम देते हैं। सूक्तिमय काव्य के प्रति भारत की अतिशय अभिरुचि के कारण यह बात स्वाभाविक है। यह विशेषता **ऐतरेयब्राह्मण** में **शुनःशेप** के उपाख्यान के बीच में प्रयुक्त पद्यों में पहले ही दृष्टिगोचर होती है। यहाँ पर भी महाकाव्य के साथ घनिष्ठ सादृश्य है। यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि **अश्वघोष** और **कालिदास** जैसे महाकाव्यकर्ता प्रायः नाटक की ओर प्रवृत्त हुए।

नाटककारों की साहित्यिक प्रेरणा का स्रोत प्रगीतकवियों की कृतियों में भी असंदिग्ध रूप से द्रष्टव्य है। उनकी कृतियों का स्पष्ट साक्ष्य तथा कुछ बिखरे हुए

---

१. देखिए—Jacobi, Das Rāmāyaṇa, pp. 119 ff. ; Walter, Indica, III.

२. नेपाल के जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६१७–३३ ई०) का 'हरगौरीविलास' वस्तुतः एक प्रकार का गीतिनाट्य है, जिसकी एकमात्र विशेषता यह है कि उसके पद्य जनपदीय भाषा में लिखे गये हैं। इस प्रकार के नाटक के आधार पर प्रारंभिक नाटक के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकता। आभिजात्य नाटक पर आधारित आरंभिक मैथिली नाटक के गीत जनपदीय भाषा में और संवाद संस्कृत एवं प्राकृत में लिखे गये हैं (Lévi, TI. i. 393.).

खंडित अंश **पतंजलि** के **महाभाष्य** में अब तक परिरक्षित हैं ।[1] इसके अतिरिक्त यह संभाव्य है कि नाटक अपनी कतिपय छांदसिक विविधताओं के लिए इन प्रगीतकारों का ऋणी है। प्राचीनतर और स्वच्छंदतर वैदिक तथा महाकाव्यगत रूपों से ऐसे छंदों का विकास हुआ जिनमें गणों और वर्णों की मात्रा तथा संख्या नियत थी। यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि सीमित विषय पर लिखने वाले और रूप तथा प्रभाव की विविधता पर पूर्ण लक्ष्य रखने वाले शृंगारी कवियों ने इस विकास में अत्यधिक योगदान किया होगा। छंदों के नामों से ही उनकी शृंगार-व्यंजना के साथ ही उपर्युक्त निष्कर्ष भी, यदि सिद्ध नहीं तो, सूचित अवश्य होता है।[2]

---

१. Kielhorn, IA. xiv. 326 f.; Lüders, Bruchstücke buddhistischer Dramen, p. 63.

२. मिलाकर देखिए—Weber, IS. viii. 181 ff.; Jacobi, ZDMG. xxxviii. 615 f.

: ३ :

अश्वघोष और बौद्ध रूपक

१. शारिपुत्रप्रकरण

तुर्फान में अत्यंत पुराकालीन ताड़पत्रों पर लिखित पांडुलिपियों की उपलब्धि से प्रोफ़ेसर लूडर्स के प्रयत्न के फलस्वरूप कम से कम तीन बौद्ध नाटकों के अस्तित्व का पता चला है। सौभाग्यवश उनमें से एक का कर्तृत्व निश्चित है, क्योंकि अंतिम अंक की पुष्पिका परिरक्षित रही है, और उसमें अंकित है कि यह नाटक सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष का शारिपुत्रप्रकरण है। इसमें रचना की पूर्णतर संज्ञा **शारद्वतीपुत्रप्रकरण**, और अंकों की संख्या नौ भी दी गयी है।

अश्वघोष ऐसे लेखक हैं जिनका यश उनकी बौद्ध होने की भूल के कारण भारत में बहुत समय तक लुप्त रहा। बुद्ध के जीवन पर उत्कृष्ट शैली में और जीवंत भावना से लिखित उनके दरबारी महाकाव्य **बुद्धचरित** की उपलब्धि एवं प्रकाशन से उन का यश हाल ही में फिर से उजागर हुआ है। तिब्बती अनुवाद के माध्यम से उनके **सूत्रालंकार** का भी पता चला है, जो कथा को बौद्ध धर्म के पक्षपोषक प्रचार के साधन के रूप में परिवर्तित कर देने की उनकी कुशलता का दिग्दर्शन करता है। यदि **महायानश्रद्धोत्पाद** को उनकी रचना बताने वाली परंपरा सत्य है तो वे महायान-संप्रदाय के विज्ञानवाद की सजातीय तत्त्वमीमांसा के सूक्ष्म तंत्र के प्रवर्तक या व्याख्याता भी थे। **वज्रसूची** में उनके द्वारा वर्ण-व्यवस्था पर किये गये आक्रमण का विवरण भी परिरक्षित प्रतीत होता है। इस वर्ण-व्यवस्था ने क्षत्रियों को तुच्छ समझ कर ब्राह्मणों को उच्चपद दे रखा था, और वह बौद्ध-धर्मदर्शन की इस कारण से निंदा करती थी कि बुद्ध-जैसे क्षत्रिय का ब्राह्मणों को उपदेश देना अनुचित था। महाकाव्य के रूप में **सौन्दरनन्द** निश्चय ही खरा है, जिसमें उनकी अन्य कृतियों की भाँति ही परिष्कृत साहित्य की भाषा में बौद्ध-धर्मदर्शन, और ब्राह्मण-मतों का भी प्रतिपादन किया गया है। वे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में मान्य हैं जिन्होंने इस बात को समझा था कि बौद्धधर्मदर्शन को ब्राह्मण-

धर्म की उत्कृष्टतम उपलब्धि से हीन रूप में दबे रहने देने से काम नहीं चलेगा। आश्चर्य है कि विधिवशात् ब्राह्मण-विरोधी की कृति परिरक्षित है, जब कि उनके पूर्ववर्ती आदर्श-ग्रंथ लुप्त हो गये हैं। उनके नाटकों ने जो प्रतिष्ठित रूप धारण कर लिया है उससे स्पष्ट है कि उनके पथ-प्रदर्शन के लिए पूर्ववर्ती रचनाएँ प्रचुर संख्या में विद्यमान थीं। इसके विरुद्ध प्रोफ़ेसर **कोनो**[1] का तर्क (इस आधार पर कि बहुत-से प्रस्थापित सूत्र और पात्र जन-नाटक से लिए गये हैं, और उनसे सूचित होता है कि कलात्मक नाटक अपने विकास-क्रम में अभी तक पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हुआ था) समझ में नहीं आता क्योंकि ये लक्षण संस्कृत-नाटक के इतिहास में आद्यंत पाये जाते हैं। न ही इस तर्क में कोई सार है कि **नाट्यशास्त्र** से (जिसके विषय में अनुमान किया गया है कि वह लगभग उसी युग की कृति है जिसमें **अश्वघोष** हुए थे) रूपकों की कुछ ही विधाओं की जानकारी सूचित होती है। इसके विपरीत यह बात आश्चर्यजनक है कि (**नाट्यशास्त्र** में) रूपक के मुख्य प्रकारों के व्यवस्थापन के पूर्व कितना विपुल साहित्य रहा होगा, जिनमें से कुछ के प्रतिनिधि-रूप नमूने विद्यमान थे, यद्यपि अन्य रूप असंदिग्ध रूप से प्रयोग के सीमित आधार पर आश्रित थे।

यदि पुष्पिका के बाद भी कोई संशय रह गया हो तो **अश्वघोष** के नाटक के परिरक्षित संक्षिप्त अंशों से उनके कर्तृत्व का निश्चय हो जाता है, क्योंकि एक पद्य **बुद्धचरित** से संपूर्णतः ग्रहण किया गया है, और **सूत्रालंकार** में उस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का दो बार निर्देश किया गया है। रूपक का कथानक स्पष्ट है। उसमें बुद्ध के द्वारा युवक **मौद्गल्यायन** और **शारिपुत्र** के मत-परिवर्तन तक की घटनाओं का वर्णन है, और उसके कुछ प्रसंग असंदिग्ध हैं। **शारिपुत्र** ने **अश्वजित्** से साक्षात्कार किया था; तब उन्होंने अपने मित्र विदूषक के साथ बुद्ध के उपदेशक होने के अधिकार के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया। विदूषक ने यह आपत्ति उठायी कि उसके स्वामी के जैसे ब्राह्मण को क्षत्रिय से उपदेश नहीं ग्रहण करना चाहिए। **शारिपुत्र** ने उसकी आपत्ति का निराकरण उसे इस बात की याद दिलाकर किया कि अवर जाति के व्यक्ति द्वारा दी गयी औषधि भी रोगी को लाभ पहुँचाती है, जैसे ताप-पीड़ित व्यक्ति को पानी। **मौद्गल्यायन शारिपुत्र** का अभिवादन करता

---

१. ID. p. 50. खंडित अंशों के लिए देखिए—Lüders, Bruchstücke buddhistischer Dramen (1911); SBAW. 1911, pp. 388 ff. उनके दर्शन के लिए, मिलाकर देखिए—Keith, Buddhist Philosophy, Part III, ch. iii. 'सौन्दरनन्द' 'बुद्धचरित' से प्राचीनतर है और वह सूत्रालंकार' से.

है, उनकी प्रसन्न मुद्रा का कारण पूछता है, और उनकी युक्तियों को समझता है। दोनों बुद्ध के पास जाते हैं, बुद्ध उनका स्वागत करते हैं, और भविष्यवाणी करते हैं कि वे दोनों उनके शिष्यों में महत्तम ज्ञानी और सिद्ध होंगे। यहाँ पर बुद्धचरित में वर्णित प्रसंग के साधारण विवरण का जानबूझ कर और निश्चित रूप से कलात्मक व्यतिक्रम किया गया है। बुद्धचरित में बुद्ध की भविष्यवाणी, स्वयं शिष्यों को नहीं, किंतु बुद्ध के अनुयायियों को संबोधित कर के की गयी है। रूपक के उपसंहार की विशेषता यह है कि वहाँ पर शारिपुत्र और बुद्ध के बीच दार्शनिक संवाद की योजना की गयी है, जिसके अंतर्गत किसी नित्य आत्मा में विश्वास के विरुद्ध शास्त्रार्थ है। उसकी समाप्ति बुद्ध द्वारा दोनों नये शिष्यों की प्रशंसा तथा भरतवाक्य से होती है।

इस रूपक के विषय में सबसे अधिक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि यह नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रतिष्ठित रूपक के प्रकार के बिल्कुल अनुरूप है। यह रचना 'प्रकरण' है, और इसमें नौ अंक हैं, जो सर्वथा शास्त्र के नियमानुसार हैं। मृच्छकटिका तथा मालतीमाधव में दस अंक हैं। अंकों को संज्ञाएँ नहीं दी गयी हैं, किंतु यह बात प्रसामान्य व्यवहार के मेल में है, यद्यपि मृच्छकटिका में नाम दिये गये हैं। नायक शारिपुत्र है, जो शास्त्र-संमत ब्राह्मण नायक का समरूप है, और जो निश्चित रूप से शास्त्र द्वारा निर्धारित धीरशांत नायक है। हमें यह ज्ञात नहीं होता कि इसकी नायिका कुलवधू थी अथवा गणिका, न ही इस बात का आभास मिलता है कि कवि ने विषय-वस्तु में अपनी कल्पना द्वारा कहाँ तक परिवर्तन किया, जो पश्चात्कालीन प्रकरणों में नियमतः पाया जाता है। दो नायकों के अतिरिक्त बुद्ध और उनके शिष्य (कौण्डिन्य तथा एक श्रमण के समेत) संस्कृत बोलते हैं। वे गद्य और पद्य दोनों का व्यवहार करते हैं। विदूषक प्राकृत बोलता है। इस पात्र की उपस्थिति इस बात का असाधारण प्रमाण है कि उस समय तक नाटक का स्वरूप निश्चित हो चुका था, क्योंकि इस बात से अधिक हास्यास्पद और कुछ नहीं है कि एक सत्यान्वेषी भिक्षु पर एक ऐसे व्यक्ति का बोझ डाला जाए जो एक धनी सार्थवाह, ब्राह्मण, या मंत्री का परिचारक होने योग्य है। अतएव इस बात का अनुमान मात्र किया जा सकता है कि अश्वघोष रूपक के ऐसे प्रकार की रचना कर रहे थे जिसमें विदूषक की भूमिका का निवेश अत्यंत स्थिर हो चुका था और उसका परित्याग संभव नहीं था। कल्पना की जा सकती है कि इस रूपक के अनुपलब्ध कथानक में विदूषक बीच-बीच में हासपूर्ण विश्रांति देने का कार्य करता था। स्वाभाविक सुरुचि के अनुसार, वह अंतिम अंक में दृष्टिगोचर नहीं

होता, जिसमें बुद्ध-संघ के सदस्य के रूप में **शारिपुत्र** को विदूषक-सरीखे भारस्वरूप आश्रित व्यक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऐसा दावा किया गया है कि अश्वघोष की पद्धति और पश्चात्कालीन नाटक की पद्धति में केवल एक बात का अंतर मिलता है। शास्त्र[1] का विधान है कि उपसंहार में नायक स्वयं अपने से या कोई अन्य-पात्र उससे प्रश्न करता है—'क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ तुम्हें अभीष्ट है (अतः परमपि प्रियमस्ति) ?' उसका उत्तर नायक 'भरतवाक्य'-संज्ञक आशीर्वचन के द्वारा देता है। अश्वघोष के रूपक में यह उक्ति छोड़ दी गयी है, और भरतवाक्य, बिना किसी उपक्रम के, इन शब्दों में आगे बढ़ता है—'अब से ये दोनों इंद्रिय-निग्रह करते हुए निरंतर ज्ञान-वृद्धि करते रहें और निर्वाण प्राप्त करें।' यह उक्ति बुद्ध की है, नायक की नहीं। इस पर से **लूडर्स** का अनुमान है कि **अश्वघोष** के समय तक नाटक के उपसंहार के नियमित रूप की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। उनका अनुमान स्पष्टतः सदोष है। वे यह समझने में असमर्थ रहे हैं कि **अश्वघोष** परंपरागत प्रयोग को कार्यान्वित करने के लिए प्रस्तुत हैं किंतु उसका अंधानुसरण नहीं करते। प्रत्यक्ष है कि भरतवाक्य के रूप में नाटक के अंतिम शब्द बुद्ध के अतिरिक्त किसी दूसरे के मुख से कहलवाना हास्यास्पद होता, और इसलिए भरतवाक्य उन्हीं की उक्ति है। उनकी उक्ति के आमुख-रूप में प्रचलित सूत्र की योजना अनावश्यक थी, परंतु उस पद्य के आरंभिक शब्द हैं—**अतः परम्**, जो अविश्वसनीय संयोग की बात नहीं है, अपितु सामान्यतः प्रचलित उक्ति का जानबूझ कर किया गया निर्देश है। इससे सूचित होता है कि **अश्वघोष** को शास्त्र-ज्ञान था और आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन करने की शक्ति थी। इसी प्रकार वेणीसंहार में **भट्टनारायण** ने भरतवाक्य **युधिष्ठिर** के मुख से कहलाया है, लेकिन नाटक की समाप्ति **कृष्ण** के द्वारा **युधिष्ठिर** को प्रार्थित वरदान दिला कर करायी है। उन्होंने भी अनुभव किया कि **युधिष्ठिर** नाममात्र को नायक होने पर भी अनुत्तम ही रहता है; सर्वशक्तिमान् पुरुष को ऐसे व्यक्ति द्वारा कहे गये भरतवाक्य के निष्क्रिय-श्रोता के रूप में रहने देना हास्यास्पद होगा।[2]

२. साध्यवसान और गणिकाविषयक रूपक

शारिपुत्रप्रकरण के अंशों वाले हस्तलेख में से अन्य रूपकों के खंडित अंश

---

१. नाट्यशास्त्र, xix. 102

२. इसी प्रकार प्रह्लादनदेव (बारहवीं शती) के 'पार्थपराक्रम' में भरतवाक्य वासव की उक्ति है.

भी हैं। उनके कर्तृत्व के विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। केवल इतना ही तथ्य ज्ञात है कि वे उसी हस्तलेख में पाये जाते है जिसमें **अश्वघोष** की कृति, और उनकी सामान्य रूपरेखा वही है जो उस लेखक की रचना की है। किसी अज्ञात समकालीन लेखक की रचना होने की अपेक्षा उनका अश्वघोष-कृत होना अधिक संभाव्य है।[1]

इन में से पहला रूपक विशेष-महत्त्व-युक्त है क्योंकि यह रूपक के एक ऐसे प्रकार का प्रतिनिधित्व करता है जिसका **कृष्णमिश्र**-रचित **प्रबोधचन्द्रोदय** से प्राचीनतर कोई दूसरा नमूना उपलब्ध नहीं है। हम रूपकमय पात्रों **बुद्धि, कीर्ति,** और धृति को प्रवेश करके कथोपकथन करते हुए पाते हैं। तदनंतर स्वयं **बुद्ध** का आगमन होता है। वे **यूनानी** कला से गृहीत परिवेष से मंडित हैं। इस बात का पता नहीं चलता कि उन्होंने रूपकमय पात्रों के साथ आगे चल कर वास्तविक कथोपकथन में भाग लिया या नहीं, परंतु यथार्थ और आदर्श (काल्पनिक) पात्रों के संमिश्रण के लिए हमें सभी पात्रों को अमूर्त रूप में (उदाहरणार्थ—**विष्णु** को विष्णुपरक **श्रद्धा** के रूप में) प्रस्तुत करने वाले **कृष्णमिश्र** से आगे बढ़ कर सोलहवीं शताब्दी में **कविकर्णपूर के चैतन्यचन्द्रोदय** तक जाना होगा। इस नाटक में रूपकमय पात्र **चैतन्य** और उनके अनुयायियों के साथ मिला दिये गये हैं, यद्यपि वे मिल कर वस्तुतः कथोपकथन नहीं करते।[2] यह बात अनिश्चित ही रहती है कि **अश्वघोष** से **कृष्णमिश्र** तक परंपरा की कोई शृंखला बनी रही, अथवा **कृष्णमिश्र** ने नाटक के इस प्रकार का नये सिरे से निर्माण किया। पहला मत अधिक संभावित है। सभी पात्र संस्कृत बोलते हैं, परंतु खंडित अंश इतने संक्षिप्त हैं कि उनसे रूपक की सामान्य प्रवृत्ति के विषय में कोई वास्तविक सूचना नहीं मिलती।

दूसरे रूपक से हमें अधिक महत्त्व-युक्त बातें ज्ञात होती हैं। इस रूपक के पात्र हैं—**मागधवती** नाम की गणिका, **कोमुदगंध** नाम का विदूषक, **नायक** जिसकी संज्ञा नायक ही है, (किंतु संभाव्यतः जिसका नाम **सोमदत्त** है), दुष्ट (जिसका कोई अन्य नाम नहीं है), कोई **धनंजय** (यदि **नाट्यशास्त्र** में किसी राजवंश के छोटे राजकुमारों की संज्ञा के रूप में स्वीकृत '**भट्टिदालक**' शब्द उस पर लागू होता है

---

१. अश्वघोष की नाटकीय शक्ति का प्रदर्शन 'सूत्रालंकार' के मार-उपाख्यान में भी हुआ है, जो 'दिव्यावदान' (pp. 356 ff. ; Windisch, Mār and Buddha, pp. 161 ff.) में परिरक्षित है; मिलाकर देखिए—Huber, BEFEO. iv 414 f..

२. जैन 'मोहराजपराजय' में यथार्थ और आदर्श (काल्पनिक) पात्र कथोपकथन करते हैं.

तो शायद वह कोई राजकुमार हो सकता है), एक दासी, और **शारिपुत्र** तथा **मौद्‌गल्यायन**। इसमें संदेह नहीं कि इस रूपक की रचना धार्मिक उपदेश के उद्देश्य से हुई थी, परंतु उपलब्ध सामग्री अत्यंत खंडित रूप में है और उससे केवल इतना ही सूचित होता है कि लेखक में हास्य की शक्ति थी, और यह कि विदूषक पहले से ही बुभुक्षित प्राणी था। इस रूपक में एक प्राचीन उद्यान का परोक्ष-निर्देश है जिसमें रूपक के व्यापार का कुछ अंश घटित हुआ था, जैसा कि **मृच्छकटिका** में है। **मृच्छकटिका** की भाँति ही इस रूपक में भी गणिका का गृह व्यापार (कार्य) के एक अन्य अंश का दृश्य-स्थल है। पात्रों का प्रवेश प्रायः प्रवहणों द्वारा कराया गया है। यह एक और बात है जो **मृच्छकटिका** से सादृश्य रखती है। इसके विपरीत, पर्वत-शिखर पर **समाज** का निर्देश बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार के उत्सवों के बहुशः उल्लेख से मेल रखता है। एक अप्रसिद्ध पात्र, जिसकी संज्ञा **गोब°** है, प्रत्यक्षतः निम्न श्रेणी का है।

यह रूपक चिरप्रतिष्ठित प्रतिमान के बहुत अनुरूप है। विदूषक का नाम इसका प्रमाण है, क्योंकि वह केवल वास्तविक ब्राह्मण-वंश से संबद्ध ही नहीं है, बल्कि इस नियम के अनुसार भी है कि उस पात्र के नाम में किसी पुष्प, वसंत आदि का संकेत होना चाहिए, क्योंकि उसका शाब्दिक अर्थ है '**कुमुधगंध** की संतान'। गणिका के नाम में '**चारुदत्त**' में निर्दशित इस नियम का पालन नहीं किया गया है कि गणिका के नाम के अंत में 'सेना', 'सिद्धा' या 'दत्ता' होना चाहिए। परंतु, इस बात को छोड़कर कि इस नियम की आप्तता बहुत बाद की है, बहुत संभाव्य है कि कवि को वह नाम साहित्यिक परंपरा से प्राप्त हुआ था। **दुष्ट** और **नायक** इन्हीं नामों के साथ आते हैं—इस तथ्य का सादृश्य '**चारुदत्त**' और **हर्ष** के बौद्ध नाटक '**नागानन्द**' में पाया जाता है। किंतु, यह कहना कठिन है कि यह पुरातनत्व का चिह्न है या नहीं।

इन तीनों में से किसी भी नाटक के विषय में उपलब्ध सामग्री इतनी अल्प है कि उसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तावना, मुख्यतया नांदी के प्रयोग, अथवा मंगलश्लोक के विषय में किस प्रकार की पद्धति प्रचलित थी। असंदिग्ध बात यह है कि पारिपार्श्विक, अथवा परवर्ती साहित्य में सूत्रधार का सहायक, रूपक के आमुख में, कदाचित् **शारिपुत्रप्रकरण** में, भाग लेता हुआ प्रतीत होता है।

३. रूपकों की भाषा

हम देखते हैं कि **बुद्ध**, उनके शिष्य, गणिकाविपयक रूपक का नायक, और धनंजय परवर्ती शास्त्र के अनुसार संस्कृत बोलते हैं। रूपकमय पात्रों के संबंध में

भी यही सत्य है, और यह पश्चात्कालीन परिपाटी के भी अनुरूप है, क्योंकि **कृष्णमिश्र** और **कविकर्णपूर** दोनों की कृतियों के रूपकमय पात्रों में से कुछ संस्कृत बोलते हैं, हालाँ कि स्त्रैण आकर्षण और विशेषता वाले पात्र प्राकृत बोलते हैं। एक श्रमण संस्कृत बोलता है, दूसरा—अनुमानतः आजीविक—प्राकृत बोलता है।

उनकी संस्कृत में कुछ अशुद्धियाँ हैं, जो प्रत्यक्षतः प्राकृत-प्रभाव के कारण हैं, और जिन्हें लेखक या लेखकों की भूल समझना अनुचित होगा। च्युतसंस्कृति दोष विरल हैं, 'अर्य' के लिए 'आर्य' के प्रयोग का यथावत् सादृश्य **मथुरा** की लगभग तत्कालीन बोली में मिल जाता है; 'तुष्णीम्' बौद्धों की संस्कृत में प्रायः मिलता है तथा व्युत्पत्ति की दृष्टि से शुद्ध है; 'क्रिमि' **बुद्धचरित** में भी पाया जाता है जहाँ 'कृमि' पाठ से छंदोभंग हो जाता ; 'प्रतीगृहीत' के संस्कृत में अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'प्रद्वेषम्' में, जहाँ छंद के आग्रहवश 'प्रदोषम्' होना चाहिए, बौद्ध प्रभाव असंदिग्ध रूप से वर्तमान है, किंतु, 'येव' तथा 'ताव' संभवतः लिपिक की ही अशुद्धियाँ हैं, जिनके कारण 'पश्येमः' और 'सोमदत्तस्स' के समान भयंकर त्रुटियाँ हुई हैं। परंतु 'भगवां' को **महावस्तु** के प्रयोग का समर्थन प्राप्त है जहाँ 'मत्' और 'वत्' वाले प्रादिपदिकों के अंत में इस प्रकार का रूप होता है, और इससे 'श्रृण्वन्पुष्पा' की संधि का स्पष्टीकरण हो जाता है। ये अत्यल्प रूपभेद हैं। सामान्यतः इन रूपकों की संस्कृत उत्कृष्ट है और इन खंडित अंशों से **अश्वघोष** की समर्थ पद्यरचना तथा शैली के संकेत मिलते है।

तीन महत्त्वपूर्ण स्थलों प्रर **दुष्ट** की भाषा प्राकृत-वैयाकरणों की मागधी के सदृश है। इसमें **र** के स्थान पर **ल** का प्रयोग मिलता है, तीनों ऊष्म वर्णों के लिए **श** का, और अकारांत संज्ञाओं के कर्ता कारक एकवचन में **ए** क्रम। परंतु कुछ बातों में वैयाकरणों के नियमों की उपेक्षा की गयी है। अघोष वर्णों का घोषकीरण नहीं मिलता, उदाहरणार्थ—**भोति**। न ही स्वरमध्यस्थ घोष व्यंजनों का लोप होता है, उदाहरणार्थ—**कोमुदगंध**। न के मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती, और **कालना** में मूर्धन्य के स्थान पर दंत्य का प्रयोग है। **हङ्घो** (हंहो) और **बम्भण** (बम्हण) में व्यंजनों के पूर्णतर रूप बने रहते हैं। व्यंजन-संधियों के विकास के पश्चात्कालीन रूप अज्ञात हैं; इस प्रकार **र्ज** के लिए **ज्ज** मिलता है, **य्य** नहीं, जैसे **अज्ज** में; **च्छ** **श्च** न होकर **च्छ** ही रहता है; **क्ष** **क्ख** में परिवर्तित हो जाता है, **स्क** या **ह्क** में नहीं; **ष्ट** और **ष्ठ** का **ट्ठ** होता है, **स्ट** नहीं। **किश्श** में **कीश** की अपेक्षा, और **अहकं** में **अहके**, **हके** तथा **हगे** की अपेक्षा प्राचीनतर रूप उपलब्ध हैं। प्रायः इन सभी अंशों में वैयाकरणों की **मागधी** की पूर्वकालीन

अवस्था दिखायी देती है। इसके साथ **रामगढ़** पर्वत की **जोगीमारा** गुफा के **अशोक**-कालीन शिलालेख की तुलना की जा सकती है।

गोब° की प्राकृत **प्राचीन मागधी** के समान इस बात में है कि उसमें **र** के स्थान पर **ल** और कर्ताकारक-एकवचन में **ए** है, परंतु सभी ऊष्मवर्णों के स्थान पर **स** है। इस प्रकार इसका वैयाकरणों की अर्धमागधी से सादृश्य सूचित होता है। परंतु, उस प्राकृत में **र** का अनेकशः प्रयोग मिलता है, हालाँ कि वह प्रायः **ल** में परिवर्तित हो जाता है; उदाहरणार्थ—इस प्रकार प्राकृत और **प्राचीन-अर्ध-मागधी** के '**कलेति**' में प्रयुक्त **ल** के स्थान पर उसमें **र** मिलता है। सादृश्य के अन्य तत्त्व हैं—**वन्न** में मूर्धन्य के बदले दंत्य का बना रहना; **क** प्रत्यय के पूर्व-वर्ती स्वर का दीर्घीकरण (वन्नीकाहि); **पुप्फा** में कर्मकारक-बहुवचन-नपुंसकलिंग का रूप; और तुमुन् के अर्थ में **भुंजितये** (भुञ्जित्तए)। भिन्नता के अनेक तत्त्व हैं, किंतु वे सभी प्रायः प्राचीनतर रूपों के उदाहरण हैं। इस प्रकार, **प्राचीन-मागधी** की भाँति, स्वरमध्यस्थ व्यंजनों का घोषीकरण या लोप नहीं पाया जाता; **न** का मूर्धन्यीकरण नहीं है, बल्कि **पलिनत** में समावेश भी हुआ है; **ल** के स्थान पर ळ दृष्टिगोचर होता है, करणकारक के **आहि** में अनुस्वार नहीं है; **वत्** प्रत्यय वाले प्रातिपदिकों के कर्ता कारक का रूप **वां** या **वन्ते** के विपरीत **वा** के जैसा होता है; **तये** के तुमुन्-रूप में व्यंजन का द्वित्व नहीं मिलता। परंतु, **र** का **ल** में नियमतः परिवर्तन और **मागधी** तथा **पालि** की भाँति दीर्घ स्वर के परे **येव** रूप का प्रयोग यह सूचित करते हैं कि **प्राचीन-अर्धमागधी** पश्चात्कालीन **अर्धमागधी** की अपेक्षा मागधी के अधिक सदृश थी, जो क्रमशः पश्चिमी प्राकृतों के प्रभाव में आयी जैसा कि कर्ता कारक के **ए** के **ओ** में परिवर्तन से सूचित होता है।

इस **प्राचीन अर्धमागधी** और **अशोक** के स्तंभ-शिलालेखों की भाषा में सादृश्य के निश्चित तत्त्व पाये जाते हैं। **ल, स,** और **ए, पलिनत** तथा **वन्नीकाहि** में दंत्य वर्ण, दीर्घ स्वरों के परे **येव,** और **क** प्रत्यय के पूर्व दीर्घ स्वर के प्रयोग के संबंध में वे समान हैं। अकारांत प्रातिपदिकों के प्रथमा और द्वितीया के नपुंसक-लिंग बहुवचन के रूपों में भिन्नता है, शिलालेखों में **आ** के विसदृश **आनि** मिलता है, लेकिन वह विशेष महत्त्व की बात नहीं है, क्योंकि ये समव्युत्पत्तिक हैं। परंतु, **तवे** में तुमुन् है, जिसका **तये** से समीकरण संभव नहीं है; अर्धमागधी **त्तये** इन दोनों में से किसी से हो सकता है।

अशोक की प्राकृत असंदिग्ध रूप से उसके राज्य की दरबारी भाषा है। वह जैन-धर्म के प्रवर्तक **महावीर** की (और स्यात् **बुद्ध** की भी) **अर्धमागधी** की वंशजा

है। इस बात में संदेह नहीं है कि उनकी भाषा वैयाकरणों की मागधी के सदृश नहीं थी, हालां कि धर्म-ग्रंथों में उसे **मागधी** कहा गया है।[1]

नाट्यशास्त्र के मतानुसार **अर्धमागधी** पंडितों, राजपुत्रों या राजपूतों, और श्रेष्ठियों की भाषा है, किंतु यह उपलब्ध नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होती, **भास** का **कर्णभार** इसका अपवाद है। इसके विपरीत, अंतःपुर में रहने वाले पुरुषों, सुरंग खोदने वालों, कलवारों, पहरेदारों, संकट के समय नायक, और शकार के लिए मागधी अपेक्षित है। यह निश्चित नहीं है कि **दुष्ट** किस वर्ग में आता है। दशरूपक के अनुसार यह प्राकृत सामान्यतया निम्न श्रेणी के लोगों की भाषा है।

शास्त्र के अनुसार **शौरसेनी** गणिका की, और **प्राच्या** (पूर्वीय प्राकृत) विदूषक की भाषा है। किंतु यह स्पष्ट है कि **प्राच्या शौरसेनी** का एक रूप मात्र है, जिससे यह केवल कतिपय वाक्यों तथा शब्दों के प्रयोग में भिन्न है। इसका समर्थन नाटकों द्वारा होता है, जिनमें इन दोनों पात्रों की भाषा में कोई वास्तविक भेद नहीं है। वैयाकरणों की **शौरसेनी** से इसका अद्‌भुत सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इसमें **र** मिलता है जो **ल** में परिवर्तित नहीं होता, सभी ऊष्मवर्ण **स** के रूप में प्रयुक्त होते हैं; और कर्ता-कारक पुंल्लिग के रूपों में **ओ** पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, **क्ष** का **क्ख** में परिवर्तन होता है, **च्छ** में नहीं; **छर्द** के स्थान पर **छड्ड** और **मर्द** के स्थान पर **मड्ड** होता है; **सश्रीकम्** के स्थान पर अनियमित रूप से **सस्सिरीकं** है जिसमें अपिनिहित स्वर के बावजूद **स** का द्वित्व हुआ है; और अन्य-पुरुष एकवचन के भविष्यत्काल में **इस्सिति** का प्रयोग है। **करिय** कृदंत **हेमचंद्र** के **शब्दानुशासन** में प्रयुक्त **करिअ** का समरूप है; **भट्टा भर्तृ** के संबोधन का रूप है; **इयं** स्त्रीलिंग है जैसा कि पश्चात्कालीन **इअं** है जो केवल **शौरसेनी** में उपलब्ध है; कर्ता-कारक के रूप में **भवां** की तुलना **भवं** से की जा सकती है; **भण्** का रूप क्र्यादि गण में चलाया गया है; **विय इव** के स्थानापन्न **विअ** का समरूप है; और **दानि** (जिसमें इ का निपात-रूप में लोप हो गया है) **दाणिं** के सदृश है।

अन्य उदाहरणों में इस प्राकृत के रूप वैयाकरणों की शौरसेनी से निस्संदेह प्राचीनतर हैं। क्योंकि रूपकों की अन्य प्राकृतों में स्वरमध्यस्थ व्यंजनों का घोषीकरण या लोप नहीं है, और **न** का मूर्धन्यीकरण नहीं है। इसके अतिरिक्त, आदिम **य** बना रहता है, ज में परिवर्तित नहीं होता; विस्मयादिबोधक **अइ** के स्थान पर **ए** का प्रयोग **गिरिनार** और **उदयगिरि** के शिलालेखों की भाषा द्वारा समर्थित है; **निरुस्सासम्** में हमें **शौरसेनी** के **ऊससिद** से प्राचीनतर रूप मिलता

---

१. मिलाकर देखिए—*Lüders, SBAW. 1913, pp. 999 ff.*

है; ञ और न्य का ञ्ञ होता है, पश्चात्कालीन **ण्ण** नहीं; **द्य** का **ज्ज** न होकर **य्य** (**य** के रूप में लिखित) होता है; **तुवं** और **तव** दोनों स्फुट रूप से **तुमं** तथा **तुह** की अपेक्षा प्राचीनतर रूप हैं, जबकि **करोथ** में प्राचीन सबल अंग (strong base) का उदाहरण ध्यान देने योग्य है। **भवां** में दीर्घ स्वर का परिरक्षित रूप भी प्राचीन है। **अदण्डारहो** और संदिग्ध **अर्हस्सि** में **शौरसेनी** के नियम का व्यतिक्रम पाया जाता है, **शौरसेनी** में **अर्ह्** में अपिनिहित स्वर इ होता है, परंतु ये उदाहरण इन अपनिहितियों की अनिश्चतता मात्र प्रदर्शित करते हैं। **दिउण** के स्थान पर **दुगुण** का प्रयोग प्राचीनतर नहीं है, किंतु **द्विगुण** के प्रयोग का ही भिन्न प्रकार है। यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है कि **दाणि** तथा **इदाणि** ऐसे रूप हैं जो **शौरसेनी** में मूलत: **दाणिं** तथा **इदाणिं** के समव्युत्पत्तिक रूप थे, और वाद में विस्थित हो गये। प्राकृत के अन्य अंशों से (अनुमानतः उसी **प्राचीन-शौरसेनी** में) वयं, और **तुम्हाणं** के स्थान पर **तुम्हाकं**-जैसे रूप उपलब्ध होते हैं। **एरिस** या **ईदिस** के वदले **एदिस, दीसदि** के वदले **दिस्सति, गहिदं** के वदले **गहीतं** का प्रयोग है। ह्रस्व स्वरों के परे द्वित्व के स्थान पर खु बना रहता है। **त्ति,** तथा **म्हि**-जैसे रूपों के पूर्व दीर्घ स्वर बना रहता है। **गमिस्साम** में भविष्यत्काल का रूप संभवत: प्राचीन है। और पश्चात्कालीन **निक्कन्त** एवं **बम्हण** की तुलना में **निक्खन्त** तथा **बम्भण** के प्रयोग का भी यही कारण है।

गणिका की उक्ति में **सुरद** शब्द आता है, जिसका **त द** में परिवर्तित हो गया है। अनुमान किया जा सकता है कि वह अंश पद्य है, परंतु बहुत संभावना इस बात की है कि हमारे सामने परिवर्तन का एक क्वाचित्क उदाहरण है जो (परिवर्तन) परवर्ती काल में कदाचित् प्रतिलिपिक की भूल से हुआ। इसमें **महाराष्ट्री** का साक्ष्य खोजना अविवेकपूर्ण होगा, विशेष कर के ऐसी स्थिति में जब कि अगला ही शब्द (विमद्द) महाराष्ट्री का रूप (विमड्ड) नहीं है। **दुष्ट** की प्राकृत में **मक्कटहो** रूप मिलता है जो संबंधकारक में हो सकता है, जैसा कि अपभ्रंश में है, किंतु **मागधी**-संमत नहीं है; लेकिन उसका अर्थ इतना संदिग्ध है कि सुरक्षित रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

इन प्राकृतों का अस्तित्व और साहित्यिक प्रयोग भाषा तथा साहित्य दोनों के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनमें ऐसे पुरातन लक्षण पाये जाते है जिनके आधार पर वे प्राकृतें परिवर्तन की उसी अवस्था में आती हैं जिसमें **पालि** और प्राचीनतर शिलालेखों की प्राकृतें। संस्कृत की काव्य-शैली के प्रभाव का संकेत दूसरी शताब्दी ई० के **नासिक** के प्राकृत-शिलालेख, और कदाचित् दूसरी

शताव्दी ई० पू० के कलिंग के खारवेल के शिलालेख[1] में भी द्रष्टव्य है। अतएव वाङ्मय में देववाणी संस्कृत के क्रमिक अनुयोजन का अनुमान तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत, नाटकों से यह सूचित होता है कि साहित्य में प्रयुक्त प्राकृतें पहले से ही संस्कृत-काव्य के प्रभाव में थी।

४: छंद

स्वल्प होने पर भी उक्त नाटकों के खंडित अंशों में एक और लक्षण दृष्टिगोचर होता है जो प्रतिष्ठित परंपरा के आधार पर नाटक के विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण है। उनमें वहुसंख्यक छंदों का प्रयोग किया गया है। यह वात ऐसे काव्य में स्वाभाविक है जिसमें पद्य लेखक के नैपुण्य-प्रदर्शन के प्रयोजन की आवश्यक रूप से सिद्धि करता है। उनमें श्लोक के अतिरिक्त उपजाति (◡–◡––◡◡–◡––), शालिनी (––––, –◡––◡––), वंशस्था (◡–◡––◡◡–◡–◡–), प्रहर्षिणी (–––, ◡◡◡◡–◡–◡––), वसंततिलका (––◡–◡◡◡–◡◡–◡––), मालिनी (◡◡◡◡◡◡––, –◡––◡––), शिखरिणी (◡–––––, ◡◡◡◡◡––◡◡◡–), हरिणी (◡◡◡◡◡–, ––––, ◡––◡–◡–), शार्दूलविक्रीडित (–––◡◡–◡–◡◡◡–, ––◡––◡–), स्रग्धरा (––––◡––, ◡◡◡◡◡◡–, –◡––◡––) और सुवदना (––––◡––, ◡◡◡◡◡◡–, ––◡◡◡–) का प्रयोग हुआ है। इनमें से अंतिम छंद नाटक-साहित्य में प्रायः अप्रयुक्त है, यद्यपि यह भास के नाटकों, मुद्राराक्षस, और एक वार वराहमिहिर की रचना में दृष्टिगत होता है। ध्वनि-आभास को लक्ष्य वनाने की प्रवृत्ति शिखरिणी छंद में स्पष्ट है।

जटिल रूप वाले इतने छंदों का पाया जाना केवल काव्य-साहित्य के आरंभिक विकास के साक्ष्य-रूप में ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु उनसे यह भी सूचित है कि अश्वघोष के समय में ही, और निस्संदेह उनके भी पूर्व, नाटक में पद्यों का प्रयोग यूनानी नाटक की भाँति संवाद के आवश्यक अंग के रूप में नहीं किंतु आलंकारिक विधान के रूप में होने लगा था। किसी पूर्ण नाटक के अभाव में यह नहीं कहा

---

१. यह वात पूर्णतः संदिग्ध है कि शिलालेख में कोई रचना-काल दिया गया है; विचार-विमर्श के लिए देखिए—IA. xlvii. 223 f.; xlviii. 124, 206 ff.; xlix. 30, 43 ff.; JRAS.1910, pp. 324 ff.

जा सकता कि अश्वघोष ने किस अनुपात में श्लोकों का प्रयोग किया था। हम अनुमान कर सकते हैं कि यदि उनके द्वारा प्रयुक्त श्लोकों की संख्या बहुत अधिक थी तो भी वह भास की श्लोक-संख्या से अधिक नहीं रही होगी। अस्तु, अपनी अपेक्षाकृत सरलता, संक्षिप्तता और रचना-सौंदर्य के कारण श्लोक ने भारतीय नाटक में उसी उद्देश्य की पूर्ति की जिसकी Trimeter (त्रिमान छंद) ने यूनानी नाटक में। यह कल्पना करना विस्मयजनक है कि यदि पद्य में आद्योपांत नाटक लिखना संभव समझा गया होता तो उसका क्या परिणाम हुआ होता। परंतु यह प्रत्यक्ष है कि अश्वघोष के युग तक गद्य और पद्य का, प्रधानतया प्रगीतात्मक प्रकार के पद्य का, भेद स्थिर हो गया था, और पद्य की जटिल रचना ने उसे कथोपकथन के माध्यम के रूप में बिलकुल अनुपयुक्त बना दिया—प्रसामान्यतः उन पद्यों की रचना ने, जिनमें बराबर मात्राओं तथा समान रचना वाले चार चरण होते थे, और दीर्घतर चरणों में यति का भी विधान रहता था। इस प्रकार प्राचीन काल में हमें नाटक में एक रूपगत दोष मिलता है जिस पर धीरे-धीरे आगे चल कर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा और संवाद (जो नाटक की आवश्यक विशेषता है) की रचना में नाटककारों का परिश्रम कम होता गया।

: ४ :

भास

१ भास के नाटकों की प्रामाणिकता

१९१० ई० तक यूरोप में **भास** के किसी भी नाटक का अस्तित्व अज्ञात था। १९१२ ई० में जाकर तेरह नाटकों की माला का पहला नाटक टी० गणपति शास्त्री के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। अन्वेषक ने उसका श्रेय उस कवि (भास) को दिया। तथापि, लेखक के विषय में वे नाटक स्वयं मौन हैं, इस तथ्य के कारण उनके उद्‌गम स्थान का निश्चय करने के लिए यत्नपूर्वक अनुसंधान आवश्यक हो गया। अभी तक प्रस्तुत किये गये प्रमाण पूर्णतः संतोषजनक नहीं हैं।

प्रकाशन के पहले हम भास के विषय में जो कुछ जानते थे वह उनकी उत्तम ख्याति मात्र थी। अपनी पहली कृति **मालविकाग्निमित्र** में **कालिदास** उस कला के क्षेत्र में अपने महान् पूर्ववर्तियों के रूप में **सौमिल्ल, कविपुत्र** आदि के साथ **भास** का उल्लेख करते हैं जिनके यश के आगे एक नौसिखिए लेखक की कृति का अभिनंदन कठिन है। सातवीं शती के आरंभ में **बाण** का कथन है कि अनेक भूमियों वाले और पताका-युक्त मंदिरों का निर्माण करने वाले वास्तुशिल्पी की भाँति **भास** ने सूत्रधार के द्वारा आरब्ध, बहुत भूमिकाओं (पात्रों) वाले और पताका-युक्त अपने नाटकों से यश प्राप्त किया।[1] इस पर से यह सिद्ध करना अविवेकपूर्ण होगा कि इन विषयों में **भास** ने नूतन रीति का प्रवर्तन किया; तत्त्वतः **बाण** को अपेक्षित है **भास** के यश का कीर्तन और एक उपमान से (जो बहुत स्पष्ट नहीं है) श्लिष्ट पदों द्वारा उपमा देकर वैदग्ध्य का प्रदर्शन। एक शताब्दी बाद **वाक्पति**[2] ने **ज्वलनमित्र, भास रघुवंशकार, हरिचंद्र, सुबंधु** और **राजशेखर** में अपनी प्रीति प्रकट की है। **राजशेखर** (लगभग ९०० ई०) उन्हें प्रतिष्ठित कवियों में स्थान देते हैं, और उनके एक श्लोक में एक विचित्र घटना अंकित है : 'आलोचकों ने **भास** के

१. हर्षचरित, intr. v. 16.

२. गौडवह, 800

नाटक-चक्र को परीक्षा के लिए आग में डाल दिया ; **स्वप्नवासवदत्ता** को आग जला न सकी[1] ।[1] श्लोक में द्व्यर्थकता है । आश्चर्य है कि प्रोफ़ेसर **कोनो**[2] ने इसकी उपेक्षा की । यह श्लोक अवश्य ही **भास** के अन्य नाटकों से **स्वप्नवासवदत्ता** की उत्कृष्टता सूचित करता है । प्रकाशित नाटक इस तथ्य का पूर्णत: समर्थन करते हैं । परंतु, यह एक उपपत्ति की ओर भी इंगित करता है । नाटक में ही आग की चर्चा है, जो राजा के नये विवाह को संभव बनाने के लिए मंत्री द्वारा कल्पित की गयी थी । और यह उपयुक्त ही है कि जिस प्रकार वह आग रानी को नहीं जला सकी, उसी प्रकार नाटक की परीक्षा की आग उसे अभिभूत करने में असमर्थ रही । यह उक्ति **वाक्पति** के **'ज्वलनमित्र'** पद पर आवश्यक प्रकाश डालती है : **भास** ने अपने नाटकों में आग का प्राय: उल्लेख किया है,—इस कारण से इसको अभिप्राय-रहित नहीं बना देना चाहिए ।

बिना किसी ननुनच के यह मान लिया जाना चाहिए कि ये तथ्य नाटकों की प्रामाणिकता के अत्यंत अनुकूल हैं । समग्र रूप से वे स्पष्ट ही एक महान् लेखक की कृतियाँ हैं । प्रविधि में वे **कालिदास** के नाटकों की अपेक्षा कम परिष्कृत हैं । उनकी प्राकृत **कालिदास** की रचनाओं या **मृच्छकटिका** की प्राकृत की अपेक्षा स्पष्ट रूप से पूर्वकालिक है । **स्वप्नवासवदत्ता** निस्संदेह सर्वोत्तम है, इससे **वाक्पति** और **राजशेखर** के उल्लेखों की व्याख्या हो जाती है । सूत्रधार के द्वारा नाटकों के आरंभ के विषय में **बाण** का कथन नाटकों से प्रमाणित है । अलंकारशास्त्रियों से भी पर्याप्त साक्ष्य ग्रहण किया जा सकता है । **भामह** (जिनका समय आठवीं शती ई० का आरंभ हो सकता है) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** की तीव्र आलोचना करते हैं । **वामन**, आठवीं शती में, उस नाटक, **स्वप्नवासवदत्ता** और **चारुदत्त** से उद्धरण देते हैं । **अभिनवगुप्त** (लगभग १००० ई०) **स्वप्नवासवदत्ता** का दो बार नाम लेते हैं, और **चारुदत्त** का उल्लेख करते हैं । ये निर्देश स्वत: निर्णायक नहीं हैं, क्योंकि केवल उद्धरण देते या पर्यालोचन करते समय ही नहीं, उनका नाम लेते समय भी[3] वे उन नाटकों के रचयिता के रूप में **भास** का उल्लेख नहीं करते । किंतु उनसे सूचित होता है कि आलोचकों को इन नाटकों की जानकारी थी, और वे इनसे उद्धरण देने को प्रस्तुत थे । इसका अर्थ यह है कि वे इस मत को स्वीकार

---

१. cf. चंद्रधर गुलेरी, IA. xlii. 52ff.

२. ID., p. 51, 'भासनाटकचक्र' को एक ही नाटक समझकर उन्होंने भी भूल की है ।

३. मिलाकर देखिए—*Lindenau, BS.*, p.48, n. 1.

करते थे कि ये नाटक एक महान् लेखक द्वारा प्रणीत हैं। **भास** को **स्वप्नवासवदत्ता** का कर्ता बतलाया गया है। यदि अंतस्साक्ष्य का समर्थन प्राप्त हो तो उन्हें शेष नाटकों का रचयिता मानने का अधिकार हमें मिल जाता है। ऐसा साक्ष्य उपलब्ध है। भास के कर्तृत्व में संदेह करने वालों के द्वारा भी यह अस्वीकार्य नहीं है। उनकी प्रविधि में, प्राकृतों में, छंद में, और शैली में प्रचुर समरूपता है। अंततः, **चारुदत्त** का साक्ष्य है। यह निस्संदेह और स्पष्टतया **मृच्छकटिका** का आदिरूप है। अतएव, इससे यह सिद्ध होता है कि **भास** के नाटक उस कृति की अपेक्षा प्राचीनतर हैं जो **वामन** को भली भाँति विदित थी, और जो निश्चय ही बहुत प्राचीन है।

प्रामाणिकता के विरुद्ध दिये गये सब तर्क[1] अनिश्चायक हैं। उनका आधार यह तथ्य है कि जहाँ तक नाटक के आमुख के रूप का प्रश्न है, सातवीं शती ई० के **महेंद्रविक्रमवर्मा** के **मत्तविलास** रूपक में वे ही विशेषताएँ दिखायी देती हैं जो **भास** के नाटकों में पायी जाती हैं। दूसरा आधार यह सुझाव है कि **राजसिंह** का उसी नाम के दाक्षिणात्य राजा (लगभग ६७५ ई०) से तादात्म्य होना चाहिए। यह साक्ष्य स्पष्ट ही अपर्याप्त है। **भास** का यश उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक फैला हुआ था, क्योंकि वहाँ की जन-नाट्यशालाओं में **भास** के एक नाटक का एक दृश्य खंडित रूप में बच रहा है। यह समझना आसान है कि सातवीं शताब्दी के एक लेखक ने उनकी प्रविधि का कैसे अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त, वह अनुकरण बहुत आंशिक है; नाटककार और नाटक के नाम के त्याग का अनुसरण नहीं किया गया है। यह इस बात का निश्चित संकेत है कि **मत्तविलास** बहुत बाद की रचना है। उक्त राजा की अभिन्नता के संबंध में किये गये वितर्क में प्रामाणिक बल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'राजसिंह' शब्द जानबूझ कर अस्पष्ट रखा गया है। यह बात ग्रंथकार के अपने नाम और अपने नाटक के नाम के विषय में मौन के अनुरूप ही है। तात्कालिक वस्तुस्थिति को बीच में लाना असंगत है, और इसीलिए उसकी उपेक्षा की गयी है।

२. भास के नाटकों का रचना-काल

भास के समय के विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है। स्पष्ट है कि **कालिदास** उनके सुप्रतिष्ठित यश से अवगत थे। यदि हम निरापद रूप से

---

१. Barnett, JRAS. 1919, pp. 223ff.; 1921, pp. 587ff. तुलना कीजिए—G. Morgenstierne, Uber das Verhältnis zwischen चारुदत्त und मृच्छकटिका, p. 16, n. 1. Keith, IA. lii. 39f.; Thomas, JRAS. 1922, pp. 79ff.; Winternitz, GIL. iii. 186, 645.

कालिदास का समय लगभग ४०० ई० मानें तो भास का समय ३५० ई० के पहले माना जा सकता है। मृच्छकटिका से उनके पूर्ववर्ती होने की बात हमें निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाती, क्योंकि यह मत बिल्कुल अग्राह्य है कि इस रूपक को कालिदास के पूर्व तीसरी शताब्दी ई० का मानना चाहिए। एक उपरि-सीमा इस तथ्य से निर्धारित होती है कि भास असंदिग्ध रूप से अश्वघोष के परवर्ती हैं, जिनका बुद्धचरित प्रतिज्ञायौगन्धरायण के एक पद्य का संभावित स्रोत है, और जिनकी प्राकृत का स्वरूप सुनिश्चित एवं निस्संदिग्ध रूप से प्राचीनतर है। प्राकृत के साक्ष्य पर यह अनुमान लगाना व्यर्थ है कि काल की दृष्टि से भास-अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास के अधिक समीप हैं। कारण यह है कि भाषा-गत रूप-परिवर्तन, और साहित्य में उनका प्रतिफलन ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर संवत्सरों का ठीक-ठीक निर्णय न्यूनतम मात्रा में भी नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह मानने में कोई असंभाव्यता नहीं हैं कि भास का *समय अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास के अधिक निकट है।*

अधिक ठीक काल-निर्धारण की दिशा में प्रो० कोनो[1] द्वारा प्रयत्न किया गया है। उसका आधार यह है कि भास के कुछ नाटकों में उदयन की कथा निबद्ध है, जो उज्जयिनी-वासियों को विशेष प्रिय थी, जैसा कि कालिदास से हमें विदित होता है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि कवि की वास-भूमि उज्जयिनी थी। स्पष्ट है कि यह अनुमान किसी मात्रा में न्यायसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि वे किसी पश्चिमी क्षत्रप के आश्रय में रहते थे। यह भी खींच-तान है। रूपक के फलागम की प्रचलित पद्धति का भास के नाटकों में नियमतः निर्वाह नहीं है; प्रास्ताविक प्रश्न केवल अविमारक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, बालचरित और दूतवाक्य में है। कुछ नाटकों में भरतवाक्य के रूप में अंतिम आशीर्वाद का विवरण छोड़ दिया गया है—मध्यमव्यायोग में, जहाँ विष्णु की स्तुति की गयी है; दूतघटोत्कच में जहाँ जनार्दन का आदेश सुनाया गया है, पञ्चरात्र में, जहाँ यह अभिलाषा व्यक्त की गयी है कि राजसिंह संपूर्ण पृथ्वी पर शासन करें; और ऊरुभङ्ग में, जहाँ यह कामना की गयी है कि राजा शत्रुओं को जीतें और पृथ्वी का परिपालन करें। अन्य नाटकों में भरतवाक्य के रूप में परिवर्तन सुव्यक्त है; कर्णभार में विपत्ति के नाश की कामना है; प्रतिमानाटक में यह आकांक्षा है कि राजा सीता और बंधुओं के साथ समायुक्त राम की भाँति सुस्थित रहें; अविमारक, अभिषेकनाटक, और प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यह कामना की

---

१ KF. pp. 109ff.

गयी है कि राजा अपने शत्रुओं का विनाश करके संपूर्ण मही का शासन करें, जब कि **स्वप्नवासवदत्ता**, **दूतवाक्य** और **बालचरित** में एकातपत्र शासन की अभिलाषा व्यक्त की गयी है। इससे सूचित होता है कि राजा ने कुछ समय तक राज्य किया; तब शत्रु उठ खड़े हुए और उनकी शक्ति को विच्छिन्न कर दिया; अंततः उन्होंने शत्रुओं को फिर अभिभूत किया, और उनके संगी (हास्यास्पद हुए बिना) उनकी राजपद-प्राप्ति के लिए स्तुति कर सके। यह बात क्षत्रप **रुद्रसिंह** के इतिहास से मेल खाती है, जो १८१ से १८८ ई० तक, और फिर १९१-१९६ ई० तक महाक्षत्रप के उच्च पद पर आसीन रहा, और जिसके नाम का '**राजसिंह**' पद के प्रयोग में संकेत हो सकता है। इस सुझाव के पोषण के लिए यह माना जाता है कि 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' **स्वप्नवासवदत्ता** से पहले की रचना है, किंतु इसमें विदग्धता को छोड़ कर और कोई गुण नहीं है।

काल-निर्णय के विषय में **कोनो** के दूसरे सुझाव के संबंध में भी कुछ अधिक वक्तव्य नहीं है। 'नाटक' पद के प्रयोग और विदूषक की उपस्थिति के तथ्य से **भास** की प्राचीनता नहीं सूचित होती, क्योंकि सबसे बाद के रूपकों में भी उनका लगातार प्रयोग हुआ है। **भास** को प्राचीन बनाने के लिए एक तर्क यह दिया जाता है कि वे नूतनरीतिप्रवर्तक थे जिन्होंने प्रस्तावना को संक्षिप्त रूप दिया है, क्योंकि **नाट्यशास्त्र** में प्रस्तावना का विस्तृत निरूपण है। लेखक की पश्चात्कालीन कृति[१] में इस मत को चुपचाप छोड़ दिया गया है; वहाँ पर यह बात सच्चाई के साथ स्वीकार की गयी है कि हमें यह ज्ञात नहीं है कि उन्होंने प्रस्तावना का संक्षिप्तीकरण किया भी या नहीं। **नाट्यशास्त्र** से उनके संबंध के विषय में भी हम कुछ नहीं कह सकते। यह संबंध काल-निर्धारण में सहायक होगा। एक परंपरा यह भी है कि उन्होंने नाट्य-सिद्धांत पर स्वयं लिखा था। प्रविधि की दृष्टि से **भास** **कालिदास** की अपेक्षा **अश्वघोष** के अधिक समीप ठहरते हैं—इस मत को भी गौरव नहीं दिया जा सकता। इन बातों के आधार पर उनके समय का ठीक-ठीक निर्धारण संभव नहीं है। यदि हम **भास** की स्थिति ३०० ई० के आस-पास मानते है तो हम वहाँ तक पहुँच जाते हैं जहाँ तक साक्ष्य के आधार पर जा सकते हैं।

३ भास के नाटक और उनके स्रोत

रामायण-महाभारत से नाटकों का आंशिक उद्गम भास में विशेष रूप से स्पष्ट है। उनके नाटक स्पष्टतम रूप में दोनों महान् इतिहास-काव्यों का प्रभाव

---

१. ID. p. 25; cf. Pischel, GGA. 1891, p.361.

सूचित करते हैं। **मध्यमव्यायोग**[1] में हमें **पंचपांडवों** में तृतीय **भीम** के प्रति राक्षसी **हिडिंबा** की प्रेम-कहानी, और उनके विवाह का संस्मरण प्राप्त होता है। उस विवाह का फल **घटोत्कच** है, यद्यपि उसके माता-पिता वियुक्त हो जाते हैं। नाटक का आरंभ नांदी से होता है। तत्पश्चात् सूत्रधार सामाजिकों के प्रति मंगल-श्लोक का पाठ करता है, और उन्हें संबोधित करते समय अचानक ही कोई शब्द सुनकर रुक जाता है। बाद में पता चलता है कि वह किसी ब्राह्मण का विलाप है और राक्षस **घटोत्कच** उसके तीन पुत्रों और पत्नी के समेत उसका पीछा कर रहा है। उस राक्षस को अपनी माँ से भक्ष्य ले आने की आज्ञा मिली है। अतः, वह प्रस्ताव करता है कि यदि एक व्यक्ति स्वेच्छा से उसके साथ चलने को प्रस्तुत हो जाए तो वह शेष परिवार को छोड़ सकता है। मध्यम-पुत्र जाने का निश्चय करता है, यद्यपि वे तीनों ही इस त्यागपूर्ण बलिदान के लिए आपस में होड़ करते हैं। वह संस्कारानुष्ठान के लिए राक्षस से समय माँगता है। उसे आने में देर होती है। क्रुद्ध राक्षस उसको ज़ोर से (मध्यम !) पुकारता है। पांडवों में मध्यम भीम उसका उत्तर देते हैं—उस लड़के के बदले मैं चलूंगा, लेकिन ज़बर्दस्ती नहीं। अपने पिता को न पहचान कर वह राक्षस उन्हें विवश करना चाहता है, असफल होने पर उनके स्वेच्छा से चलने के प्रस्ताव को मान लेता है। **हिडिंबा** हर्ष से अपने पति का स्वागत करती है, पुत्र को डाँटती है और उसे खेद प्रकट करने की आज्ञा देती है। वह बताती है कि **भीम** के अभ्यागमन के लिए ही उसने यह माँग की थी। **भीम** सुझाव देते है कि सब लोग वृद्ध ब्राह्मण और उसके कुटुंब के साथ उनके निर्दिष्ट स्थान तक चलें। विष्णु-स्तुति के श्लोक के साथ यह कृति समाप्त होती है।

दूतघटोत्कच का प्रमुख पात्र भी **घटोत्कच** ही है। इसे भी व्यायोग की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'व्यायोग' शब्द मूलतः सामरिक चमत्कार का द्योतक है। **जयद्रथ** के द्वारा **अर्जुन**-पुत्र **अभिमन्यु** की पराजय पर कौरव आनंद-मग्न हैं, यद्यपि **धृतराष्ट्र** उन्हें मँड़राती हुई आपत्ति के विषय में सावधान करते है। **घटोत्कच** उनके समक्ष उपस्थित होकर **अर्जुन** के द्वारा उनके दमन की भविष्यवाणी करता है। **कर्णभार** भी उसी वर्ग का रूपक है जिसका विषय कर्ण का कवच है। **कर्ण**

---

१. टी० गणपति शास्त्री ने त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज़ से सभी नाटकों का संपादन किया है; इस रूपक का अनुवाद—E.P. Jainvier, मैसूर, 1921; P.E. Pavolini, GSAI, xxix. 1f. ने निर्देश किया है कि 'महाभारत' के बकवध का उपयोग किया गया है.

अर्जुन के साथ युद्ध के लिए प्रस्तुत होता है, और मद्रराज **शल्य** को वतलाता है कि किस चाल से उसको महान् **परशुराम** से उसकी प्राप्ति हुई थी, और इस छल के कारण क्रुद्ध **परशुराम** ने शाप दिया था कि आवश्यकता की घड़ी आने पर उसके आयुध विफल हो जाएँगे। शाप फलीभूत होता है, क्योंकि **इंद्र** ब्राह्मण के वेष में आते हैं और **कर्ण** से उसके आयुध और कुंडल ले लेते हैं। **कर्ण** और **शल्य** युद्ध के लिए वाहर जाते हैं, और **अर्जुन** के रथ की ध्वनि सुनायी पड़ती है। **उरुभंग** में **भीम** और महत्तम कौरव **दुर्योधन** के युद्ध का उपसंहार **दुर्योधन** के उरु-भंग से होता है, जो व्यथा से अभिभूत होकर गिर पड़ता है। उसका पुत्र वालिश ढंग से उसके पास आता है, परंतु उसका पिता तदवस्थाजन्य शोक से उसकी रक्षा करता है। उसके माता-पिता और पत्नियाँ उसे घेर लेती हैं; वह उन्हें सांत्वना देने का प्रयत्न करता है। उसके शांतिपूर्ण उपदेशों के वावजूद **अश्वत्थामा** प्रतिशोध करने की शपथ लेता है। उसके भाइयों और अप्सराओं की छायाएँ उसके सामने तैरने लगती हैं, और वह संसार से चल देता है।

ये चारों रूपक एकांकी हैं। दूसरी ओर **पंचरात्र** में तीन अंक हैं। उसे कदाचित् **समवकार** की श्रेणी में रखा जा सकता है—कम से कम इस आधार पर कि यह ऐसा रूपक है जिसमें एक से अधिक नायक-जैसे पात्र हैं, और वे न्यूनाधिक पुरुषार्थ-लाभ करते हैं। **नाट्यशास्त्र** में उस संदिग्ध प्रकार के रूपक के ये मुख्य लक्षण प्रतीत होते हैं। इसमें उस काल का प्रतिविंव है जव **कौरवों** और **पांडवों** को उस घातक संघर्ष से वचाने का प्रयत्न किया जाता है जिसका अंत **कौरवों** के नाश तथा **पांडवों** की गहरी क्षति में होता है। **द्रोण** ने **दुर्योधन** के लिए उत्सर्ग किया है। वे उसके पारितोषिक-रूप में **पांडवों** के लिए आधे राज्य का अनुदान चाहते हैं जिस पर उनका न्यायोचित दावा है। **दुर्योधन** इस शर्त पर वचन देता है कि उनका पाँच रात के अंदर पता लग जाए। परंतु, इस प्रस्ताव के अवसर पर उपस्थित लोगों में **विराट** नहीं हैं। वे सौ[1] कीचकों की मृत्यु पर शोक मना रहे हैं। **भीष्म** को संदेह है कि इस दुर्घटना के मूल में **भीम** अवश्य होंगे। दूसरे अंक के अंत में उनकी प्रेरणा से **विराट** की गायों पर आक्रमण करने का निश्चय किया जाता है, क्योंकि उन्हें आशा है कि इस प्रकार वे तथ्यों को प्रकाश में ला सकेंगे। परंतु, यह चढ़ाई निष्फल जाती है, क्योंकि **पांडव** **विराट** के साथ छद्मवेश में हैं। **अभिमन्यु** वंदी वना लिया जाता है और **विराट** की पुत्री के साथ उसका विवाह होता है। तीसरे अंक में सारथि

---

१. 'महाभारत' में एक, परंतु भीम वहाँ पर १०५ सूतों का वध करते हैं, मूल कीचक उसी वर्ग का है.

समाचार लाता है, जिससे साफ जाहिर है कि **अर्जुन** और **भीम** ने इस युद्ध में भाग लिया है, किंतु तो भी **दुर्योधन** अपने वचन का पालन करता है।

एकांकी व्यायोग **दूतवाक्य** भी **महाभारत** से लिया गया है, किंतु उसका प्रतिपाद्य विषय कृष्णोपाख्यान है। **भीष्म** कौरव-सेना के सेनापति बनाये गये हैं; **नारायण** के आगमन की घोषणा की गयी है, लेकिन **दुर्योधन** उनके प्रति संमान-प्रदर्शन पर रोक लगा देता है। वह स्वयं उस चित्र के सामने बैठता है जिसमें **द्रौपदी** के प्रति प्रदर्शित अनादर का चित्रण किया गया है, जब कि उसके पति उसे जुए में हार गये थे। **कृष्ण** अपनी महिमा से सब पर गहरा प्रभाव डालते हुए प्रवेश करते हैं, यहाँ तक कि **दुर्योधन** अपने आसन से गिर पड़ता है। दूत **कृष्ण** पांडवों के लिए आधा राज्य माँगते हैं। **दुर्योधन** अस्वीकार करता है और दूत को बाँधना चाहता है। क्रुद्ध **कृष्ण** अपने मायायुधों का आह्वान करते हैं, किंतु अंत में रोष-त्याग करने को सहमत हो जाते हैं, और **धृतराष्ट्र** का अभिवंदन स्वीकार करते हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है कि **महाभारत** में विषण्ण **द्रौपदी** के तन से ज्यों ही एक वस्त्र अपमानपूर्वक खींचा जाता है त्यों ही **कृष्ण** उसके लिए नये वस्त्र का विधान करते हुए दिखलाये गये हैं, और इस रूपक में उस चमत्कार का कोई उल्लेख नहीं है। परंतु प्रोफ़ेसर **विन्टरनित्स** (Winternitz)[१] के अनुसार यह मान लेना अत्यंत अविवेकपूर्ण होगा कि इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि **भास** को इस उपाख्यान का पता नहीं था, और यह उनके परवर्ती काल में **महाभारत** में प्रक्षिप्त हुआ। स्पष्ट है कि चित्रकार की कला द्वारा इसके प्रदर्शन में कठिनाई थी, और यदि उस चित्र में इस तथ्य का संकेत किया जाता तो उसका प्रभाव नष्ट हो जाता। अतः कला के आधार पर **भास** द्वारा इस उपाख्यान की उपेक्षा निस्संदेह न्यायसंगत है।

बालचरित और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है[२], जो कृष्ण के अद्भुत कार्यों का जीवंत और विशद चित्र प्रस्तुत करता है, जिसकी समाप्ति **कंस**-वध में होती है। यह नाटक के विकास के विषय में **पतंजलि** के साक्ष्य के महत्त्व का ज्वलंत उदाहरण है। सूत्रधार प्रवेश करता है, चारों युगों में **नारायण**, **विष्णु**, **राम** और **कृष्ण** के रूप में विद्यमान देवता के अनुग्रह की प्रार्थना करता हुआ मंगलश्लोक पढ़ता है, **नारद** के आगमन की घोषणा करता है, और चला जाता है। **नारद** बतलाते हैं कि वे **देवकी-वसुदेव-पुत्र** के रूप में **वृष्णि**-कुल में उत्पन्न बालकृष्ण के दर्शनार्थ

---

१. KF. pp. 301 f.

२. Winternitz, ZDMG. lxxiv. 125 ff.; Lindenau, BS. pp. 22 ff,

स्वर्ग से आये हैं, जो तत्त्वतः नारायण हैं जिन्होंने कंस-विनाश के लिए अवतार लिया है। वे बालक को देखते हैं, अभिवंदन करते हैं, और विदा होते है। **देवकी** और **वसुदेव** मंच पर दिखायी देते हैं, वे पुत्र-जन्म पर प्रसन्न हैं, परंतु आतंकित हैं, क्योंकि **कंस** उनके छः पुत्रों की हत्या कर चुका है और सातवें की भी कर डालेगा—यहाँ संख्या में अंतर है, अन्य उपलब्ध स्रोत **कृष्ण** को आठवीं संतान बतलाते हैं। **वसुदेव** बालक को उठा लेते हैं और उसे कंस की पहुँच के बाहर ले जाने का निश्चय करते हैं। वे नगर से चल देते हैं, लेकिन बालक का वज़न इतना भारी है जितना कि **मंदराचल** का। अंधकार अभेद्य है, किंतु बालक से अद्‌भुत ज्योति प्रकट होती है, और **यमुना** उनके पार जाने के लिए सूखा मार्ग बना देती है। जिस वृक्ष के नीचे वे विश्राम करते हैं उसका देवता **नंदगोप** को उनके पास लाता है। वे अपनी पत्नी **यशोदा** से सद्यःप्रसूत मृत दारिका लिए हुए हैं। मूर्च्छित **यशोदा** यह नहीं जानती कि शिशु लड़का है या लड़की। **नंद** अनिच्छापूर्वक (**वसुदेव** की) सहायता करते हैं, केवल पूर्वकृत उपकारों का स्मरण करके। मृत दारिका के संपर्क के कारण पहले वे अपने को शुद्ध करना चाहते हैं। जल का एक सोता निकल पड़ता है और परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे बालक को ले लेते हैं, लेकिन उसका वजन अत्यंत गुरु सिद्ध होता है। इसी समय गोपालों के वेश में **कृष्ण** के आयुध और वाहन प्रकट होते हैं, जो एक एक श्लोक के साथ अपने को उपस्थित करते हैं—'मैं पक्षी **गरुड** हूँ' इत्यादि, 'मैं चक्र हूँ', 'मैं धनुष हूँ', 'मै गदा हूँ,' 'मैं शंख हूँ', और 'मैं खड्‌ग हूँ'। चक्र की प्रार्थना पर बालक हलका हो जाने को सहमत होता है, और **नंद** उसे लेकर चले जाते हैं। **वसुदेव** देखते हैं कि मरी हुई बच्ची उनकी गोद में जीवित हो गयी है, और उसका भार पीड़ाप्रद है। यमुना एक बार फिर सूखा मार्ग दे देती है, और वे देवकी के पास मथुरा लौट आते हैं। दूसरा अंक **कंस** के प्रासाद में अर्थोपक्षेपक से आरंभ होता है। **मधूक** ऋषि द्वारा उसे दिया गया शाप मुंडमाल पहने हुए, बीभत्स रूप में, चंडाल के वेष में आता है। वह और उसकी अनुचरी चंडाल-युवतियाँ प्रासाद के भीतरी भाग में बलात् प्रवेश करती हैं। राजश्री उनका मार्गावरोध करती, किंतु शाप बतलाता है कि यह विष्णु की आज्ञा है कि वह प्रवेश करे। राजश्री मान जाती है। शाप **कंस** को ग्रस लेता है। तदनंतर इस अंक में रात के अपशकुनों के कारण अशांत और खिन्न **कंस** आता है। वह अपने ज्योतिषी और पुरोहित को बुलवाता है। वे उसे चेतावनी देते हैं कि ये अपशकुन किसी देवता के जन्म के सूचक हैं। **कंस वसुदेव** को बुलवा लेता है। उसे पुत्री-जन्म की बात बतायी जाती है। वह बालिका को छोड़ने से

इन्कार करता है, और उसे चट्टान पर पटक देता है। परंतु उसके निर्जीव शरीर का एक अंश ही पृथ्वी पर गिरता है, शेष भाग स्वर्ग की ओर चला जाता है। राजा के समक्ष **कात्यायनी** की भयानक मूर्ति प्रकट होती है। उसका परिवार भी आता है। प्रत्येक व्यक्ति एक-एक श्लोक से अपने आगमन का आख्यापन करता है। वे अपने **कंस**-विनाश के संकल्प की घोषणा करते हैं। इस बीच में वे गोप-लीला में भाग लेने के लिए गोपालक-वेष में बालक के गाँव में जाएँगे।

जब से **कृष्ण** गोपालों के साथ रहने के लिए आये तब से उन्हें जो हर्ष मिला उसकी सूचना तीसरे अंक का प्रवेशक हमें देता है। एक वृद्ध अपने लंबे प्राकृत-भाषण में उनके अद्भुत कार्यों का वर्णन करता है, जिनमें **पूतना, शकट, यमलार्जुन प्रलंब, धेनुक** और **केशी** दानवों का संहार संमिलित है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि **कृष्ण** या **दामोदर** (यह नाम साहस-कर्म से अर्जित है) हल्लीशक नृत्य के लिए वृंदावन गये हुए हैं। **दामोदर**, उनके सखाओं, और गोपकन्याओं के द्वारा पटह-वाद्य एवं गीत के साथ नृत्य किया जाता है। अरिष्ट दानव के आने की सूचना मिलती है। दामोदर गोपकन्याओं और गोपालों को पर्वत-शिखर पर चढ़ जाने तथा युद्ध देखने का आदेश करते हैं। युद्ध बेजोड़ सिद्ध होता है। **वृषभ** दानव अपने शत्रु के प्राबल्य को मान लेता है। वह जान लेता है कि वे स्वयं **विष्णु** हैं, और समर्पणपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होता है। इस विजय के निष्पन्न होते ही एक नये संकट का समाचार प्राप्त होता है, गोब्राह्मणों को भयभीत करता हुआ **कालिय** नाग **यमुना** के तट पर प्रकट हुआ है। चौथे अंक के दृश्य में गोप-कन्याएँ **कृष्ण** को इस नये संघर्ष से रोकने का प्रयत्न करती है, किंतु वे साग्रह प्रवृत्त होते हैं और उससे युद्ध के लिए **यमुनाह्लद** में कूद कर उस दानव को पराभूत करते हैं। वे उसे बाहर ले आते हैं। उन्हें पता चलता है कि वह **गरुड़** के भय से, जो स्वेच्छानुसार सर्पों को मार डालता है, जल में प्रविष्ट हुआ था। वे **कालिय** से गायों और ब्राह्मणों को बचाने का वचन लेते हैं, और उस पर एक चिह्न लगा देते हैं जिसका **गरुड़** अवश्य आदर करे। तत्पश्चात् एक भट आकर **मथुरा** के महोत्सव में चलने के लिए **दामोदर** और उनके भाई **बलराम** का आह्वान करता है।

पाँचवाँ अंक **कंस** को कुमारों के घात के लिए कपटोपाय करता हुआ प्रदर्शित करता है। एक भट **दामोदर** के आगमन की सूचना देता है, और उनके शक्तिसूचक महान् अद्भुत कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है—उन पर छोड़े गये हाथी की विडंबना, **कुब्जा** का ऋजूकरण, रक्षक के धनुष का भंजन। राजा तत्काल मुष्टि-युद्ध आरंभ करने की आज्ञा देता है, परंतु राजा के चुने हुए प्रजेताओं को **कृष्ण**

सरलता से पराभूत कर देते हैं, और आकस्मिक आक्रमण द्वारा राजा कंस को यमलोक भेज कर अपनी विजय को पूर्ण करते हैं। उसके सैनिक उनसे प्रतिशोध लेते, किंतु वसुदेव कृष्ण के विष्णुरूपत्व का आख्यापन करते हैं, और उग्रसेन को उस कारागार से, जिसमें उनके पुत्र ने उन्हें बंद कर रखा था, मुक्त करके राजा नियुक्त करते हैं। कृष्ण की स्तुति करने के लिए नारद अप्सराओं और गंधर्वों के साथ प्रस्तुत होते हैं। कृष्ण नारद को देवलोक में वापस जाने के लिए सानुग्रह अनुमति देते हैं। भरतवाक्य से, जो प्रत्यक्षत: नट द्वारा पठित है, नाटक समाप्त होता है।

नाटक का निश्चित स्रोत अज्ञात है। अपने वर्णन-विस्तार में यह नाटक हरिवंश, विष्णु तथा भागवत पुराणों की कृष्ण-कथाओं से बहुत भिन्न है। परंतु, इन ग्रंथों में से (जिस रूप में ये उपलब्ध हैं) कोई भी भास के नाटक से कदाचित् प्राचीनतर नहीं है। हरिवंश और विष्णुपुराण की भाँति यहाँ पर शृंगार का अभाव है जिसका परवर्ती परंपरा में कृष्ण के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। उसी प्रकार राधा का चित्रण भी नहीं पाया जाता।

भास द्वारा विष्णु के अन्य प्रमुख अवतार (राम) के वर्णन में बालचरित के तत्त्वों की अनुकृति नहीं हुई है। प्रतिमानाटक में दिखलाया गया है कि जब कैकेयी के कपट के कारण अपने उत्तराधिकार से वंचित राम सीता और लक्ष्मण के साथ वन को चले जाते है तब उनके वियोग का अनुभव करके दशरथ स्वर्गवासी होते हैं। उनकी प्रतिमा उनके पूर्वाधिकारियों की प्रतिमाओं के साथ प्रतिमा-गृह में प्रतिष्ठित कर दी जाती है। भरत पहुनाई से लौटते हैं, और यह समाचार सुनते हैं। वे राम का अनुगमन करते हैं, परंतु समझाने-बुझाने पर राम की पादुकाएँ (इस यादगार के लिए कि वे अपने को राम का राजप्रतिनिधि मात्र मानते हैं) लेकर राज्य करने के लिए लौट जाते हैं। राम अपने पिता का श्राद्ध करने का निश्चय करते हैं। विशेषज्ञ (परिव्राजक) के वेष में रावण प्रकट होता है, और उन्हें कंचन-मृग के उत्सर्जन का आदेश देता है। इस चाल से वह राम को अनुपस्थित करने में सफल होता है। उनकी अनुपस्थिति में रावण सीता को चुरा ले जाता है, उनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील जटायु को मार डालता है। राम किष्किंधा में पहुँचते हैं, और वाली के विरुद्ध सुग्रीव से मैत्री करते हैं। भरत को पता चलता है कि कैकेयी का छल एक तापस के शाप से प्रेरित था, जिसके पुत्र को दशरथ ने अन-जान में मारा था, और कैकेयी का उद्देश्य केवल चौदह दिन का निर्वासन माँगना था, किंतु भूल से वर्ष कह गयी थी। वे राम की सहायता के लिए सेना भेजते हैं।

राम अंततः रावण को हराते हैं, और सीता का उद्धार करते हैं। वे उन्हें अपने साथ जनस्थान ले आते हैं, जहाँ उनसे राज्य के पुनर्ग्रहणार्थ प्रार्थना की जाती है। तत्पश्चात् सब लोग पुष्पक विमान से अयोध्या जाते हैं। इस नाटक के सात अंक **अभिषेकनाटक**[1] (राम के अभिषेक के नाटक) के छः अंकों के समतुल्य हैं, जो **प्रतिमानाटक** की भाँति ही **रामायण** के अनुसार चलता है। इसमें राम के हाथ **वाली** के वध का; **हनुमंत** के लंका पहुँचने और सीता को आश्वासन देने तथा **रावण** के मानभंजन की सफलता का वर्णन है। **विभीषण** सेना के मार्ग के लिए समुद्र के साथ बलप्रयोग की मंत्रणा देते हैं। **सीता** को **राम** और **लक्ष्मण** के शिरों की (मायिक) आकृति दिखाकर रावण उन्हें वशीभूत करने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। वे उसके प्रलोभनों को ठुकरा देती हैं। वह युद्ध करने को विवश होता है। **राम** के राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इतिहासकाव्य (**रामायण**) का कथानक लेखक को प्रत्यक्षतः अत्यंत बोझिल प्रतीत हुआ, अतः उसकी बहुत-सी घटनाएँ छोड़ दी गयीं।

कहीं अधिक अनुकूल सुयोग भास को तब मिला है जब उन्होंने कथा-साहित्य से कहानी ग्रहण की,[2] जैसा कि छः अंकों के नाटक **अविमारक** से सिद्ध है। राजा **कुंतिभोज** की दुहिता नवयौवना कुरंगी एक अज्ञात युवक के द्वारा हाथी से बचायी जाती है, जो वस्तुतः सौवीरराज का पुत्र है और शाप के फलस्वरूप एक वर्ष से अपने पिता के साथ भ्रष्ट जाति के कुटुंबी के रूप में रह रहा है। उसकी निम्न स्थिति राजकुमारी के प्रति उसकी प्रार्थना का प्रतिषेध करती है। परंतु प्रेम विजयी होता है, और कुरंगी की दासियाँ गुप्त रूप से संमिलन का प्रबंध करती हैं। वह युवक चौर-वेष में आता है, किंतु यह भेद खुल जाता है और उसे भागना पड़ता है। पुनर्मिलन की निराशा से वह आग में प्राणांत करना चाहता है, किंतु **अग्निदेव** उसे अस्वीकार करते हैं। वह शैल से कूद पड़ा होता, लेकिन एक विद्याधर उसे रोकता है। वह उसे एक मुद्रिका देता है जो उसको अदृश्य रूप से प्रासाद में पुनः प्रविष्ट होने तथा वियोगविधुरा कुरंगी को आत्महत्या से बचाने में समर्थ बनाती है। इस विकट परिस्थिति से निकलने का मार्ग तब मिलता है जब **नारद अविमारक** के यथार्थ इतिहास का उद्घाटन करते हैं। वह वास्तव में सौवीरराज का पुत्र नहीं है। वह काशी-नरेश की पत्नी **सुदर्शना** से उत्पन्न अग्निदेव

---

१. Trs. E. Beccarini-Crescenzi, GSAI. xxvii. 1ff.

२. मिलाकर देखिए—KSS. cxii. और कामसूत्रव्याख्या, प्रतिमानाटक, उपोद्घात, p. 29, n.; trs. GSAI. xxviii.

का पुत्र है। उसके जन्मोपरांत **सुदर्शना** ने उसे अपनी बहन सौवीरराज-पत्नी **सुचेतना** को सौंप दिया था। इस प्रकार वर-वधू के संबंधियों की अनुमति से विवाह संपन्न होता है।

उसके समान ही **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**[1] की विषय-वस्तु भी कथा-साहित्य से, (और वह ऐसे स्रोत से जो हमें ज्ञात है) **गुणाढ्य** की **बृहत्कथा** से, ली गयी है। **पैशाची** प्राकृत में लिखित **बृहत्कथा** लुप्त हो गयी है, किंतु एक नेपाली और दो काश्मीरी वर्णनों में सुरक्षित है। **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** (जिसे प्रस्तावना में **प्रकरण** की संज्ञा दी गयी है) में चार अंक हैं और जो शास्त्र द्वारा स्वीकृत रूपक के उस प्रकार के अनुरूप है, यद्यपि उसका नायक वत्सराज **उदयन** का मंत्री है। **उदयन** हाथी के आखेट के लिए जाता है, अपने आखेट के वशीकरण के लिए अपनी वीणा को साथ ले जाता है। उसका शत्रु, उज्जयिनी का **प्रद्योत महासेन**, उसकी पराजय के लिए कपटगज का उपयोग करके चातुर्यपूर्ण छल से उसे बंदी बना लेता है। **यौगन्धरायण** राजा का बदला चुकाने की प्रतिज्ञा करता है। **उज्जयिनी** में **महासेन** अपनी पुत्री **वासवदत्ता** के विवाह के प्रश्न पर अपनी पत्नी से विचार-विमर्श करता है, तभी **उदयन** के पकड़े जाने का समाचार पहुँचता है। वे निश्चय करते हैं कि **वासवदत्ता** बंदी से संगीत की शिक्षा लेगी। दोनों प्रेमासक्त हो जाते हैं, जो अस्वाभाविक नहीं है। **यौगन्धरायण** अपने साथियों के साथ छद्मवेष में उज्जयिनी आता है, और उनके कूटप्रबंध से राजा **उदयन** **वासवदत्ता** के साथ निकल भागता है, यद्यपि मंत्री स्वयं, वीरतापूर्ण युद्ध के बाद, पकड़ लिया जाता है। परंतु, **महासेन** मंत्री की चतुरता का अधिमूल्यन करता है, और उस युग्म का विवाह संपन्न करा देता है।[2]

भामह[3] के द्वारा, बिना नामोल्लेख के ही, इस रूपक की तीव्र आलोचना इस आधार पर की गयी है कि **उदयन** एक कृत्रिम हाथी के द्वारा कदापि वंचित नहीं किया जा सकता था, और यदि वंचित किया जाता तो शत्रु-सेना द्वारा प्राण बचाये न गये होते। इन तर्कों का इस रूप में प्रत्यक्षतः स्वल्प महत्त्व है। निश्चय ही, सार वस्तु यह है कि इस प्रकार की घटना जो कथा में चल सकती है नाटक के

---

१. 'मालतीमाधव' में इस कहानी का उल्लेख मिलता है, ii. 92, कथा के लिए देखिए—Lacote, Le बृहत्कथा, pp. 70ff., 'Trojan horse' के अभिप्राय के लिए GIL. ii. 155, iii. 175, n. 3.

२. एक पांडुलिपि की पुष्पिका में इसकी संज्ञा 'नाटिका' दी हुई है.

३. N. 40ff.

लिए अत्यंत बालिश प्रतीत होती है, किंतु, यदि यह बात हमें खटकती है तो हम यह सोच कर अपने को आश्वस्त कर सकते हैं कि वृक्ष घने थे, और उदयन आखेट में व्यग्र था। वामन[1] चौथे अंक के तीसरे श्लोक का अंतिम अंश उद्धृत करते हैं जो **अर्थशास्त्र**[2] में भी आता है। इस ग्रंथ का भास से प्राचीनतर होना आवश्यक नहीं है, और यह बहुत बाद का हो सकता है।

स्वप्नवासवदत्ता[3] या **स्वप्ननाटक** छः अंकों में वस्तुतः **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** का उत्तरानुबंध है। **उदयन** का मंत्री मगध के राजा की कन्या **पद्मावती** के साथ उसका विवाह करा कर उसकी शक्ति का विस्तार करने के लिए व्यग्र है। परंतु **उदयन** अपनी प्रियतमा **वासवदत्ता** को नहीं छोड़ सकता, अतएव दावँ-पेच की आवश्यकता है। मंत्री **वासवदत्ता** को अपनी योजना में सहायता करने के लिए प्रेरित करता है, और, अल्पकालिक वियोग का लाभ उठाकर, यह अफवाह फैला देता है कि रानी और वह स्वयं एक अग्निकांड में विनष्ट हो गये हैं। इस प्रकार से राजा **पद्मावती** के साथ विवाह का विचार करने को प्रोत्साहित होता है, जिसके संरक्षण में मंत्री ने रानी को यह बतला कर सौंप रखा है कि यह मेरी बहन है। **पद्मावती** राजा के प्रेम को स्वीकार करने के लिए उद्यत है, परंतु, यह जान कर कि उसके मन से अपनी प्रियतमा की मधुर स्मृति कभी दूर नहीं हुई है, उसे तीव्र शिरोवेदना होने लगती है। राजा उसे संतोष देने के लिए आता है। वह वहाँ पर उसको नहीं पाता, और लेट जाता है। उसे नींद आ जाती है। **वासवदत्ता**, जो **पद्मावती** की सहायता के लिए आयी थी, सोये हुए **उदयन** के पास बैठ जाती है, जिसे वह भल से अपनी नयी स्वामिनी का आकार समझ रही है। जब वह सपने में बर्राने लगता है तब वह उठ कर चल देती है, परंतु जाते-जाते उसकी एक झलक राजा को मिल गयी है। वह समझता है कि यह स्वप्नदर्शन है। महल में उसकी बुलाहट होती है। उसे शुभ समाचार मिलता है कि उसके शत्रु पराजित हो चुके हैं। एक दूत **महासेन** एवं उनकी पत्नी के यहाँ से **उदयन** तथा **वासवदत्ता** के परिणय का एक चित्र लेकर उसे सान्त्वना देने के लिए आया है। **पद्मावती** अपने संरक्षण में **यौगंधरायण** द्वारा निक्षिप्त उस भगिनी की आकृति को पहचान लेती है। **उदयन** की फल-प्राप्ति के लिए बनायी गयी अपनी योजना का सबके परितोषार्थ विवरण देने के लिए **यौगंधरायण** उपस्थित होता है।

---

१. v. 2. 28. २. p. 366.

३. Trs. A. Baston, Paris, 1914 (corr. in GSAI. xxvii. 159f.) A. G. Shiref and Panna Lall, Allahabad, 1918. मिलाकर देखिए—Lacote, JA. sér. 11, xiii. 493ff.

इस रचना की ख्याति **राजशेखर** के समय में प्रमाणित है, और उसके भी पहले रानी के कल्पित दाह ने **हर्ष** को **रत्नावली** में (उस कल्पना का) अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया था। **वामन**[१] ने इससे उद्धरण दिया है और अभिनव-गुप्त[२] को इसकी जानकारी थी। न तो इस बात में संदेह है कि यह कवि की सर्वोत्कृष्ट कृति है, उनके नाटकों में प्रौढ़तम है। परंतु, एक भिन्न प्रकार से महती आशा दिखायी पड़ती है **चारुदत्त** में, जिसका एक खंड ही चार अंकों में उपलब्ध है। उसमें भी आरंभ और अंत के श्लोक नहीं हैं। **चारुदत्त** (एक सार्थवाह जिसकी दानशीलता ने उसे दरिद्र बना दिया है) ने एक महोत्सव के अवसर पर गणिका **वसंतसेना** को देखा है, और वे परस्पर अनुरक्त हो गये हैं। **वसंतसेना** (राजा का साला **संस्थान** जिसका पीछा कर रहा है) **चारुदत्त** के घर में शरण लेती है। और, जब वह जाती है, उसके संरक्षण में अपने स्वर्णाभरण छोड़ जाती है। वह उदारतापूर्वक **चारुदत्त** के एक पूर्वकालीन सेवक का उसके महाजन से उद्धार करती है, जो तत्पश्चात् संन्यास लेकर भिक्षु बन जाता है। रात में एक चोर सज्जलक गणिका **वसंतसेना** की दासी (जिसपर वह अनुरक्त है) के निष्क्रय का साधन जुटाने के लिए **चारुदत्त** के घर में सेंध लगाता है, और उन आभूषणों को, जो **वसंतसेना** ने धरोहर रखे थे, चुरा ले जाता है, अपने संरक्षण में निक्षिप्त वस्तु की चोरी का समाचार सुन कर **चारुदत्त** लज्जा से गड़ जाता है, और उसकी उदात्त पत्नी अपनी रत्नावली का उत्सर्ग करती है, जिसे वह विदूषक को देती है कि **वसंतसेना** के खोये हुए आभूषणों के बदले में उसे दे आए। वह उसे गणिका के यहाँ ले जाता है। **वसंतसेना** को चोरी का पता चल गया है, किंतु उसे स्वीकार कर लेती है ताकि उसको सार्थवाह के पुनः साक्षात्कार का बहाना मिल सके। इस स्थल पर नाटक अकस्मात् समाप्त हो जाता है, परंतु ऐसा प्रतीत होता है मानो **चारुदत्त** चोरी का अपराधी है, और स्वयं **वसंतसेना** गंभीर जीवन-संकट में है।

इस नाटक का एक श्लोक **वामन**[३] द्वारा उद्धृत है, और दूसरा[४], जो **बाल-चरित**[५] और **मृच्छकटिका**[६] में मिलता है, दंडी द्वारा उनके **काव्यादर्श**[७] में उद्धृत

---

१. iv. 3. 25, उद्धृत अंश iv. 7.

२. 'ध्वन्यालोकलोचन' (p. 152) में उद्धृत श्लोक संभवतः अप्राप्य है; नाट्यशास्त्र पर टीका TSS. ed. p. xxii. वन्द्यघटीय सर्वानन्द (११५९ ई०) ने भी उस रूपक से उद्धरण दिया है.

३. i. 2, वामन, v. i. 3. ४. i. 19 ५. i. 15

६. i. 34. ७. ii. 233.

है। हमें संदेह नहीं करना चाहिए कि **भास** ही उनके स्रोत हैं, विशेष कर के ऐसी स्थिति में जब कि **काव्यादर्श** में (संभवतः अन्यत्र) **वासवदत्ता** के स्वप्न-दृश्य और उसके परिणाम का संकेत है। बहुत संभव है कि **अभिनवगुप्त** के द्वारा निर्दिष्ट **दरिद्रचारुदत्त** यही कृति है। इसी से **मृच्छकटिका** के प्रथम चार अंक लिये गये हैं।[1] नाटक का स्रोत निश्चित नहीं है। सार्थवाह और गणिका के प्रेम का अभिप्राय अन्यत्र मिलता है, किंतु **भास** द्वारा प्रस्तुत असाधारण उपचय के साथ नहीं।

भास-रचित बताये जाने वाले ऐसे श्लोक भी पाये जाते हैं जो उपलब्ध नाटकों के अंतर्गत नहीं हैं। इस पर से, अशुद्ध उद्धरण और संभ्रम की छूट दे देने पर भी, यह संभाव्य है कि उन्होंने और भी नाटक लिखे हों, अथवा स्वरचित उदाहरणों द्वारा नाट्यकला की उस पुस्तक को पूर्ण किया हो जिसकी रचना का श्रेय उन्हें दिया जाता है।[2] यह बात समझ में नहीं आती कि उनके नाटक इतने प्रभावहीन क्यों हो गये कि प्रत्यक्षतः शताब्दियों तक वे सार्वजनिक प्रयोग से अदृश्य रहे। सर्वाधिक ग्राह्य मत यह है कि **भास** दाक्षिणत्य कवि थे, और उनके नाटकों को मुसलमानों के हिंदू-संबंधी सामान्य विरोध के कारण हानि सहनी पड़ी और विशेष कर इसलिए कि वे **भास**-जैसे नैष्ठिक वैष्णव द्वारा लिखे गये थे। परंतु यह अनुमान मात्र है।

४. भास की कला और प्रविधि (तकनीक)

भास के नाटकों की संख्या, और उनके विषयों की विविधता से उनकी प्रज्ञा की क्रियाशीलता और मौलिकता सूचित होती है। **रामायण-महाभारत** से विषयों के चयन द्वारा आरोपित सीमाएँ भी सफलतापूर्वक पार कर ली गयी हैं। केवल **राम**-विषयक नाटकों में कुशलता की कमी का कुछ लक्षण दिखायी देता है। **अभिषेक-नाटक रामायण** के तत्संवादी कांडों (४-६) का कुछ नीरस संक्षेप-सा है, न ही **प्रतिमानाटक** तत्त्वतः उत्कृष्ट है। जो परिवर्तन किये गये हैं वे सामान्यतः अल्प और महत्त्वहीन हैं। **सुग्रीव** और **वाली** के दो संघर्ष एक में मिला कर संक्षिप्त कर दिये गये हैं। यह परिवर्तन छलपूर्ण वालिवध को दोषक्षालन की छाया से रहित कर देता है, और राम के चरित्र को कलंकित करता है जिसका परवर्ती नाटककार

---

१. G. Morgenstierne, Uber das Verhältnis zwischen चारुदत्त und मृच्छकटिका (1921). मिलाकर देखिए—Mehendale, Bhandarkar Comm. Vol. pp. 369ff.

२. अर्थद्योतनिका, २.

परिहार करते हैं। **रामायण** का वह करुण दृश्य भी छोड़ दिया गया है जिसमें **वाली** की मृत्यु पर उसकी पत्नी **तारा** विलाप करती है, क्योंकि **वाली** ने मना किया था कि कोई नारी उसके नाश के समय उसे न देखे। **सीता** को छलने के लिए **रावण** की दो चेष्टाएँ, (पहले **राम** का सिर और बाद में **राम-लक्ष्मण** को वद्ध तथा **आभासेन** मृत दिखा कर) घटा कर एक कर दी गयी है। जिस समय **राम-लक्ष्मण** के सिर दिखलाये गये हैं, और पतिव्रता सीता की दृढ़ता का चित्रण किया गया है, उस समय उन्हें सांत्वना देने वाला कोई नहीं है, यह बात अमानवीय प्रतीत होती है। लक्ष्मी और धर्मपत्नी के रूप में राम को सौंपने के लिए अग्नि-परीक्षा द्वारा सीता को अग्नि से निर्दोष सिद्ध कराया जाता है, जिससे सुखांतता की उपलब्धि हो सके। पात्र बँधे-बँधाये ढंग के और निष्प्रभ ही रहते हैं; रावण, यदि हास्यकर नहीं तो, एक विकत्थन योद्धा (miles gloriosus) से अधिक कुछ नहीं है, और लक्ष्मण बड़ा भद्दा प्रभाव डालते हैं।[1]

महाभारत पर आधारित कृतियों में अधिक उद्भावना और रोचकता दिखायी देती है। **मध्यमव्यायोग** में **हिडिंबा** की अपने वर्षों पूर्व के पति से मिलने की अभिलाषा, और **घटोत्कच** एवं मध्यम (**भीम**) दोनों के द्वारा प्रदर्शित मातृ-भक्ति की विषय-वस्तु का परिष्कृत रूप में उपयोग किया गया है। माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से गुरुतर सिद्ध होती है। पुत्र के विरुद्ध पिता का संघर्ष (एक-दूसरे को न जानते हुए) मौलिक है, यद्यपि त्रासद नहीं है। **कर्णभार** में अभिमानी **कर्ण** की उदात्तता पर बल दिया गया है। **महाभारत** में वह अपना कवच इंद्र को समर्पित कर देता है, किंतु उसका मूल्य माँगता है—वह वज्र जो अमोघ है। इस नाटक में राजा के लिए इतना पर्याप्त है कि उसने देवता को ही वरदान दिया है। सामाजिकों में उत्साह जगाने वाली यही वीरोचित भावना **दूतघटोत्कच** में है जिसमें कौरवों का आनंद **धृतराष्ट्र** की शंकाओं, और अपने पुत्र की मृत्यु पर **अर्जुन** द्वारा लिये जाने वाले प्रतिशोध की **घटोत्कच** द्वारा लायी गयी गंभीर चेतावनी के विरोध में उपस्थित किया गया है। **दुर्योधन** के चरित्र और **कृष्ण** की महिमा के वैषम्य-चित्रण में **दूतवाक्य** अपूर्व है, चित्रण का अभिप्राय सफलतापूर्वक निष्पन्न हुआ है, और देवाधिदेव विष्णु (जिसके भास उपासक थे) के

---

१. 'प्रतिमानाटक' में कवि ने इन प्रसंगों की उद्भावना की है—सीता-हरण के विषय में भरत की जानकारी, राम का भरत से शासन-सूत्र अपने अधिकार में लेना, और आश्रम में उनका राज्याभिषेक। 'पञ्चरात्र' में दुर्योधन के द्वारा आधे राज्य का परिदान नवीन उद्भावना है.

साकाररूप कृष्ण के प्रति कवि का अतीव समादर-भाव स्वच्छतया अभिव्यक्त हुआ है। उरुभङ्ग में देवाधिदेव (कृष्ण) के प्रति दुर्योधन के दर्प को उचित[1] दंड मिलता है। दुर्योधन इस कृति का (जो अधर्मी के दंड की अभिव्यंजना करती है) मुख्य कथापुरुष है, किंतु नायक नहीं। दुर्योधन की मृत्यु श्लाघ्य रूप में चित्रित की गयी है। उसका बच्चा (जिसे उसकी गोद में बैठना बहुत प्रिय था) उसके पास आता है, परंतु भगा दिया जाता है, वह स्पर्श जो पहले आनंददायक होता था अब संतापदायक होता है[2] परंतु दुर्योधन, अपने मानव-सहज अवगुणों के बावजूद, मृत्यु के समय भी वीर ही रहता है।

बालचरित भास की प्रतिभा की मौलिकता प्रकट करता है। दूसरे अंक का अर्थोपक्षेपक अपनी भयानकता में अत्यंत प्रभावशाली है। विष्णु के परिचरों की विचित्र आकृतियाँ, या कात्यायनी देवी का परिवार, या वृषभ अरिष्ट, या दानव कालिय-नाग—ये सब रंगमंच पर दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु वे निस्संदेह ऐसे वेश में आते हैं जो बहुत कुछ मन की आँखों के लिए छोड़ देता है। कवि को सामाजिकों से यह बात कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वे इन सब की परिकल्पना स्वयं करें। बालक कृष्ण से प्रकट होने वाली ज्योति का चमत्कार, यमुना को पार करना और पृथ्वी से निकल पड़ने वाला जल-स्रोत परंपरा से आगे बढ़ कर की गयी नवोद्भावनाएँ हैं; उसी प्रकार यशोदा की बालिका की आभासित मृत्यु और पुनरुज्जीवन भी। कृष्ण मूर्तिमान वीरत्व हैं, कंस गुण-रहित है, और उसका वध न्यायोचित है, परंतु वीर रस शृंगार और अद्भुत से मिश्रित है। तथापि, नाटक की दृष्टि से इस रूपक में निर्विवाद रूप से यह दोष है कि दोनों प्रतिद्वंद्वियों में सुनिश्चित असमानता है; कृष्ण कभी संकट में नहीं पड़ते, और उनके अद्भुत कार्य अपना पूर्ण प्रभाव डालने के लिए अनायास संपन्न हो जाते हैं।

अविमारक शृंगार का नाटक है, अभिव्यंजना और तीव्रता में प्राक्तन मार्ग का अनुसरण करने वाला है। सर्वदा की भाँति यहाँ भी भास का क्षिप्र व्यापारों के प्रति प्रेम उत्कटता से अंकित है। उसी प्रकार घटनाओं और स्थितियों की आवृत्ति में उनकी प्रवृत्ति भी द्रष्टव्य है। नायक दो बार आत्महत्या करना चाहता है, और नायिका एक बार। निर्वहण कृत्रिम है, यद्यपि उस युग्म के विवाह की संघटना की सिद्धि के लिए इस प्रकार की कोई वस्तु आवश्यक थी। यौवनोल्लसित प्रेम का कहीं अधिक रोचक संकेत **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** में उदयन और वासवदत्ता के प्रेम-व्यापार में है, जहाँ कार्य की क्षिप्रता का मंत्री में आरोपित निपुणता

---

१. दुर्योधन द्वारा स्वीकृत, v. 35 २. v. 43.

के साथ पूर्ण सामंजस्य है, जिसकी दक्षता, वीरता और राजभक्ति उसे आकर्षक पात्र बना देती है। **स्वप्नवासवदत्ता** में **उदयन** एक अनुरक्त और भार्यानिरत पति के रूप में चित्रित है। हर्ष के रूपक का **उदयन** विनीत होने पर भी निश्चिंत है। उस **उदयन** से यह **उदयन** बहुत भिन्न है। रानी (जिसे वह मृत समझता है) के प्रति उसका प्रेम उसके चरित्र को उदात्त और उत्कृष्ट बनाता है। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि राजनैतिक प्रयोजन और **पद्मावती** द्वारा प्रदर्शित प्रेम के कारण ही वह उस राजकुमारी से विवाह की कामना करता है। स्वयं **वासवदत्ता** **हर्ष** के रूपकों की ईर्ष्यालु (यद्यपि उदारचित्त) पत्नी नहीं है; वह पति-परायण और आत्मोत्सर्ग करने वाली प्रेमिका है जो अपने पति के हित में अपनी भावनाओं और इच्छाओं का उपसर्जन करने को उद्यत है। प्रेमियों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये राजा और रानी **भास** की सुंदरतम सृष्टि हैं। परंतु, **चारुदत्त** में हमें गणिका, सार्थवाह और गौण पात्रों का निपुण अध्ययन प्राप्त होता है, यद्यपि **मृच्छकटिका** में उपलब्ध पूर्ण एवं परिष्कृत रूप की तुलना में इस रूपक का महत्त्व अवश्य ही न्यून प्रतीत होता है।

भास निस्संदेह उत्तम हैं वीरता की व्यंजना में। यह विशेषता श्लाघ्य रूप से यौगंधरायण में चित्रित है, और सबसे बढ़ कर दुर्योधन में, जो **दूतघटोत्कच** में दूत की धमकियों का प्रभावशाली उत्तर इस प्रतिज्ञा से देता है कि मैं तुम्हारा जवाब कटु वचनों द्वारा नहीं, अपितु युद्ध-कर्म द्वारा दूँगा। परंतु **भास** की शक्ति युद्धोत्साह, रति, करुण अथवा अद्भुत तक ही सीमित नहीं है। उनके हाथों में विदूषक वे विशेषताएँ प्राप्त करता है जो परवर्ती नाटकों में उसका लक्षण निर्धारित करती हैं। यह ठीक है कि बहुत कुछ परंपरा-प्राप्त था, तथापि यह बात बिना किसी बाधा के मानी जा सकती है कि उन्होंने इस पात्र के स्वरूप को स्थिर करने का प्रयत्न किया। **अविमारक**[1] में वह (विदूषक) अपनी स्वामिभक्ति से अपने को विशिष्ट बनाता है, उसके खो जाने पर उसे जीवित या मृत रूप में खोज लाने के लिए कटि-बद्ध है, और यदि आवश्यकता पड़े तो परलोक तक उसका अनुगमन करने को प्रस्तुत है। **अविमारक** स्वयं अपने इस मित्र का चरित्रांकन करता है; वह गोष्ठियों में उसके द्वारा किये गये हास्य को (निश्चय ही जान-बूझ कर) प्रथम स्थान देता है; परंतु युद्धवीर, बुद्धिमान् मित्र, शोक में सांत्वना देने वाले, और शत्रु के भयानक शत्रु के रूप में भी उसका वर्णन करता है। यदि **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**[2] में वह स्वामी की सहायता के विचार को त्यागता हुआ प्रतीत होता है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि उसे इस बात की प्रतीति हो गयी है कि **वत्स** (उदयन) की

---

१. p. 69 और v. 21. २. iii. p. 53.

मृत्यु हो चुकी है और उसे बचाने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता। उसके चरित्र का दूसरा पक्ष है भोजन-सुख में आसक्ति एवं विनोद और परिहास करने का क्षीण प्रयास। **वासवदत्ता** को वह स्नेह से याद करता है क्योंकि वह इस बात का ध्यान रखा करती थी कि उसके लिए मिठाइयों की कमी न पड़ने पाए।[1] **अविमारक**[2] में जब नायिका प्रेम-व्यथा से रोती है, तब सहानुभूति में वह भी रोना चाहता है; परंतु आँसू नहीं आते, और वह प्रत्यास्मरण करता है कि जब स्वयं मेरे पिता मरे थे तब भी मैं कठिनाई से रो सका था। पुरुष के रूप में अभिहित होने पर वह दृढ़ता से कहता है कि मैं स्त्री हूँ। अस्तु, वह अपने पूर्वग्रहों के अनुसार ब्राह्मण है; वह सुरा-पान नहीं कर सकता, इस आनंद की छूट वह देता है '**गात्र-सेवक**' को, जो **उदयन** को छुड़ाने के प्रयत्न में **यौगन्धरायण** का अनुगमन करने वालों में से एक का छद्म-नाम है। यह पुरुष हमें सुरा की प्रशस्ति से अनुगृहीत करता है, जो उन सुरापान-गीतों का एक रोचक अंग है जिनका प्राचीन भारत में अवश्य ही अस्तित्व रहा होगा :

घण्णा सुराहि मत्ता घण्णा सुराहि अणुलित्ता।
घण्णा सुराहि ह्णादा घण्णा सुराहि सन्चिदा॥[3]

'वे धन्य हैं जो सुरा से मतवाले हैं, वे धन्य हैं जो सुरा से अनुलिप्त हैं, वे धन्य हैं जिन्होंने सुरा से स्नान किया है, वे धन्य हैं जो सुरा से अवरुद्धकंठ हैं।' भोजन और नृत्य में निरत '**उन्मत्तक**' के वेष में **यौगंधरायण** का रूप भी मनोरंजक है, और श्रमणक के वेष में **रुमण्वान्** का भी। अकृत्रिम हास्य **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**[4] में गात्रसेवक और भट के उस दृश्य में है जिसमें **गात्रसेवक** (**महासेन** के परिवार में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न किये बिना) राजा **उदयन** और **वासवदत्ता** को पीछा करने वालों की पहुँच के बाहर ले जाने वाली सवारी **भद्रवती** हथिनी को तैयार करता है। **घटोत्कच** द्वारा अपनी माँ **हिडिम्बा** के पास **भीम** को ले जाने के प्रसंग में सौम्य हास्य की अभिव्यक्ति हुई है। **घटोत्कच** को अपने भक्ष्य का वर्णन करने में कठिनाई होती है, वह यह देख कर आश्चर्य-चकित है कि उसकी माँ, जिसका कुतूहल उसके ठीक-ठीक वर्णन न कर पाने के कारण उद्बुद्ध हो गया है, अपने पति तथा उसके पिता के रूप में आराध्य देवता को पा गयी है।[5] इसी के सदृश **राम** के द्वारा की गयी **सीता** की प्रशंसा है, जहाँ पर सीता ठीक-ठीक बतला देती हैं कि

---

१. स्वप्नवासवदत्ता, iv. p. 43.

२. v. p. 83.   ३. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, p. 57.   ४. pp. 59 ff.

५. मध्यमव्यायोग, p. 22.

पिता के द्वारा राज्य दिये जाने पर राम क्या कार्यवाही करते : 'तुमने सही अनुमान किया; समान शील वाले दंपति संसार में थोड़े हैं (सुष्ठु तर्कितम् । अल्पं तुल्य-शीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते)' ।[1] अविमारक[2] के अंत का दृश्य भी सुस्पष्टतया मनो-रंजक है, जहाँ पर राजा कुंतिभोज के समक्ष संबंधों के तथ्य उद्घाटित किये जाते हैं । परिस्थिति को समझने की कठिनाई के लिए राजा को न्यायतः क्षमा किया जा सकता है । वह इतना व्यामोहित है कि अपनी ही राजधानी वैरंत्य के विषय में संदेहशील है । परंतु अंततः जब उसे विश्वास दिलाया जाता है कि नायक कुंतिभोज का दामाद है तब वह पूछता है कि वे महानुभाव (कुंतिभोज) कौन हैं । उसे नम्रतापूर्वक स्मरण दिलाया जाता है कि वह स्वयं ही कुंतिभोज है, जो कुरंगी का पिता, दुर्योधन का पुत्र, और वैरंत्य का राजा है । भास की इस शक्ति के कारण ही जयदेव ने उन्हें प्रसन्नराघव में कविता का हास कहा है । इस उपाधि का औचित्य ऐसे श्लोकों से भी सिद्ध है जिस प्रकार का श्लोक सुभाषित-संग्रहों में उद्धृत है (यद्यपि उपलब्ध नाटकों में नहीं पाया जाता)—

कपोले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनस्-
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥[3]

'जब चंद्रमा की किरणें कपोल पर पड़ती हैं तब बिलाव उन्हें दूध समझ कर चाटने लगता है, जब वे वृक्ष के छिद्रों से छन कर आती हैं तब हाथी उन्हें कमल-नाल समझता है, जब वे कामुकों की शय्या पर पड़ती हैं तब वनिता उन्हें यह कह कर पकड़ना चाहती है कि यह मेरा वस्त्र है; वस्तुतः अपनी प्रभा का अभिमानी चंद्रमा सारे जगत् को भरमा रहा है ।'

गहनतर भावों के विषय में हमें भास से कुछ आशा नहीं करनी चाहिए । इस विषय में वे अपने परवर्तियों के लिए आदर्श उपस्थित करते हैं । कालिदास से वे इस बात में भिन्न हैं कि वे शिवभक्त न होकर विष्णुभक्त हैं, परंतु सुस्थापित ब्राह्मण-व्यवस्था का समान रूप से आदर करते हैं । पञ्चरात्र,[4] प्रतिज्ञायौगन्धरायण[5], और अविमारक[6] में नारद के चरित्र में हम देखते हैं कि ब्राह्मण के उच्च

---

१. डा० कीथ ने इसका संदर्भ दिया है—अभिषेकनाटक, i. p. 13. वस्तुतः यह वाक्य 'प्रतिमानाटक' का है (देखिए—भासनाटकचक्र, पृ० २५६).

२. vi. p. 102. ३. सुभाषितावलि, 1994

४. i. 25. ५. pp. 43ff. ६. pp. 99ff.

पद, और उसके प्रति राजाओं तथा अन्य वर्णों के दायित्व के विषय में **भास** का बहुमान स्पष्टतया अभिव्यक्त हुआ है।

गौण पात्रों के भी चित्रण में नियमतः सावधानी दिखलायी गयी है। इनकी संख्या प्रचुर है; **स्वप्नवासवदत्ता** और **प्रतिज्ञायौन्धरायण** में सोलह-सोलह, **अविमारक**, **अभिषेकनाटक**, और **पञ्चराज** में लगभग बीस, **चारुदत्त** में बारह, और **बालचरित** में लगभग तीस। परंतु मंच पर आने वालों की अनावश्यक संख्या-वृद्धि के परिहारार्थ **भास** की चिंता के संकेत मिलते हैं, **अविमारक** में अपनी भूमिका के बावजूद न तो **काशी**-नरेश मंच पर आते हैं और न **सुचेतना** ही। **सीता** के मौन का (यद्यपि वे **अभिषेकनाटक** के अंत में मंच पर आती हैं) असंदिग्ध समाधान उस समरूप नाट्य-स्पर्श के द्वारा किया जा सकता है जिसके कारण (Alkestis) ने (Euripides) को (मृतकों में से लौटने पर) वाणी देने से इन्कार किया है।

प्रविधि की दृष्टि से **भास** के नाटक शास्त्रकारों के पश्चात्कालीन नियमों से मेल नहीं खाते। यह ठीक है कि जब **नाट्यशास्त्र** युद्ध-दृश्यों के प्रदर्शन का निषेध करता है तब अपना ही प्रतिवाद करता है, और **भास** स्वच्छंदता से उनका प्रयोग करते हैं, जैसा कि उस प्रारंभिक रूपक में होता रहा होगा जिसमें **कृष्ण** ने **कंस** का वध किया था। परंतु, बालाओं से वे **अरिष्ट** और **कृष्ण** का प्राणांतक युद्ध दूर से दिखवाते हैं। **दशरथ** की मृत्यु वे दिखलाते है; **चाणूर**, **मुष्टिक**, और **कंस** के शरीर मंच पर पड़े रहते हैं, और **दुर्योधन** की भाँति **बाली** भी मंच पर मरता है, परंतु ये सब पापकर्मा हैं, और उनका मरण शोकजनक नहीं है। **बालचरित** के पौराणिक पात्रों के प्रवेश का असंदिग्ध हेतु यही सरलता है, जिनके विषय में हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि उनका परिष्कृत रूप से नेपथ्यविधान किया जाता था; वे अपने स्वरूप का ख्यापन करते हैं अथवा उनका वर्णन किया गया है[1], और दर्शक उन्हें समझने के लिए अपेक्षित कल्पना की पूर्ति करता है।

केवल संस्कृत अथवा संस्कृत एवं प्राकृत के प्रयोगानुसार द्विविध विष्कंभकों और प्रवेशकों के रूप में प्रास्ताविक दृश्यों का रूपात्मक भेद हमें **भास** के नाटकों में पहले से मिलता है। उनके दो निष्कंभकों में संभाषकों की संख्या तीन है,[2] जब कि परवर्ती काल में प्रायः एक या दो। उनकी त्रिक-प्रियता के अन्य संकेत भी

---

१. देखिए—'दूतवाक्य' में दुर्योधन द्वारा कृष्ण के विश्वरूप का वर्णन.

२. अभिषेकनाटक, vi, जहाँ पर तीन विद्याधर राम-रावण-युद्ध का वर्णन करते हैं; पञ्चरात्र, i, जहाँ पर तीन ब्राह्मण दुर्योधन के यज्ञ का बखान करते हैं.

मिलते हैं।[१] विपय-प्रवेश को नियमतः 'स्थापना' की संज्ञा दी गयी है,[२] पश्चात्कालीन 'प्रस्तावना' की नहीं, और यह अत्यंत सरल है। **नांदी** (जो परिरक्षित नहीं है) के पाठ के बाद—संभवतः पर्दे के पीछे—सूत्रधार आता है, मंगल-पाठ करता है, और कुछ स्थापित करना चाहता है कि कोई शब्द सुनायी पड़ता है जो वास्तविक रूपक का निर्देश करता है। कवि के नाम या रचना का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किंतु हम अनुमान कर सकते हैं कि ये पूर्वरंग के लिए दिये गये थे जिसका विस्तृत वर्णन **नाट्यशास्त्र** में भी मिलता है, और जो निस्संदेह **भास** के नाटकों के प्रयोग के पूर्व अनुष्ठित होता था, क्योंकि वह मूलतः देवाराधन के निमित्त किया गया धार्मिक कृत्य था। दूसरी ओर, परवर्ती शास्त्र का 'भरतवाक्य' **भास** में भिन्न है। सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य अथवा अश्राव्य भापण के प्रयोग की रूढ़ियाँ सुविदित हैं, और आकाशभापित अथवा चूलिका का प्रभावशाली प्रयोग किया गया है, जैसे—**अभिषेक** में, जब **रावण** ताना मारते हुए अपनी वंदिनी से पूछता है—तुम्हारे उद्धारक मर चुके हैं, अब तुम्हारा उद्धार कौन करेगा ? तब उत्तर के रूप में आकाशवाणी होती है—'राम राम'।[३]

भास की कला में असंदिग्ध रूप से आदिम लक्षण पाये जाते हैं। वे आपत्तिजनक स्वच्छंदता से ऐसी युक्ति का प्रयोग करते हैं जिससे कोई पात्र प्रस्थान करता है, और तत्काल लौट कर किसी घटना का वर्णन करता है जिसको घटित होने में बहुत समय लगा होगा। इस प्रकार, **अभिषेकनाटक** में, **शंकुकर्ण** को **हनूमान्** के विरुद्ध एक सहस्र सैनिक भेजने का आदेश मिलता है; वह तुरंत प्रस्थान करता है, और लौटकर बतलाता है कि वे आहत हो गये हैं। युद्ध में मायिक आयुधों का भी स्वच्छंद प्रयोग किया गया है, जैसा कि **रामायण-महाभारत** में; उदाहरण के लिए, **दूतवाक्य** में **दुर्योधन** और **कृष्ण** के युद्ध में। इसी प्रकार **मध्यमव्यायोग** में हम देखते हैं कि **घटोत्कच** शिला से जल उत्पन्न करने के लिए मायाशक्ति का प्रयोग करता है; तत्पश्चात् **भीम** को मायापाश में बाँधता है, जिससे वे (मायापाशमोक्ष) मंत्र द्वारा मुक्त होते हैं। **दूतवाक्य** में **कृष्ण** का चक्र आकाशगंगा से

---

१. 'मध्यमव्यायोग' में ब्राह्मण के तीन पुत्र हैं; 'उरुभङ्ग' में तीन सेवक युद्ध का वर्णन करते हैं.। मिलाकर देखिए—नाटकों की प्रस्तावनाओं में त्रिगत.

२. 'कर्णभार' में 'प्रस्तावना' का उल्लेख है.

३. v. p. 56; मिलाकर देखिए—अविमारक, iii. p. 41. 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' (p. 30.) में पताकास्थानक के प्रयोग से तुलना कीजिए, जहाँ पर राजा के वर-विषयक प्रश्न के उत्तर में वत्सराज के पकड़े जाने का उल्लेख किया गया है.

माया के द्वारा जल प्राप्त करता है, उसमें मेरु-मंदर-कुल को हिला देने, समुद्र को संक्षुब्ध कर देने, और नक्षत्रों को पृथ्वी पर गिरा देने की शक्ति है। जव हम ऐंद्रजालिकों की शक्तियों के प्रति वहुव्याप्त भारतीय विश्वासों का स्मरण करते करते हैं तव ये भाव हमें कम दुर्वोध प्रतीत होते है। ये शक्तियाँ परवर्ती काल में हर्ष की **रत्नावली** में दृष्टिगोचर होती हैं, और पूर्ववर्ती काल में अंतर्ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए लोगों के संवंध में उपनिषदों तथा वौद्धग्रंथों दोनों में अंकित हैं। **अविमारक** में हमें विद्याधर की माया की अँगूठी मिलती हैं जो नाटक के व्यापार में निर्णायक भूमिका अदा करती है, क्योंकि इसके प्रयोग से नायक अदृश्य रूप से अंतःपुर में प्रवेश करके अपनी प्रियतमा **कुरंगी** से एकांत में मिल सकता है। यह स्पष्ट है कि **भास** को **रामायण-महाभारत** और लोक-कथा दोनों में पर्याप्त पूर्वोदाहरण मिले जिससे उन्होंने अपने सामाजिकों में अद्‌भुत रस के उद्‌वोधन के इन उपायों पर वल दिया।

नाट्यालंकार के रूप में नृत्य का प्रयोग (जो **कालिदास** में दृष्टिगोचर होता है) **भास** की रचनाओं में प्रायः किया गया है। **वालचरित** के तीसरे अंक में हल्लीशक नृत्य का प्रदर्शन है, जिसमें गोप और गोपियाँ दोनों पूर्ण रूप से भाग लेते हैं; वह नृत्य वाद्य एवं गीत की गत पर होता है, और गोपवालाएँ शोभन वेष में हैं। **पञ्चराज**[1] के दूसरे अंक में उसी प्रकार के नृत्य का निर्देश है, जो महाव्रत संस्कार में मकरसंक्रांति के कर्मकांड-संवंधी नृत्य का निस्संदेह प्रतिवर्त है। यह भी संभाव्य है कि **वालचरित** में **विष्णु** के आयुधों की गोपवेषी पात्रों के रूप में मंच पर आने की संकल्पना **विष्णु** की आराधना में किये जाने वाले धार्मिक नृत्य की संस्मृति है, परंतु इस विचार पर अनुचित वल नहीं देना चाहिए, क्योंकि कवि ने वहीं पर नाटक के पात्रों के रूप में शाप और राजश्री की आकृतियों की भी उद्‌भावना की है। स्पष्ट है कि इन अमूर्त पदार्थों के मानवीकरण और वौद्ध नाटकों के रूपकमय पात्रों में निश्चय ही कुछ समरूपता है। ये पात्र **कृष्णमिश्र** के **प्रवोधचन्द्रोदय** में पुनः अस्तित्व में आते हैं। नाटक के महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में गीत **अभिषेकनाटक** में भी आता है, जहाँ गंधर्व और अप्सराएँ विष्णु की महिमा का गान करती हैं।[2]

---

१. p. 22 प्रत्यक्षतः यह ग्रहण के अवसर पर किये जाने वाले नृत्य का सूचक हो सकता है; Lindenau, BS. p. 43. मिलाकर देखिए—L. von Shroeder, Arische Religion, ii, 114ff.

२. ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रथमकल्पक' को नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक

इन नाटकों में नाट्य-व्यापार के बदले युद्ध-दृश्यों के वर्णन की विस्तृत प्रस्तावना की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति पर महाकाव्य की परंपरा और वर्णनशैली के अतिशय प्रभाव के स्पष्ट संकेत मिलते हैं; जब कि कथा को नाटक का रूप देने के प्रयत्न में कौशल की कमी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार, **अविमारक** में कहानी को समझने के लिए आवश्यक तथ्य का उद्घाटन अंतिम अंक में ही होता है, वहाँ पर नायक के साहस-कर्मों का पुनराख्यान उसी रूप में किया जाता है, जिस रूप में वे नाटक के पूर्ववर्ती अंकों के प्रतिपाद्य विषय रहे हैं। इस बात का अनौचित्य स्पष्ट है। न तो **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** की और न **स्वप्नवासवदत्ता** की ही इतने अकुशल ढंग से रचना की गयी है, परंतु इन दोनों उदाहरणों में कथावस्तु की जो परिकल्पना है वह आलोचना का विषय अवश्य हो सकती है। यहाँ तक कि **स्वप्नवासवदत्ता** (जो अनेक दृष्टियों से सफल है) के अंतिम अंक में दिये गये मंच-निर्देशों से अनुमान होता है कि नायिका अपनी परिचारिका के रूप में **वासवदत्ता** को साथ लेकर मंच पर आती है, किंतु राजा **वासवदत्ता** को या तो देखता नहीं या पहचानता नहीं है। साफ ज़ाहिर है कि दोनों ही कल्पनाएँ बहुत असंभाव्य हैं। संभवतः यह कल्पना कर ली गयी है कि सामाजिकों के दृष्टिगोचर होते हुए भी वासवदत्ता की उपस्थिति यवनिका के प्रयोग द्वारा किसी प्रकार राजा से छिपायी गयी है, किंतु यह बात दर्शकों की कल्पना के लिए छोड़ दी गयी है।[1] यह कहीं अधिक सरल होता यदि आगे चल कर **वासवदत्ता** का अपने आप प्रवेश कराने के लिए किसी आधार की उद्भावना की गयी होती। दूसरी ओर, इस नाटक के पहले अंक में, अग्निकांड में **वासवदत्ता** और मंत्री की कल्पित मृत्यु के विषय में तथ्यों का युक्तिपूर्वक सफल प्रकाशन ब्रह्मचारी का उपयोग करके किया गया है, जो उसी समय आश्रम में पहुँचता है जब छद्मवेष में **यौगन्धरायण** और **वासवदत्ता**। उक्त दुर्घटना से खिन्न होकर उस स्थान को छोड़ने का कारण बताते हुए वह उस विपत्ति की कथा सुनाता है, साथ ही दुःखार्त राजा पर उस समाचार के प्रभाव का विस्तृत विवरण देता है। पाँचवें अंक में जिस प्रकार **वासवदत्ता** को राजा में **पद्मावती** की भ्रांति होती है वह बिल्कुल स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया

शब्द (दशरूप i. 60. टीका) समझने का कारण भास की कृतियों की पांडुलिपियों में इस शब्द का बारंबार प्रयोग है, प्रत्यक्षतः इसका प्रयोग स्तुति-वचन के रूपमें किया गया है.

१. तिर्यक् यवनिका के प्रयोग के आधार पर इस दृश्य की व्याख्या संभव है, परंतु इसका कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, मिलाकर देखिए—अ० १४ § १.

गया है, क्योंकि उसके शयन-कक्ष में मंद रोशनी की गयी है और **वासवदत्ता** समझती है कि उसकी स्वामिनी को नींद आगयी है जिससे उसको उठाने के लिए वह स्वभावतः अनिच्छुक है। **अभिषेकनाटक** के दूसरे अंक में, यह कल्पना करके कि सीता पर पहरा देने वाली राक्षसियाँ अपने स्थान पर निद्रा-मग्न है, किंचित् अग्राह्य युक्ति के द्वारा **हनूमान्** और **सीता** के कथोपकथन को संभव बनाया गया है।

समान घटना की पुनरावृत्ति में **भास** ने कुछ विशेष अभिरुचि दिखायी है। इस प्रकार **अविमारक** में हम देखते हैं कि नायक दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा करता है, तदनंतर नायिका भी उसी भावना से वैसी ही चेष्टा करती है, जिससे वह उसकी रक्षा करता है। पुनः **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** के उपसंहार में हमें नायिका की माँ के आत्मघात के प्रयत्न की कल्पना मिलती है, जो राजा की बुद्धिमानी से प्रतिरुद्ध होता है वह उसको बतलाता है कि पलायित युग्म का विवाह उनके वर्ण (क्षत्रिय) के सर्वथा अनुरूप है, और चित्रगत **उदयन** तथा **वासवदत्ता** के विवाह का अनुष्ठान होना चाहिए। मरते हुए **वाली** को **गंगा** आदि महानदियों, **उर्वशी** आदि अप्सराओं, और उसे ले जाने के लिए आते हुए सहस्र हंसों द्वारा खींचे जाने वाले वीर-वाही विमान का दर्शन होता है। **उरुभंग** में **दुर्योधन** को इसी प्रकार का दर्शन होता है, और आत्महत्या करने के लिए उद्यत **अविमारक** अपने पार्श्व में विद्याधर को देखता है, वह सोचता है कि यह उसी प्रकार का दर्शन है जो लोगों को अंतकाल में प्रायः हुआ करता है। पुनश्च, प्रस्तावनाओं में प्रायः एकरस युक्ति अपनायी गयी है जिसके द्वारा नेपथ्य से कोई शब्द सूत्रधार के प्रास्ताविक निवेदन में व्याघात करता है, जिससे वह कौशलपूर्ण संक्रमण के द्वारा वास्तविक नाट्य-अभिनय में सामाजिकों का अभिनिवेश कराने में समर्थ होता है।

५. भास की शैली

भास के नाटकों में कार्य की तीव्रता और ऋजुता उनकी शैली में भी प्रतिबिंबित है। किसी अन्य नाटककार की अपेक्षा उन्होंने पद्य का प्रयोग नाटक की प्रगति को अग्रसर करने के लिए अधिक किया है, न कि ऐसे वर्णनों के लिए जो नाटक में प्रत्यक्षतः सहायक होने की अपेक्षा कवित्वमय अधिक होते हैं। और, यह उनका वैशिष्ट्य है कि वे स्वच्छंदतापूर्वक एक ही श्लोक में कथनोपकथन का विनियोग करते हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती काल में विरल है। दूसरी ओर, वे एकालाप का प्रयोग करने के लिए प्रस्तुत हैं; **अविमारक** के तीसरे अंक का एकालाप कदाचित् **मृच्छकटिका** के शर्विलक के एकालाप का प्रेरणा-स्रोत है, जिसके रचयिता का भास की कृतियों से अवश्य ही घनिष्ठ परिचय रहा होगा।

भास की शैली पर प्रबलतम प्रभाव स्पष्ट रूप से **रामायण-महाभारत** का है, विशेष कर के **वाल्मीकि** का, जिनकी महती कृति ने उनके परवर्ती लेखकों पर अनिवार्य रूप से अपनी छाप अंकित की। यह प्रभाव केवल **रामायण-महाभारत** की विषयवस्तु पर आधारित नाटकों में ही नहीं दृष्टिगोचर होता अपितु उसकी अवधि भास के समस्त नाटकों तक है। इस प्रभाव का परिणाम सर्वथा शुभ हुआ है, नाटक की आवश्यकताओं ने **भास** को महाकाव्य-शैली के एक महादोष से बचा लिया, वह है तारतम्य का अभाव। **रामायण** में वंदिनी सीता के शोक का उनतीस उपमाओं द्वारा निदर्शन करने की छूट है, जब कि **अभिषेकनाटक** में नाटककार एक से ही संतुष्ट है। दूसरी ओर, वे अपनी विशिष्ट-पद-योजना की सापेक्ष सरलता और शब्दाडंबर की अतिशयता से मुक्ति के लिए उसके ऋणी हैं। शब्दाडंबर की प्रवृत्ति परवर्ती संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रबल हो गयी है। यह बात प्रत्यक्ष और स्पष्ट है कि लंबे समासों का प्रयोग नाटकोचित नहीं है। उसका अति-निर्वहण, जहाँ तक पद्यों का संबंध है, संस्कृत-नाटक को सुप्रबुद्ध सामाजिकों के लिए भी निश्चय ही दुर्बोध बना देता है। यह **भास** का महान् नाटकीय गुण है कि परवर्ती काल की अधिकांश नाटक-गत कविताओं की अपेक्षा उनकी उक्तियों को समझना कहीं अधिक सरल है। वस्तुतः उनमें वह प्रसन्नता है जो शास्त्रतः काव्य-शैली का एक गुण है, परंतु, सामान्य काव्य-लेखक काव्य-कला के प्रत्येक पक्ष के विषय में स्वलब्ध परिज्ञान के प्रदर्शन की उत्सुकता में इस गुण की नितांत उपेक्षा करता है। जहाँ तक हम **अश्वघोष** के नाटकों के स्वल्प खंडों के आधार पर निर्णय कर सकते हैं वह कवि **भास** से अधिक जटिल था—और असंदिग्ध रूप से अपने महाकाव्यों में, जो **कालिदास** की महाकाव्यात्मक और नाटकीय शैली के निर्माण में अत्यंत सहायक हुए।

हाँ, **भास** रंचमात्र भी लोककवि-जैसे नहीं हैं। वे काव्य-कला में सिद्धहस्त हैं। उनकी परिष्कृत बुद्धि और अभिरुचि ने नाटक में ऐसी कूट-युक्तियों को अपनाने से बचा लिया है जिनको दरबारी चरितकाव्य और अवकाश के समय पढ़े जाने के उद्देश्य से रचित प्रगीतों में छूट दी गयी है। इस प्रकार, छद्मवेष इंद्र को अन्यथा समझने और कवच देने से रोकते हुए शल्य के विरोध का **कर्ण** निराकरण करता है[1]:

---

१. कर्णभार, २२.

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥

'समय बीतने पर शिक्षा का क्षय हो जाता है; सुदृढ़ मूल वाले वृक्ष भी गिर पड़ते हैं; जलाशय का जल भी सूख जाता है; परंतु यज्ञ और दान स्थायी रहते हैं।' जब सीता को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है तब लक्ष्मण उद्गार प्रकट करते हैं—

विज्ञाय देव्याश्शौचं च श्रुत्वा चार्यस्य शासनम् ।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता बुद्धिर्दोलायते मम ॥[1]

'देवी की शुचिता को जानकर और आर्य (राम) की आज्ञा को सुनकर मेरी बुद्धि धर्म और स्नेह के बीच दोला की भाँति झूल रही है।' जब राम अभिषेक का आदेश मिलने पर अपने पिता के चरणों पर गिरते हैं, वे कहते हैं[2] :

समं बाष्पेण पतता तस्योपरि ममाप्यधः।
पितुर्मे क्लेदितौ पादौ ममापि क्लेदितं शिरः ॥

'मेरे अश्रुपात से पिता के चरण भीग गये, उनके अश्रुपात से मेरा शिर भीग गया।' जब देवकी बालक की रक्षा के लिए उसे वसुदेव के हवाले कर देने को विवश होती है तब उसके विषय में कहा गया है[3] :

हृदयेनेह तत्राङ्गैर्द्विधाभूतेव गच्छति ।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधा कृता ॥

'उसके दो भाग हो गये हैं; उसका हृदय यहाँ है, शरीर वहाँ जा रहा है, जैसे चंद्रमा की कला बादल और जल में विभाजित हो जाती है।' शत्रु-रूप राम के प्रति रावण की अवज्ञा ओज के साथ अभिव्यक्त हुई है[4] :

कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते ।
गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन निहन्यते ॥

'क्या मृग लंबी सटाओं वाले सिंह को नीचे गिरा सकता है? क्या गीदड़ शक्तिशाली मत्त हाथी का हनन कर सकता है?' 'चारुदत्त'[5] में अंधकार का सुंदर वर्णन है :

---

१. अभिषेकनाटक, vi. 21.
२. प्रतिमानाटक, i. 6.
३. बालचरित, i. 13.
४. अभिषेकनाटक, iii. 20.
५. i. 20.

सुलभशरणमाश्रयो भयानां वनगहनं तिमिरं च तुल्यमेव ।
उभयमपि हि रक्षतेऽन्धकारो जनयति यश्च भयानि यश्च भीतः ॥

'सुगमता से शरण देने वाले, किंतु भय के आश्रय, गहन वन और अंधकार एक समान हैं, क्योंकि अंधकार भयभीत और भयप्रद दोनों की समान रूप से रक्षा करता है।' सुभाषितावलि[1] में संकलित एक श्लोक कहीं अधिक सुंदर है :

कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं सुखप्रतिघातकं
लिखति दिवसं यातं यातं यमः किल मानिनि ।
वयसि तरुणे नैतद् युक्तं चले च समागमे
भवति कलहो यावत् तावद् वरं सुभगे रतम् ॥

'हे कठोरहृदये, आनंद में विघ्न डालने वाले क्रोध को छोड़ दो; हे मानिनि ! यम प्रत्येक बीते हुए दिन का हिसाब लिखता रहता है; इस नवयौवन में यह उचित नहीं है, क्योंकि संयोग क्षणिक है; इस कलह में समय नष्ट करने की अपेक्षा उसे संभोग में बिताना श्रेयस्कर है।'

सहज अलंकारों का प्रयोग भास ने स्वच्छंदता से किया है, और अनुप्रास में उन्होंने प्रायः विशेष अभिरुचि दिखायी है, यथा—सजलजलधर, सनीरनीरद, अथवा, कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव । उत्कट भावों की पर्याप्त और शक्तिमती अभिव्यंजना की शक्ति (जो स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिमा-नाटक में विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है) के उदाहरण अधिक रोचक हैं । इस प्रकार हमें क्रुद्ध भरत के द्वारा कैकेयी की रोषपूर्ण भर्त्सना मिलती है[2] :

वयमयशसा चीरेणार्यो नृपो गृहमृत्युना
प्रततरुदितैः कृत्स्नायोध्या मृगैः सह लक्ष्मणः ।
दयिततनयाः शोकेनाम्बाः स्नुषाध्वपरिश्रमै-
र्धिगिति वचसा चोग्रेणात्मा त्वया ननु योजिताः ॥

'क्या तुमने मुझे अपयश एवं अपमान से, मेरे महान् पिता को पत्नी के हाथों मृत्यु से, समस्त अयोध्या को अनंत रुदन से, लक्ष्मण को निर्वासन से, वात्सल्यमयी देवियों को शोक से, पुत्रवधू को कठोर यात्रा के परिश्रम से, और अपने को लज्जाजनक कर्म के धिक्कार से युक्त नहीं किया ?' राज्याभिषेक से अपवर्जित राम के संतोष के प्रति लक्ष्मण का विरोध समान रूप से प्रभावशाली है[3] :

---

१. v. 1619. २. प्रतिमानाटक, iii. 17. ३. वही, i. 18.

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दयां
स्वजननिभृतः सर्वोप्येवं मृदुः परिभूयते ।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम् ॥

'यदि तुम राजा के मोह को नहीं सह सकते तो धनुष उठाओ, दया मत दिखाओ। स्वजनों में छिपा हुआ प्रत्येक वलहीन इस प्रकार पराभूत हो जाता है। किंतु, यदि तुम्हें यह नहीं रुचता तो मुझे छोड़ दो, मैंने इस लोक को उस युवती से रहित कर देने का निश्चय कर लिया है जिसके द्वारा हम छले गये हैं।' **भरत** की भक्ति पर्याप्त सुंदरता से अभिव्यक्त हुई है[1] :

तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रियः ।
नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः ॥

'मैं वहाँ जाऊँगा जहाँ **लक्ष्मण** के प्रिय (राम) रहते हैं; उनके विना अयोध्या अयोध्या नहीं है; जहाँ **राघव** हैं, वहाँ **अयोध्या** है।' **विराट** के शब्दों में वीर-भाव का उच्छ्वास है[2] :

ताडितस्य हि योधस्य श्लाघनीयेन कर्मणा ।
अकालान्तरिता पूजा नाशयत्येव वेदनाम् ॥

'वीरता का कार्य करते हुए आहत योद्धा की वेदना को तात्कालिक यश नष्ट कर देता है।' **अभिमन्यु** की मृत्यु पर **धृतराष्ट्र** के शोक में पुरुपोचित रोप और करुणा है[3] :

बहूनां समवेतानामेकस्मिन्निर्घृणात्मनाम् ।
बाले पुत्रे प्रहरता कथं न पतिता भुजाः ॥

'उस वालक पर, जो ऐसे समूह के विरुद्ध अकेला था, प्रहार करने के लिए इन निर्दय पुरुपों के हाथ कैसे उठे ?' किसी साध्य की सिद्धि के लिए यत्न की आवश्यकता **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**[4] में सम्यक् रूप से व्यक्त की गयी है, जिसका **अश्वघोष**[5] में अद्भुत सादृश्य मिलता है :

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति ।

---

१. प्रतिमा नाटक, iii.24. २. पञ्चरात्र, ii. 28.

३. दूतघटोत्कच, 17. ४. i. 18.

५. प्रतिमानाटक p. xi. (यहां पर डा० कीथ ने अश्वघोष की रचना का संदर्भ नहीं दिया).

सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥

'लकड़ी को रगड़ने से आग प्रकट होती है; खोदी जाने पर पृथ्वी जल देती है; ऐसा कुछ नही है जिसे प्रयत्न करके न पाया जा सके; उचित ढंग से किया गया यत्न फलदायक होता ही है।' एक गम्भीर सत्य पर, कृतज्ञता की दुर्लभता पर, स्वप्नवासवदत्ता में वल दिया गया है[1] :

गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः।
कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥

'असाधारण सद्गुण प्रदर्शित करने वाले तथा नित्य परोपकार करने वाले वहुत मिलते हैं, परंतु ऐसे विरले ही हैं जो इन कार्यों के प्रति कृतज्ञ होते हैं।' अविमारक में राजधर्म के महद्भार का प्रभावशाली वर्णन किया गया है[2] :

धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्यं
प्रच्छाद्यौ रागद्वेषौ मृदुपुरुषगणौ कालयोगेन कार्यौ ।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा रणशिरसि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः॥

'सवसे पहले धर्म का विचार करना चाहिए, फिर मंत्रियों के विचार-क्रम का अनुसरण करना चाहिए; राग-द्वेप को गुप्त रखना चाहिए; कालोचितता के अनुसार दया और कठोरता का प्रयोग करना चाहिए; गुप्तचरों की सहायता से लोगों की मनोवृत्ति तथा पड़ोसी राजाओं की चाल-ढाल का निश्चय करना चाहिए, अपने जीवन की यत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिए, परंतु युद्ध में आगे होने पर उसका ध्यान छोड़ देना चाहिए।' मंत्री का पद कुछ स्पृहणीय नहीं है[3] :

प्रसिद्धौ कार्याणां प्रवदति जनः पार्थिववलं
विपत्तौ विस्पष्टं सचिवमतिदोपं जनयति ।
अमात्या इत्युक्ताः श्रुतिसुखमुदारं नृपतिभिः
सुसूक्ष्मं दण्ड्यन्ते मतिवलविदग्धाः कुपुरुषाः ॥

'यदि नीति सफल होती है, लोग राजा के वल का जयजयकार करते हैं; यदि विपत्ति आती है, मंत्री की अक्षमता को दोपी ठहराया जाता है; अपने वुद्धि-वल से फूले हुए वेचारे मूर्ख 'अमात्य' की ऊँची तथा सुनने में मधुर उपाधि प्राप्त करते हैं और असफलता के फलस्वरूप तीक्ष्ण दंड पाते हैं।'

---

१. iv. 9. २. i. 12. ३. अविमारक, i. 5.

अकृत्रिम भाषा में विशिष्ट भावनाओं का अभिव्यंजन **भास** को प्रिय है, जो परवर्ती कवियों की समझ से अलंकारहीनता है। **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** में पुत्री के विवाह के विषय में माँ की भावनाओं की अभिव्यक्ति वे इस प्रकार करते हैं[1] :

अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः ।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः ॥

'कन्या-प्रदान न किया जाए तो लज्जा की बात है; किया जाए तो व्यथा सहनी पड़ती है; धर्म और स्नेह के बीच माताएँ अत्यंत दुःख पाती हैं।' आचार्य के उत्तरदायित्व का निरूपण **द्रोण** के द्वारा **पञ्चरात्र** में किया गया है[2]—

अतीत्य बन्धूनवलङ्घ्य मित्रा-
ण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः ।
बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातु-
र्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः ॥

'शिष्य का दोष बंधुओं तथा मित्रों को लाँघकर आचार्य पर ठहरता है, क्योंकि बालक को गुरु के हाथों में सौंपना पिता या माता का अपराध नहीं है।' **भास** की व्यंग्य-चित्रण की शक्ति **स्वप्नवासवदत्ता**[3] में विशेषरूप से दर्शनीय है जहाँ **वासवदत्ता** को, माला गूंथने की कला में प्रवीण होने के कारण, नयी नायिका के विवाह के लिए माला गूंथनी पड़ती है। **रावण** सिरों को दिखलाता है जिनको वह **राम** एवं **लक्ष्मण** के **सिरों** के रूप में सीता के समक्ष प्रस्तुत करता है, और समाचार सुनता है कि उसका पुत्र युद्ध में उन्हीं दोनों के द्वारा मार डाला गया है जिन्हें वह मृतवत् दिखा रहा है[4]। **वाली** के प्रताप और ध्वंस का परस्पर-विरोध उसके पुत्र **अंगद** के विलाप में प्रभावोत्पादक है[5] :

अतिबलसुखशाली पूर्वमासीर्हरीन्द्रः
क्षितितलपरिवर्ती क्षीणसर्वाङ्गचेष्टः ।

'वानरेंद्र के रूप में पहले तुम्हारी शय्या बड़ी कोमल थी, अब तुम भूमि पर लेटे हुए हो, जिसकी सभी चेष्टाएँ मृत्युदशा में शांत हो गयी हैं।' **दुर्योधन** का ध्वंस कम सफलता के साथ नहीं वर्णित है।[6]

भास की एक विशेषता सरस लोकोक्तियों के प्रति उनकी अभिरुचि है। 'मधुर आकृति वाले को सभी कुछ शोभा देता है', 'आपत्ति अकेली नहीं आती

---

१. ii. 7. २. i. 18. ३. iii. p. 25.
४. अभिषेकनाटक v. p. 56. ५. वही, i. p. 10. ६. उरुभङ्ग, 29.

'प्रिय के द्वारा निवेदित समाचार अधिक प्रिय प्रतीत होता है (पिअणिवेदिअमाणाणि पिआणि पिअदराणि होन्ति)', 'मनुष्य की नियति उतनी ही चंचल है जितनी हाथी की सूंड़', 'सौभाग्य का पथ विघ्न-संकुल होता है', 'एक तुच्छ कारण महान् अनर्थों की सृष्टि करता है', ये लोकोक्तियाँ केवल **अविमारक** में ही पायी जाती हैं। एक वार अभिव्यक्त की गयी कल्पना **भास** को मुग्ध कर लेती है और वे वारंवार उन्हीं शब्दों में उसकी पुनरावृत्ति करते हैं। यह तथ्य उनके नाटकों की वास्तविकता का निश्चय करने में संयोगवश सहायक होता है। कतिपय उक्तियों में उनकी विशेष अभिरुचि है—सामान्यतः प्रयुक्त '**अलम्**' (जिसका वे भी प्रयोग करते हैं) के स्थान पर करणकारक के साथ '**मा**' का प्रसामान्य प्रयोग; श्लोक का संनिवेश करते हुए '**अहो तु खलु**'; प्रश्न में '**किं नु खलु**'; स्वीकृति सूचित करने के लिए '**आम**' और '**बाढम्**'; कुशलप्रश्न की उक्ति के रूप में '**सुखमार्यस्य**'। विशेषतः वे '**वर**' शब्द के प्रेमी हैं जिसका प्रयोग कभी-कभी विशेष्य-संज्ञा के पहले, किंतु प्रायः बाद में, किया गया है; एक ही श्लोक में दो-तीन वार तक इसका प्रयोग हुआ है।

भास की शैली में विशदता और प्रसाद के साथ ही समन्विति और माधुर्य है। इसका सुंदरतम प्रमाण यह है कि उनके श्लोकों की अनुकृतियाँ **कालिदास** की रचनाओं में असंदिग्ध रूप से देखी जा सकती है। इस प्रकार **कालिदास** ने अपनी कार्यान्वित गुणग्राहकता से नाटककार भास के गुणों को प्रमाणित किया है, जिनकी प्रतिष्ठित ख्याति से उनकी उदीयमाना प्रतिभा को संघर्ष करना पड़ा था।

नाटकों की भाषा

भास की संस्कृत[१] वैयाकरणों के नियमानुसार सामान्यतः शुद्ध है, परंतु इतिहासकाव्यों के अनियमित प्रयोगों की यदा-कदा आवृत्ति से उनकी इतिहास-काव्य-निर्भरता सूचित होती है। ये प्रयोग प्रायः सर्वत्र छंद के आग्रहवश किये गये हैं। महाकाव्यों में भी संस्कृत-व्याकरण के अतिक्रमण का यही कारण है। इस प्रकार हमें शास्त्र-विरुद्ध संधि-रूप **पुत्रेति** तथा **अवन्त्याधिपतेः**, और परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद के अनेक रूप (**गमिष्ये, गर्जसे, द्रक्ष्यते, पृच्छसे, स्मश्यते, रुह्यते, श्रोष्यते**) मिलते हैं। अन्य उदाहरणों में आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद है—**आपृच्छ, उपलप्स्यति, परिष्वज**। **स्रवति** तथा **वीजन्ति** और **विमोक्तुकाम** में साधारण एवं णिजंत क्रियाओं की गड़वड़ी है। **रुदन्ती** और **गृह्य** रूपों के अनेक

---

१. देखिए—प्रतिमानाटक, App. i; V. S. Sukhtankar, JAOS. xli. 118

उदाहरण महाकाव्यों में मिलते हैं। अनियमित समास हैं—पद्य में **सर्वराज्ञः**, और गद्य में **काशिराज्ञे**। **व्यूढोरस्** तथा **तुल्यधर्म** पद्य में मिलते हैं। एक ही खंड-वाक्य में **चेत्** और **यदि** दोनों का प्रयोग पद्य में तथा गद्य में भी मिलता है जैसा कि इतिहासकाव्य में। साधारण क्रिया के अर्थ में प्रेरणार्थक के आवृत्तिलोपी रूप **प्रत्याययति**, प्रेरणार्थक रूप में **समाश्वसितुम्**, और पुल्लिग संज्ञा के रूप में **युध** को हम निरी अशुद्धियाँ कह सकते हैं। अन्य अनियमितताएँ भी प्रतीत होती हैं, परंतु वे या तो व्यवहार-सिद्ध हैं अथवा **पाणिनीय** शिक्षा की विभिन्न व्याख्याओं के निर्देश से उनका समाधान संभव है।

भास के नाटकों में पायी जाने वाली प्राकृतें[1] सामान्यतः **शौरसेनी** हैं, जो सभी नाटकों में उपलब्ध है, केवल **दूतवाक्य** में नहीं, जिसमें प्राकृत है ही नहीं। **मागधी** दो भिन्न रूपों में पायी जाती है; और वह जिसे '**अर्धमागधी**' की संज्ञा दी जा सकती है। **अश्वघोष** और **कालिदास** की तुलना में उनकी भाषा का प्रभेदक लक्षण उसका संक्रमणकालीन रूप है। **अश्वघोष** अघोष व्यंजनों का (एक दृष्टांत को छोड़कर) कभी घोषीकरण नहीं करते, परंतु **भास** में **ट** और **त** दोनों **ड** और **द** में वदल जाते हैं। **अश्वघोष** व्यंजनों का कभी लोप नहीं करते, परंतु **भास** में प्रायः स्वरमध्यस्थ **क, ग, च, ज, त, द, प, ब, व**, और **य** के लोप के उदाहरण पाये जाते हैं। यह प्रवृत्ति **कालिदास** में कम है। **अश्वघोष** के प्रयोग के विपरीत, **य** का प्रायः **ज** में परिवर्तन हो जाता है। आदिम और मध्यम **न** का **ण** में परिवर्तन नियमित है। महाप्राण **ख, घ, थ, ध, फ** तथा **भ** का **ह** शेष रह जाता है, जैसाकि परवर्ती काल में हुआ है, परंतु **अश्वघोष** में कभी नहीं।

संयुक्त व्यंजनों के विषय में हम देखते हैं कि **ज्ञ** का **ज्ज** अथवा **ण्ण** होता है, दूसरा रूप कदाचित् भूल से है; **अश्वघोष** में केवल **ञ्ञ** है, **कालिदास** में **ण्ण**। **न्य** और **ण्य** के बदले **भास** (**अश्वघोष** के **ञ्ञ** के विपरीत) **ण्ण** प्रयुक्त करते हैं। ऐसा व्यंजन-लोप जहाँ बदले में स्वर का दीर्घीभाव हो (जैसे **दीसदि** में) **अश्वघोष** में नहीं प्राप्त होता, जब कि दीर्घीभाव के बिना व्यंजन-लोप दो बार पाया जाता है। ऐसा लोप **भास** में बहुशः मिलता है और **कालिदास** में नियमित रूप से। एक-व्यंजन-सहित दीर्घ स्वर के स्थानापन्न द्वित्व-व्यंजन-सहित ह्रस्व स्वर का मिलता-जुलता प्रयोग **अश्वघोष** में नहीं पाया जाता, परंतु **भास** के **एव्व, एव्वं**,

---

१. W. Printz, Bhāsa's Prākrit (1921). दक्षिण भारत की उत्तरकाली पांडुलिपियों में रक्षित प्राचीनतर रूपों का साक्ष्य (Barnett, JRAS. 1921, p. 589) रोचक है, परंतु इससे इन रूपों के महत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं आता।

जोव्वन, देव्व, एक्क में मिलता है। दूसरी ओर कालिदास के ज्ज के स्थान पर, अश्वघोष की भाँति वे र्य के लिए य्य का प्रयोग करते हैं। पश्चात्कालीन मेत्त के लिए मत्त सर्वत्र पाया जाता है, और पुरुस में संप्रसारित स्वर उ है, इ नहीं तथा पुरुव का प्रयोग नियमित रूप से मिलता है।

विभक्ति-युक्त रूपों में हमें, अकारांत प्रातिपदिकों के कर्ता-कारक और कर्म-कारक के बहुवचन में, अश्वघोष में आनि तथा भास में आणि मिलता है, जबकि परवर्ती काल में आणि एवं आइं दोनों सम्मत हैं। कर्म-कारक के बहुवचन पुंल्लिग में, अशोक के शिलालेखों[1] की अर्ध-मागधी में प्रयुक्त आनि के सदृश, आणि पाया जाता है; और अधिकरण-कारक के एकवचन स्त्रीलिंग में आअं है, परवर्ती काल का-सा आए नहीं। परवर्ती अत्ताणअं के लिए अत्ताणं मिलता है। 'हम' के लिए अश्वघोष वयं का प्रयोग करते हैं, कालिदास अम्हे का; भास दोनों का तथा वअं का। सम्बन्ध-कारक के बहुवचन में भास अम्हाअं तथा परवर्ती काल के एकमात्र रूप अम्हाणं दोनों का व्यवहार करते हैं, जबकि अश्वघोष असंदिग्ध रूप से अम्हाकं का प्रयोग करते हैं। परवर्ती कीस के लिए किस्स रखा गया है, और कोच्चि (कच्चिद्) आगे चलकर लुप्त हो गया है। दर्श् धातु के स्थानापन्न दस्स एवं दंस हैं; ग्रह् का रूप, परवर्ती गेण्हदि के विपरीत, गण्हदि है, जो अश्वघोष में भी पाया जाता है। कदुअ और गदुअ के स्थान पर प्राचीनतर रूप करिअ एवं गच्छिअ अथवा गमिअ पाये जाते हैं, परंतु अंतिम रूप केवल एक बार आया है। अलम् के अर्थ में मा का प्रयोग कृदंत के साथ किया गया है।

इनमें से अनेक विशेषताएँ मागधी में भी परिलक्षित होती हैं, जो किंचित् भिन्न दो रूपों में दृष्टिगोचर होती हैं। एक रूप प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्त में है, दूसरा बालचरित और पञ्चरात्र में। पूर्वोक्त दो के श और ए के लिए ष और ओ मिलते हैं। अश्वघोष की भाँति भास में उन वैयाकरणों के नियमों के अनुसरण का संकेत नहीं मिलता, जिनके अनुसार संस्कृत के ष्ठ या ष्ट का स्ट में, च्छ का श्च में, क्ष का स्क या ह्क में परिवर्तन होना चाहिए। 'मैं' के लिए अहके मिलता है, जो अश्वघोष के अहकम् और परवर्ती हगे के बीच की मध्यावस्था है। न्य ण्ण में परिणत होता है, ञ्ञ में नहीं, और व्यंजन-लोप सूचित करने के लिए य का प्रयोग नहीं किया गया है।

कर्णभार में छद्मवेषी इंद्र के कथन ही ऐसे स्थल हैं जो कुछ अर्धमागधी-जैसे होने का दावा कर सकते हैं, जहाँ उसके विशिष्ट लक्षण (र, स तथा ए का प्रयोग)

---

१. पालि में आनि, जैन धर्मग्रंथों की अर्धमागधी में आणि; Lüders, SBAW. 1913, pp. 999ff.

पाये जाते हैं। **बालचरित** के **मुष्टिक** और **चाणूर** की उक्तियों में ल का प्रयोग और **अम्मि** में सप्तमी विभक्ति है। केवल एक स्थल **पञ्चरात्र** में **मागधी**-अपभ्रंश का संकेत करता है, परंतु वह कदाचित् भ्रष्ट है।

७. नाटकों के छंद

रामायण-महाभारत पर **भास** की निर्भरता का यह वैशिष्ट्य है कि उनके नाटकों में **श्लोक** का अपेक्षाकृत बहुत अधिक प्रयोग दिखायी देता है, १०९२ पद्यों में से ४३६। कोई परवर्ती लेखक (अपने **राम**-विषयक नाटकों में **भवभूति** को छोड़कर) इस बाहुल्य तक नहीं पहुँचता। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह विशेषता इतिहासकाव्य-विषयक नाटकों तक सीमित नहीं है, क्योंकि **स्वप्नवासवदत्ता** के ५७ पद्यों में से २६ **श्लोक** हैं। यह सत्य है कि **मध्यमव्यायोग** या **पञ्चराज**-जैसे कुछ रूपकों में **श्लोकों** का ताँता नाट्य-कला पर **भास** का अपूर्ण अधिकार सूचित करता है, परंतु **श्लोक** के प्रति उनकी सामान्य अभिरुचि स्पष्टतया उनकी सरलता और तीव्र गति लाने की इच्छा का परिणाम है। आगे चलकर विस्तृत वर्णनों के प्रति झुकाव ही शब्दाडंबरपूर्ण तथा जटिल छंदों के प्रयोग को बढ़ावा देता है। **श्लोकों** की नियमानुसार रचना ध्यान देने योग्य है; द्वितीय पाद में दो बार लघु-गुरु(⏑ – ⏑ –)के विन्यास का नियम से निर्वाह किया गया है; **विपुला**[1] का प्रयोग विरल है, चतुर्थ **विपुला** का प्रयोग बिल्कुल नहीं है, द्वितीय **विपुला** यदा-कदा प्रयुक्त है, प्रथम **विपुला** का बारंबार प्रयोग तृतीय विपुला का दूना है, और पूर्ववर्ती चरण कहीं-कहीं ही[2] ⏑ – ⏑ – है। विषम वृत्तों के परिमित प्रयोग का असंदिग्ध कारण लगातार प्रयुक्त **श्लोकों** की अपेक्षाकृत अल्प संख्या है, जिसके कारण छंद-परिवर्तन की रुचि मंद हो गयी है।

अधिक जटिल छंदों (जिनमें प्रत्येक अक्षर की मात्रा नियत है) में से **वसंत-तिलक** **भास** को अतिप्रिय है, जिसका प्रयोग १७९ बार हुआ है, जबकि **उपजाति** का १२१ बार। उनके बाद आते हैं—**शार्दूलविक्रीडित** (९२), **मालिनी** (७२), ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – –। ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – – इस योजना के अनुसार **पुष्पिताग्रा** (६६), **वंशस्था**

---

१. जिन पद्यों में अंतिम चार अक्षर इस प्रकार नहीं हैं : ⏑ – – ⏓ ; उदाहरणार्थ, (१) ⏑ ⏑ ⏑ ⏓ ; (२) – ⏑ ⏑ ⏓ ; (३) – – – ⏓ ; (४) – ⏑ – ⏓ .

२. मिलाकर देखिए—Jacobi, IS. xvii. 443f.. V.S. Sukhtankar JOAS xli. 107ff.

(३५), **शालिनी** (२) **शिखरिणी** (१९), और **प्रहर्षिणी** (१७)। अन्य छंदों का प्रयोग यदा-कदा ही हुआ है। उनके अंतर्गत **स्रग्धरा, हारिणी, वैश्वदेवी**[1], **द्रुतविलंबित**[2], **पृथ्वी**[3] और **भुजंगप्रयात**[4] हैं, जबकि **सुवदना** का प्रयोग चार बार हुआ है। एक उदाहरण **उपगीति** का है, जिसके प्रथम और तृतीय पाद में १२ तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में १५ मात्राएँ हैं, और एक **वैतालीय** का, जिसके विषम एवं सम चरणों में क्रमशः १४ और १६ मात्राएँ हैं। एक उदाहरण **दंडक** वृत्त के संक्षिप्ततम प्रकार का भी है, जिसमें दो नगण के अनंतर सात रगण हैं; जब कि एक संक्षिप्ततर छंद भी है, जिसमें छः रगण हैं। **आर्या** की विरलता ध्यान देने योग्य है। एक **उपगीति** (जो प्राकृत में है) के अतिरिक्त केवल ग्यारह **आर्याएँ** हैं, जिनमें से पाँच प्राकृत में हैं। **कालिदास** द्वारा प्रयुक्त **आर्या** की बहुलता से मिलान कीजिए— **विक्रमोर्वशी** में १६३ में से ३१ हैं, और **मालविकाग्निमित्र** में ९६ में से ३५।

सामान्यतया संस्कृत-छंदःशास्त्र के नियमों का निष्ठा से पालन किया गया है। पादों के बीच में एक स्थल पर क्रमभंग है और एक बार संधि। **नियती** एवं **मौली** में, तथा **अनूकर्ष** में, दीर्घीकरण कदाचित् छंद-संबंधी है। श्लोकों में घिसेपिटे उद्धरणों के प्रति विशेष अभिरुचि दिखायी देती है, यथा—**अचिरेणैव कालेन, प्रसादं कर्तुमर्हसि** और **कम्पयन्निव मेदिनीम्**। विभिन्न वक्ताओं के बीच अथवा किसी-न-किसी प्रकार के व्याघात से पद्यों का खंडशः प्रयोग असाधारण रूप से बहुत बार हुआ है।

८. भास और कालिदास

आपाततः इस बात की संभावना है कि **कालिदास** पर इतने यशस्वी और विविध उपलब्धियों वाले पूर्ववर्ती का अवश्य ही प्रबल प्रभाव पड़ा होगा। दोनों लेखकों[5] में पायी जाने वाली समान-संघटनाओं से यह सम्भावना निश्चय में बदल जाती है। हाँ, **कालिदास**-जैसे प्रतिभाशाली लेखक के द्वारा गृहीत वस्तु अनि-

---

१. – – – – –, – ᴗ – – ᴗ – – आगे चलकर आभिजात्य रूपकों में से केवल 'मृच्छकटिका' में.

२. ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ –.

३. ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ –, ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – – ᴗ –.

४. ᴗ – – ᴗ – – ᴗ – – ᴗ – – आगे चलकर सबसे पहले 'चैतन्य-चन्द्रोदय' में.

५. टी० गणपति शास्त्री, प्रतिमानाटक, pp. 1ff.

वार्यतः रूपांतरित हो गयी है, और परिवर्तन के समय सामान्यतः सुधार हो गया है। इस तथ्य के कारण उनकी ऋणिता का निश्चित प्रमाण असंभव है। परंतु, जो कोई भी अर्थ-ग्रहण के साहित्यिक साक्ष्य को आँकने में अभ्यस्त है, उसके मन में विश्वास उत्पन्न करने के लिए उपलब्ध साक्ष्य पर्याप्त है।

शकुन्तला के पहले अंक में नायिका आश्रम-कन्या के रूप में अपनी स्थिति के अनुरूप सादे वल्कल-वस्त्र पहने हुए है, राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध है : **किमिव हि मधुराणाम् मण्डनं नाकृतीनाम्**, 'क्योंकि, कौन-सी वस्तु सुंदर आकृति वालों की शोभा-वृद्धि नहीं करती ?'—वह पूछता है, और उपमा द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करता है।[1] इस स्मरणीय कल्पना का बीज **प्रतिमानाटक** के पहले अंक में पाया जाता है, जहाँ परिहासवश वल्कल-वस्त्र से मंडित सीता चेटी की प्रज्ञा को प्रबुद्ध करती हैं : **सव्वसोहणीअं सुरूवं णाम**।[2] यहाँ पर उलटा संबंध स्थापित करना अप्रामाणिक है; **कालिदास** का **भास** द्वारा अनुकरण अयोग्य और अरुचिकर होगा, जबकि **कालिदास** द्वारा मूल वस्तु का सुधार युक्त एवं कौशलपूर्ण है। **शकुन्तला** के उसी अंक में नायिका तपश्चर्या-सी करती हुई वाटिका को सींचती है, इस प्रसंग की निबंधना से अर्थग्रहण का तथ्य सिद्ध हो जाता है। यह कल्पना **प्रतिमानाटक** के पाँचवें अंक में एक बिल्कुल समान स्थल पर पायी जाती है। **भास** ने उसे सह्य बतलाया है, और अर्थांतरन्यास[3] के शास्त्रीय रूप में दृष्टांत उपस्थित करके उसका निदर्शन किया है। इसके विपरीत **कालिदास**[4] ने अधिक उग्रता से निंदा की है, और शास्त्रीय दृष्टि से निदर्शना अलंकार का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि उन्होंने उक्त कल्पना में जान-बूझकर परिवर्तन किया है। **प्रतिमानटक**[5] के उसी अंक में हम देखते हैं कि **राम सीता** को पुत्रकृतक मृगों एवं वृक्षों से, विंध्याचल से, तथा सखी लताओं से विदा माँगने का आदेश करते हैं; आश्रम से **शकुन्तला** की विदाई पर[6] वृक्ष, मृग तथा लताएँ उसकी विदाई के शोक में भाग लेती है; **प्रतिमानाटक** में उपलब्ध '**पुत्रकृतक**' शब्द तो मृग के लिए स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है। फिर नाटक के सातवें अंक में **सीता** को मृगों की **भरत** के प्रति आशंका का स्मरण दिलाया गया है[7], उसी प्रकार **शकुन्तला** मृगों की **दुष्यंत** के प्रति आशंका का वर्णन करती है।[8] **शकुन्तला** के आरंभ के दृश्य का (जिसमें राजा **अनसूया** को विश्वास दिलाता है कि तुम्हारी स्वागत-वाणी ही

---

१. i. 17. २. p. 7.
३. v. 5. ४. i. 16. ५. v. 11. ६. vi. 8, 11, 13.
७. p. 107. ८. v.

पर्याप्त आतिथ्य है—**भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्**) सादृश्य **स्वप्न-वासवदत्ता** के पहले अंक में मिलता है, जहाँ पद्मावती[1] का तापसी द्वारा स्वागत किया जाता है, और वह उसके संमान-सूचक वचनों के लिए उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती है। **भास** के नाटक में सेनापति को दी गयी राजाज्ञा (**शकुन्तला** में) तपोवन को हलचल से वचाने के लिए कंचुकी द्वारा भृत्य को दिये गये निर्देश के समान है। इस प्रकार यह सादृश्य पूर्ण होता है। **स्वप्नवासवदत्ता** के दूसरे अंक का दृश्य (जिसमें **पद्मावती** और छद्मवेशिनी **वासवदत्ता** की क्रीड़ा के समय **पद्मावती** के आसन्न विवाह का उल्लेख किया गया है) भी **शकुन्तला** के पहले अंक में शकुन्तला के साथ उसकी सखियों के वार्तालाप के समान है। दोनों ही नाटकों के छठे अंक में हमें समरूप निरूपण मिलता है—एक में उदयन द्वारा खोयी गयी वीणा का[2], और दूसरे में **शकुन्तला** द्वारा खोयी गयी अँगूठी का।[3] जिन पद्यों में इन निरपराध पदार्थों पर निंदापूर्ण आक्षेप किये गये हैं वे भावना और अभिरुचि की दृष्टि से समान हैं।

भास के प्रभाव के अन्य संकेत भी पाये जाते हैं। **शकुन्तला** में नायिका के कष्टों का कारण **दुर्वासा** का शाप है, उस शाप के अभिप्राय से **अविमारक** में चंडभार्गव के शाप का अनुमान होता है जो नायक की अपकृष्ट स्थिति का हेतु है। **शकुन्तला** में प्रेमियों का पुनर्मिलन **मारीच** ऋषि के आश्रम में होता है, तथा **अविमारक** में वे **नारद** के स्थान पर मिलते है। दोनों कवियों की अनेक उक्तियों में भी अस्पष्ट समानता है, किंतु ऐसे साक्ष्य पर विशेष वल देना बुद्धि-संगत नहीं। परंतु, अर्थ-ग्रहण के विषय में ऊपर दिया गया अधिक निश्चित प्रमाण अकाट्य है, और यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्रोफ़ेसर हिलब्राण्ड[4] (Hillebrandt) ने उस पर संदेह किया है, विशेषकर ऐसी दशा में जवकि **कालिदास** ने **भास** के यश को स्वयं मान्यता दी है, और **वाण** ने उसे फिर से दुहराया है। सवसे पक्का तर्क जो **कालिदास** द्वारा **भास** से वस्तु-ग्रहण के विरुद्ध प्रस्तुत किया जा सकता है वह यह है कि अपने वर्तमान रूप में **कालिदास** के नाटक **भास** के नाटकों में पालित प्रस्तावना-संवंधी नियम से मेल खाते नहीं प्रतीत होते। **भास** की कृतियों में सूत्रधार नांदी (जिसका पाठ नही दिया गया है) के अंत में मंच पर आता है, और श्लोक का पाठ करता है जो प्रत्यक्षतः शास्त्रीय नांदी नहीं है, किंतु उसी

१. डा० कीथ ने 'वासवदत्ता' लिखा है, 'पद्मावती' होना चाहिए.

२. vi. 1, 2. ३. vi. 11, 13.

४. कालिदास, p. 103.

प्रकार का (आशीर्वचन से युक्त) है। **कालिदास** की कृतियों में पहला पद्य नांदी है, और उसकी समाप्ति पर सूत्रधार कथोपकथन से नाटक का आरंभ करता है। परंतु **कालिदास** के युग की यथार्थ पद्धति की जानकारी के विषय में हम हस्तलेखों पर विश्वास नहीं कर सकते, क्योंकि हमें पता है कि **विक्रमोर्वशी** के बारे में पुराने हस्तलेखों ने उसके प्रथम पद्य को नांदी के रूप में नहीं स्वीकार किया, और इसलिए उस रूपक को **भास** द्वारा प्रभावित रूप में प्रदर्शित किया। अन्य रूपकों के दाक्षिणात्य हस्तलेखों में कभी-कभी उसी रीति का अनुसरण किया गया है। अतएव, यह मानना असंभव है कि **कालिदास** ने **भास** की पद्धति को अस्वीकार किया। उन तथ्यों को किसी तर्क का आधार बनाना असंगत है।

: ५ :

कालिदास के पूर्वगामी और शूद्रक

१. कालिदास के पूर्वगामी

मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में कालिदास ने अपने पूर्वगामी नाटककारों के रूप में केवल भास का ही नहीं, अपितु सौमिल तथा कविपुत्र का—संभवतः कविपुत्रों का—उल्लेख किया है। सौमिल नाम से सूचित होता है कि उनका जन्मस्थान महाराष्ट्र था। राजशेखर ने भास और एक अन्य कवि रामिल के साथ सौमिल का उल्लेख किया है। पुनश्च, उसी आप्तवक्ता का कथन है कि रामिल और सौमिल ने शूद्रककथा की रचना की, जिसकी तुलना अर्धनारीश्वररूप शिव से की गयी है, जिसमें वे अपनी अर्धांगिनी से संयुक्त हैं, यह कदाचित् कथा में निबद्ध वीर और शृंगार रसों के मिश्रण का संकेत है। शार्ङ्गधरपद्धति में उनके नाम से एक मनोहर पद्य उद्धृत है—[1]

> सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
> किंचिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः।
> आ ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैरारब्धकोलाहले
> नूनं साहसिकेन चूतमुकुले दृष्टिः समारोपिता ॥

'यदि वह रोगी होता तो दुबला होता; घायल होता तो रक्त निकलता; सर्प आदि ने काटा होता तो लार बहती; इन सबका कोई चिह्न यहाँ नहीं है; तो फिर यह बेचारा पथिक कैसे मर गया ? ओह ! समझ गया। मधुलोलुप भौंरों के गुंजार करने पर इस साहसी ने आम के मुकुल पर दृष्टिपात किया।' वसंत प्रेमियों के मिलन का समय है; अपनी प्रेयसी से दूर पथिक उसका स्मरण करके निराश होकर मर जाता है।

कविपुत्र, जो सुभाषितावलि[2] में उनके नाम से उद्धृत एक पद्य के अनुसार कविद्वय हैं, सहयोगी भी प्रतीत होते हैं। सोमिल-रामिल के साथ यह सादृश्य निश्चित रूप से विलक्षण है, क्योंकि परवर्ती काल में इस प्रकार का सहयोग विरल दिखायी देता है। उनका पद्य सुंदर है—

---

१ cxxxiii, 40.

२ v. 2227.

भ्रूचातुर्यं कुञ्चितान्ताः कटाक्षाः
स्निग्धा हावा लज्जितान्ताश्च हासाः ।
लीलामंदं प्रस्थितं च स्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणमायुधं च ॥

'भृकुटि-विलास, नयनों के कोनों को संकुचित करने वाले कटाक्ष, मधुर हाव, लीलायुक्त मंद-मंद प्रस्थान और फिर रुक जाना : ये नारियों के भूषण तथा आयुध हैं ।'

कालिदास द्वारा मान्यता प्राप्त करने वाले ये कवि निश्चय ही महती प्रशंसा के योग्य रहे होंगे । यह आश्चर्य की बात है कि उनके अवशेष चिह्न इतने अल्प हैं । किंतु उस कवि (**कालिदास**) की ख्याति ने **भास** को छोड़कर उन सब कवियों के यश को आच्छादित कर लिया ।

मृच्छकटिका का कर्तृत्व और समय

भास के **चारुदत्त** की उपलब्धि से **मृच्छकटिका** के रचना-काल पर अप्रत्याशित प्रकाश पड़ा है, परंतु फिर भी यह बात संदेहास्पद है कि उसके रचयिता को **कालिदास** का पूर्ववर्ती मानना चाहिए या नहीं । प्रोफ़ेसर **लेवी** द्वारा खंडन किये जाने के पूर्व सामान्य मत यही था कि उसके रचयिता को यह पद मिलना चाहिए, और यह विचित्र बात है कि आगे चलकर वे (लेवी) अपने पुराने निर्णय के मूल्य में संदेह करने लगे । हाँ, यदि **कालिदास** के समय में **मृच्छकटिका** का अस्तित्व था तो उसके विषय में उनके मौन का कारण **चारुदत्त** का अस्तित्व हो सकता है । **कालिदास** के द्वारा उस रूपक का सुस्पष्ट उपयोग या उसका प्रतिलोम इस विषय में निर्णायक प्रमाण होता, किंतु खेद का विषय है कि प्रस्तुत किये जा सकने वाले सदृश उदाहरणों में से कोई भी पर्याप्त सबल नहीं है, और अलंकारशास्त्र में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर केवल यही तथ्य ज्ञात होता है कि **वामन** ने **शूद्रक** को एक लेखक के रूप में मान्यता दी है,[१] क्योंकि यह बात स्पष्टतया विदित हो गयी है कि **दण्डी** ने **मृच्छकटिका** में उपलब्ध जो पद्य उद्धृत किया है वह **भास** का उद्धरण है, जो उनकी रचनाओं में दो बार आया है । इस तथ्य से **पिशेल**[२] की प्राक्कल्पना खंडित हो जाती है, जिन्होंने, उस रूपक को **भास**-रचित बताने के बाद, **दण्डी** को उसका रचयिता बतलाया; उन्होंने तीन की संख्या पूरी करने के लिए

---

१. Lévi, TI. i. 190 : वामन, iii. 2. 4.

२. रुद्रट, pp. 16 f. किंतु देखिए—हरिचन्द, कालिदास, pp. 78 ·

ऐसा किया, क्योंकि परवर्ती परम्परा में **दण्डी** को तीन ग्रंथों की रचना का श्रेय दिया गया है।

स्वयं रूपक में राजा **शूद्रक** को उसका रचयिता बतलाया गया है, और उनकी शक्तियों के अद्‌भुत विवरण दिये गये हैं; वे **ऋग्वेद, सामवेद,** गणित, वैशिकी कला और हस्तिविद्या के ज्ञाता थे, प्रस्तुत रूपक में प्रदर्शित ज्ञान से इन सभी तथ्यों का अनुमान किया जा सकता है; वे किसी व्याधि से मुक्त हुए थे, और अपने स्थान पर पुत्र को राजा बनाकर तथा अश्वमेध करके उन्होंने सौ वर्ष एवं दस दिन की आयु में अग्नि में प्रवेश किया। उनके व्यक्तित्व के विषय में हमें और भी बहुत-सी जानकारी प्राप्त होती है; **राजतरङ्गिणी**[1] में **कल्हण** के अनुसार वे **विक्रमादित्य** के समकक्ष रखे जाने योग्य व्यक्ति थे; **स्कन्दपुराण**[2] में बतलाया गया है कि वे **आंध्रभृत्यों** में प्रथम थे; **वेतालपञ्चविंशति** के अनुसार वे शतायु थे, और उनकी राजधानी **वर्धमान** अथवा **शोभावती** थी, जो **कथासरित्सागर** के अनुसार उनके कार्यकलाप की भूमि है, इस ग्रंथ में एक ब्राह्मण के त्याग का वर्णन है जो उन्हें आसन्न मृत्यु से बचाता है और अपने प्राण देकर उन्हें शतायु बनाता है। **कादम्बरी** के अनुसार उनका स्थान **विदिशा** है, और **हर्षचरित** से हमें इस बात का पता चलता है कि उन्होंने किस युक्ति से अपने शत्रु **चकोर-राज चन्द्रकेतु** से छुटकारा पाया, और **दण्डी** ने **दशकुमारचरित** में उनके अनेक जन्मों के साहसकर्मों का उल्लेख किया है। **रामिल** और **सोमिल** ने उन पर 'कथा' लिखी—इस तथ्य से सूचित होता है कि उन दोनों के युग में, **कालिदास** के बहुत पहले, **शूद्रक** निजंधरी कथा के पात्र बन गये थे। **वीरचरित** और परवर्ती **राजशेखर**[3] की रचना में उपलब्ध बहुत बाद की परम्परा **सातवाहन** या **शालिवाहन** के साथ उनका संबंध बताती है, जिनके वे मंत्री थे और जिनसे उन्होंने **प्रतिष्ठान** के समेत आधा राज्य प्राप्त किया था।[4]

इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि **शूद्रक** एक निजंधरी व्यक्ति मात्र थे। उनका विचित्र नाम, जो प्रसामान्य प्रकार के राजा के लिए हास्यास्पद है, इस तथ्य का समर्थन ही करता है। तथापि, प्रोफ़ेसर **कोनो** उन्हें ऐतिहासिक मानते हैं,

---

१. iii. 343. २. Wilson, *Works*, ix. 194.

३. IS. xiv. 147; JBRAS. viii. 240.

४. आगे चलकर वह एक परिकथा, 'शूद्रकवध' (रायमुकुट, ZDMG. xxviii. 117), और एक नाटक, 'विक्रान्तशूद्रक' (सरस्वतीकण्ठाभरण, p. 378) का नायक है।

और उन्हें आभीर राजा **शिवदत्त** समझते हैं, जिसने अथवा जिसके पुत्र **ईश्वरसेन** ने, डा० **फ़्लीट** (Fleet) के मतानुसार, **आंध्र**-वंश के अंतिम राजा को राजच्युत किया और २४८-९ ई० में चेदि-संवत् का प्रवर्तन किया।[1] उनका मत है कि इस अवेक्षणीय निष्कर्ष का समर्थन इस तथ्य से होता है कि प्रस्तुत रूपक में **उज्जयिनी** का राजा **पालक** गोपाल के पुत्र **आर्यक** के द्वारा राजच्युत किया जाता हुआ दिखलाया गया है, और आभीर तत्त्वतः गोपालक हैं। परंतु यह बात नितांत संदिग्ध है। वस्तुतः **पालक**, **गोपाल** (जो **मृच्छकटिका** में सम्भवतः व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ग्राह्य है) और **आर्यक** के नाम से निजंधरी इतिहास उपलब्ध होता है। इस बात के वस्तुतः प्रचुर प्रमाण हैं, क्योंकि **भास** (जो **मृच्छकटिका** के प्रचुर अंश के स्रोत है) ने अपने **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** में **गोपाल** और **पालक** दोनों का **उज्जयिनी** के **प्रद्योत** के पुत्रों के रूप में उल्लेख किया है। **वृहत्कथा** में **प्रद्योत** की मृत्यु के बाद **पालक** को राज्य समर्पित करने वाले **गोपाल** की, और अपने भतीजे **आर्यक** के लिए स्थान रिक्त करने वाले **पालक** की कथा अवश्य रही होगी। **बुद्ध-निर्वाण** (लगभग ४८३ ई० पू०) के समय की घटनाओं के आधार पर इतिहास और वह भी तीसरी शताब्दी ई० का इतिहास प्रस्तुत करना सचमुच असंभव है। वस्तुतः **शूद्रक** स्पष्टतया पौराणिक व्यक्ति थे। यह बात इस स्वीकृति से स्पष्ट है कि उन्होंने अग्नि में प्रवेश किया। कोई इन बातों में विश्वास नहीं कर सकता कि उन्हें अपनी मृत्यु का निश्चित समय पहले से ही ज्ञात था, अथवा वह संस्कार उनके सन्यास-ग्रहण पर ही किया गया, अथवा प्रस्तावना का वह अंश उनकी मृत्यु के बाद जोड़ा गया है। यदि ऐसा हुआ होता तो उसका रूप बिलकुल भिन्न होता। यह बात और भी कम संभाव्य है कि उन्होंने उस रूपक की रचना **रामिल** तथा **सोमिल** की सहायता से की।

दूसरी ओर, **विन्डिश**[2] ने रूपक के राजनैतिक पक्ष की विषय-वस्तु और कृष्णोपाख्यान में घनिष्ठ सादृश्य प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के रूप में उन्होंने **आर्यक** की राज्यप्राप्ति की भविष्यवाणी, राजा की ईर्ष्या और उसको विनष्ट करने के प्रयास एवं उस अत्याचारी शासक के अंतिम पराभव का उल्लेख किया है। परंतु, इस सादृश्य में वस्तुतः खींचतान है। यह कहानी निजंधरी कथाओं की प्रसिद्ध वस्तु है, और उपर्युक्त तुलना से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।

अतएव हमें यह मत स्वीकार करना पड़ता है कि जिस लेखक ने '**चारुदत्त**'

---

१. KF. pp. 107 ff. मिलाकर देखिए—भंडारकर, Anc. His. of India, pp. 64f.; CHI. i. 311.

२. Berichte der Sächs. Gesellsch. d. Wissenschaften, 1885, pp. 439f.

का परिवर्धन किया और उसके साथ एक नया रूपक जोड़ दिया उसने यही श्रेयस्कर समझा कि वह अपनी पहचान को छिपा ले और उस कृति को एक प्रसिद्ध राजा के नाम से जाने दे । **लेवी** का अनुमान है कि इस उद्देश्य से उसने **शूद्रक** का नाम चुना, क्योंकि वह स्वयं **कालिदास** के आश्रयदाता **विक्रमादित्य** का परवर्ती था, और अपनी कृति को **विक्रमादित्य** के पूर्ववर्ती राजा से संवद्ध करके उसे पुरातनता का आभास देना चाहता था । उनका यह अनुमान स्पष्टरूप से क्लिष्ट-कल्पना है, और काल-निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं है । प्राकृतों के प्रचुर प्रदर्शन से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकलता । यदि हम **भास** के आधार पर निर्णय करें तो यह प्राचीनता का चिह्न नहीं है । इसके विपरीत, **महाराष्ट्री** प्राकृत का प्रयोग (यदि सिद्ध कर दिया जाए तो) इस बात का निर्णायक होगा कि वह पश्चात्कालीन लेखक है । इस प्रयोग के आधार पर **कोनो** ने **प्रतिष्ठान** से **शूद्रक** के संवंध का पक्षपोषण किया है । उनका प्रयास स्पष्टतया असंगत है ।

इस रूपक की रचना के सरल रूप पर आश्रित तर्क अधिक संगत प्रतीत होता है । लेखक ने **भास** की पद्धति का पूर्णतः अनुसरण किया है । अधिकरणिक के आदेश का पालन करता हुआ (अधिकरण का) सिपाही जिस हास्यास्पद शीघ्रता के साथ **वसंतसेना** की माँ और **चारुदत्त** को अधिकरण में उपस्थित करता है वह **भास** के नाटकों के वस्तु-विधान के ठीक समान है । वलप्रयोग के दृश्य (जिनमें ऐसा आभासित होता है कि **वसंतसेना** मार डाली गयी है, और **चारुदत्त** मृत्यु-पथ पर जाने को वाध्य है) हमें **भास** की इस प्रकार के दृश्य प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का स्मरण दिलाते हैं । परंतु वे पश्चात्कालीन नाटकों (उदाहरणार्थ, **भवभूति** के **मालतीमाधव**) की पद्धति से भिन्न नहीं हैं । **शकार** और **विट** अवश्य ही प्रारंभिक अवस्थान के पात्र हैं, परंतु उनका ग्रहण सीधे **भास** से किया गया है और उनसे कोई वात सिद्ध नहीं होती । वौद्ध भिक्षु की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है, परंतु वह भी उधार लिया हुआ पात्र है । हाँ, उसका रूप विकसित है । **कालिदास** और हर्ष की रचनाओं में भी वौद्ध धर्म के प्रति आदर व्यक्त किया गया है । नाटक के आरंभिक रचनाकाल के विषय में, **यूनानी** New Comedy के साथ आभासित सादृश्य पर आधारित तर्क महत्त्वहीन हैं । क्योंकि, यदि उनका कुछ भी महत्त्व माना जाए तो, वे **भास** के **चारुदत्त** पर लागू होते हैं । अतएव हम केवल कुछ धारणाएँ वना पाते हैं, जो उस कुशल लेखक के काल-निर्धारण के लिए विलकुल अपर्याप्त हैं, जिसने '**चारुदत्त**' को नया रूप दिया और भारतीय नाट्य-साहित्य के एक श्रेष्ठ रूपक का निर्माण किया ।[1]

---

१. Jacobi (भविसत्तकहा, p. 83) का विश्वास है कि शूद्रक राजा थे, किंतु उनके विचार से वे कालिदास के पूर्ववर्ती थे ।

३. मृच्छकटिका

इस रूपक के प्रथम चार अंक किंचित् परिवर्तन के साथ भास-कृत 'चारुदत्त' की प्रतिकृति हैं।[1] प्रस्तावना में ही यह तथ्य सूत्रधार के भाषा-व्यक्तिक्रम से सूचित है। आरंभ में वह संस्कृत बोलता है और फिर प्राकृत बोलने लगता है। इस व्यतिक्रम का कारण अस्पष्ट है। इसके विपरीत, **चारुदत्त** में वह केवल प्राकृत बोलता है जो उसकी आगामी विदूषक की भूमिका के अनुरूप है। पात्रों के नाम कुछ बदल गये हैं। राजा के साले का नाम **संस्थानक** और चोर का **शर्विलक** है। पहले अंक में **वसंतसेना** के आभूषणों की धरोहर तक का वर्णन है। दूसरे अंक में वर्णित है कि गणिका (**वसंतसेना**) भिक्षु होने वाले संवाहक के प्रति उदारता दिखाती है, **वसंतसेना** का घर छोड़ते ही एक मत्त हाथी उस पर आक्रमण करता है, **वसंतसेना** का नौकर **कर्णपूर** उसे बचाता है और पुरस्कार के रूप में उससे प्रावारक प्राप्त करता है, **वसंतसेना** पहचानती है कि वह प्रावारक **चारुदत्त** का है। तीसरे अंक में **शर्विलक** को आभूषण चुराने में सफलता मिलती है, और **चारुदत्त** की पत्नी उन आभूषणों के बदले रत्नावली देने का उदारतापूर्वक निश्चय करती है। चौथे अंक में **शर्विलक** वे आभूषण **वसंतसेना** को देता है। उसकी चोरी को जानते हुए भी **वसंतसेना** उसकी प्रेयसी को मुक्त कर देती है। अपनी वधू के साथ प्रस्थान करने पर **शर्विलक** राजा की आज्ञा से अपने मित्र **आर्यक** के बंदी होने का समाचार सुनाता है। राजा को इस भविष्यवाणी की जानकारी है कि **आर्यक** राजपद प्राप्त करेगा। **शर्विलक** अपनी वधू को छोड़कर अपने मित्र की सहायता के लिए दौड़ता है जिसके विषय में सूचना मिली है कि वह बंधन से भाग निकला है। तत्पश्चात्, विदूषक रत्नावली को लेकर आता है। गणिका उसे स्वीकार कर लेती है ताकि उसके बहाने वह **चारुदत्त** से एक बार फिर मिल सके। पाँचवें अंक में उस मिलन का वर्णन है। तूफान के कारण विवश होकर **वसंतसेना चारुदत्त** के घर में रात बिताती है। छठे अंक में अगले दिन सवेरे वह **चारुदत्त** की स्त्री को रत्नावली वापस करना चाहती है, परंतु उसका परिदान अस्वीकृत कर दिया जाता है। **चारुदत्त** का बालक यह शिकायत करता हुआ आता है कि उसके पास केवल एक छोटी-सी मिट्टी की गाड़ी (मृच्छकटिका) है। इसी आधार पर रूपक का नामकरण हुआ है। **वसंतसेना** उसे अपने आभूषण देती है जिससे वह सोने की गाड़ी खरीद ले। **वसंतसेना** को पास के एक उद्यान में चारुदत्त से मिलना है। वह **संस्थानक** की

---

१. देखिए—G. Morgenstierne, Uber das Verhaltnis Zwischen चारुदत्त and मृच्छकटिका.

संपत्ति है। भूल से वह **संस्थानक** के प्रवहण में सवार हो जाती है। और, छिपने का स्थान खोजता हुआ **आर्यक चारुदत्त** के प्रवहण में जल्दी-से चढ़ जाता है। वह चल पड़ता है। दो आरक्षक उस गाड़ी को रोकते हैं। एक आरक्षक **आर्यक** को पहचानता है, किंतु दूसरे से झगड़ा करके उसकी रक्षा करता है। सातवें अंक में **चारुदत्त** विदूपक से वार्तालाप कर रहा है, तभी वह देखता है कि गाड़ी हाँकी जा रही है। उसे पता चलता है कि उसमें **आर्यक** है। वह उसको उस गाड़ी में जाने की अनुमति देता है, और स्वयं **वसंतसेना** की खोज में निकल पड़ता है। अगले अंक में विट और चेट के साथ वहाँ पहुँचे हुए **संस्थानक** की भेंट उस संवाहक से होती है जो अव भिक्षु वन गया है और जलाशय में अपने कपड़े धोने के लिए वहाँ गया हुआ है। वह उसका अपमान करता है और उसको पीटता है। **वसंतसेना** को लेकर गाड़ी वहाँ पहुँचती है। क्रुद्ध **संस्थानक** पहले मीठी वातों से उसे वशीभूत करने का प्रयत्न करता है। फिर, तिरस्कृत होने पर विट और चेट को उसे मार डालने की आज्ञा देता है। वे दोनों कुपित होकर इन्कार करते हैं। वह शांत होने का ढोंग करता है, उन्हें हटा देता है और **वसंतसेना** पर प्रहार करता है। वह मृत-सी होकर गिर पड़ती है। उसके कृत्य को देखकर विट उसका पक्ष तत्काल छोड़कर **आर्यक** की ओर चला जाता है। **संस्थानक वसंतसेना** के शरीर को पत्तियों से ढक कर, चेट को वंदी कर रखने का संकल्प करता हुआ, चल देता है। भिक्षु अपने कपड़े सुखाने के लिए फिर आता है, **वसंतसेना** को देखता है और उसे पुनरुज्जीवित करता है। उसके उपचार के लिए उसे विहार तक ले जाता है। नवें अंक में **संस्थानक** अधिकरण में जाकर **चारुदत्त** पर **वसंतसेना** का हत्यारा होने का दोपारोपण करता है। वसंतसेना की माँ साक्षी के रूप में अधिकरण में वुलायी जाती है,[1] परंतु वह **चारुदत्त** का वचाव करती है। **चारुदत्त** तलव किया जाता है। आरक्षक **आर्यक** का पलायन प्रमाणित करता है, जो **चारुदत्त** को फँसा देता है। वालक को दिये गये आभूपणों को **वसंतसेना** को वापस करने के लिए जाते हुए विदूपक अधिकरण में प्रवेश करता है। वह अभियोक्ता पर इतना क्रोधाभिभूत होता है कि आभूपण गिर पड़ते हैं। इस वात का साक्ष्य था कि वसंतसेना ने चारुदत्त के यहाँ रात वितायी तथा दूसरे दिन सवेरे उससे मिलने के लिए रवाना हुई, और उद्यान में संघर्ष के चिह्न थे। इनमें आभूपण का प्रमाण भी मिल गया। अधिकरणिक धोखे में आ जाता है। वह **चारुदत्त** को निर्वासन का दंडादेश देता है। **पालक** उसे प्राणदंड

---

१. Jolly (Tagore Law Lectures, 1883, pp. 68 f.) स्मृतियों की क्रिया-विधि की तुलना करते हैं.

के रूप में बदल देता है। दसवें अंक में दो चांडाल नायक को मारने के लिए ले चलते वे अपने कर्त्तव्य-भार से खिन्न हैं। **संस्थानक** का नौकर भाग निकलता है और सत्य का उद्घाटन करता है। परंतु, **संस्थानक** उसे दूषित और जघन्य चेट कहकर उसकी बात को उड़ा देता है। जल्लाद अपना काम पूरा करने के लिए आगे बढ़ने का निर्णय करते हैं। **वसंतसेना** और भिक्षु **चारुदत्त** को मृत्यु से बचाने के लिए समय पर पहुँच जाते हैं। जब वे प्रेमी पुनर्मिलन पर आनंदित होते हैं तभी यह समाचार मिलता है कि **पालक** को मारकर **आर्यक** राजा बन गया है, और उसने **चारुदत्त** को एक राज्य का अनुदान दिया है। लोग **संस्थानक** को मार डालने के लिए शोर मचाते हैं, परंतु **चारुदत्त** उसे क्षमा कर देता है। और, भिक्षु को उस राज्य के सभी बौद्ध-विहारों का कुलपति बनाकर पुरस्कृत किया जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि **वसंतसेना** गणिका-वृत्ति से मुक्त कर दी जाती है, और इस प्रकार वह **चारुदत्त** की धर्मपत्नी हो सकती है ।

लेखक को इस बात की मौलिकता का श्रेय दिया जा सकता है कि उसने राजनैतिक वैदग्ध्यप्रयोग और कामचरित्र का संमिश्रण किया है, जिसने रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। अभिप्रायों के इस मिश्रण का ठीक-ठीक सादृश्य नहीं मिलता। हाँ, **बृहत्कथा** में संभवतः **कुमुदिका** नाम की एक गणिका की कहानी थी जो बाद में अभिलिखित[1] हुई। वह गणिका एक दरिद्र ब्राह्मण से प्रेम करने लगी। वह राजा द्वारा बंदी बना लिया गया। भाग्य के भरोसे उस गणिका ने राज्यच्युत राजा **विक्रमसिंह** से मैत्री की, अपनी कलाओं के द्वारा उसे राज्य-प्राप्ति में सहायता दी। कृतज्ञ राजा ने उसे अपने प्रियतम से विवाह करने की अनुमति दी, अब वह बंदीगृह से मुक्त हो गया था। यह कल्पना किसी-न-किसी रूप में निस्संदेह प्रचलित थी। इसी प्रकार हम **भास** के कथानक की घटनाओं का सादृश्य गणिका-विषयक कथा-साहित्य में खोज सकते हैं। वे गणिकाएँ ईमानदार और दरिद्र पुरुषों से प्रेम करती हैं। उनके लिए वे अपनी वंशानुगत एवं अनिवार्य वृत्ति का परित्याग करना चाहती हैं, जिसके अनुसरण के लिए कानून उन्हें बाध्य कर सकता है।[2] चौर्य-विद्या की संकल्पना का स्पष्ट सादृश्य **दशकुमारचरित** में मिलता है, जिसमें **कर्णीसुत** को इस विषय के एक ग्रंथ का रचयिता बतलाया गया है। उसी कृति में जूए का रोचक विवरण मिलता है जिसका निदर्शन **मृच्छकटिका** के दूसरे अंक में है। **कथासरित्सागर**[3] में एक तबाह जुआरी का वर्णन है, जो एक खाली

---

१. KSS. I viii. 2-54.
२. दशकुमारचरित, ii.
३. xii. 92; xviii. 121.

चैत्य में शरण लेता है। अट्ठाइसवें सर्ग में वह गणिका **मदनमाला** के प्रासाद का जिन शब्दों में वर्णन करता है, उसकी तुलना चौथे अंक में विदूपक द्वारा **वसंतसेना** के प्रासाद[1] के वैभव के वर्णन से की जा सकती है। अधिकरण का दृश्य छठी और सातवीं शताब्दी की विधिविषयक स्मृतियों की अपेक्षाओं (requirements) के सर्वथा अनुरूप है। परंतु, विधि के रूढ़िवाद से उसके रचनाकाल का कोई संकेत नहीं मिलता।

यद्यपि **मृच्छकटिका** एक मिली-जुली रचना है और किसी भी अर्थ में जीवन का प्रतिलेख नहीं है, तथापि उसके गुण अत्यंत उत्कृष्ट हैं। वे पर्याप्त रूप से उस बात को उचित सिद्ध करते हैं जो अन्यथा अक्षम्य साहित्यिक चोरी समझी जाती। **चारुदत्त** में उपलब्ध संकेतों का इसमें पूर्ण और समंजस विकास दिखायी पड़ता है। वह उस वैदग्ध्यप्रयोग की सहायता से और भी उत्कृष्ट हो गया है जिसमें नायक के वैयक्तिक प्रेम-व्यापार और नगर तथा राज्य के भाग्य का *संमिश्रण* है। **चारुदत्त** का चरित्र आकर्पक है। वह अपने मित्र विदूपक का लिहाज रखता है, अपनी पत्नी का संमान और आदर करता है, अपने नन्हे बच्चे को अत्यंत प्यार करता है। **वसंतसेना** के प्रति उसका अनुराग सामान्य आवेग से मुक्त है। वह उसके चरित्र की उदात्तता, उसकी उदारता और उसके प्रेम की गहराई तथा सच्चाई को समझता है। तथापि उसका प्रेम उसके जीवन का केवल अंश है। वह सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता को जानता है, और जीवन को अतिरंजित महत्त्व नहीं देता। वह दंडादेश से क्षुब्ध है, क्योंकि इससे उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा है, उसके ऊपर लांछन लगाया गया है कि उसने एक नारी की हत्या की है, और इस प्रकार वह अपने पुत्र के लिए दाय के रूप में केवल लज्जा छोड़कर जा रहा है। **वसंतसेना** का चरित्र कम आकर्पक नहीं है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल वह ऐसे व्यवसाय से संवद्ध है जो उसकी अपार संपत्ति का कारण है परंतु उसके मन को ठेस पहुँचाता है। अधिकरणिक तथा अन्य लोगों का विश्वास है कि वह विपयावेग से अभिभूत है। उसके हृदय की उदात्तता का अभिज्ञान केवल **चारुदत्त** और उसकी पत्नी को है। वे भली-भाँति समझते हैं कि यह वात उसके लिए कितनी महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने प्रियतम के साथ विवाह के योग्य मानी जाए। **शकार संस्थानक** का वर्णन जीवंत और यथार्थ है। नायक के विरुद्ध उसकी विपमता का चित्रण श्लाघ्य है। राजा का साला और धनवान् होने के कारण उसका विश्वास है कि उसे अपनी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने का अधिकार है। **वसंतसेना** के द्वारा किये गये

१. मिलाकर देखिए—श्लोकसंग्रह, x, 60-163.

तिरस्कार से वह सर्वाधिक उत्तेजित होता है। वह पशुतुल्य है, सुविनीत और सुसंस्कृत राजसभासदों के संपर्क में रहने के बावजूद भी अनभिज्ञ[1] है, और कायर है। वह विश्वासघात और प्रवंचना में कुशल है। वह इतना नीच है कि अपराध के कारण अपवर्तित जीवन की, दयनीयता के साथ, भीख माँगता है, और **चारुदत्त** उदारतापूर्वक उसे जीवनदान देता है। संस्कृत, परिष्कृत रुचि वाला और सुशील विट उसका उत्तम प्रतिबंधक है। अपने आश्रयदाता पर निर्भर रहते हुए भी वह उसके **वसंतसेना**-विषयक अत्याचार को रोकता है, उसकी हत्या के प्रयत्न को रोकने का प्रयास करता है। इसमें असफल होने पर वह प्राण हथेली पर लेकर **आर्यक** का पक्षधर हो जाता है। विदूषक भोजन और सुखमय जीवन का प्रेमी हो सकता है, परंतु विपत्ति-काल में वह स्वामिभक्त ही रहता है, उसके लिए मरने को प्रस्तुत है, और उसके पुत्र के संरक्षण के लिए ही जीवित रहने को सहमत होता है।

मंच पर आने वाले कुल सत्ताइस पात्रों में गौण पात्रों का भी अपना व्यक्तित्व है। भारतीय नाटक में यह बात विरल है। **शर्विलक** कभी ब्राह्मण था, अब व्यवसायी चोर हो गया है। वह अपने नये व्यवसाय को शास्त्रग्रंथों में प्रतिपादित धार्मिक अनुष्ठानों के उपयुक्त परिशुद्धता के साथ पूरा करता है। संवाहक बौद्ध-भिक्षु हो गया है। उसे अत्यंत सांसारिक-ज्ञान है, जिससे **आर्यक** की कृपा से उसका किसी भी रूप में अभ्युदय हो सकता है। पक्का जुआरी **माथुर** कठोर पापी है जिसमें अनुकंपा का लेश भी नहीं है, किंतु दोनों चांडाल सहानुभूतिपूर्ण जीव हैं जो अपने कष्टप्रद कर्त्तव्य का अनिच्छा से पालन करते हैं। **चारुदत्त** की पत्नी अपने पति के अनुरूप उदात्त और सुशील नारी है। आदर्श भारतीय नारी की भाँति वह उसके योग्य नयी प्रेयसी से द्वेष नहीं करती। सुंदर दासी **मदनिका** स्वतन्त्रता पाने और **शर्विलक** के साथ विवाह करने की पूर्णतः अधिकारिणी है। इतनी कम वास्तविक भूमिका अदा करने वाले **आर्यक**-जैसे पात्र भी प्रभावशाली ढंग से निरूपित हैं। लेखक की सुरुचि अंतिम दृश्य में अद्भुत रूप से प्रकट होती है। उस दृश्य में किसी **नीलकण्ठ**[2] ने परिवर्तन किया है। उनकी धारणा है कि उसमें **चारुदत्त** की पत्नी, पुत्र और विदूषक को छोड़ दिया गया था, क्योंकि उनके समावेश से रूपक के अभिनय में बहुत अधिक समय लगने का भय था। उन्होंने तीनों पात्रों को इस प्रकार प्रस्तुत करके उस रिक्ति की पूर्ति की है—वे आत्महत्या करने के लिए कृत-संकल्प हैं, उसी समय **चारुदत्त** आकर उन्हें बचाता है। लेखक स्वयं नायक द्वारा

---

१. उसकी पुराणकथा-विषयक भ्रांतियाँ भयानक हैं, जैसे—सीता के लिए कुंती, i. 21.

२. Stenzler का संस्करण, pp. 325 ff.; Wilson, i. 177.

दूसरी पत्नी के ग्रहण के अवसर पर उसकी पहली पत्नी को उपस्थित करने के लिए सहमत न होता ।

लेखक केवल चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ही श्लाघ्य नहीं है । करुण रस पर उसका अधिकार है, उदाहरणार्थ---उस स्थल पर जहाँ **चारुदत्त** अपने पुत्र से विदा लेता है और उसका पुत्र जल्लादों से कहता है कि मेरा वध करो और मेरे पिता को छोड़ दो । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि रूपक हास्य-विनोद से भरपूर है; यहाँ तक कि अंतिम अंक में चांडाल **गोह** अपने पिता की कथा सुनाकर तनाव का शमन करता है, उसके पिता ने मृत्यु-शय्या पर से उपदेश दिया था कि अपराधी को वहुत जल्दी में मत मारना, क्योंकि संयोगवश कोई ऐसी क्रांति या घटना हो सकती है जो उस अभागे के प्राण वचा ले । छूटने के वाद जव **चारुदत्त** शरणागत **संस्थानक** के शस्त्र द्वारा वध का निपेध करता है तव **र्शावलक** तत्काल उत्तर देता है—वहुत ठीक, तो फिर इसे कुत्ते खा जाएँगे ।

यह वात निर्विवाद है कि इस रूपक में एकान्विति की कमी और दोहरी प्रवंध-कल्पना की अतिशयता है । परंतु रूपक के गुणों और घटना-संपत्ति के द्वारा इसकी आवश्यकता से अधिक क्षतिपूर्ति हो जाती है । काव्यशास्त्रियों की दृष्टि से उसमें एक दोप यह है कि उसमें विस्तृत वर्णनों का अभाव है, किंतु प्रसादगुणपूर्ण पद-रचना ने रूपक की सजीवता और नाटकीय प्रभाव को उत्कर्प प्रदान किया है । सरस और शक्तिमती अभिव्यंजना पर कवि का पूर्ण अधिकार है । विट **संस्थानक** के कुल-विपयक गर्व और औद्धत्य की प्रवल भर्त्सना करता है—

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥

'कुल की वात करने से क्या लाभ ? चरित्र ही प्रधान कारण है । अच्छे खेत में कँटीले वृक्ष खूव फैलते हैं' । मृत्यु के अवसर पर **चारुदत्त** अपनी निर्भीकता की दृढ़ता के साथ अभिव्यक्ति करता है—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूपितं यशः ।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥

"मैं मृत्यु से नहीं डरता हूँ, लेकिन मेरा यश कलंकित हो गया; यदि मैं दोपमुक्त हो जाऊँ तो मृत्यु पुत्र-जन्म के समान हो जाएगी ।' **वसंतसेना** (जिसका स्वर्गवास संभव है) के प्रति उसके विश्वास की अभिव्यंजना अद्भुत है—

प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात् कथंचित् ।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥

'यद्यपि आज मैं दुर्भाग्यवश एक प्रवल व्यक्ति के मिथ्यानिंदात्मक वचनों द्वारा दूपित कर दिया गया हूँ तथापि यदि धर्म की विजय होती है तो देव-लोक में या अन्यत्र स्थित वसंतसेना अपने स्वभाव से मेरे कलंक को दूर करे।' वह अपने वच्चे को क्रीड़ा-मग्न मानकर खेद के साथ संवोधित करता है—

हा रोहसेन न हि पश्यसि मे विपत्तिम्
मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥

'हा ! रोहसेन, तुम मेरी विपत्ति को नहीं जानते हो, इसलिए खेल में झूठा आनंद ले रहे हो, परंतु आगे चलकर कठिन विपत्ति आने वाली है।'

विट[1] के द्वारा चारुदत्त का चरित्र प्रभावशाली ढंग से अंकित किया गया है—[2]

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥

'वह दीनों के लिए अपने गुणरूपीफलों से विनत कल्पवृक्ष है; सज्जनों का कुटुंवी, शिक्षितों का आदर्श, सच्चरित्रता की कसौटी, शील की मर्यादा में रहने वाला समुद्र, सत्कर्म करने वाला, अभिमान-रहित, मानवीय गुणों का आकर, सरलता और उदारता की मूर्ति है; वह श्लाघ्य पुरुप ही वस्तुतः जीवित है, दूसरे लोग तो केवल साँस ले रहे हैं।'

स्वयं चारुदत्त ने दरिद्रता-जन्य क्लेशों का मार्मिक चित्रण किया है—[3]

शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद्दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना—
मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥

---

१. डा० कीथ ने 'विदूपक' लिखा है, किंतु प्रस्तुत उक्ति विट की है.
२. i. 48. ३. v. 42.

'दरिद्र पुरुष सूने घर, निर्जल कुएँ और उखड़े हुए वृक्ष के समान हैं; क्योंकि पूर्वपरिचित मित्रों द्वारा विस्मृत होने के कारण उनका विनोद का समय भी निष्फल जाता है।'

नायक ने उसी भाव को अन्यत्र व्यक्त किया है—[1]

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति॥

'मैं सच कहता हूँ कि मेरी चिंता का कारण वैभव का नाश नहीं है, क्योंकि भाग्य-चक्र के अनुसार धन आता-जाता रहता है। मेरी व्यथा का कारण यह है कि धन के नष्ट हो जाने पर लोग मित्रता से भी हाथ खींच लेते हैं।' यह ठीक है कि एक ही भाव की पुनरावृत्ति उबानेवाली होती है, परंतु लेखक की बुद्धिसूक्ष्मता और कल्पना में कोई संदेह नहीं है। प्रेम का वर्णन भी प्रभावशाली है। विट वसंतसेना का प्रशंसक है। द्रुतगामिनी वसंतसेना को संबोधित करके वह कहता है—[2]

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं निरुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि न मे प्रयत्नः॥

'गरुड़ से भयभीत सर्पिणी की भाँति तुम मेरी गति की अपेक्षा अधिक शीघ्र गति से क्यों भाग रही हो? वेग से चलकर मैं समीर को भी पकड़ सकता हूँ, परंतु हे सुंदरि! मैं तुम्हें पकड़ने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ।' चारुदत्त वर्षा की सराहना करता है—[3]

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि, ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ते॥

'उनका जीवन धन्य है, जो घर आती हुई रमणियों के गीले एवं वर्षा-जल से शीतल अंगों का अपने अंगों से आलिंगन करते हैं।'

---

१. i. 13; मिलाकर देखिए—चारुदत्त, i. 5.

२. i. 22, मिलाकर देखिए—चारुदत्त, i. 11, जिसको उत्कृष्टतर रूप दिया गया है.

३. v. 49.

इसके अतिरिक्त, हमारी दृष्टि में इस रूपक का काव्यात्मक महत्त्व कवि की वर्णन-शक्ति पर निर्भर है। सरल शब्दावली में किये गये ये वर्णन युक्ति-युक्त और भावपूर्ण हैं। उन्हें समझने में प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत, पश्चात्कालीन भारतीय आलोचकों के अनुसार इन वर्णनात्मक पद्यों में उस विस्तार और वैदग्ध्य की कमी है जिन्हें परिष्कृत रुचि वाले महत्त्व देते हैं। दुर्दिन का संपूर्ण दृश्य उसके सौंदर्य का वर्णन करने वाले पद्यों से समृद्ध है, शर्त यह है कि हम एक वार उन वास्तविक परिस्थितियों में इन प्रगीतात्मक उद्‌गारों की अनुपयुक्तता की उपेक्षा करने को तैयार हो जाएँ। किसी भी संस्कृत-रूपक के रसास्वादन के लिए ऐसा करना आवश्यक है। यथार्थ जीवन में किसी उज्ज्वलवेषधारिणी उत्कंठित अभिसारिका के पास इतना समय नहीं हो सकता कि वह कोई वर्णन करने में अपनी संस्कृत-काव्य-कुशलता का प्रदर्शन करे, जबकि बुद्धिमत्ता उसे अपने गंतव्य स्थान पर अविलंब पहुँचने के लिए प्रेरित कर रही हो—[1]

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।
मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशासपत्नी ॥

' "हे मूर्खे, यहाँ पर तेरा क्या काम है, जब प्रिय मुझ निरंतरपयोधरा के साथ ही आलिंगन-सुख ले रहा है ?" इस प्रकार के गर्जन द्वारा रात्रिरूपी सौत मुझे रोकती हुई मेरे पथ को अवरुद्ध कर रही है।'

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा ।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥[2]

'बादल बरसते रहें, गरजते रहें या वज्रपात करते रहें, प्रिय से मिलने के लिए जाने वाली स्त्रियाँ शीत और गर्मी की कुछ परवाह नहीं करतीं।'

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम्[3] ॥

'दुष्ट व्यक्ति के प्रति किये गये उपकार की भाँति तारे विलीन हो गये हैं; प्रिय से वियुक्त नारियों की भाँति दिशाएँ कांतिहीन हो गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता

---

१. v. 15. २. A. 16. ३. v. 25.

है कि इंद्र के वज्र की आग से अतिशय तप्त आकाश जल के रूप में बरस रहा है।'

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम्।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि[1]॥

'बादल ऊपर उठता है, नीचे झुकता है, बरसता है, गरजता है, अंधकार फैलाता है; नये धनवान् व्यक्ति की भाँति वह अपनी सपत्ति का अनेक रूपो मे प्रदर्शन करता है।'

अन्त मे, वसतसेना द्वारा बिजली की भर्त्सना उद्धरणीय है—

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि[2]॥

'यदि बादल गरजता है तो गरजे; पुरुष तो निष्ठुर होते ही है; किंतु हे विद्युत्! क्या तुम भी प्रमदाओ के दु.ख को नही जानती हो?'

इस रूपक के गुण इतने पर्याप्त है कि लेखक की अनुचित प्रशसा अनावश्यक है। इसके रचयिता माने जाने वाले शूद्रक को सर्वदेशीय होने का गौरव प्रदान किया गया है।[3] 'कविताकामिनी के विलास' कालिदास[4] और 'वश्यवाक्' भवभूति[5] मे चाहे जितना अतर हो, किंतु मृच्छकटिका के लेखक की तुलना मे इन दोनों का परस्पर भावनासाम्य कही अधिक है, शकुंतला और उत्तररामचरित की रचना भारत के अतिरिक्त किसी देश मे सभव नही थी, शकुंतला एक हिंदू नायिका है, माधव एक हिंदू नायक है, जबकि संस्थानक, मैत्रेय और मदनिका विश्वनागरिक है। परतु, यह दावा स्वीकार्य नही है। मृच्छकटिका अपने पूर्ण रूप मे एक ऐसा रूपक है जो भारतीय विचारधारा और जीवन से ओतप्रोत है। उपर्युक्त तीनो पात्रो मे से कोई ऐसा नही है जो कालिदास द्वारा उद्भावित कतिपय पात्रो की अपेक्षा अधिक विश्वनागरिक होने का दावा कर सके। इस रूपक के पात्रो की विविधता निर्विवाद रूप से प्रशसनीय है, परतु उसका आशिक श्रेय भास को है, उनके उत्तर-वर्ती (शूद्रक) को नही। रूपक की सापेक्ष सरलता का श्रेय भी उन्ही को मिलना चाहिए। इस शैली के विरुद्ध कालिदास मे कुछ जटिलता पायी जाती है, और भवभूति मे उसकी मात्रा और भी अधिक है। कथावस्तु की विविधता भास मे

१. v. 26. २. v. 32

३. Ryder, The Little Clay Cart, p. xvi.

४. जयदेव, प्रसन्नराघव, i. 22. ५. महावीरचरित, i. 4

पूर्वभासित है, किंतु रूपक के विकास का श्रेय शूद्रक को है। स्पष्ट बात है कि इसको पूर्णतः कलात्मक नहीं कहा जा सकता। मानना पड़ेगा कि यह रूपक अनावश्यक रूप से जटिल है। कार्य की प्रगति भी धारावाहिक और सुनिश्चित नहीं है। हाँ, उसमें परिहास असंदिग्ध रूप से विद्यमान है, परंतु यहाँ भी भास को श्रेय मिलना चाहिए। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार प्रत्येक अंग में नायक की उपस्थिति होनी चाहिए, इस नियम की उपेक्षा का पूर्वरूप भी भास के 'चारुदत्त' में मिलता है रूढ़ि की अवज्ञा करके एक सामान्य घटना के आधार पर रूपक के नामकरण का श्रेय शूद्रक को ही देना न्यायसंगत है।

वस्तुतः मृच्छकटिका का भारतीय स्वरूप उसकी परंपरागत सुखांतता के आग्रह में प्रकट होता है।। उसके उपसंहार में प्रत्येक व्यक्ति आनंद की स्थिति मे दिखायी देता है, इसका एकमात्र अपवाद दुष्ट राजा है। चारुदत्त अयश और दुर्दशा के गर्त से निकलकर पुनः शक्ति और समृद्धि प्राप्त करता है। वसंतसेना को उसके सद्गुणों और निष्ठा के पुरस्कार-रूप में विशिष्ट संमान मिलता है, जिससे वह नायक की विवाहिता होने योग्य नारी का पद प्राप्त करती है। भौतिक ऐश्वर्य को अस्वीकार करने वाला भिक्षु सुख-साधन-संपन्न विहारों का कुलपति बनता है। यदि हम बौद्ध-विहारों की संपत्ति-विषयक जानकारी के आधार पर अनुमान करें तो उनकी समृद्धि अपर्याप्त नहीं रही होगी। यहाँ तक कि संस्थानक को भी प्राणदान मिलता है। हम अनुमान कर सकते हैं कि इसका उद्देश्य सामाजिकों को रंगमंच पर वास्तविक मृत्यु के दुःखद दृश्य से बचाना है, यद्यपि वह मृत्यु सर्वथा उचित है। इसीलिए राजा रंगशाला से कुछ दूरी पर मरता है। रूपक के अंत में चारुदत्त की उक्ति है कि मनुष्य उसी प्रकार विधाता का खिलौना है जिस प्रकार रहट की डोलचियाँ—एक ऊपर उठती है और दूसरी नीचे जाती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि शूद्रक का यथार्थवाद की ओर इतना भी झुकाव नहीं है कि उनके रूपक के उपसंहार में शोक को लेशमात्र भी समाविष्ट किया जा सके।

४. प्राकृतें

मृच्छकटिका में प्राकृतों की जैसी विविधता पायी जाती है वैसी किसी भी उपलब्ध नाटक में दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में लेखक का उद्देश्य नाट्यशास्त्र के नियमों को उदाहृत करना था।[1] टीकाकार ने रूपक में प्रयुक्त प्राकृतों और उनके वक्ताओं का नाम देकर बड़ा उपकार किया है। सूत्रधार (अपने संस्कृत-उपोद्घात के बाद), नटी, वसंतसेना, उसकी दासी

१. मिलाकर देखिए— Prākrit-grammatik, pp. 25ff.

मदनिका, उसका दास कर्णपूरक, उसकी माँ, चारुदत्त की पत्नी, उसकी दासी रदनिका, अधिकरण का राजसेवक और श्रेष्ठी शौरसेनी बोलते हैं। आरक्षक वीरक और चंदनक आवंतिका का प्रयोग करते हैं। विदूषक प्राच्यभाषा बोलता है। भिक्षु होने वाला संवाहक, शकार संस्थानक का चेट स्थावरक, वसंतसेना का चेट कुंभीलक, चारुदत्त का चेट वर्धमानक, और दारक रोहसेन मागधी बोलते हैं। शकार शाकारी बोलता है। जल्लाद का काम करने वाले चांडाल चांडाली बोलते हैं। द्यूतकार (माथुर) ढक्की बोलता है। दूसरी ओर, नायक, विट, राज्य का दावेदार आर्यक और ब्राह्मण चोर शर्विलक संस्कृत बोलते हैं। प्राकृतों का यह वितरण एक महत्त्वपूर्ण रूप में नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रतीत होता है, इसमें महाराष्ट्री की उपेक्षा की गयी है, यद्यपि बिना किसी स्पष्ट कारण के कोनो दावा करते हैं कि शूद्रक ने इस रूपक में उसका समावेश किया था। दूसरी ओर, इसमें दासों, राजपूतों अथवा श्रेष्ठियों से अर्धमागधी नहीं बुलवायी गयी है। रोहसेन से बुलवायी गयी मागधी हस्तलेखों में प्रायः शौरसेनी में परिवर्तित हो गयी है। शास्त्र के अनुसार आवंती धूर्तों की भाषा है। 'धूर्त' का तात्पर्य है जुआरी। शौरसेनी से इसका भेद नगण्य है। पृथ्वीराज के अनुसार इसमें स और र होता है तथा लोकोक्तियों की बहुलता होती है। यह बात आरक्षकों की वास्तविक भाषा से पर्याप्त मेल खाती है। परंतु दूसरा, चंदनक अपने को दाक्षिणात्य के रूप में प्रकट करता है और हम यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रह सकते कि उसकी प्राकृत दाक्षिणात्या है जो शास्त्रानुसार भटों, आरक्षकों तथा जुआरियों की भाषा है। विदूषक की प्राच्या तत्त्वतः शौरसेनी ही है, यद्यपि शास्त्र में भी इसका अलग से उल्लेख किया गया है; संभव है कि यह मुख्य भाषा की पूरबी बोली रही हो। जुआरियों की भाषा बतलायी जाने वाली ढक्की का नाम संभवतः[1] टक्की या टाक्की होना चाहिए, हस्तलेखों में अक्षरों की गड़बड़ी के कारण यह भूल हो जाना सहज है। पिशेल ने इसे पूरबी प्राकृत माना है, जिसमें ल था, और दो ऊष्म वर्ण श तथा स परिरक्षित थे जिनमें ष् का विलय हो गया था। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसे पश्चिमी प्राकृत माना है, जो अधिक संभाव्य प्रतीत होता है। संस्थानक की शाकारी मागधी ही है, जो नाट्यशास्त्र में उस व्यक्ति की भाषा बतलायी गयी है। चांडाली भी उसी प्राकृत का एक अन्य रूप मात्र है। इस प्रकार विविधता का विस्तार संकुचित होकर शौरसेनी[2] और टक्की-सहित मागधी में सीमित हो जाता

१. JRAS. 1913, 882; 1918, p. 513. मिलाकर देखिए— काव्यमीमांसा, p. 51.

२. पद्य में भी प्रयुक्त है, उदाहरणार्थ विदूषक के द्वारा.

है। टक्की के उदाहरण इतने कम हैं कि उसके स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

५. छंद

मृच्छकटिका के रचयिता ने छंदों के प्रयोग में बहुत कौशल दिखलाया है। स्वभावतः उनका प्रिय छंद **श्लोक** है। यह छंद उनकी क्षिप्र शैली के उपयुक्त है और कथोपकथन की प्रगति को आगे बढ़ाने के लिए अनुकूल पड़ता है। इसका प्रयोग ८३ बार हुआ है। उनका दूसरा प्रिय छंद मनोहर **वसंततिलक** है। यह छंद ३९ बार प्रयुक्त हुआ है। **शार्दूलविक्रीडित** का प्रयोग ३२ बार किया गया है। अन्य महत्त्वपूर्ण छंद हैं—**इंद्रवज्रा** (२६), **वंशस्था** (९), और दोनों का मिश्रित रूप **उपजाति** (५)। परंतु **पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, विद्युन्माला,**[1] **वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा** और **हारिणी** तथा एक विषमवृत्त का प्रयोग भी हुआ है। **आर्या** के २१ उदाहरण हैं। इसमें एक **गीति** भी समाविष्ट है, जिसके प्रथमार्ध और परार्ध में भी ३० मात्राएँ हैं। दो उदाहरण **औपच्छंदसिक** के हैं। प्राकृत-छंदों में पर्याप्त विविधता पायी जाती है। **आर्या** के ५३ पद्य हैं, अन्य प्रकारों के ४४ हैं।[2]

---

१. ––––,––––. किसी अन्य आभिजात्य नाटक में इसका प्रयोग नहीं मिलता.

२. बहुत संभाव्य है कि महाराष्ट्री-पद्यों का आभानित प्रयोग मूल ग्रंथ (जिसमें §४ में उल्लिखित प्राकृतों का ही प्रयोग किया गया था) के अनुसार नहीं है, देखिए— Hillebrandt, GN. 1905, pp. 436ff.

: ६ :

कालिदास

१. कालिदास का समय

यह दुर्भाग्य की वात है (यद्यपि आश्चर्यजनक नहीं है, जैसे **शेक्सपियर** के के विपय में) कि **कालिदास** के जीवन और युग के विपय में हमारी जानकारी नगण्य है। हम केवल उनकी कृतियों और संस्कृत-साहित्य के सामान्य इतिहास से ही थोड़ा-वहुत अनुमान कर सकते हैं। ऐसी कहानियाँ[1] अवश्य मिलती हैं जिनके अनुसार वे युवावस्था में मूर्ख रहे, जव तक कि काली की कृपा से उन्हें कवित्व-शक्ति नही प्राप्त हुई, और इसी कारण उनका विलक्षण नाम **कालिदास** (काली का दास) हुआ। अपनी कृतियों में ब्राह्मण-संस्कृति के सुंदरतम रूप की अभिव्यक्ति करने वाले कवि के विपय में यह वात आपाततः अपेक्षणीय नही है। परंतु ये कहानियाँ पश्चात्कालीन और निस्सार है। उन्हीं के समान यह गल्प भी महत्त्व-हीन है कि वे ग्यारहवीं शती ई० के पूर्वार्ध में **धारा** के राजा **भोज** के समसामयिक थे। अविक महत्त्व की वतायी जाने वाली एक कहानी के अनुसार **कालिदास** की कथित मृत्यु **सिंहल** में (जव वे वहाँ देश-दर्शनार्थ गये हुए थे) एक गणिका के हाथ से हुई, और उनके मित्र **कुमारदास** (जो छठी शताव्दी ई० के आरंभिक काल के उस नाम के राजा से अभिन्न माने गये हैं) ने उनकी मृत्यु का पता लगाया। परंतु इस कहानी का महत्त्व भी नगण्य है। जैसा कि मैंने १९०१ में वतलाया था, यह लोककथा वहुत वाद की है, प्राचीनतम साक्ष्य के द्वारा समर्थित नहीं है, और विल्कुल महत्त्वहीन है।[2]

सर्वाधिक प्रसिद्ध लोककथा के अनुसार **कालिदास** **विक्रमादित्य** के सम-सामयिक थे, और उसकी सभा के नवरत्नों में से एक थे। इसमें संदेह नही कि इस लोककथा (जो पश्चात्कालीन है, और जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है) में निर्दिष्ट राजा का तात्पर्य उस **विक्रमादित्य** से है जिसका नाम ५७ ई० पू० के संवत् से संवद्ध है और जिसे शकों पर विजय प्राप्त करने का गौरव दिया जाता है। इस निजंधरी कथा में जो भी सच्चाई हो (और इस विपय में हम केवल अनुमान

---

१. Hillebrandt, Kālidāsa (1921), pp. 7ff.

२. JRAS. 1901, pp. 578ff.

भिड़ा सकते हैं),[1] **कालिदास** को इतने प्राचीनकाल में मानने के लिए कोई तर्क नहीं है। **भारत** के बाहर अब इस मत का कोई महत्त्वशाली पक्षपोषक नही है। परंतु **फर्गुसन** (Fergusson) का अनुमान[2] है कि ५७ ई० पू० के संवत् का आधार वस्तुतः ५४४ ई० में हूणों पर विजय है, संवत् की संगणना ६०० वर्ष पूर्व दिनांकित है। इसके आधार पर **मैक्समूलर**[3] ने यह मत स्वीकार किया कि **कालिदास** लगभग उसी काल में हुए। यह अनुमान इस तथ्य द्वारा समर्थित था कि **वराहमिहिर** (वे भी एक रत्न थे) निश्चित रूप से उसी शताब्दी के हैं, और अन्य रत्न भी किसी विशेष कठिनाई के बिना उसी काल के माने जा सकते हैं। **फर्गुसन** की प्राक्कल्पना पर आश्रित मत उस संवत् के अस्तित्व के निर्णायक प्रमाण द्वारा निश्चित रूप से खंडित हो गया है, वह संवत् मालवों का था जो ५४४ ई० के पहले प्रचलित था। इस प्रकार डा० **हार्नले** (Hoernle)[4] को यह बात बहुत संभाव्य प्रतीत हुई कि लोककथा के '**विक्रमादित्य**' से अभिप्रेत विजेता राजा **यशोधर्मन्** था, जो **हूणों** का विजेता था। प्रोफेसर **पाठक**[5] ने किसी समय उसी मत का पक्षपोषण किया था। उन्होंने इस तथ्य पर बल दिया कि **कालिदास** ने **रघुवंश**[6] में प्राचीन राजा **रघु** की दिग्विजय के विवरण में **हूणों** का निर्देश किया है, और प्रत्यक्षतः उनकी स्थिति **काश्मीर** में बतलायी है, क्योंकि उन्होंने कुंकुम का उल्लेख किया है जिसकी पैदावार केवल **काश्मीर** में होती है।

अन्य आप्त लेखकों ने **कालिदास** को गुप्त-शासनकाल में मानने के लिए प्राचीनतर समय का अनुमोदन किया है। उनकी मान्यता है कि **हूणों** की विजय का उल्लेख किसी समसामयिक घटना का निर्देश करता है। प्रोफ़ेसर **पाठक**[7] ने पुनर्विचार करके इस समय का निश्चय किया है। इस दृष्टि से वे मानते हैं कि **हूण वंक्षु** के किनारे रहते थे, और उन्होंने अपने साम्राज्य की प्रथम स्थापना वंक्षु-घाटी में ४५० ई० में की। इसके कुछ ही समय बाद **कालिदास** ने **रघुवंश** की रचना की, परंतु यह रचना स्कंदगुप्त द्वारा हूणों की प्रथम पराजय के पूर्व हुई, जिसका समय

---

१. उदाहरणार्थ— Konow, SBAW, 916, pp. 812 ff.

२. JRAS, xii. (1880), 268 f.

३. India (1883) pp. 281 ff. ४. JRAS. 1909, pp. 89 ff.

५. JRAS. xix. 39 ff. ६. iv. 68.

७. मेघदूत (ed. 2), pp. vii ff. v. 67 में वे 'सिन्धु' के स्थान पर 'वंक्षु' (=Oxus) पाठ स्वीकार करते हैं; देखिए,—हारानचंद्र चकलादार, वात्स्यायन, p. 23.

४५५ ई० है। उस समय भी हूण वंक्षु-घाटी में थे, और उस युग के अत्यंत अजेय योद्धा समझे जाते थे। दूसरी ओर, **मनमोहन चक्रवर्ती**[1] (जिनकी प्रेरणा से प्रोफ़ेसर **पाठक** ने अपना मत परिवर्तित करके **कालिदास** को गुप्त राजाओं का समसामयिक माना) **रघुवंश** का रचनाकाल ४८० और ४९० ई० के बीच में मानते है। उनका आधार यह मत है कि **कालिदास** के समय में **हूण काश्मीर** में थे। परंतु, सारा तर्क सदोष प्रतीत होता है। **रघु** का वर्णन पारसीकों के विजेता के रूप मे किया गया है, और इस कथन के विषय मे कोई समसामयिक आधार नही है। स्पष्टरूप से कोई महत्त्वयुक्त ऐतिहासिक संस्मरण नहीं प्राप्त होता, किंतु (जैसा कि एक ब्राह्मणजातीय कवि की रचना में स्वाभाविक है) **हूणों** से भली-भाँति अभिज्ञ महाकाव्य के अनुरूप उल्लेख मात्र मिलता है। **रघुवंश** महाकाव्य मे उल्लिखित **हूणों** का अभिनिर्धारण अनावश्यक है; क्योंकि **हूणों** का नाम (यदि पहले नही तो) दूसरी शताब्दी ई० तक पश्चिमी जगत् मे पहुँच चुका था। यह मानने का कोई समीचीन कारण नही है कि उनका नाम पाँचवी या छठी शताब्दी ई० के बहुत पहले भारत मे नही पहुँच चुका था।[2]

अन्य साक्ष्य अत्यल्प है। जैसाकि विख्यात है, **मल्लिनाथ** के मतानुसार **मेघदूत** के १४वे पद्य में **कालिदास** के मित्र और **दिङ्नाग** के शत्रु **निचुल** नाम के कवि का निर्देश है। दिङ्नाग संभवतः प्रसिद्ध बौद्धतार्किक है। यदि यह मान लिया जाए कि उनका समय पाँचवी शताब्दी ई० है तो **कालिदास** का समय पांचवी या छठी शताब्दी माना जा सकता है। परंतु इस तर्क की कठिनाइयाँ अलंघ्य है। पहली बात यह है कि **निचुल** और **दिङ्नाग** के विषय मे कथित निर्देश को स्वीकार करना अत्यत कठिन है। अन्य प्रकार से **निचुल** केवल एक नाम है। एक बौद्ध तार्किक की एक कवि से शत्रुता की बात जँचती नही है, मुख्यरूप से ऐसी परिस्थिति में जबकि इस संघर्ष का कोई अन्य अभिलेख उपलब्ध नही है। न ही द्व्यर्थकता **कालिदास** की शैली के अनुरूप है।[3] इस प्रकार के प्रयत्न कालिदास के युग से मेल नहीं खाते। इसके विपरीत, परवर्ती काल में वे ठीक उसी रूप मे पाये जाते है जैसाकि स्वीकार किया गया है। अतः, जहाँ वे वस्तुतः अभिप्रेत नहीं हैं वहाँ भी टीकाकारों ने उनका दर्शन किया है। यह बात अर्थसूचक है कि **वल्लभदेव** ने इस पर

---

१. JRAS. 1903, pp. 183 f.; 1904 pp. 158 f.

२. Huth, Die Zeit das Kālidāsa, pp. 29 ff.

३. उसी स्थल पर **सारस्वत**-संप्रदाय के निर्देश का Thomas द्वारा प्रस्तुत किया गया सुझाव (Hillbrandt p. 12) निर्देश की असंभावना की वृद्धि ही करता है.

ध्यान नहीं दिया है। इसका पहले-पहल उल्लेख **दक्षिणावर्तनाथ** (लगभग १२०० ई०) और **मल्लिनाथ** (चौदहवीं शताब्दी) में मिलता है। **कालिदास** को चाहे जितना पश्चात्कालीन माना जाए, ये टीकाकार उनके कई शताब्दियों के बाद हुए हैं। परंतु यदि उक्त निर्देश को सही मान लें तो भी **दिङ्नाग** को निश्चय के साथ पाँचवीं या (अन्य विद्वानों के अनुसार) छठी शताब्दी का नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, ऐसा पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है जिससे अनुमान होता है कि उनका समय अधिक-से-अधिक ४०० ई० मानना उचित है।[1]

इसी प्रकार **वसुबंधु** से संबंधित **चंद्रगुप्त** के पुत्र के विषय में **वामन** द्वारा किये गये संकेत से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। प्रायः इस आधार पर कि **वसुबंधु** पाँचवीं शताब्दी में हुए थे, यह निश्चय करने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये गये हैं कि वे कौन थे। परंतु यह अधिक संभाव्य है कि **वसुबंधु** का समय चौथी शताब्दी के प्रथम चरण से आरंभ होता है, और इससे कोई ऐसी बात नही निकलती जो **कालिदास** के युग का निर्धारण करने में सहायता दे सके।[2]

अधिक ठोस प्रमाण **कालिदास** की रचनाओं में उपलब्ध फलित और गणित ज्योतिष से संबंध रखने वाली आधार-सामग्री में खोजना चाहिए। प्रोफ़ेसर **याकोबी** (Jacobi) को **विक्रमोर्वशी** में षष्ठ 'काल' के साथ मध्याह्न के समकरण में इस बात का प्रमाण दृष्टिगोचर होता है कि सामान्य व्यवहार के लिए १२ होराओं ('काल' का प्रयोग प्रत्यक्षतः 'होरा' के लिए हुआ है) में दिन के संगणन की प्रणाली जब पश्चिम से भारत में आयी उसके तत्काल बाद के युग में **कालिदास** हुए थे। Huth की व्याख्या के अनुसार उक्त स्थल षोडशधा विभाजन का निर्देश करता है। इससे प्राप्त तर्क को वे सिद्ध नहीं कर सके हैं। दूसरी ओर, उन्होंने **कालिदास** को **आर्यभट्ट** (४९९ ई०) का पश्चात्कालीन मानकर स्पष्टतया भूल की है। उनकी मान्यता का आधार यह है कि **रघुवंश** में कवि ने निर्देश किया है कि चंद्रमा में पृथ्वी की छाया पड़ने से ग्रहण लगता है, और यह निर्देश चंद्रमा के धब्बों के विषय में प्रचलित प्राचीन सिद्धांत का संकेत करता है। परंतु, यह संभाव्य है कि **कालिदास** ने राशिचक्र में सिंह की आकृति का निर्देश किया है, जो पश्चिम की देन है। यह निश्चित है कि वे राशिफल-संबंधी ज्योतिष की प्रणाली (जिसके लिए भारत पश्चिम का ऋणी है) से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने **रघुवंश** और **कुमारसम्भव** दोनों में ग्रहों के प्रभाव का उल्लेख किया है। सबसे अधिक

१. Keith. Indian Logic. p. 28.

२. पाठक, IA. xl. 170 f.; Hoernle. 264; हरप्रसाद, JPASB. i. (1905), 253; JBORS. ii. 35 f.; 391 f.

महत्त्वपूर्ण यह है कि उन्होंने 'उच्च' और यहाँ तक कि 'जामित्र' के सदृश शब्दों का प्रयोग किया है, जो यूनान से उधार लिये गये हैं। इस प्रकार के लेखांशों से सूचित होता है कि उनका समय संभवतः ३५० ई० के पूर्व नहीं है।[1]

उसी प्रकार का साक्ष्य **कालिदास** की प्राकृत से मिल सकता है, जो स्पष्टरूप से **भास** की प्राकृत की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। उनकी **महाराष्ट्री** उचित आश्वासन के साथ आरंभिक **महाराष्ट्री** प्रगीत (जिसका उदय तीसरी और चौथी शताब्दी ई० में हुआ होगा) के बाद की मानी जा सकती है। वे ६३४ ई० के **ऐहोल-शिला-लेख** (जिसमें उनकी प्रशस्ति की गयी है), **बाण** (६२० ई०) और **वत्सभट्टि** की **मंदसोर-प्रशस्ति** (४७३ ई०) के पूर्ववर्ती भी हैं। अतएव यह अत्यंत संभाव्य है कि वे **उज्जयिनी** के **चंद्रगुप्त द्वितीय** के शासनकाल में हुए। विक्रमादित्य की उपाधि से अलंकृत **चंद्रगुप्त** ने ४१३ ई० तक शासन किया। '**विक्रमोर्वशी**' के नाम में कदाचित् इसका संकेत है, और '**कुमारसम्भव**' के नाम में **चंद्रगुप्त** के पुत्र और उत्तराधिकारी **कुमारगुप्त** के जन्म पर अभिनंदन का संकेत हो सकता है।[2] **मालविकाग्निमित्र** में अश्वमेध के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है। इससे सूचित होता है कि **कालिदास** ने आरंभिक रचना ऐसे युग में की थी जब बहुत समय के बाद किसी भारतीय राजा (**समुद्रगुप्त**) के द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध की ताजी स्मृति लोगों के मन में बनी हुई थी। इसके अतिरिक्त, **कालिदास** की कविताएँ तत्त्वतः गुप्त-काल के अनुरूप हैं, जबकि उस राजवंश की ब्राह्मणवादी तथा भारतीय प्रवृत्तियाँ जोरों पर थीं और विदेशी आक्रमण का भय दृष्टि से ओझल था।

कालिदास के तीन नाटक

मालविकाग्निमित्र[3] निर्विवाद रूप से **कालिदास** की प्रथम नाटकीय रचना[4]

---

१. Jacobi, ZDMG. xxx. 303 ff., Monatsber. d. kgl. Preuss. Akad. d.W., 1837, pp. 554 ff.; Huth, op. cit, pp. 32 ff., 49 ff.

२. Keith, JRAS. 1909, pp. 433 ff., Bloch, ZDMG. lxxii. 671 ff., Liebich, IF. xxxi, 198 ff.; Konow, ID., pp. 59 f.; Winternitz, GIL. iii. 43 f.

३. संपादन—F. Bollensen, Leipzig, 1879; अनुवाद—A. Weber, Berlin, 1856; V. Henry, Paris, 1889; C.H. Tawney, London, 1891. दशरूपक iii, 18 की टीका में हस्तलेख-परंपरा के आधार पर दिये गये उद्धरण के पाठांतर से इसके भिन्न संस्करण का अस्तित्व सूचित होता है।

४. अपेक्षाकृत कम प्रगीत-शक्ति की व्यंजना से यह अनुमित होता है, प्रमाणित नहीं, कि मेघदूत बाद की रचना है (Huth, p. 68). परंतु **ऋतुसंहार** निस्संदेह प्रारंभिक रचना है, उसकी प्रामाणिकता मैं प्रदर्शित कर चुका हूँ, JRAS. 1912, pp. 1066 ff.; 1913, pp. 410. बाद के दो नाटकों से **कुमारसम्भव** और **रघुवंश** का संबंध संदिग्ध है।

है। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने **भास**, **सौमिल्ल** और **कविपुत्रों** के रहते हुए एक नया रूपक प्रस्तुत करने की धृष्टता के विषय में क्षमा-याचना की है। **विक्रमोर्वशी** में भी उन्होंने कुछ आशंका व्यक्त की है, जो **शकुन्तला** में दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्य दो रूपकों की अपेक्षा इस रूपक में कवि के गुणों की स्पष्टतया बहुत कम अभिव्यक्ति हुई है, परंतु कर्तृत्व की अभिन्नता निर्विवाद है। **विल्सन** (*Wilson*) की शंकाओं के विरुद्ध **वेबर** ने इसे बहुत पहले सिद्ध कर दिया था।

यह रूपक पाँच अंकों का नाटक है, जो संभवतः **उज्जयिनी** में वसंतोत्सव के समय खेला गया था। इसमें उसी प्रकार का शृंगारिक चित्रण है जैसा हम **भास** के **उदयन**-विषयक रूपकों में देख चुके हैं। इसकी नायिका **मालविका** **विदर्भ** की राजकुमारी है, जिसके भाग्य में **अग्निमित्र** की पत्नी होना बदा था। **मालविका** के भाई **माधवसेन** को उसका चचेरा भाई **यज्ञसेन** बंदी बना लेता है। **मालविका** निकल भागती है और **अग्निमित्र** की शरण में जाना चाहती है। परंतु उसकी राजधानी **विदिशा** की ओर जाते समय मार्ग में उसके अनुरक्षकों पर वनचर आक्रमण करते हैं, जो कदाचित् प्रतिद्वंद्वी **विदर्भ**-राजकुमार के आदेश से हुआ है। परंतु वह फिर बच निकलती है, और **विदिशा** पहुँच जाती है। वहाँ पर वह रानी **धारिणी** के महल में शरण लेती है। रानी उसे नृत्यकला में शिक्षित कराती है। संयोग से राजा **मालविका** का चित्र देखकर उस पर अनुरक्त हो जाता है। उससे साक्षात्कार की व्यवस्था करना सरल नही है। परंतु राजा का विदूषक **गौतम** दो नृत्य-शिक्षकों में झगड़ा लगा देता है। उन दोनों को अपनी श्रेष्ठता के विवाद का निर्णय कराने के लिए राजा की मदद लेनी पड़ती है। और, राजा स्वयं यह मामला तपस्विनी **कौशिकी** के हवाले कर देता है। वह वस्तुतः **मालविका** की पक्षधारिणी है, जो **मालविका** और उसके भाई (जो अनुरक्षकों पर किये गये आक्रमण के समय मारा गया था) की रक्षिका रह चुकी थी। वह शिक्षकों की अपनी सर्वश्रेष्ठ शिष्या को प्रस्तुत करने का आदेश देती है। **गणदास** **मालविका** को ले आता है। उसके गान और नृत्य से सब आनंदित होते हैं। उसके सौंदर्य पर मुग्ध राजा अपूर्व आनंद प्राप्त करता है। वह विजयिनी होती है। तीसरे अंक में दृश्यस्थल बदल जाता है। **धारिणी** के आदेश से **मालविका**, कवि-समय के अनुसार, अपने चरण-स्पर्श से अशोक को कुसुमित करने के लिए उद्यान में आती है। विदूषक के साथ राजा लता की ओट से उसे देखता है। उसकी छोटी रानी **इरावती** भी ऐसा ही करती है। उसके मन में इस नयी नायिका के प्रति शंका और सौतिया डाह है। गुप्त रूप से राजा **मालविका** और उसकी सखी का वार्तालाप सुनता है। वह अनुभव करता है कि **मालविका** भी उसीकी भाँति प्रेम करती

है। वह वाहर निकलकर उसका आलिंगन करता है। **इरावती** सहसा प्रकट होकर और राजा के समीप पहुँचकर उसका अपमान करती है। **धारिणी मालविका** को वंदी बना लेती है जिससे प्रेम-व्यापार आगे न वढ़ सके। परंतु, **कौशिकी** की सहायता से विदूषक समस्या को सुलझाने में समर्थ सिद्ध होता है। वह ढोंग करता है कि उसे साँप ने काट खाया है। उपचार के लिए एक रत्न की आवश्यकता पड़ती है जो रानी की मुद्रिका में है। उस काम के लिए रानी मुद्रिका दे देती है, किंतु उसका उपयोग **मालविका** को मुक्त कराने के लिए किया जाता है। प्रेमियों के मिलन की व्यवस्था की जाती है। **इरावती** की सुदृढ़ सतर्कता के कारण फिर वाधा पहुँचती है। भाग्यवश, राजा को वंदर से भयभीत नन्हीं राजकुमारी **वसुलक्ष्मी** की रक्षा के लिए जाना पड़ता है, और इस प्रकार उसका संकट हलका हो जाता है। पाँचवें अंक में दो अप्रत्याशित समाचारों के आने से वह उलझन सुलझ जाती है। दूत **विदर्भ** के राजकुमार पर प्राप्त विजय का संवाद और युद्धवंदियों को लेकर आते हैं। गायिकाओं के रूप में दो लड़कियाँ रानी के समक्ष उपस्थित होती हैं। वे रानी की परिचारिकाओं में **कौशिकी** और अपनी भट्टिनी **मालविका** को पहचान लेती हैं। **कौशिकी** वतलाती है कि राजकुमारी की स्वरूपता (identity) के विपय में उसकी चुप्पी का कारण भविष्यवाणी का अनुसरण है। इसके अति-रिक्त, **अग्निमित्र** का पिता **पुष्यमित्र** उत्तर से विजय का समाचार लेकर भेजता है, अश्वमेव के अश्व की रक्षा करते हुए **धारिणी-पुत्र वसुमित्र** ने सिंधु-तट पर यवनों को पराजित किया है। (सनातन धर्म के अनुसार यज्ञ का अश्व वंधनमुक्त होकर एक वर्प तक घूमता रहता है। उसके वाद ही राजा को चक्रवर्ती की उपाधि के लिए अश्वमेव करने का अविकार प्राप्त होता है।) **मालविका** ने अशोक को कुसुमित करके जो सेवा की है उसके उपलक्ष्य में **धारिणी** को उसके लिए एक पुरस्कार देना है। अपने पुत्र की सफलता के समाचार से आनंदित होकर वह प्रसन्नतापूर्वक **अग्निमित्र** को **मालविका** से विवाह करने का अधिकार देती है। **इरावती** क्षमा-प्रार्थना करती है, और सवकुछ आनंद के साथ समाप्त होता है।

पुष्यमित्र, अग्निमित्र और **वसुमित्र** स्पष्टतया शुंग-राजवंश से गृहीत पात्र हैं। यह राजवंश **पुष्यमित्र** के द्वारा १७८ ई० पू० में अंतिम मौर्य राजा को सिंहासन-च्युत करके प्रतिष्ठित हुआ था।[1] उसके समय में यवनों के साथ संपर्क का अभिलेख मिलता है। अश्वमेव असंदिग्ध रूप से परंपरागत है, परंतु साथ ही इसमें **समुद्रगुप्त** के यज्ञ का संकेत हो सकता है, जो आरंभिक गुप्त-काल के इतिहास की सर्वाधिक

१. इतिहास के लिए देखिए—CHI. i. 519 f.

महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि उससे इस वंश का साम्राज्य-संबंधी प्रभुत्व स्थापित हुआ। रूपक का शेष भाग प्रसामान्य प्रतिमान पर आधारित है।

कुछ लोगों ने **विक्रमोर्वशी**[1] को **कालिदास** का अंतिम रूपक[2] माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अप्रौढ़ **मालविकाग्निमित्र** और पूर्णतः प्रौढ़ **शकुंतला** के बीच की रचना है। इसका वर्ण्य विषय राजा **पुरूरवा** और अप्सरा **उर्वशी** की प्रेम-कहानी है। प्रस्तावना के विषय में अनुचित शंका की गयी है कि वह नाटक की अपूर्णता का प्रमाण है और इसलिए यह नाटक बाद की रचना है। प्रस्तावना के अंत में अप्सराओं का क्रंदन सुनायी पड़ता है। **कैलास** से लौटते समय **उर्वशी** को एक दानव ने पकड़ लिया है। राजा (नायक) शीघ्रता से आता है, उसे बचाता है, और उसको पहले उसकी सखियों को और तदनंतर गंधर्वराज को सौंपता है। इसके पूर्व दोनों एक-दूसरे पर अतिशय आसक्त हो चुके हैं। प्रवेशक में रानी की एक चेटी बड़ी निपुणता के साथ विदूषक से राजा की परिवर्तित अवस्था के रहस्य को, **उर्वशी** के प्रति उसके अनुराग को, जान लेती है। तत्पश्चात् राजा आता है। विदूषक से बातचीत करते हुए वह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करता है, परंतु उसे नाम मात्र की सहानुभति मिलती है। अपनी एक सखी के साथ **उर्वशी** अदृश्य रूप से आती है, और भूर्जपत्र पर एक प्रेम-पत्र लिखकर डाल देती है। राजा उसे पढ़कर विदूषक को देता है। **उर्वशी** की सखी प्रकट होती है, और अंत में स्वयं **उर्वशी** भी। कुछ ही देर तक प्रेमालाप चलने के बाद **उर्वशी** की इंद्रलोक में बुलाहट होती है, उसे **भरत** द्वारा प्रयुक्त नाटक में भूमिका अदा करनी है। दुर्भाग्य से यह प्रेम-विषयक समाचार रानी तक पहुँच जाता है। **पुरूरवा** उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, किंतु वह उसके निवेदन को स्वीकार नही करती। तीसरे अंक[3] के पूर्व विष्कंभक में **भरत** के दो शिष्यों के वार्तालाप से पता चलता है कि **लक्ष्मी**-विवाह-नाटक मे **उर्वशी** ने निकृष्ट रूप में भूमिका अदा की। **वारुणी** (मेनका) ने पूछा—तुम किससे प्रेम करती हो? **लक्ष्मी** की भूमिका अदा करती हुई **उर्वशी** ने **पुरुषोत्तम** (विष्णु) का नाम न लेकर कह दिया—**पुरूरवा** से। तब **भरत** ने उसे शाप दे दिया। इंद्र ने बीच में पड़कर कहा—मैं तुम्हें अपने प्रेमी के साथ भूतल पर तब

---

१. संपादन—F. Bollensen, Leipzig, 1846; S.P. Pandit, Bombay, 1901; M. R. Kale, Bombay, 1898; अनुवाद—E. B. Cowell, Hertford, 1851; L. Fritze, leipzig, 1880; E. Lobedanz, Leipzig, 1881. बंगाली संस्करण का संपादन-Pischel, Monatsbar d. kgl. Preuss. Akad. d. W. 1875, pp. 609 ff.

२. मिलाकर देखिए—Huth, op. cit., pp. 63 ff.

३. डा० कीथ ने भूल से Act II लिखा है, वस्तुतः Act III होना चाहिए.

तक रहने की अनुमति देता हूँ जब तक वह तुम्हारी संतान का मुख न देखे। तीसरे अंक में राजा रानी को प्रसन्न करने के लिए उत्कंठित है। राजा के साथ रानी रोहिणी-संयुक्त चंद्र को साक्षी देकर प्रियानुप्रसादन नाम का व्रत करती है। तिरस्करिणी में अंतर्हित **उर्वशी** और उसकी सखी रानी के प्रति राजा के सौजन्य को देखती है। **उर्वशी** का हृदय वेदना से भर जाता है, यद्यपि उसकी सखी उसे विश्वास दिलाती है कि यह राजा का शिष्टाचार मात्र है। **उर्वशी** यह जानकर आह्लादित होती है कि रानी ने पुनः मेल करने का निश्चय कर लिया है। वह राजा को अपनी प्रेयसी के साथ आनंद भोगने की अनुमति प्रदान करती है। राजा रुकने के लिए उससे आग्रह करता है, परंतु वह रुकती नहीं। **उर्वशी पुरूरवा** से मिलती है। उसकी सखी विदा लेती है। जाते समय वह **पुरूरवा** को निर्देश देती है—इसे इस प्रकार रखना जिससे इसको स्वर्ग की सखियों का वियोग न खले।

चौथे अंक के प्रवेशक में विपत्ति का वर्णन है। सरोवर के किनारे दो अप्सराएँ **उर्वशी** के वियोग में व्यथित हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि एक साधारण-सी बात पर अपने प्रिय से क्रुद्ध होकर **उर्वशी** ने नारियों के लिए वर्जित **कुमारवन** में प्रवेश किया और लता के रूप में परिणत हो गयी। विक्षिप्त[1] राजा उसकी खोज करता है। उसे लगता है कि बादल असुर है, जो उसकी प्रिया को चुरा ले गया है। वह मोर से, कोयल से, नीलकंठ से, भ्रमर से, गजेंद्र से, सूअर से, हरिण से कहता है—मेरी प्रेयसी का पता बता दो। उसे प्रतीत होता है कि वह सरिता के रूप में बदल गयी है; सरिता की तरंगें उसके भृकुटि-विलास हैं, जल-पक्षियों की पंक्ति उसकी करधनी है। वह नाचता है, गाता है, क्रंदन करता है, पागलपन में मूर्च्छित हो जाता है, अथवा प्रतिध्वनि को अपने प्रश्नों का उत्तर समझता है। नेपथ्य से आने वाली वाणी एक दिव्य मणि (**संगमनीय** मणि) का वर्णन करती है। उसे लेकर **पुरूरवा** एक लता का आलिंगन करता है जो **उर्वशी** के रूप में परिणत हो जाती है।

पाँचवें अंक में नाटक इस प्रगीत-शिखर से नीचे उतरता है। अपनी प्रेयसी के साथ राजा राजधानी में वापस आ गया है। विहार से लौटने पर कौमुदी-महोत्सव मनाया जा रहा है। **संगमनीय** मणि को एक गिद्ध झपट ले जाता है। परंतु, वह एक कुमार धनुर्धर के बाण से विद्ध होकर गिर पड़ता है। बाण पर खुदा हुआ है—'**उर्वशी** और **पुरूरवा** के पुत्र **आयु** का बाण।' संतान के विषय में

---

१. स्पष्ट है कि इसका पूर्वरूप राम द्वारा सीता की खोज है; **रामायण**, iii. 60. Gawronski द्वारा प्रोद्धृत (Les sources de quelques drames indiens, pp. 19, 29) सुधनावदान का स्रोत भी संभवतः वही है.

राजा को कुछ भी पता नहीं था, परंतु उसके विस्मय के समय एक तापसी एक कुमार के साथ आती है। आश्रम में उस कुमार को क्षत्रियोचित शिक्षा दी गयी थी। एक पक्षी को मारकर उसने आश्रम के नियम का उल्लंघन किया। इसलिए तापसी उस कुमार को उसकी माँ को सौंपने के लिए लायी है। **उर्वशी** बुलायी जाती है। वह स्वीकार करती है कि मैं इस कुमार की माँ हूँ। **पुरूरवा** प्रसन्न है, परंतु **उर्वशी** अपने अनिवार्य वियोग की बात सोचकर रोने लगती है, क्योंकि **पुरूरवा** ने पुत्र को देख लिया है। जिस समय खिन्न **पुरूरवा** राज्य का भार कुमार को सौंप कर वन में जाने को प्रस्तुत है उसी समय **नारद** एक सुखद समाचार लाते हैं। देवों और असुरों में संग्राम चल रहा है, उसमें **पुरूरवा** के बाहुबल की आवश्यकता है, और पुरस्कार के रूप में **पुरूरवा** जीवन भर **उर्वशी** के संयोग का सुख पा सकता है।

इस नाटक के दो संस्करण उपलब्ध हैं। एक बंगाली और देवनागरी हस्तलिपियों में है जिस पर **रंगनाथ** ने १६५६ ई० में टीका लिखी थी। दूसरा संस्करण दाक्षिणात्य हस्तलिपियों में है, जिस पर लगभग १४०० ई० में **कोण्डवीडु** के रेड्डी राजा **कुमारगिरि** के मंत्री **काटयवेम** ने टीका लिखी थी। दोनों में बहुत अंतर है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्तर की हस्तलिखित प्रतियों में अपभ्रंश के बहुत-से पद्य हैं जिनके साथ राग-रागिनियों के विषय में निर्देश भी दिये गये हैं। दक्षिण की प्रतियों में इसकी उपेक्षा की गयी है। उत्तर के संस्करण में इस रूपक को 'त्रोटक' कहा गया है, प्रत्यक्षतः इसका आधार पद्यों के साथ नृत्य का संयोग है। दाक्षिणात्य संस्करण में इसकी संज्ञा 'नाटक' है, और तत्त्वतः यह 'नाटक' है। उक्त पद्यों की प्रामाणिकता के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—नाट्यशास्त्री इस विषय में मौन हैं; **कालिदास** के समय में अपभ्रंश के इस रूप का अस्तित्व अत्यंत संदिग्ध है;[1] नाटक के गद्य और पद्यों में कुछ स्थलों पर किसी सीमा तक असंगति पायी जाती है; अनेक परवर्ती नाटकों में उस दृश्य का अनुकरण किया गया है (**मालतीमाधव**, अंक ९; **बालरामायण**, अंक ५; **प्रसन्नराघव**, अंक ६; और **महानाटक**, अंक ४), परंतु उनमें इस प्रकार के पद्य नहीं पाये जाते। कुल मिलाकर ये कारण निर्णायक हैं, और इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि उत्तरी संस्करण की प्राकृत अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

---

१. Jacobi, भविसत्तकहा p. 58; Bloch, Vararuci and Hemacandra, pp. 15 f.

शकुंतला[1] असंदिग्ध रूप से कालिदास की नाट्यकला का सर्वोत्कृष्ट रूप है। उसे कवि के रचना-काल के अंतिम चरण की कृति मानना उचित है। लेखक के स्वाभाविक कौशल के साथ प्रस्तावना के अंत में राजा दुष्यंत वेग से मृग का पीछा करता हुआ तपोवन के समीप आता हुआ दिखलाया गया है। उसे चेतावनी मिलती है कि यह आश्रम की पावन भूमि है। वह रथ से उतरकर आश्रम के ऋषि का अभिवादन करने के लिए चल पड़ता है। ऋषि बाहर गये हुए हैं। उनकी पोष्यपुत्री शकुंतला अपनी सखियों के साथ आश्रम में है। एक भौंरा उसका पीछा करता है। वह सहायता के लिए पुकारती है। सखियाँ उत्तर देती हैं कि राजा दुष्यंत सहायता करेगा क्योंकि यह आश्रम उसके संरक्षण में है। राजा सहायता के लिए प्रेम-पूर्वक आगे बढ़ता है। उसकी सखियों से वह शकुंतला की जन्म-कथा का पता लगाता है। वह विश्वामित्र और मेनका की पुत्री है। वह बड़ी होकर तपस्विनी नहीं बनेगी, किसी सुपात्र के साथ उसका विवाह होगा। नायक उस पर अनुरक्त होता है। नायिका उसके प्रेम का प्रतिदान करती है। इसी समय समाचार मिलता है कि किसी जंगली हाथी ने तपोवन में उपद्रव मचाया है, और नायक को जाना पड़ता है। दूसरे अंक में राजा का विदूषक उसके आखेट के श्रम से परेशान दिखायी देता है। राजा आखेट बंद करने की आज्ञा देता है—विदूषक को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि शकुंतला के कारण। वह अपने सहानुभूति-रहित मित्र से अपनी प्रणयानुभूति का वर्णन करता है। तभी ऋषिकुमार आकर राक्षसों के विरुद्ध आश्रम की रक्षा के लिए उससे निवेदन करते हैं। वह विदूषक को एक अनुष्ठान में भाग लेने के लिए राजधानी में वापस भेज देता है और उससे पिंड छुड़ा लेता है। गृह-कलह बचाने के लिए राजा उसको विश्वास दिलाता है कि शकुंतला के विषय में कही गयी बातें सत्य नहीं हैं। तीसरे अंक के पूर्व विष्कंभक में एक ब्राह्मण-कुमार दुष्यंत के कार्यों की प्रशंसा करता है, और हमें ज्ञात होता है कि शकुंतला अस्वस्थ है तथा उसकी सखियाँ उसकी स्वस्थता के विषय में चिंतित हैं, क्योंकि वह कण्व का प्राण ही है। तीसरे अंक में सखियों-सहित शकुंतला का चित्रण है। वह कामार्त है और उनके कहने से राजा को पत्र लिखती है। ओट में खड़ा हुआ राजा सबकुछ सुन लेता है, और सामने आता है। नायक-नायिका का संवाद चलता

---

१. बंगाली संस्करण, R. Pischel, Kiel, 1877; M. Williams, Hertford, 1876, और M.R. Kale, Bombay 1908, देवनागरी संस्करण प्रस्तुत करते हैं, और प्रायः ऐसा ही S. Ray, Calcutta, 1908; C. Capeller Leipzig, 1909; दाक्षिणात्य संस्करण हैं, Madras, 1857, 1882. और भी देखिए—Burkhard, Die Kacmirer Śakuntalā-Handschrift, Vienna, 1884.

है, जिसमें दोनों अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। दृश्य की समाप्ति तापसी **गौतमी** के आगमन से होती है, जो अपनी संरक्षिता (**शकुंतला**) को ले जाने के लिए आयी है। इसके बाद विष्कंभक में **शकुंतला** की प्रिय सखियों, **प्रियंवदा** और **अनसूया** के कथोपकथन से सूचित होता है कि राजा **शकुंतला** के साथ गांधर्व-विवाह करने के पश्चात् चला गया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसे भूल गया है ; इधर **कण्व** लौटने वाले हैं और उन्हें इस विषय की कोई जानकारी नहीं है। जोर की आवाज सुनकर वे चौंक पड़ती हैं। चिंतन में डूबी हुई कामार्त **शकुंतला** आश्रम में आये हुए निष्ठुर तपस्वी **दुर्वासा** का उचित संमान नहीं कर सकी है। वे उसे शाप देते हैं। उसकी सखियों की अनुनय-विनय का केवल इतना ही फल निकलता है कि शाप की कठोरता कम हो जाएगी। उसका पति उसे भूल जाएगा, किंतु सदा के लिए नहीं। यह विस्मृति तभी तक रहेगी जब तक राजा के द्वारा दी गयी मुद्रिका उसके समक्ष प्रस्तुत नहीं की जाती। शाप अमोघ है। नाटक का सारा व्यापार इसी पर आधारित है। इसी अंक में निरूपित है कि **कण्व**-विषयक कठिनाई सुलझ गयी है। उनके लौटकर आते ही आकाशवाणी ने उन्हें **शकुंतला** के विवाह और प्रौढ़ गर्भ की सूचना दे दी है। उन्होंने अनुरक्षकों के साथ **शकुंतला** को राजा के पास भेजने का निश्चय कर लिया है। इसके अनंतर घनीभूत करुणा का दृश्य है। वृद्ध तपस्वी **कण्व** बोझिल हृदय से अपनी पोष्यपुत्री को उसके भावी जीवन के विषय में शिक्षा देकर विदा करते हैं। बेचारी **शकुंतला** **कण्व** को, अपनी सखियों को और तपोवन की प्रिय वस्तुओं को छोड़कर प्रस्थान करती है।

पाँचवें अंक में **दुष्यंत** राजकाज में व्यस्त दिखायी देता है, क्योंकि **कालिदास** अवधानपूर्वक **दुष्यंत** को एक महान् और योग्य राजा के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। राजा को सूचना मिलती है कि स्त्रियों के सहित कोई तपस्वी उससे मिलना चाहते है। इसी समय एक गीत सुनायी पड़ता है जिसमें रानी **हंसपदिका** अपने प्रति राजा की अननुकूलता पर खेद प्रकट करती है। राजा उसे आश्वासन देने के लिए विदूषक को भेजता है, और तपस्वियों से विधिवत् सत्कारपूर्वक मिलता है। वे उसकी पत्नी को ले आये हैं, किंतु शाप के कुप्रभाव से वह उसे नही पहचानता और ग्रहण करने में असमर्थ है। तपस्वी उसकी भर्त्सना करते हैं, और **शकुंतला** को वहीं छोड़ जाने पर तुले हुए है, क्योंकि उसका धर्म पति के पास रहना है। राजा का पुरोहित उसे अपने घर में तब तक शरण देने को तैयार है जब तक संतान न हो जाए; परंतु एक ज्योति आकर **शकुंतला** को उठा ले जाती है। राजा अब भी

उसे नहीं पहचानता, किंतु आश्चर्य-चकित है। इसके बाद प्रवेशक है। उसमें एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की योजना की गयी है। आरक्षी एक मछुए की ताड़ना करते हैं। उस पर राजकीय मुद्रिका की चोरी का अपराध लगाया गया है। उसने एक मछली पकड़ी थी, जिसके पेट में यह मुद्रिका मिली थी। यह **दुष्यंत** की मुद्रिका है जो स्नान करते समय **शकुंतला** के हाथ से गिर पड़ी थी। छठे अंक में राजा को अज्ञानवश किये गये अपराध का अभिज्ञान होता है। वह अपनी पत्नी को खो देने पर शोक करता है। वह **शकुंतला** के चित्र से मन बहलाने का प्रयत्न करता है। इसी समय अंत:पुर की एक परिचारिका आकर उसका ध्यान भंग करती है। मंत्री आता है, और उत्तराधिकार के एक कानूनी मामले में उसका निर्णय प्राप्त करता है। यह प्रसंग राजा को उसकी अनपत्यता का स्मरण दिलाता है। विषाद-ग्रस्त राजा विदूषक की चीत्कार सुनकर चौंक पड़ता है। इंद्र के सारथि **मातलि** ने उसका गला दबा रखा है। उसने इस प्रभावशाली उपाय को इसलिए अपनाया है जिससे राजा में यह चेतना जागृत हो सके कि वैयक्तिक भावना से ऊपर भी कुछ कर्तव्य हैं। देवताओं को युद्ध के लिए राजा की सहायता की आवश्यकता है। सातवें अंक में विजेता **दुष्यंत मातलि** के साथ आकाश-मार्ग से रथ में यात्रा करता हुआ दिखायी देता है। वे लोग **हेमकूट** जा रहे हैं जहाँ पर **मारीच** ऋषि और उनकी पत्नी का आश्रम है और जो परम आनंद का स्थान है। वहाँ पर राजा देखता है कि कोई वीर बालक एक सिंह-शावक को क्रीड़ावश खींच रहा है, और उसके साथ की दो तपस्विनियाँ आतंकित हैं। तपस्विनियाँ सिंह-शावक को बचाने के लिए राजा से हस्तक्षेप करने को कहती हैं। राजा अपनी पुत्रहीनता का ध्यान करके व्यथित होता है। उसे यह जानकर आश्चर्य होता है कि वह किसी तपस्वी का पुत्र नहीं है; बल्कि उसका अपना ही पुत्र है। एक तपस्विनी के वेष में **शकुंतला** उसके समक्ष आती है। **मारीच शकुंतला** से यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि उसे जो दुःख मिला है उसके लिए **दुष्यंत** दोषी नहीं है। इससे उन दोनों का आनंद पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

यह स्वाभाविक है कि इतना लोकप्रिय नाटक एक ही संस्करण में नहीं उपलब्ध होता।[1] चार संस्करण विशिष्ट हैं—बंगाली, देवनागरी, काश्मीरी और दाक्षिणात्य। इनके अतिरिक्त, पाँचवें का भी अनुसंधान किया जा सकता है। परंतु, वस्तुतः, दो मुख्य संस्करण हैं—बंगाली, जिसमें टीकाकार **शंकर** और **चंद्रशेखर**

---

१. Konow, *ID.*, pp. 67 f.; हरिचन्द, **कालिदास**, pp. 243 ff; B.K. Thakore, The Text of the Śakuntalā (1922); Windisch. Sansk. Phil., pp. 344 f.

द्वारा निश्चित २२१ पद्य हैं; और देवनागरी, जिसमें टीकाकार **राघव भट्ट** द्वारा निश्चित १९४ पद्य हैं। काश्मीरी संस्करण, जिसमें सातवें अंक केआरंभ में एक अर्थोपक्षेपक दृश्य भी जुड़ा हुआ है, मुख्यतया उत्तर-भारत के प्रतिनिधि पाठों का सारसंग्रही मिश्रण है। दाक्षिणात्य संस्करण देवनागरी-संस्करण के अत्यधिक समीप है। **अभिराम, काटयवेम** आदि ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं। इस विषय में विवाद है कि कौन-सा संस्करण अधिक उत्कृष्ट है। **पिशेल**[1] ने इस बात पर बल दिया है कि बंगाली संस्करण की प्राकृत अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध है और देवनागरी-संकरण के कतिपय पाठों की सुंदरतम व्याख्या बंगाली संस्करण की पार्श्वटिप्पणी के रूप में की जा सकती है। **लेवी**[2] ने सिद्ध किया है कि **हर्ष** और **राजशेखर** किसी-न-किसी रूप में बंगाली संस्करण से अभिज्ञ थे। दूसरी ओर, **वेबर**[3] ने तर्क किया है कि देवनागरी-संस्करण को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। निश्चय ही उसके कुछ पाठ उत्कृष्टतर हैं, और बंगाली संस्करण के कुछ पद्य दोनों संस्करणों में उपलब्ध पद्यों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। जब तक कि हम Bollensen के इस मत को (जो बहुत तर्कसंगत नहीं है) न स्वीकार कर ले कि देवनागरी-पाठ अभिनय की दृष्टि से संशोधित नाटक का अभिनेय संस्करण है, तब तक हमें यही मानना चाहिए कि उनमें से किसी का भी एकांतिक महत्त्व नहीं है। बहुत संभव है कि यह उस प्रतिलिपिकार के उत्कृष्टतर ज्ञान का परिणाम हो जिसके द्वारा बंगाली संस्करण का मूल पाठ तैयार किया गया।

३. कालिदास की नाट्यकला

प्रस्तुत अध्ययन में नाटकों का जो क्रम अपनाया गया है वह **कालिदास** की नाट्यकला के एकतान विकास के बिलकुल अनुरूप है। **मालविकाग्निमित्र** तत्त्वतः एक तरुण-होनहार कवि की कृति है। उसमें कवि को कुछ सफलता मिली है।[4] कालिदास के समय में उसका विषय कदाचित् उतना घिसा-पिटा नहीं था जितना

---

१. De Kālidāse Śākuntali recensionibus (1870); Die Recensionen der Śakuntalā (1875).

२ TI. ii. 37. बंगाली संस्करण में तीसरे अंक के शृंगारिक लम्बांश को भारतीय रुचि के अनुसार आँकना चाहिए, मिलाकर देखिए—Thakore, p. 13 f. or a condemnation.

३. IS. xiv. 35 ff., 161ff. मिलाकर देखिए—Bühler, Kashmir Report, pp. lxxxv ff.

४. उत्साहपूर्ण प्रशस्ति के लिए देखिए —V. Henry, Les Littératures de l'Inde, pp. 305 ff.

परवर्ती काल में हुआ, जब प्रत्येक नाटिका समान कथानक के आधार पर लिखी जाने लगी। घटनाओं की निबंधना में कवि ने कुछ कौशल दिखलाया है। राजा को उसकी प्रेयसी का दर्शन कराने के लिए विदूषक द्वारा प्रयुक्त दाव-पेंच मनोरंजक हैं। यद्यपि अग्निमित्र मुख्यतया कामार्त नायक के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है तथापि युद्धों और विजयों के समाचार हमें उसके राजकीय कार्य और गौरव का स्मरण दिलाते हैं। परंतु, सर्वाधिक सफल चरित्रांकन दोनों रानियों धारिणी और इरावती का ही है। इरावती की विनीतता एवं गरिमा, और अमर्ष के उचित कारण के बावजूद उसकी उदारचित्तता का प्रभावशाली चित्रण है। इसके विरुद्ध इरावती की रजोगुणी चंडता चित्रित है जिसके कारण वह छिप-छिपकर राजा की बातें सुनती रहती है, और एक बार उसके पद तथा अधिकार को भुलाकर उसके विरुद्ध फसाद भी करती है। स्वयं नायिका का चरित्रचित्रण शिथिल है। परंतु उसकी सखी कौशिकी, जिसे लगातार आपत्तियों के कारण तपस्विनी हो जाना पड़ा, उदात्त पात्र है। वह धारिणी को आश्वासन देती है, और उसका मन बहलाती है। वह नृत्य और सर्पदंश-चिकित्सा की मान्य पंडिता है। स्त्री-पात्रों में एक मात्र वही संस्कृत बोलती है। विदूषक इस नाटक में एक आवश्यक तत्त्व है। वह राजा के विदूषक की अपेक्षा उसके बंधु और सखा की कहीं अधिक भूमिका अदा करता है। उसकी दक्ष सहायता के बिना राजा की प्रिया-विषयक उत्कंठा निष्फल रह जाती। परंतु दूसरी ओर, नाटक के हास्य-पक्ष में उसका योगदान अपेक्षाकृत बहुत कम है।

विक्रमोर्वशी में कालिदास की प्रतिभा का सुस्पष्ट विकास दिखायी देता है। कथावस्तु के स्रोत की ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती। कहानी पुरानी है। ऋग्वेद में वह अस्पष्ट रूप में मिलती है, और शतपथब्राह्मण में यज्ञविधि पर लागू करने के लिए उसका अपकर्ष हुआ है। वह अनेक पुराणों में पायी जाती है, और मत्स्यपुराण[1] में वर्णित कथा का कालिदास के वर्णन से बहुत घनिष्ठ सादृश्य है; क्योंकि हंस के स्थान पर लता के रूप में अप्सरा के परिवर्तित होने का अभिप्राय पहले से विद्यमान है, असुर से उसकी रक्षा और विक्षिप्त पुरूरवा द्वारा उसकी खोज का वृत्तांत भी सुविदित है। उर्वशी के उद्दाम और असंगत प्रेम की व्यंजना

---

१. xxiv.; विष्णुपुराण iv. 6. ; भागवत ix. 14.; Pischel and Geldner, Ved. Stud. i. 243 ff.; L. v. Shroeder, Mysterium and Minus, pp. 242 ff. A. Gawronski (Les sources de quelques drames indiens, pp. 19 ff.) सुधनावदान (दिव्यावदान, नं० ३०) से तुलना करते हुए इसे लोक-प्रचलित निजंधरी कथा समझते हैं.

मनोहर है, परंतु वह सामान्य जीवन से कुछ दूर हटकर इंद्रजाल में पहुँच गया है। दिव्य शक्ति के द्वारा अदृश्य रूप से अपने प्रेमी को निरखना और गुप्त रूप से उसके वार्तालाप को सुनना अस्वाभाविक है। वह अपने प्रेमी को खोने की अपेक्षा अपने शिशु को एकदम छोड़ देती है। मातृस्नेह का यह विलक्षण अभाव भी अस्वाभाविक है। उसका प्रेम स्वार्थपूर्ण है। अभिनय के समय वह देवताओं के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाती है। उसका (लता में) रूपांतरण उसकी अविवेकपूर्ण ईर्ष्या की सनक का परिणाम है। उसके बगल में नायक ठिगना-सा लगता है। चौथे अंक में उसकी आवेशाकुल निराशा पराकाष्ठा पर पहुँचती है। इस प्रकार उसमें आत्मसंयम और पौरुष की कमी प्रत्यक्ष तथा अरुचिकर है। उसीके समान गौण पात्रों के चरित्रांकन में भी सफलता की कमी है। बालक **आयु** का प्रसंग ठूँसा गया है, और नाटक का उपसंहार प्रभावहीन तथा सपाट है। परंतु विदूषक ने अपनी मूढ़ता और अपटुता से हास्य का तत्त्व प्रस्तुत किया है। अपने बुद्धूपन के कारण वह धोखे में आकर **उर्वशी** का नाम बता देता है। उसके अनाड़ीपन से अप्सरा का पत्र रानी के हाथ में पहुँच जाता है। रानी **औशीनरी** गरिमामयी है। अप्सरा की अपेक्षा वह अधिक आकर्षक पात्र है। उसके सामने **पुरूरवा** उसी प्रकार दिखायी देता है जिस प्रकार **इरावती** के सामने **अग्नि-मित्र**। **पुरूरवा औशीनरी** के प्रति अपनी प्रतिकूलता और दाक्षिण्य को समझता है और अनुभव करता है कि यह बात उसके क्षुब्ध होने का उचित कारण है।

कालिदास ने अपने आरंभिक नाटकों में निबद्ध अनेक प्रसंगों को **शकुंतला** में अधिक कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। पुनरावृत्ति करने में वे हिचकिचाते नहीं हैं। पहले और तीसरे अंकों में हमें यह मनोरम कल्पना मिलती है कि राजा (नायक) गुप्त रूप से नायिका और उसकी सखियों के वार्तालाप को सुनता है। यही अभिप्राय **मालविकाग्निमित्र** के तीसरे अंक में मिलता है। **उर्वशी** की भाँति **शकुंतला** भी, नायक से विलग होते समय, जाने में देर करने के लिए बहाना बनाती है—उसके पैर में काँटा चुभता है और उसका अंचल शाखा में उलझ जाता है। **विक्रमोर्वशी** में एक पक्षी **संगमनीय** मणि को झपट लेता है, उसका सादृश्य **शकुंतला** के छठे अंक में **मातलि** द्वारा विदूषक को दबोचने में मिलता है। **आयु** मोर से खेलता है, और बालक **भरत** सिंह-शावक से। प्रत्येक उदाहरण में तुलनात्मक दृष्टि से **शकुंतला** उत्कृष्टतर है। इसी प्रकार की परिपक्वता **महाभारत**[1] (जो

---

१. i. 74. Winternitz द्वारा उसकी पूर्ववर्तिता की अस्वीकृति (GIL., i. 319 f.) असंगत है; मिलाकर देखिए—Gawronski, Les sources de quelques drames indiens, pp. 40, 91.

शकुन्तला की कथावस्तु का स्रोत है) के कथानक में किये गये परिवर्तन में द्रष्टव्य है। उसमें वर्णित कहानी सीधी-सादी है। राजा आश्रम में पहुँचता है। नायिका झूठी लज्जा को त्यागकर उससे अपने वंश का वर्णन करती है। वह विवाह का प्रस्ताव करता है। शकुंतला तर्क करती है। गुप्त-मिलन की वैधता को ठीक से समझ लेने पर वह सहमत होती है, किंतु इस समझौते के साथ कि उसके पुत्र को युवराज बनाया जाएगा, राजा चला जाता है। लड़का बड़ा होता है। समय आने पर तपस्वियों के साथ उसकी माँ उसे राजा के दरबार में ले जाती है। जब राजा नीतिवश उसे पहचानने से इन्कार कर देता है तब तपस्वी उसे छोड़कर चले जाते हैं, किंतु वह निर्भय है। वह मर जाने की धमकी देती है, और अपने उच्चतर कुल की भावना से उस पर ताना कसती है। अंत में, देव-वाणी बालक के यौवराज्याभिषेक के लिए राजा को आदेश करती है। राजा अपने कृत्य का कारण बतलाता है। उसका एक मात्र उद्देश्य यह स्पष्ट करा देना था कि बालक न्यायतः युवराज है। यह सरल कहानी रूपांतरित कर दी गयी है। लज्जावती नायिका स्वप्न में भी अपने वंश का वर्णन नहीं कर सकती थी। उसकी सखियाँ भी इतनी लज्जाशील हैं कि संकेत मात्र करती हैं, और शेष बातें अनुभवी राजा की कल्पना के लिए छोड़ देती हैं। शकुंतला का उदीयमान अनुराग पूर्ण कौशल से चित्रित है। उसके विवाह और उसके परिणाम का निर्देश मार्मिक स्पर्श के साथ किया गया है। उसमें राजा के न्यायविरुद्ध आचरण का स्पष्टीकरण मिलता है, उसका कारण शाप है। उस शाप के उत्तरदायित्व से शकुंतला भी मुक्त नहीं है, क्योंकि वह अपने प्रेम के कारण अभ्यागत तथा ऋषि के अतिथि-सत्कार और संमान को भूल जाती है। राजा के समक्ष वह कोई धमकी नहीं देती, और मर्यादित व्यवहार करती है। राजा के द्वारा प्रेम-संबंध के प्रत्याख्यान से वह स्तंभित हो गयी है। राजा श्रेष्ठ नायक है। सार्वजनिक कार्यों और वीरता में उसकी निष्ठा पर बल दिया गया है। अपनी निस्स्वार्थता के कारण वह अपनी पत्नी से पुनर्मिलन का अधिकारी है। उसके वात्सल्य का रमणीयता से चित्रण किया गया है। यदि शाप की मान्यता[1] स्वीकार कर ली जाए (जैसा कि एक भारतीय को करना चाहिए) तो उसका चरित्र निष्कलंक है। वह उस रूपवती नायिका को इसलिए अस्वीकार नहीं करता कि उसके प्रति घृणा करता है, बल्कि सद्गुण और सदाचार के आदर्श-रूप में वह ऐसी स्त्री को ग्रहण नहीं कर सकता जिसका उसे कोई ज्ञान नहीं है। उसके प्रति शकुंतला का प्रेम भी वेदना से शुद्ध हो जाता है। अंत में जब उनका संयोग होता है तब वह

१. मालविकाग्निमित्र में मालविका की उत्पत्ति के विषय में उनके मौन की रमणीयता का कारण भविष्यवाणी में विश्वास है.

एक प्रेमिका मात्र नहीं है, किंतु एक ऐसी नारी है जिसने मानसिक पीड़ा झेलकर गंभीरता और स्वाभाविक सौंदर्य प्राप्त कर लिया है।

अन्य पात्र कौशलपूर्ण प्रस्तुतीकरण के नमूने हैं। **कालिदास** ने किसी अन्य स्त्री-पात्र को ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की भूल नही की है जिससे वह **शकुंतला** के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। **दुष्यंत** बहुपत्नीक है, परंतु उसकी अननुकूलता के कारण **हंसवती** द्वारा खेद प्रकट किये जाने पर भी वह उससे मिलता नहीं है, और, जब छठे अंक में **वसुमती** आती है तब एक कानूनी मामले में राजा का निर्णय चाहने वाले मंत्री के आगमन से प्रभाव की रक्षा की गयी है। दूसरे अंक में विदूषक (जो निर्बाध राग-रंग को चौपट कर देता) बड़ी चतुराई के साथ अन्य कार्य के बहाने हटा दिया गया है। इसके विपरीत, वह मनोरंजक हास्य उपस्थित करने का अधिक उपयोगी प्रयोजन सिद्ध करता है। **मातलि** उसको बड़े मजाकिया ढंग से डराता है ताकि राजा अपने व्यक्तिगत शोक से जाग उठे। **कण्व** का चरित्र मनोहर है। वे निस्संतान ऋषि हैं। उन्होंने अपनी समस्त स्नेह-संपत्ति दत्तकपुत्री पर निछावर कर दी है। वे उसको स्नेह-सिक्त उपदेश देकर उसके पति के पास भेजते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से, **दुर्वासा** के क्रोध और भयानक अहंकार के विरुद्ध **कण्व** का चरित्रांकन अत्यंत सुंदर है। **दुर्वासा** ने **शकुंतला** को ऐसी बात के कारण शाप दिया है जो एक बालिकोचित भूल से अधिक कुछ नहीं है। दूसरी ओर **मारीच** की गंभीर महिमा है। सपत्नीक होने पर भी उन्होंने विषय-वासनाओं का त्याग कर दिया है और मोक्ष-सुख का अनुभव करते हैं। परंतु, फिर भी वे सांसारिक कार्यो का चिंतन करते है और उनकी उचित व्यवस्था के लिए सर्वथा अनासक्त भाव से मध्यस्थता करते हैं। नायिका की सखियाँ उत्कृष्ट रसज्ञता के साथ चित्रित की गयी है। दोनों ही तन-मन से नायिका की होकर रहती हैं। **अनसूया** गंभीर और समझदार है, **प्रियंवदा** वाचाल और हँसमुख। **शकुंतला** को **दुष्यंत** के दरबार में ले जाने वाले दोनों तपस्वियों में वैषम्य है। **शाङ्गरव** अपनी वृत्ति के अनुरूप ही अभिमान तथा औद्धत्य का परिचय देता है और राजा की कठोर भर्त्सना करता है। **शारद्वत** शांत और संयमी है। वह भर्त्सना न करके उसको शिक्षा देता है। आरक्षकों का चित्रण भी समान रूप से सफल है। मछुए के प्रति उन आरक्षकों का अनुचित और अत्याचारपूर्ण व्यवहार (इतिहास में उनके प्रथम आविर्भाव के समय से) भारतीय आरक्षियों (Police) की भावना का प्रतिनिधान करता है। अतिप्राकृतिक तत्त्व, जिसकी **विक्रमोर्वशी** में अतिशयता है, **शकुन्तला** में परिमित मात्रा में पाया जाता है। प्रथम छः अंकों के अंतर्गत वह मुश्किल से मिलता है। हाँ, सातवें अंक में उसका अस्तित्व है, जहाँ पर शास्त्र के नियमानुसार अद्भुत की

योजना की जानी चाहिए। **मारीच** का दिव्य तपोवन कठोर नियति के द्वारा वियुक्त दोनों प्रेमियों के पुनर्मिलन के लिए उचित स्थान है। मुद्रिका (जिसके खो जाने से नायिका की तत्काल पहचान नहीं हो पाती) की कल्पना और कथानक में उसकी योजना प्रभावपूर्ण है।

मुग्ध चित्त के प्रथम भाव-संकेत से लेकर भावावेगों की निष्पत्ति तक रागात्मक मनोवेगों के चित्रण में **कालिदास** अप्रतिम है। करुणा की व्यंजना में वे कम प्रवीण नहीं हैं। **शकुंतला** का चौथा अंक करुण-वात्सल्य का आदर्श है। वृक्ष तक स्निग्ध अनुकंपा के साथ **शकुंतला** की विदाई करते हैं, और इसके अनंतर **दुष्यंत** के राज-दरबार में उसका क्रूर आतिथ्य होता है। इन दोनों का वैपम्य मार्मिक है। **विक्रमोर्वशी** के चौथे अंक और **मालविकाग्निमित्र** के उद्यान-दृश्य की भाँति **कालिदास** ने **शकुंतला** में भी अपने प्रकृति-प्रेम और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों के रूढ़ विषयों (आम, बिंब-फल, अशोक, कमल) के वर्णन की शक्ति का श्लाघ्य अभिव्यंजन किया है। भारतीय प्राणिजगत् का भी लालित्य एवं मर्मज्ञता के साथ चित्रण किया गया है। **शकुंतला** के अंतिम अंक में **मातलि** के दिव्य रथ से परिप्रेक्षित पृथ्वी के दृश्य का चारु-चित्रण भी मिलता है।

विदूषक का परिहास अपरिष्कृत नहीं है। उसकी भोजनप्रियता सर्वस्वीकृत है। जब नायक चंद्रमा की प्रशंसा करता है या कामार्त होता है तब उसे (विदूषक को) मोदक की याद आती है। वीरोचित कार्यों को वह तुच्छ समझता है। अवांछित रहस्योद्घाटन होने पर वह सरसरी तौर पर राजा की तुलना चोर से करता है; पकड़े जाने पर राजा को उस चोर का अनुकरण करना चाहिए जो सफाई देते हुए कहता है कि मैं सेंध लगाने की कला सीख रहा था। अथवा पुनः, अंतःपुर की स्त्रियों से विरक्त राजा की तुलना उस व्यक्ति से की गयी है, जो मीठे खजूर से अतितृप्त होने पर खट्टी इमली की इच्छा करता है। **मालविका** का चलता वर्णन किया गया है, जब धारिणी उसे बंदी बनाती है तब उसकी उपमा बिलाव के द्वारा पकड़ी गयी कोकिला से दी गयी है। परंतु, वह अपने प्रति भी कुछ अधिक आदर-भाव नही रखता, क्योंकि, **मातलि** के द्वारा दबोचे जाने पर वह अपने को बिलाव के द्वारा पकड़े गये चूहे की भाँति मृतप्राय समझता है। उसका सुंदरतम निरूपण **शकुंतला** के दूसरे अंक में है, जहाँ वह **दुष्यंत** के आखेट के कारण अपने ऊपर पड़ी हुई विपत्ति का वर्णन करता है। ब्राह्मण आखेट के प्रशंसक नहीं थे, यद्यपि राजाओं के आखेट के विषय में उन्हें सहमत होना पड़ता था, और विदूषक का चित्रण अत्यंत सजीव है।

अपने नाटकों को सँवारने के लिए **कालिदास** ने जिस निपुणता के साथ नृत्य और गीत का प्रयोग किया है उससे प्रत्यक्ष है कि उनके शास्त्रीय ज्ञान का परिसर व्यापक है। **मालविकाग्निमित्र** में नृत्याचार्य ने नृत्यविद्या और उसके महत्त्व का रोचक प्रतिपादन किया है। केवल **मालविका** ही नृत्य-कुशल नहीं है, **शकुंतला** भी पहले अंक में अपने गति-नैपुण्य का परिचय देती है। उसी नाटक में वृक्षों और **हंसवती** के गीतों ने नाटक की रोचकता बढ़ा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि **विक्रमोर्वशी** में कवि का लक्ष्य चमत्कारकारी प्रभाव उत्पन्न करना है। उस नाटक के बंगाली संस्करण के चौथे अंक में गीत का विशेष रूप से संनिवेश किया गया है।

कालिदास का कर्तृत्व निस्संदेह अत्युत्तम है, परंतु इस तथ्य की उपेक्षा करना अनुचित होगा कि उन्होंने जीवन और नियति की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में कोई रुचि नहीं दिखायी है। **गेटे** (Goethe) ने उसकी जो प्रशंसा की है, और **शकुंतला** के प्रथम अनुवादक सर **विलियम जोन्स** (Williom Jones)[1] ने उनकी शैली को जो महत्त्व दिया है, वह सर्वथा उचित है। किंतु, इससे हमारी दृष्टि आवृत नहीं होनी चाहिए। अपने युग की ब्राह्मण-विचारधारा में अमायिक निष्ठा होने के कारण उनकी रुचि की परिधि संकुचित थी। उनका विश्वास था कि सब कुछ मनुष्य के कर्मों द्वारा निर्मित भाग्य के द्वारा न्यायतः शासित होता है। वे जगत् के दुःखमय रूप को देखने में, बहुसंख्यक जनों के दुर्भाग्य के प्रति सहानुभूति रखने में, अथवा इस संसार में अन्याय के साम्राज्य को समझने में असमर्थ थे। अपने संकुचित परिसर के पार जाना उनके लिए असंभव था। हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने सीमित रहकर **शकुन्तला**-जैसी कृति का निष्पादन किया, जिसका महत्त्व स्थायी है, जिसका आकर्षण सार्वभौम है, और जिसने अनुवादों के अप्रभावी माध्यम से भी श्रेष्ठकृति के रूप में व्यापक मान्यता प्राप्त की है।

४. शैली

कालिदास उन्नत काव्य-रूप की संस्कृत-शैली के लालित्य की पराकाष्ठा का प्रतिनिधान करते हैं। वे **वैदर्भी** रीति के सिद्धहस्त लेखक हैं। **वैदर्भी** के मूलतत्त्व हैं—समासों का अभाव या विरल प्रयोग, और समता तथा प्रसाद, ओज और कांति, जिसने शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के प्रयोग द्वारा भाषा में उत्कर्ष आता है। **भास** और **मृच्छकटिका** के लेखक की भाँति ही **कालिदास** सरल हैं, परंतु उनमें जो लालित्य और परिष्कार है वह इन दोनों लेखकों में नहीं मिलता। हम विश्वास कर सकते हैं कि **अश्वघोष** ने उनकी शैली को प्रभावित किया होगा, किंतु उनकी

१. देखिए—S.D. and A.B. Gajendragadkar, **अभिज्ञानशाकुन्तल**, pp. xxxvi ff.

स्वाभाविक रुचि और अनवरत अभ्यास को ही उसकी उत्कृष्टता का मुख्य हेतु मानना चाहिए। आसानी से समझा जा सकता है कि बार-बार माँजने-सँवारने के कारण उनकी रचनाओं के विभिन्न संस्करणों में अंतर पाया जाता है। उनकी विदग्धता के कारण शकुंतला में कहीं भी रुचि-दोष नहीं आने पाया है, जबकि उनके परवर्ती लेखकों ने गलत स्थान पर चमत्कार-प्रदर्शन किया है। वर्णन में निपुण, और शक्ति-प्रदर्शन में तत्पर होने पर भी पाँचवें अंक में उन्होंने ऐसे आलंकारिक पद्यों का संनिवेश नहीं किया जो नाटक के व्यापार में योग नहीं देते, कवि के बुद्धि-कौशल की वे चाहे जितनी धाक जमा सकें। उनकी भाषा में भी ध्वन्यात्मकता है। उनके परवर्तियों में महत्तम भवभूति जिस बात को विस्तार से व्यक्त करते हैं उसे कालिदास स्पर्श के द्वारा ध्वनित करके संतुष्ट हो जाते हैं। उनकी रचनाओं में अद्भुत प्रसन्नता है। उनकी शैली का औचित्य कम श्लाघ्य नहीं है। आरक्षी और मछुए की भाषा में उतना ही अर्थ-वैशिष्ट्य है जितना कि दार्शनिक सूत्रों की सुंदरतम शैली में तर्क करने वाले पुरोहित की भाषा में। उन्होंने अपने नाटक की तपोवन-कन्याओं से जो प्राकृत बुलवायी है उसका सर्वोच्च गुण यह है कि उसमें जटिल विन्यास और दीर्घ समासों की अत्यंत वर्जना की गयी है, जिन्हें भवभूति ने उनके निपट बेतुकेपन का विचार न करके भोली युवतियों की भाषा में स्थान दिया है।

काव्यशास्त्रियों[1] ने कालिदास की उपमाओं का गुणगान किया है। उन्होंने उनके शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के प्रयोग-नैपुण्य के बारंबार उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उन अलंकारों के अनंत भेदोपभेद किये हैं। कालिदास की स्वभावोक्ति-निबंधना अत्यंत श्रेष्ठ है, उदाहरणार्थ जब वे उस मृग का चित्रण करते हैं जिसका पीछा करता हुआ दुष्यंत तपोवन तक आया है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

'उसकी दृष्टि रथ पर लगी हुई है, सुंदरता के साथ अपनी गर्दन मोड़ता हुआ वह बार-बार चौकड़ी भरता है; बाण लगने के भय से अपने शरीर के पिछले भाग को अगले भाग में समेट लेता है; आधी चबायी हुई घास को थकावट के कारण

१. देखिए—हरिचन्द, Kālidāsa et l'art poetique de l'Inde (1917), pp. 68. उनकी ध्वन्यात्मकता के विषय में, मिला कर देखिए—एकावली P. 52.

खुले हुए मुख से बिखेरकर मार्ग को व्याप्त कर रहा है; वह इतनी ऊँची चौकड़ी भरता है कि पृथ्वी की अपेक्षा आकाश में ही दौड़ता हुआ प्रतीत होता है।' अनु-मिति-ज्ञान का उदाहरण एक चमत्कारपूर्ण पद्य है[1]—

> शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
> अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥

'यह तपोवन है जहाँ सभी इच्छाएँ शांत हो जाती हैं, फिर भी मेरी भुजा फड़क रही है; इस शकुन की फल-प्राप्ति यहाँ पर कैसे हो सकती है? अथवा, भाग्य का द्वार सर्वत्र खुला रहता है।' मनुष्य की कर्म-प्रवृत्ति में अंतःकरण की भूमिका रमणीयता से चित्रित है[2]—

> असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
> सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

'मेरे श्रेष्ठ मन में इसके प्रति अभिलाषा उत्पन्न हुई है, इसलिए निश्चय ही यह बाला क्षत्रिय के व्याहने योग्य है; क्योंकि संदेह की स्थिति में सज्जनों के लिए अंतःकरण का आदेश ही प्रमाण होता है।' तिरस्कृत होने पर प्रस्थान करती हुई शकुंतला के विषय में राजा कहता है[3]—

> इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
> मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
> पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
> मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥

'मेरे द्वारा तिरस्कृत होने पर उसने साथियों का अनुगमन करने का प्रयत्न किया, परंतु जब अपने गुरु के स्थान पर विद्यमान उस शिष्य ने डपटकर कहा—यहीं ठहरो, तब एक बार फिर उसने आँसुओं के प्रवाह के कारण धुंधली दृष्टि मुझ निष्ठुर पर डाली, वह दृष्टि मुझे विष-बुझे बाण की भाँति जला रही है।' अपने पुत्र के स्पर्श पर वह कहता है[4]—

> अनेन कस्यापि कुलांकुरेण
> स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।

---

१. शकुन्तला, i. 15.
२. वही, i. 20.
३. वही, vi. 9.
४. वही, vii. 19.

कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः ॥

'जब किसी अन्य कुल के अंकुर-रूप में उत्पन्न इस बालक का अपने शरीर में स्पर्श होने पर मुझे इतना सुख मिल रहा है, तब जिसकी यह संतान है उस बड़भागी को कितना आनंद देता होगा !' राजा की निष्ठाहीनता के कारण उसे दिया गया दंड बहुत कठोर है—

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥[1]

'अनिद्रा के कारण स्वप्न में भी उसका मिलन रुक गया है, मेरे आँसू उसके चित्रांकित रूप को भी देखने नहीं देते ।' पुनर्मिलन का चित्र बहुत भिन्न है—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥[2]

'शाप के कारण स्मृति के कुंठित हो जाने से निष्ठुर पति ने तुम्हारा तिरस्कार किया था; अब उसका अंधकार दूर हो गया है और उस पर तुम्हारा ही प्रभुत्व है; मैल से अंधे दर्पण में प्रतिबिंब नहीं दिखायी पड़ता, निर्मल हो जाने पर सरलता से दृष्टिगोचर होने लगता है ।'

उर्वशी के प्रति पुरूरवा के उपालंभ में करुणा है—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः
प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि
त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥[3]

'मैंने तुम पर सदैव प्रीति रखी, सदैव मीठे वचन कहे; हे कोपने ! तुमने मेरा कौन-सा दोष-लेश देखा जिसके कारण इस दास को छोड़ दिया ?' सदा की भाँति यहाँ भी छांदसिक प्रभाव की अत्यन्त सुंदर योजना हुई है । अपनी प्रियतमा को पाने के लिए किये गये उसके सफल प्रयत्न का चित्रण मार्मिक है—

---

१. शकुन्तला, *vi.22.* २. वही, *vii.32.* ३. विक्रमोर्वशी, *iv.55.*

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति
क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने
करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥[1]

'पहले जिसको मैं अपनी प्यारी समझता हूँ वही क्षण भर में दूसरे रूप में बदल जाती है। इसलिए प्रिया के स्पर्श-सुख का अनुभव करता हुआ मैं अपनी आँखें सहसा नहीं खोलूँगा।'[2] उसके प्रेम की दृढ़ता असीम है—

इदं तया रथक्षोभादङ्गेनाङ्गं निपीडितम् ।
एकं कृती शरीरेऽस्मिञ्शेषमङ्गम् भुवो भरः ॥[3]

'रथ के हिलने के कारण मेरा अंग उसके अंग से सट गया; मेरे शरीर में यही एक अंग कृतकृत्य है, अन्य अंग तो पृथ्वी के भार मात्र हैं।' अतिशयोक्ति को छूट दी जा सकती है—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठ-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥[4]

'हे मित्र! उस एकच्छत्र प्रभुत्व से, जिसमें सामंतों की मुकुट-मणियों की प्रभा से मेरा पादपीठ रंगमय हो जाता है, मुझे उतना आनंद नहीं मिला जितना इस रमणी के आज्ञापालन का अवसर पाकर आज हो रहा है।' राक्षसी आक्रमण के कारण मूर्च्छित अप्सरा जब होश में आती है तब उसका वर्णन मनोहर मालोपमा के द्वारा किया गया है—

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥[5]

---

१. विक्रमोर्वशी, iv, 68.

२. डा० कीथ का मूल वाक्य है—I will force my eyes to be sleepless, since I have failed to touch her whom I adore. यह कालिदास के वाक्य का सही अनुवाद नहीं है।

३. विक्रमोर्वशी, iii. ii. पाठ के लिए देखिए—हरिचन्द, कालिदास, p. 231.

४. विक्रमोर्वशी, iii. 19.   ५. वही, i. 9.

'मूर्च्छा से मुक्त होती हुई यह सुंदरी उसी प्रकार दिखायी दे रही है जिस प्रकार चंद्रोदय होने पर अंधकार-मुक्त रात्रि, धूमशिखा से युक्त सायंकालीन अग्नि, अथवा कगारों के गिरने के कारण कलुषित जल के निर्मल होने पर गंगा शोभित होती है।'

यह ठीक है कि **मालविकाग्निमित्र** में विशिष्ट-पदयोजना का सौंदर्य अन्य दो नाटकों की अपेक्षा कहीं कम है, परंतु उसमें ऐसे अनेक पद्य पाये जाते हैं जिनमें निर्भ्रांत रूप से **कालिदास** का कृतित्व है, यह और बात है कि उनमें कवि की उत्तरकालीन शैली की प्रौढ़ता नहीं मिलती। **विषम** अलंकार की योजना कामदेव के उदाहरण द्वारा की गयी है, जिसका धनुष अहानिकर प्रतीत होने पर भी अनर्थ-कारी हो सकता है—

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि॥[1]

'हृदय को मथ देने वाली इस वेदना और तुम्हारे अहानिकर प्रतीत होने वाले धनुष में कितना अंतर है! मृदु अधिक तीक्ष्ण होता है, हे कामदेव, यह कहावत तुम्हीं में चरितार्थ होती है।'

जब **मालविका** (राजा के यह कहने पर कि निर्भय होकर मुक्त रूप से मेरे साथ प्रेम करो) उपालंभ-सहित याद दिलाते हुए कहती है—मैंने अपनी ही भाँति राजा को भी रानी से भयभीत देखा है, तब अग्निमित्र श्लेष का प्रयोग करते हुए तत्काल उत्तर देता है—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥[2]

'हे बिंबोष्ठि, विनीतता बिंबक के वंशजों का कुल-व्रत है, तथापि मेरा जीवन तुम्हारी प्रसन्नता पर पूर्णतः निर्भर है।' उत्तम **कौशिकी धारिणी** के कार्य का समर्थन करते हुए उसे सांत्वना और संतोष देती है—

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्॥[3]

'अपने पति से प्रेम करने वाली साध्वी स्त्रियाँ, सौत को स्वीकार करके भी, अपने पति की सेवा करती हैं; समुद्र तक जाने वाली नदियाँ सहायक नदियों के

---

१. मालविकाग्निमित्र, iii. 2. २. वही, iv. 14. ३. वही, v. 19.

जल को भी समुद्र तक पहुँचाती हैं।' मालविका के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर राजा ने जो उक्ति की है उसमें मनोरंजक ऋजुता और ग्राम्यता है—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥[1]

'स्नान-वस्त्र के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले रेशमी वस्त्र की भाँति यह 'देवी' शब्द की अधिकारिणी सती दासी-रूप में रखी गयी है।' परंतु कालिदास ने अधिक पुरुषोचित भावों की व्यंजना में भी अपनी समर्थता प्रदर्शित की है। आटविकों द्वारा आक्रमण किये जाने पर मालविका को बचाने के लिए प्रयत्नशील अपने भाई की मृत्यु का वर्णन तापसी इस प्रकार करती है—

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम्।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥[2]

'आपत्ति के समय शत्रु के आक्रमण से भयभीत इस मालविका को बचाने की इच्छा से उस स्वामिभक्त ने प्राण देकर स्वामी के प्रति अपना ऋण चुकाया।' राजा का उत्तर पुरुषयोग्य है—भगवति तनुत्याजामीदृशी लोकयात्रा। न शोच्य-स्तत्रभवान्सफलीकृतभर्तृपिण्डः (देवि, वीरों की यही गति है। वह महान् आत्मा शोचनीय नहीं है जिसने स्वामी के अन्न को सार्थक किया है)।

५. भाषा और छंद

कालिदास के नाटकों में परवर्ती नाटकों की प्राकृतों की प्रसामान्य अवस्था पायी जाती है—गद्यमयी उक्तियों के लिए शौरसेनी और पद्यों के लिए महाराष्ट्री[3]। शकुन्तला में मछुआ और आरक्षी मागधी का प्रयोग करते हैं, परन्तु राजा का साला (जो आरक्षियों का नायक और शकार का धूमिल प्रतिबिंब है) नाटक के उपलब्ध रूप में न तो शाकारी बोलता है और न मागधी या दाक्षिणात्या, बल्कि शौरसेनी ही बोलता है। हम निस्संदेह अनुमान कर सकते हैं कि इस समय तक वररुचि के प्राकृत-व्याकरण की आप्तता के अनुसार नाटक में प्रयोज्य प्राकृत का रूप रूढ़ हो चुका था, और वह बोलचाल की भाषा से बहुत भिन्न थी। यदि विक्रमोर्वशी के अपभ्रंश के पद्य निरापद रूप से कालिदास-रचित माने जा सकते तो इसका निश्चित प्रमाण मिल जाता। यह बात निर्विवाद है कि महाराष्ट्री प्राकृत में प्रगीत के आवेग के कारण ही उसका प्रचलन हुआ, जिसके चिह्न हाल की गाथा-

---

१. मालविकाग्निमित्र, v. 12. २. वही, v. 11.

३. शकुन्तला के पद्यों में शौरसेनी के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, मिलाकर देखिए—Hillebrandt, मुद्राराक्षस, p. iii.; GN. 1905, p. 440.

सत्तसई तथा बाद की रचनाओं में उपलब्ध हैं, और जिसने कालिदास के समय के आसपास महाकाव्य को आक्रांत कर दिया ।[1]

कालिदास की संस्कृत टकसाली है । यत्र-तत्र व्याकरण का व्यतिक्रम पाया जाता है, परंतु अधिकांश उदाहरणों में किसी-न-किसी नियम के आधार पर उनकी उक्तियों का समर्थन किया जा सकता है । अन्य स्थलों पर इतिहासकाव्य की परंपरा का प्रभाव हो सकता है । भास की रचनाओं में यह प्रभाव विशेष रूप से द्रष्टव्य है ।

मालविकाग्निमित्र में **कालिदास** द्वारा प्रयुक्त छंदों की विविधता सीमित है । बहुश: प्रयुक्त छंद **आर्या** (३५) और **श्लोक** (१७) ही हैं । **विक्रमोर्वशी** में आर्या (२९) और श्लोक (३०) में कवि की रुचि लगभग समान है । इसके विपरीत, **वसंततिलक** (१२) और **शार्दूलविक्रीडित** का महत्त्व स्पष्ट रूप से बढ़ गया है । शकुन्तला में आर्या (३८) और श्लोक (३६) अपनी सापेक्ष स्थिति बनाये रखते हैं । इस : विपरीत, **वसंततिलक** (३०) और **शार्दूलविक्रीडित** की आवृत्ति में वृद्धि हुई है । इससे जटिल छंदों के प्रयोग के विषय में **कालिदास** की बढ़ती हुई शक्ति का प्रबल प्रमाण मिलता है । उपजाति छंदों की संख्या बढ़कर १६ हो गयी है । नाटक में प्रयुक्त अन्य छंदों का प्रयोग बारंबार नहीं हुआ है । सभी नाटकों में पाये जाने वाले छंद हैं—**अपरवक्त्र**,[2] **औपच्छंदसिक**,[3] और **वैतालीय**, **द्रुतविलंबित**, **पुष्पिताग्रा**, **पृथ्वी**, **मंदाक्रांता**, **मालिनी**, **वंशस्था**, **शार्दूलविक्रीडित**, **शिखरिणी** और **हारिणी** । **मालविकाग्निमित्र** और **शकुन्तला** में **प्रहर्षिणी**, **रुचिरा**[4] **शालिनी**, और **स्रग्धरा** छंद भी प्रयुक्त हुए है । **शकुन्तला** में **रथोद्धता**[5] और **विक्रमोर्वशी** में एक **मंजुभाषिणी**[6] का भी प्रयोग हुआ है । प्रथम नाटक (**मालविकाग्निमित्र**) में प्राकृत का एक विषम वृत्त है, द्वितीय नाटक (**विक्रमोर्वशी**) में दो आर्याएँ तथा २९ अर्धसम वृत्त है, और अंतिम नाटक (**शकुन्तला**) में सात

---

१. मिलाकर देखिए—प्रवरसेन का सेतुबन्ध, हाल और कालिदास के विषय में मिलाकर देखिए— Weber's ed., p. xxiv.

२. ⏑⏑⏑⏑⏑⏑–⏑–⏑––/⏑⏑⏑⏑–⏑⏑–⏑–⏑– (विषम और समचरण).

३. 16+18 (विषम, सम): नियमित प्रकार ⏑⏑–⏑⏑–⏑–⏑––/⏑⏑––⏑⏑–⏑–⏑––.

४. ⏑–⏑–, ⏑⏑⏑⏑–⏑–⏑–.

५. –⏑–⏑⏑⏑–⏑–⏑–. ६. ⏑⏑–⏑–, ⏑⏑⏑–⏑––⏑–

आर्याएँ तथा दो वैतालीय हैं। आर्याओं का बाहुल्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह मूलतः प्राकृत-छंद है, जहाँ से (ऐसा प्रतीत होता है कि) इसका संस्कृत-पद्य में प्रवेश हुआ है।

छंदों के आधार पर इन नाटकों के पारम्परिक काल-क्रम और कालिदास की अन्य मान्य रचनाओं के क्रम में नाटकों के रचनाकाल पर विचार करते हुए उनके काल-निर्धारण के प्रयत्न[1] किये गये हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है। डा० Huth जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उसके अनुसार कालिदास की रचनाओं का क्रम इस प्रकार होगा—रघुवंश, मेघदूत, मालविकाग्निमित्र, शकुन्तला, कुमारसम्भव और विक्रमोर्वशी। परन्तु उनकी कसौटी सर्वथा अपर्याप्त है। मेघदूत में केवल एक छंद मंदाक्रांता का प्रयोग है, जो कालिदास के अन्य काव्यों में यदा-कदा ही प्रयुक्त है। इससे प्रत्यक्ष है कि इस आधार पर की गयी तुलना असंगत है,[2] और डा० Huth ने जिन बातों का आश्रय लिया है उनका महत्त्व नगण्य है। उनमें ऐसे मतों की कल्पना की गयी है जैसे—जिस काव्य में कम-से-कम अनियत यति है वह छंद की दृष्टि से अधिक निष्पन्न है और इसलिए उत्तरकालीन है, इसके प्रतिकूल जिस काव्य में श्लोक के अनियत रूपों की अधिकतम संख्या है वह कलात्मक दृष्टि से अधिक निष्पन्न है और इसलिए बाद का है। अनियत यति के विभिन्न रूपों की विस्तृत गवेषणा से इन नाटकों के सापेक्ष रचनाकाल के विषय में हैरान कर देने वाले विरुद्ध-संकेत मिलते हैं। इन गवेषणाओं से यह अनिवार्य धारणा बनती है कि कालिदास एक सिद्ध वृत्त-वेत्ता थे। उनकी काव्य-कृतियों से प्रकट है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के किसी काल में छंदों के रूपों में कोई गंभीर परिवर्तन नहीं किया। अतः छंदों के साक्ष्य के आधार पर कोई संतोषजनक निष्कर्ष निकाल पाना संभव नहीं है। रघुवंश[3] प्रौढ़ एवं मध्यवर्ती रचना है, मेघदूत तथा कुमारसम्भव यौवन और शृंगार के व्यंजक हैं। उपर्युक्त मत के अनुसार रघुवंश को मेघदूत के पहले की, और कुमारसम्भव के बहुत पहले की कृति मानना पड़ेगा। यह बात ही उनके मत की अमान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

---

१. Huth, प्रोद्धृत कृति, सारणी.

२. Hillebrandt (कालिदास, p. 157) ने उक्त पक्ष के घालमेल का निर्देश किया है.

३. H. A. Shah (Kautilya and Kālidāsa (1920, p. 5) का तर्क है कि शकुन्तला की अपेक्षा रघुवंश में अभिव्यक्त आखेट-संबंधी यह मत अधिक प्रौढ़ है कि विनियमित होने पर वह एक उपयोगी क्रीड़ा है (अर्थशास्त्र, p. 329) परंतु शकुन्तला के स्थल का नाटकीय औचित्य इस तर्क को संदिग्ध बना देता है। कालिदास का अर्थशास्त्र से ठीक-ठीक अभिज्ञ होना भी संदिग्ध है.

: ७ :

चन्द्र, हर्ष और महेन्द्रविक्रमवर्मन्

१. चन्द्र या चन्द्रक

चंद्र की स्वरूपता और नाटककार के रूप में उनकी विशेषता के विषय में कुछ रहस्य है।[1] हमें '**लोकानन्द**' का तिब्वती संस्करण मिलता है। यह एक बौद्ध नाटक है, जिसमें किसी **मणिचूड** का वर्णन है, जिसने अपनी पत्नी और बच्चों को किसी ब्राह्मण के हाथों में सौंपकर अपनी परम उदारता का परिचय दिया था। वैयाकरण **चंद्रगोमिन्** को इसका रचयिता बतलाया गया है। **सुभाषितावलि** में **चंद्रगोमिन्** के नाम से उद्‌धृत एक पद्य उनकी **शिष्यलेखा** में पाया जाता है। यह बात सर्वथा संदिग्ध है कि ये नाटककार **चंदक** या **चंद्रक** हैं, जिन्हें **कल्हण** ने काश्मीर के **तुञ्जिन** के शासनकाल में रखा है, और जिन्होंने एक नाटक में **महाभारतकार** की बराबरी की है। वैयाकरण **चंद्रगोमिन्** अवश्य ही ६५० ई० के पहले रहे होंगे, क्योंकि **काशिकावृत्ति** में वे प्रोद्‌धृत हैं, यद्यपि उनके नाम का उल्लेख नहीं है। अधिक निश्चित समय बता सकना संभव नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट हूण-विजेता **जार्ट** के ठीक समय का पता तब तक नहीं चल सकता जब तक यह न ज्ञात हो जाए कि उन्होंने किस जाट राजा का निर्देश किया है, यद्यपि अनुमान किया गया है कि वह **यशोधर्मन्** है। **लेवी** ने **चंद्र** को उसी नाम के उस व्यक्ति से अभिन्न माना है जिसका उल्लेख **इत्सिग** (I-Tsing) ने अपने समसामयिक के रूप में किया है। यह असंगत प्रतीत होता है, यद्यपि **इत्सिग** ने उनको **शिष्यलेखा** में उपलब्ध उपर्युक्त पद्य का कर्ता बतलाया है। वह पद्य तिब्वती संस्करण में नहीं पाया जाता, और **इत्सिग** से गलती हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समसामयिक **चंद्रदास** थे, जिन्होंने **विश्वन्तर-उपाख्यान** को नाटक का रूप दिया था।

सुभाषितावलि[2] में **चंदक** के नाम से एक वीररसपूर्ण पद्य उद्‌धृत है—

१. Lévi, BEFEO. iii. 38 f.; Liebich, Das Datum des Candragomin and Kālidāsa, Konow, ID. pp. 72f., GIL. iii. 185, 399 f.

२. v. 2275

एषा हि रणगतस्य दृढा प्रतिज्ञा
द्रक्ष्यन्ति यत्र रिपवो जघनं हयानाम् ।
युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं यदिच्छति जयं च पराजयं च ॥

'युद्ध में जाने पर मेरी यही प्रतिज्ञा है कि शत्रु हमारे घोड़ों का पिछला भाग नहीं देखेंगे। युद्ध का परिणाम भाग्याधीन है। इस विषय में मेरी कोई प्रतिज्ञा नहीं है। विधाता की इच्छा के अनुसार मैं हार या जीत को स्वीकार करूँगा।' शृंगार का एक पद्य है—

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषम्
प्रिये शुष्यन्त्याङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुम् भवति गतकालहरिणः ॥[१]

'प्रिये ! रोष को छोड़ दो, प्रसन्न होकर आनंद प्रकट करो; मेरे अंग सूख रहे हैं, अपनी वाणी के अमृत से उन्हें सींचो। अपने सुख-निधान मुख को मेरे संमुख करो। अरी मुग्धे ! समय का मृग चले जाने पर फिर वापस नहीं आ सकता।' अन्य उपलब्ध उद्धरणों में शोक और रति की अभिव्यंजना का कौशल है।

काव्यशास्त्रियों ने चंद्रक की प्रशंसा की है। दशरूप-टीका[२] में एक पद्य उद्धृत है, जो अन्यत्र उनके द्वारा रचित बतलाया गया है। इस उदाहरण में विरुद्ध भावों की उपनिबंधना होने पर भी भविष्यद्विप्रलंभ की प्रधानता है—

एकेनाक्ष्णा परिततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥

'एक रोषपूर्ण नेत्र से वह क्षितिज में स्थित सूर्य के बिंब को देख रही है, दूसरे अश्रु-व्याकुल नयन से अपने प्रियतम को निरख रही है, इस प्रकार चकई दिनांत के समय आगामी वियोग की आशंका से एक कुशल नर्तकी की भाँति दो भावों की अभिव्यंजना कर रही है।'

---

१. v. 1629.

२. p. 163., सुभाषितावलि 1916, शार्ङ्गधर, cxvii. 14., पाठ संदिग्ध है.

बड़ी अद्भुत बात है कि उनके नाम से हमें कम-से-कम चार मंगलश्लोक मिलते हैं। ये पद्य संस्कृत-नाटक की इस विशेषता का निदर्शन करते हैं कि प्रत्येक नाटक की प्रस्तावना में एक या अनेक श्लोकों द्वारा किसी देवता के अनुग्रह की कामना की जाती है। ये पद्य महत्त्वपूर्ण हैं। इसका विशिष्ट कारण उनका स्वाभाविक काव्य-गुण नहीं है। सच बात यह है कि उनमें काव्यगुणों की उत्कृष्टता नही है। इसका कारण वह अद्भुत शैली है जिसमें भारतीय कवि देवी-देवताओं का निरूपण करता है। परंतु, महत्तम देवता अपने लीला-भाव में मानवप्रेमी का ही मूलरूप है—

च्युतमिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं
शनैरेकीकृत्य हसितमुखी शैलतनया ।
अवोचद्यम् पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥[1]

'चंद्रमा से टपकी हुई कला और रति-कलह में टूटे हुए वलय को धीरे-से एक में मिलाकर पार्वती ने कहा, 'मेरा चमत्कार देखो।' वह शिव, वह पार्वती और दशन-किरणों से पूर्ण वह क्रीड़ा-चंद्र तुम्हारी रक्षा करे।'

मातर्जीव किमेतदञ्जलिपुटे तातेन गोपायते
वत्स स्वादुफलम् प्रयच्छति न मे गत्वा गृहाण स्वयम् ।
मात्रैवम् प्रहिते गुहे विघटयत्याकृष्य संध्याञ्जलिं
शम्भोर्भिन्नसमाधिरुद्धरभसो हासोद्गमः पातु वः ॥[2]

'मेरी अच्छी माँ ! वह कौन-सी वस्तु है जिसे पिताजी अपनी अंजलि में छिपाये हुए हैं ? बेटा ! वह मीठा फल है, वे मुझे नही देंगे, तुम स्वयं जाकर ले लो। माँ के द्वारा प्रेरित कार्तिकेय ने संध्या-वंदन करते हुए शिव की अंजलि खींचकर खोल दी। समाधि में विघ्न होने से वे क्रुद्ध हुए, पुत्र को देखकर उन्होंने उस क्रोध को रोक लिया, और हँस पड़े। उनकी वह हँसी तुम्हारी रक्षा करे।'

२. हर्ष-रचित बताये जाने वाले नाटकों का कर्तृत्व

तीन नाटक, और कुछ लघु-काव्य भी, हर्ष के नाम से उपलब्ध हैं। वे निर्विवाद रूप से स्थाणीश्वर और कान्यकुब्ज के राजा हैं, जिन्होंने लगभग ६०६ ई० से ६४८

१. सुभाषितावलि, 66. २. सुभाषितावलि, 69.

ई०[1] तक राज्य किया। वे बाणभट्ट के संरक्षक थे, जिन्होंने **हर्षचरित** में उनका यशोगान किया है। वे चीनी यात्री **ह्वेन सांग** (Hiuan-Tsang) के आश्रयदाता थे जो उनके शासनकाल के विषय में हमारी जानकारी का सबसे अधिक मूल्यवान् स्रोत है। यह बात असंदिग्ध है कि वे तीनों नाटक एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। सभी नाटकों की प्रस्तावनाओं में **हर्ष** को कर्ता बताते हुए उन्हें 'निपुण कवि' कहा गया है। **प्रियदर्शिका** और **नागानन्द** में दो पद्यों की आवृत्ति हुई है, और एक पद्य की **प्रियदर्शिका** तथा **रत्नावली** में। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन तीनों कृतियों में शैली की नितांत एकरूपता है, तीनों का स्वर एक है। अतः भिन्न व्यक्तियों को उनका रचयिता मानना सर्वथा असंगत है। प्राचीन काल में भी यह प्रश्न उठा था कि उनका वास्तविक रचयिता कौन है। **मम्मट** ने अपने **काव्य-प्रकाश**[2] में केवल इतना निर्देश किया है कि **बाण** को (कतिपय हस्तलेखों के अनुसार **धावक** को) हर्ष से धन की प्राप्ति हुई थी। टीकाकारों ने स्पष्टीकरण किया है कि यह उक्ति **रत्नावली** के विषय में है जो हर्ष के नाम से विख्यात हुई। किंतु, प्रारंभिक परंपरा इस बात का समर्थन नहीं करती। हर्ष के द्वारा **नागानंद** के इतिवृत्त के नाटकीकरण और अभिनय का **इत्सिंग**[3] ने स्पष्ट निर्देश किया है। **जयापीड** के शासनकाल (७७९-८१३) में विद्यमान **दामोदरगुप्त** के **कुट्टनीमत**[4] में किसी राजा द्वारा रचित **रत्नावली** के अभिनय का उल्लेख है। इसमें कोई ऐसा प्रमाणाभास भी नहीं है जिसके आधार पर **बाण** को इसका रचयिता माना जाए। इन नाटकों और **हर्षचरित** की शैलियाँ अत्यंत विसंवादी हैं। अतः हमें विश्वास करना पड़ता है कि **हर्ष** ने पंडितों की सहायता से उन नाटकों की रचना की, अथवा यह स्वीकार्य है कि वे किसी अज्ञात नाटककार की कृतियाँ हैं जिसने राजा को उनका रचयिता होने का श्रेय प्रदान किया।

३. रूपकत्रय

विषयवस्तु और रूपरचना की दृष्टि से **रत्नावली** तथा **प्रियदर्शिका** का

---

१. M. Ettinghausen, हर्षवर्धन, Louvain, 1905. S. P. Pandit, गौडवहो, pp. cvii ff., K. M. Panikkar, Sri Harsh of Kanauj, Bombay, 1922. इन नाटकों को उनके शासनकाल की किसी निश्चित घटना (जैसे—Hiuan-Tsang के द्वारा अनुवर्णित प्रयाग का समारोह) के साथ संबद्ध करना असंगत है.

२. i. 2. मिलाकर देखिए— काव्यमीमांसा, (GOS. i. p. xii.) में सोडल.

३. Trs. Takakusu, pp. 163 f. ४. vv. 856 ff.

घनिष्ठ संबंध है। ये नाटिकाएँ हैं, प्रत्येक में चार अंक हैं, दोनों का नायक **भास** के द्वारा अनुवर्णित **उदयन** है, दोनों का विषय उसके बहुसंख्यक प्रणय-प्रसंगों में से एक है। नाट्यशास्त्रियों ने **रत्नावली**[1] को विशेष रूप से आदर दिया है, और शास्त्रीय नियमों के उदाहरण-रूप में उसका उपयोग किया है।

सर्वत्रगामी **यौगंधरायण** अपने राजा **उदयन** के अभ्युदय के लिए सदैव प्रयत्नशील है। वह **सिंहल** की राजकुमारी के साथ उसके विवाह की योजना बनाता है। परंतु इस लक्ष्य की सिद्धि कठिन है। वह रानी **वासवदत्ता** को विक्षुब्ध नहीं करना चाहता। अतः उसे अंधकार में रखता है, और राजा के कंचुकी **बाभ्रव्य** द्वारा यह अफवाह उड़वा देता है कि **लावाणक** के अग्निकांड में **वासवदत्ता** की मृत्यु हो गयी। तब सिंहल-नरेश अपनी पुत्री का विवाह **उदयन** से करने को तैयार हो जाता है। वह अपनी पुत्री को (**उदयन** के) कंचुकी, और अपने मंत्री **वसुभूति** के संरक्षण में **वत्स** के लिए रवाना करता है। समुद्र में जहाज नष्ट हो जाता है। **कौशांबी** का एक वणिक् उसका बचाव करके उसे **कौशांबी** ले आता है। वह **वासवदत्ता** को सौंप दी जाती है। **वासवदत्ता** उसके रूप को देखकर उसे अपने चंचलहृदय पति के संपर्क से दूर रखने का निश्चय करती है। परंतु भाग्य विरुद्ध है। **वासवदत्ता** **वत्सराज** के साथ वसंतोत्सव मना रही है। उसकी परिचारिकाओं के साथ **सागरिका** (सागर से बचायी जाने के कारण राजकुमारी को यह नाम दिया गया है) भी आती है। जल्दी से बाहर भेजी जाने पर वह छिपकर रुक जाती है, और कामपूजा के अनुष्ठान को निरखती है। वह **उदयन** को शरीरधारी कामदेव समझती है। संध्या के आगमन की सूचना देने वाले वैतालिक की प्रशस्ति से उसकी भ्रांति दूर हो जाती है। दूसरे अंक में **सागरिका** अपनी सखी **सुसंगता** के साथ दिखायी देती है। उसने फलक पर राजा का चित्र बनाया है। **सुसंगता** हँसी में उसके पार्श्व में **सागरिका** का चित्र बना देती है। वह अपने अनुराग को स्वीकार करती है। इसी समय अस्तबल से एक वानर भाग निकला है। उसके संत्रास से उन दोनों का विश्रंभालाप टूट जाता है। उच्छृंखल वानर उस पिंजरे को तोड़ डालता है जो **सागरिका** की निगरानी में है। सारिका निकल भागती है। राजा और विदूषक उस कदलीगृह में पहुँचते हैं जहाँ सारिका है। वह युवतियों की बातचीत को दुहराती है। दोनों उसे सुनते हैं। चित्र भी उन्हें मिल जाता है। युवतियाँ चित्र लेने

---

१. Ed, C. Cappeller, Böhtlingk, Sanskrit-Chrestomathie, 3rd ed., pp. 326 ff.; trs. Wilson, ii. 255 ff.; L. Fritze, Schloss Chemnitz, 1876. इसका अभिनय मदनमहोत्सव के अवसर पर हुआ था.

के लिए वापस आती हैं और छिपकर राजा तथा विदूषक का विश्रंभालाप सुनती हैं। सुसंगता अग्रसर होकर दोनों प्रेमियों का साक्षात्कार करा देती है। रानी के आगमन से उनका मिलन आगे नहीं चल पाता। वह चित्र को देखकर सारी स्थिति को समझ जाती है, और अपने प्रवल कोप को अभिव्यक्त किये विना ही चल देती है। राजा उसे शांत करने का निष्फल प्रयत्न करता है। तीसरे अंक में विदूषक दोनों प्रेमियों को मिलाने की योजना वनाने में सफल होता है। रानी के वेष में सागरिका और उसकी परिचारिका के रूप में सुसंगता वत्स से मिलने वाली हैं। किंतु यह उपाय-कल्पना छिपकर सुन ली गयी है, और वासवदत्ता स्वयं ही संकेत-स्थल पर पहुँच जाती है। वह वत्स का प्रणय-निवेदन सुनती है, फिर उसकी कड़ी भर्त्सना करती है, और उसकी क्षमा-प्रार्थना को ठुकरा देती है। सागरिका संकेत-स्थल पर वहुत देर से पहुँचती है। राजा की दशा को सुनकर हताश होकर गले में फाँसी लगाती है। राजा और विदूषक के आगमन से उसकी रक्षा होती है। वह स्वभावत: भूल से उसे वासवदत्ता समझ रहा है। उसे शंका है कि उसकी कठोरता के कारण वह आत्महत्या करने को विवश हुई है। अपनी भूल को जान-कर वह आनंदित होता है। परंतु, अपने कोप पर लज्जित रानी पति से मैत्री करने के लिए लौट आयी है। वह दोनों प्रेमियों को संयुक्त देखती है, और प्रचंड क्रोध में नायिका तथा विदूषक को वंदी वनाकर ले जाती है। चौथे अंक में हम देखते हैं कि विदूषक मुक्त हो गया है, और उसे क्षमा मिल गयी है। परंतु सागरिका किसी कारागृह में है। राजा उसकी सहायता करने में असमर्थ है। एक शुभ समाचार मिलता है। सेनापति ने रुमण्वान् कोसल-नरेश को मारकर कोसलों पर विजय प्राप्त की है। एक ऐंद्रजालिक आता है। उसे अपनी कला का चमत्कार दिखाने की अनुमति दी जाती है। वसुभूति और वाभ्रव्य के आगमन से चमत्कार-प्रदर्शन में व्याघात होता है। वे दोनों भी पोत-भंग के वाद वच गये हैं। वे अपनी विपत्ति की कथा सुनाते हैं। तभी दूसरा व्यवधान उपस्थित होता है। अंत:पुर में आग लग गयी है। आक्षुब्ध वासवदत्ता यह रहस्य प्रकट करती है कि सागरिका वहीं है। वत्स उसकी सहायता के लिए दौड़ता है, और निगड़-वद्ध सागरिका के के साथ वाहर आता है। वह आग ऐंद्रजालिक के खेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। वाभ्रव्य और वसुभूति सागरिका के रूप में राजकुमारी को पहचान लेते हैं। यौगंधरायण उपस्थित होकर अपने कूट-प्रवंध और ऐंद्रजालिक के खेल को स्वीकार करता है। वासवदत्ता हर्ष के साथ राजा को रत्नावली से विवाह करने की अनुमति देती है, क्योंकि इस प्रकार उसका पति सार्वभौम हो जाएगा, और रत्नावली तो उसकी सगी ममेरी वहन है।

प्रियदर्शिका[1] के आरंभ में राजा **दृढवर्मा** का कंचुकी **विनयवसु** उसका परिचय देता है। यद्यपि **कलिंग**-नरेश ने उसकी कन्या के पाणिग्रहण की प्रार्थना की थी तथापि उसने **वत्स** से उसका विवाह करने का संकल्प किया। जब **वत्स प्रद्योत** के यहाँ वंदी था तब **कलिंगराज** ने **दृढवर्मा** पर आक्रमण किया और उसे भगा दिया। कंचुकी राजकुमारी को साथ लेकर चल देता है। **दृढवर्मा** का मित्र **विंध्यकेतु** उनका स्वागत करके उन्हें आश्रय देता है। परंतु, वह **वत्स** को आघात पहुँचाता है। उसका सेनापति **विजयसेन** इस पर आक्रमण करता है। **विंध्यकेतु** मारा जाता है। **विजयसेन** विजयोपहार के रूप में **प्रियदर्शिका** को भी **वत्स** के पास लाता है। राजा उसे **आरण्यका** के नाम से **वासवदत्ता** की परिचारिका के रूप में अंतःपुर में भेज देता है। दूसरे अंक में हम देखते हैं कि राजा उस युवती पर आसक्त हो गया है। वह विदूषक के साथ मनवहलाव का प्रयत्न करता है। **आरण्यका** अपनी सखी के साथ कमल के फूल चुनने के लिए आती है। वह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करती है। राजा छिपकर सुन लेता है। सखी के चले जाने पर एक भौंरा उसे तंग करता है। वह घवड़ाकर राजा के वाहुपाश में आ जाती है। राजा उसे बचाता है। उसकी सखी के लौटने पर वह हट जाता है। तीसरे अंक में वर्णित है कि रानी की वृद्धा सहचरी **सांकृत्यायनी** ने एक नाटक की रचना की है, जिसका विषय **वत्स** और **वासवदत्ता** का परिणय है। रानी उसका अभिनय देखना चाहती है। **आरण्यका** और **मनोरमा** को क्रमशः रानी और राजा की भूमिका अदा करनी है। **मनोरमा** और विदूषक ने प्रवंध किया है कि राजा स्वयं भूमिका ग्रहण करे। अभिनय को देखकर रानी उद्विग्न हो जाती है। प्रणय-व्यापार अत्यंत प्रभावोत्पादक है। **सांकृत्यायनी** के यह स्मरण दिलाने पर भी कि यह तो केवल अभिनय है, वह उठकर रंगशाला से चल देती है। विदूषक उसे सोता हुआ मिलता है। सहसा जगाये जाने पर वह भेद खोल देता है। रानी राजा की झूठी वहानेबाजी को सुनने से इन्कार कर देती है। चौथे अंक में ज्ञात होता है कि **आरण्यका** कारागार में है, राजा निराश है, और रानी शोकाकुल है, क्योंकि उसे अपनी माँ के पत्र से यह पता चला है कि उसका मौसा **दृढवर्मा** वंदी है, जिसे **वत्स** की सहायता की आवश्यकता है। परंतु, **विजयसेन कलिंगराज** की पराजय और **दृढवर्मा** की पुनः-प्रतिष्ठा का संवाद लाता है। **दृढवर्मा** का कंचुकी उसकी कृतज्ञता प्रकट करता है, और बतलाता है कि उसे एकमात्र दुःख इस बात का है कि उसकी कन्या खो गयी है। घवड़ाती हुई **मनोरमा** आती है। **आरण्यका** ने विष पी लिया है। व्यथित

---

१. Ed. R. Y. Krishnamachariar, Srirangam, 1906; trs. G. Strehly, Paris, 1888.

वासवदत्ता के आदेश पर यह वहीं लायी जाती है, क्योंकि वत्स उसकी चिकित्सा कर सकता है। कंचुकी अपनी राजकुमारी को पहचान लेता है। वत्स के मंत्र से वह होश में आती है। वासवदत्ता अपनी मौसेरी बहन को पहचानकर उसका हाथ राजा को अर्पित करती है।

संभवतः शरत्काल में इंद्रोत्सव के अवसर पर अभिनीत नागानन्द[1] की रूप-रचना अन्य दो रूपकों से भिन्न है, क्योंकि यह पाँच अंकों का नाटक है। इसका प्रेरणा-स्रोत भी भिन्न है। वे दोनों रूपक वत्स के विलास के विभिन्न रूपों पर लिखे गये है, यह एक बौद्ध उपाख्यान (जीमूतवाहन के आत्म-बलिदान) का नाटकीकरण है। यह मूलतः बृहत्कथा में वर्णित था, और उस ग्रंथ के परवर्ती अनुवादों[2] तथा वेतालपञ्चविंशति[3] में दृष्टिगोचर होता है। जीमूतवाहन विद्याधरों का राजकुमार है। वह अपने पिता को राजपद छोड़ने और संन्यास लेने के लिए अभिप्रेरित करता है। उसने सिद्धों के राजकुमार मित्रावसु से जान-पहचान कर ली है। मित्रावसु की एक बहन है। स्वप्न में गौरी उसे उसके भावी पति की बात बताती है। वह अपनी सखी से इस स्वप्न के विषय में एकांत में बात कर रही थी, झाड़ी के पीछे छिपा हुआ जीमूतवाहन सब सुन लेता है। विदूषक उन लज्जाशील प्रेमियों को बरबस मिला देता है। वे लजाते हुए अपना प्रेम स्वीकार करते है। आश्रम से एक तापस नायिका को ले जाने के लिए आता है। दूसरे अंक में कामार्त मलयवती उद्यान में शिला-तल पर आराम कर रही है। कोई शब्द सुन कर वह चल देती है। समान रूप से काम-पीड़ित नायक आता है, अपने प्रेम को प्रकट करता है और अपनी प्रेयसी का चित्र बनाता है। मित्रावसु आता है और उससे अपनी बहन के विवाह का प्रस्ताव करता है। अपनी प्रेयसी के विषय में अनभिज्ञ नायक उसे अस्वीकार कर देता है। नायिका अपने को कदर्थित समझकर फाँसी लगाने का प्रयत्न करती है। उसकी सहेली उसे बचाती है और सहायता के लिए पुकारती है। जीमूतवाहन आता है और उस चित्र को दिखाकर प्रमाणित करता है कि वह उसकी प्रेयसी ही है। दोनों वचनबद्ध होते है और विवाह हो जाता है। तीसरे अंक में हास्यपूर्ण विष्कंभक के बाद, दोनों उद्यान में सानंद घूमते हुए दिखायी देते है। जीमूतवाहन को अपने राज्य के आक्रांत होने की सूचना मिलती है, किंतु वह प्रसन्नता के साथ उस संवाद को ग्रहण करता है। अंतिम दो अंकों में प्रकरण बदल जाता है। एक दिन मित्रावसु के साथ टहलते हुए जीमूतवाहन को

१. E.I. Calcutta, 1883. TSS. 1017. trans. P. Boyd, London, 1872; A. Bergaigne, Paris, 1879, E. Teza, Milan. 1904.

२. KSS. xxii. 16-257; xc. 3-201; BKM. iv. 50-108; ix. 2, 776-930.

३. xv.

अस्थियों का ढेर दिखायी देता है। उसे ज्ञात होता है कि वे गरुड़ को प्रतिदिन भेजे गये नागों की हड्डियाँ हैं। वह आत्मबलिदान करके नागों की प्राणरक्षा का संकल्प करता है, मित्रावसु से छुटकारा पाकर वध्यशिला के पास पहुँच जाता है। वह शंखचूड की माँ का क्रंदन सुनता है। उसका बेटा भेजा जाने वाला है। जीमूतवाहन उसे आश्वासन देता है, उसके पुत्र के त्राण के लिए आत्म-बलिदान करने को उद्यत होता है। वे उसकी वीरता की श्लाघा करते हुए उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं। परंतु, बलिदान के पूर्व जब वे प्रार्थना के लिए मंदिर में चले जाते हैं, जीमूतवाहन उसके बदले वध्यशिला पर पहुँचता है। गरुड़ उसे उठा ले जाता है। अंतिम अंक के आरंभ में जीमूतवाहन के माता-पिता चिंतित हैं। उसके मुकुट से गिरी हुई एक मणि उनके पास लायी जाती है। मंदिर से निकलकर शंखचूड देखता है कि बलि-दान हो चुका है। वह गरुड़ को अपना पाप बतलाता है। अब बहुत देर हो चुकी है। अपने माता-पिता के पहुँचते ही नायक चल-बसता है। गरुड़ लज्जित होता है। गौरी आकर समस्या को सुलझाती हैं। मलयवती के प्रति कही गयी अपनी बात का पालन करने के लिए उसको पुनर्जीवित करती हैं, उसका अभिषेक करके उसे चक्रवर्ती बनाती हैं। गरुड़ के द्वारा मारे गये नाग अमृत-वर्षा से जी उठते हैं, और वह अपने निर्दय प्रतिशोध को त्याग देने का वचन देता है।

४. हर्ष की कला और शैली

हर्ष के नाटकों को जितनी प्रशंसा मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिली। इसका कारण कालिदास के साथ उनकी तुलना है। उनकी नाटिकाओं की मौलिकता कदाचित् महत्त्व-युक्त नहीं है, परंतु दोनों का ही वस्तु-विन्यास प्रभावशाली है। उनके व्यापार में धारावाहिकता है और दोनों रूपकों में कल्पना का वैभव है। रत्नावली में ऐंद्रजालिक की कला का दृश्य कौतुक और सजीवता के साथ अंकित किया गया है। सारिका के निकल भागने और वाचालता का संक्षिप्त वर्णन सरस है। रत्नावली में वेषभूषा का परिवर्तन स्वाभाविक और प्रभावशाली है। प्रिय-दर्शिका में दोहरी सुखांतता की कल्पना मनोहर है। उसके चौथे अंक में वैदग्ध्य-प्रयोग का निर्वाह परिष्कारपूर्वक किया गया है, जिससे वासवदत्ता एक स्नेहमयी भतीजी के रूप में दिखायी देती है। भौंरे वाला दृश्य चित्ताकर्षक है। यह ठीक है कि हर्ष के रूपक मालविकाग्निमित्र के संस्मरणों से भरे पड़े हैं, उदाहरणार्थ—रत्नावली में निकल भागने वाला वानर तथा मालविकाग्निमित्र में वह वानर जो राजकुमारी को भयभीत करता है; और सांकृत्यायनी के रूप में कौशिकी पुन-रुज्जीवित हो गयी है। किंतु इस कला-निर्मित कामदी का लक्ष्य लालित्य है,

मौलिकता[1] नहीं, और हर्ष ने निपुणता से अर्थग्रहण किया है। दोनों नाटिकाओं के कथा-विकास की समरूपता स्यात् अधिक निंद्य है। वे दोनों रूपक एक ही विषय के सुस्पष्ट रूपांतर हैं।

दोनों नाटिकाओं का मुख्य रस उस प्रकार का शृंगार है जो धीरललित नायक के अनुरूप होता है। धीरललित नायक सदैव मृदु होता है। उसकी दृष्टि में, वस्तुतः, प्रेमिकाओं का कुछ महत्त्व नहीं है। नयी प्रेमिका के साथ विलास करते हुए वह पुरानी प्रेमिका को अपने अनुराग का विश्वास दिलाना नहीं भूलता। भास ने वत्स के चरित्र का जो रूप प्रदर्शित किया था, उससे यह भिन्न है, और मानना पड़ेगा कि उससे बहुत घटिया है। उसी के समान वासवदत्ता का भी अपकर्ष हुआ है, क्योंकि वह अपने पति के लिए आत्मबलिदान करने वाली धर्मपत्नी नहीं रही। उदात्त एवं सहृदय होने पर भी वह बहुत अधिक ईर्ष्यालु है, और अपने पति-प्रेम के कारण उसके अन्य प्रेम-संबंधों को बहुत बुरा मानती है। उनकी नायिकाएँ केवल रूपवती मुग्धाएँ हैं जो नायक की प्रेयसी बनने को प्रस्तुत हैं। उन्हें ज्ञात है कि उनके पिता ने नायक के लिए उनका संप्रदान कर दिया है, किंतु नायक को इस बात का पता नहीं है। वे अपने यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन नहीं कर पातीं। दोनों नाटिकाओं में से किसी में भी इसके उचित कारण[2] का संकेत नहीं है। हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि प्रायोजकों की अनुपस्थिति में उन पर विश्वास न किया जाता। रत्नावली में नायिका की सखी सुसंगता एक मनोज्ञ और हँसमुख युवती है जो अपनी स्वामिनी का उत्तम परिहास करती है। दोनों ही नाटिकाओं में विदूषक,[3] अपने पेटूपन में प्रकारात्मक (typical) है। परंतु, उसके आकार-प्रकार में हास्योत्पादकता की कमी है। तथापि, वह एक आनंदप्रद पात्र है, क्योंकि अपने स्वामी के प्रति उसका प्रेम वास्तविक है। रत्नावली में वह नायक के साथ मरने को प्रस्तुत है, यद्यपि आग में कूद पड़ने के कार्य को वह अव्यावहारिक समझता है। ऐंद्रजालिक में निपुण जादूगरी के अनुरूप महाडंबर का रोचक और विदग्ध चित्रांकन हुआ है।

नागानन्द के अंतिम दो अंकों में हर्ष का नये रूप में दर्शन होता है। शास्त्र के अनुसार दोनों ही नाटिकाओं में अद्भुत के प्रति उनकी रुचि निस्संदेह प्रदर्शित

---

१. स्वप्नवासवदत्ता के अनेक प्रभाव-चिह्न रत्नावली में देखे जा सकते हैं, मुख्यतया विदूषक के चरित्र-चित्रण में.

२. आरण्यका सूचित करती है कि उनकी वास्तविक स्थिति को देखते हुए निश्चयात्मक कथन अशोभनकर होगा.

३. मिलाकर देखिए— JAOS. xv. 338 ff.

हुई है। परंतु, नागानन्द में इसका क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है। इसमें अतिप्राकृत तत्त्वों का स्वच्छंदता से प्रवेश हुआ है। इस नाटक का प्रेरणा-स्रोत बौद्ध हो सकता है, परंतु जीमूतवाहन के पुनरुज्जीवन के लिए गौरी का प्रवेश कराया गया गया है। इस नाटक में हर्ष ने आत्म-बलिदान, वदान्यता, उदारहृदयता, और काल के मुख में भी दृढ़ संकल्प के भावों का सफल चित्रण किया है। जीमूतवाहन, विलक्षण रूप में निवद्ध होने पर भी, बौद्धों का एक आदर्श है। उसका दृढ़ विश्वास है कि परोपकार के लिए आत्म-बलिदान परम धर्म है। शंखचूड और उसकी माँ का चरित्र भी महान् है, बर्बर गरुड़ की तुलना में बहुत श्रेष्ठ है। यह मानना पड़ेगा कि नाटक के दोनों स्पष्ट भागों में सामंजस्य की अवश्य कमी है, किंतु प्रभावांन्विति में किसी प्रकार की असफलता नहीं है। संभवतः दूसरे भाग की गंभीरता के प्रतितुलन (Counterpoise) की दृष्टि से हर्ष ने तीसरे अंक में प्रभावोत्पादक प्रहसन का संनिवेश किया है। विदूपक आत्रेय भद्दा और बुद्धू है। मक्खियों से आत्मरक्षा के लिए चादर ओढ़ कर सोये हुए विदूषक को विट शेखरक अपनी प्रेयसी समझ बैठता है, उसका आलिंगन, और लाड़-प्यार करता है। विट की प्रेयसी नवमालिका आती है। वह कुपित है। विट विदूपक को (ब्राह्मण होने पर भी) उसके पैर पर गिराने और मदिरा पिलाने का प्रयत्न करता है। कुछ आगे चलकर नवमालिका नवविवाहित दंपती के समक्ष तमाल के रस से उसका मुँह रँग करके उसका मजाक उड़ाती है।

परंपरा-प्रथित वर्णनों में हर्ष की विशेप रुचि है। संध्या, मध्याह्न, फुलवारी, तपोवन, उद्यान, निर्झर, विवाहोत्सव, स्नान-काल, मलय पर्वत, वन, प्रासाद आदि काव्य के सामान्यतः प्रिय विपय हैं। प्रतिभा और लालित्य में वे कालिदास से निश्चय ही घटकर हैं, परंतु अभिव्यंजना और विचारों की सरलता का महान् गुण उनमें विद्यमान है। उनकी संस्कृत परिनिष्ठित और अर्थगर्भित है। शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग संयत तथा सुरुचिपूर्ण है। उनके युद्ध-वर्णन में ओज है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणैः कृत्तोत्तमाङ्गे मुहुर्-
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणैर्धर्मोद्वमद्वह्निनि ।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भग्ने प्रधाने बले
एकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥[1]

---

१. रत्नावली; iv. 6.

'शस्त्रों के प्रहार से शिरस्त्राण के अस्त-व्यस्त हो जाने पर सिर काट लिये गये; रक्त की धारा बहने लगी, झनझनाते हुए प्रहारों से आग निकलने लगी; जब उसकी मुख्य सेना छिन्न-भिन्न हो गयी तब युद्ध में आगे जाकर रुमण्वान् ने कोसलपति को ललकारा; और मत्त हाथी पर चढ़े हुए उस राजा को अकेले ही सौ बाणों से मारा।' अर्थ के अनुरूप वर्णविन्यास श्लाघ्य है। आहत रानी को प्रसन्न करने में कृतकार्य राजा की सफलता का वर्णन करने वाली पंक्तियों में सूक्ष्म संवेदन की अभिव्यक्ति हुई है —

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥[1]

'मेरी कपटयुक्त शपथों, प्रिय वचन, अनुकूल आचरण, अत्यंत खिन्नता (अथवा लज्जाप्रदर्शन), पाँव पड़ने और सखियों के समझाने से रानी उतनी प्रकृतिस्थ नहीं हुई जितनी कि रोदन से; आँसुओं के जल से धुलकर कोप स्वयं दूर हो गया। अग्नि के प्रति नायक की उक्ति, उपयुक्त न सही, सुंदर अवश्य है—

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धम्
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥[2]

'अग्नि! रुको, रुको; लगातार धुआँ फेंकना छोड़ दो; लपटों का मंडल ऊपर क्यों उठा रहे हो? प्रिया के वियोग की प्रलयानल के समान अग्नि से जो नहीं जल सका उसका तुम क्या बिगाड़ सकते हो?' मृत कोसल-नरेश के प्रति वत्स की उक्ति में अत्यंत उत्कृष्ट अभिरुचि और औचित्य है[3]—मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति। 'तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसनीय है जबकि तुम्हारे शत्रु भी तुम्हारे वीरत्व का इस प्रकार वर्णन करते हैं।' इस प्रकार की उक्ति स्वयं हर्ष के वास्तविक स्वरूप का द्योतन करती है जो अनेक युद्धों का विजेता और एक महत्त्वपूर्ण पराजय का प्रमुख पात्र था।

---

१. रत्नावली, iv. i. २. वही, iv. 16.
३. वही, iv. 6-7. मिलाकर देखिए—विन्ध्यकेतु की मृत्यु पर प्रियदर्शिका, i.

नागानन्द में विभिन्न स्वरों की मार्मिक व्यंजना है। मित्रावसु अपने स्वामि-भक्त सिद्धों के हाथों राजकुमार जीमूतवाहन के शत्रु मतंग को अविलंब पराजित करने का आश्वासन देता है, केवल उसके आदेश की आवश्यकता है। इस आश्वासन में ओज और उत्साह है—

संसर्पद्‌भिः समन्तात्कृतसकलवियन्मार्गयानैर्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितविरुचः श्यामतां वासरस्य।
एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः
सिद्धञ्चोद्‌वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम् ॥[1]

'तुम्हारा आदेश पाते ही सिद्ध लोग युद्ध के लिए प्रस्थान कर देंगे। वे चारों ओर मँडराते हुए विमानों के द्वारा आकाश के सभी मार्गों पर छा जाएँगे, वर्षा ऋतु की भाँति सूर्य की किरणों को रोककर दिन को अंधकारमय बना देंगे। घमंडी शत्रु का सर्वनाश हो जाएगा। तुम्हारे स्वराज्य की पुनः प्राप्ति हो जाएगी। नाश के भय से अन्य राजा विनत हो जाएँगे।'

जीमूतवाहन का धर्मविषयक मत इससे भिन्न है—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथम् प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये ॥[2]

'परोपकार के लिए विना माँगे ही मैं कृपापूर्वक अपना शरीर दे सकता हूँ, तो फिर भला राज्य के लिए प्राणियों के क्रूर वध की अनुमति कैसे दे सकता हूँ ?' यह उक्ति नाटक का एक आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि तुरत ही आगे चलकर राज-कुमार नाग शंखचूड के लिए आत्म-बलिदान करने का संकल्प करता है।

अनुतप्त और आदेश-प्रार्थी गरुड़ के प्रति नायक के उपदेश में गरिमा और शक्ति है—

नित्यं प्राणातिपातात् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृते चानुतापं
यत्नात्पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम्।
मग्नं येनात्र नैनः फलति परिमितप्राणिहिंसात्तमेतद्
दुर्गाधापारवारेर्लवणपलमिव क्षिप्तमन्तर्ह्रदस्य ॥[3]

---

१. iii. 15.
२. iii. 17.
३. v. 25.

'जीव-हिंसा सदा के लिए छोड़ दो; पहले किये गये पापों पर पश्चात्ताप करो; सभी प्राणियों को अभयदान देते हुए पुण्यों का संचय करो, जिससे फल-भोग के लिए परिणत तुम्हारा जीवहिंसा-जन्य पाप बुरा फल न दे सके और अगाध सरोवर में फेंके गये छटाँक-भर नमक की भाँति तुम्हारे पुण्यों की अपार जलराशि में विलीन हो जाए।'

यद्यपि नाटक का कथानक बौद्ध है, तथापि नांदी से स्पष्टतया सूचित होता है कि उस उपाख्यान में नाटिका की भावना का प्रभावशाली ढंग से अंतर्निवेश किया गया है—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षति ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो[1] जिनः पातु वः ॥[2]

'ध्यान के बहाने किस सुंदरी का चिंतन कर रहे हो ? क्षण भर के लिए आँखें खोलकर काम-बाण से विह्वल हम लोगों को देखो । रक्षक होकर भी तुम हमारी रक्षा नहीं करते हो। तुम झूठ-मूठ के दयालु हो। क्या कोई अन्य पुरुष तुमसे भी अधिक निर्दय हो सकता है ? मार-वधुओं (अप्सराओं) के द्वारा इस प्रकार संबोधित विजयी बुद्ध तुम्हारा कल्याण करें।'

परंतु हर्ष का प्रधान गुण उनके शृंगारिक पद्यों में दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ नागानन्द की नवोढा की लज्जा के वर्णन में—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायाम् परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतराम् प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥[3]

'देखी जाने पर नीचे देखने लगती है; बात करने पर बोलती ही नहीं है; शय्या में करवट बदलकर मुँह फेर लेती है; बरबस आलिंगन करने पर काँपने लगती है; सखियों के बाहर जाने पर वह भी शयनकक्ष से बाहर जाना चाहती है; अपनी वामता से ही मेरी नवोढा प्रिया मुझे अधिकाधिक आनंद देती है।'

---

१. अथवा बोधौ, 'बोध होने पर'. २. i. 1.

३. iii. 4.

रत्नावली में धनुर्धर कामदेव के अचूक लक्ष्य-वेध का वर्णन है—

> मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
> अनंगेन कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥[1]

'मन स्वभावतः चंचल और दुर्लक्ष्य होता है; तथापि अनंग ने एक साथ ही सभी बाणों से मेरे मन को कैसे वेध दिया !' नागानन्द में हर्ष ने भारतीय अभिरुचि के अनुरूप नायिका के अंगों के मांसल सौंदर्य का वर्णन किया है—

> खेदाय स्तनभार एष किमु ते मध्यस्य हारोऽपर-
> स्ताम्यत्यूरुयुगं नितम्बभरतः काञ्च्यानया किं पुनः ।
> शक्तिः पादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं कुतो नूपुरौ
> स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम् ॥[2]

'तुम्हारे स्तनों का भार ही कटि को थका देने वाला है, हार की क्या आवश्यकता ? नितंबों के भार से दोनों जाँघें थकी जा रही हैं, करधनी का क्या प्रयोजन ? दोनों चरणों में दोनों जाँघों के भार-वहन की ही शक्ति नहीं है, नूपुरों के भार को क्यों बढ़ाती हो ? तुम तो अपने अंगों से ही अलंकृत हो, फिर आभूषणों को ढोने का कष्ट क्यों उठा रही हो ?' हर्ष प्रेम के गहनतर पक्ष की अभिव्यंजना में भी समर्थ हैं, उदाहरण के लिए, उस समय जब रत्नावली[3] में नायक यह कल्पना करता है कि मेरे अनुराग-लोप के कारण वासवदत्ता आत्महत्या करने को विवश हुई है—

> समारूढप्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
> व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
> प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
> प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥

'मेरे द्वारा किये गये प्रेम और आदर के फलस्वरूप मेरे प्रति प्रिया का स्नेह दिन-पर-दिन बढ़ता गया, मेरी इस अभूतपूर्व झुठाई को देखकर इसे सह सकने में असमर्थ वासवदत्ता प्राण-त्याग कर रही है । प्रकृष्ट अनुराग के विषय में की गयी गलती असह्य होती है ।'

---

१. iii. 2. २. iv.7.
३. iii. 15.

४. हर्ष के नाटकों की भाषा और छंद

हर्ष की संस्कृत सामान्य आभिजात्य-प्रकार की संस्कृत है। उसमें परंपरागत पद्धति का व्यतिक्रम नहीं है। उनकी प्राकृतों (मुख्यतया शौरसेनी, पद्यों में महाराष्ट्री) में कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। वे केवल इतना ही सूचित करती हैं कि उन्होंने प्राकृत-व्याकरण का अवधानपूर्वक अध्ययन किया है।[1]

दूसरी ओर, उनकी छंदोयोजना से सूचित होता है कि उनकी प्रवृत्ति पूर्ववर्ती नाटककारों की सरलता के अस्वीकार की ओर है। वे अधिक जटिल छंदों के प्रयोग का आग्रह करते हैं। वे छंद अपने में सर्वथा अनाटकीय हैं, परंतु वे वर्णन-प्रतिभा के प्रदर्शन का अधिक अवसर प्रदान करते है। हर्ष का विशेष प्रिय छंद **शार्दूलविक्रीडित** है, जो **रत्नावली** में २३ वार, **प्रियदर्शिका** में २० वार, और **नागानन्द** में ३० वार प्रयुक्त हुआ है। दूसरा स्थान **स्रग्धरा** का है, जिसका प्रयोग ११, ८, और १७ वार हुआ है। **श्लोक** का प्रयोग **रत्नावली** (९), और **नागानन्द** में (२४) किया गया है। **नागानन्द** में इसके बहुशः प्रयोग का कारण उस नाटक की इतिहासकाव्यात्मक विशेषता है। **प्रियदर्शिका** में **श्लोक** का अभाव ध्यान देने योग्य है। *आर्या* का प्रत्येक **नाटिका** में ९ वार, और *नागानन्द* में १६ वार प्रयोग हुआ है। **प्रियदर्शिका** की अंतर्वस्तु से उसकी अप्रौढ़ता सूचित होती है, और उसकी छंदोविषयक दरिद्रता से इस मत की पुष्टि होती है। इसमें कुल मिलाकर केवल सात छंद है, जिनमें **इंद्रवज्रा**, **वसंततिलक** (६), **मालिनी** और **शिखरिणी** का भी समावेश है। **नागानन्द** और **रत्नावली** में **शालिनी** तथा **हारिणी** भी हैं। **नागानन्द** में **द्रुतविलंबित** का भी प्रयोग है। उसके विपरीत, **रत्नावली** में **पुष्पिताग्रा**, **पृथ्वी** और **प्रहर्षिणी** भी है। उस रूपक में ५ प्राकृत **आर्याएँ** और १ **गीति** हैं, अन्य दो रूपकों मे तीन-तीन **आर्याएँ** हैं। रत्नावली में दो मनोहर तुकांत पद्य भी हैं, जिनके प्रत्येक पाद में १२ मात्राएँ हैं।

६. महेन्द्रविक्रमवर्मा

महेंद्रविक्रमवर्मा हर्ष के लगभग समसामयिक थे। वे राजा **सिंहविष्णुवर्मा** के पुत्र और स्वयं राजा थे। उनकी उपाधियाँ थीं—अवनिभाजन, गुणभर और मत्तविलास। उनके रूपक[2] मे इन सबका निर्देश है। उन्होंने अपने रूपक की

---

१. 'नागानन्द' में चेट के द्वारा **मागधी** प्रयुक्त हुई है। उत्तरी और दाक्षिणात्य संस्करणों के रूप-भेदों के विषय में देखिए—Barnett, JRAS. 1921, p. 589

२. **मत्तविलास**, ed. TSS. lv. 1917.

दृश्यस्थली कांची में सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य किया।[1] किसी विशेष गुण के कारण नहीं, अपितु संयोगवश ही उनका प्रहसन[2] हमें उपलब्ध है। वही एकमात्र प्रारंभिक प्रहसन है जो प्रकाश में आया है। उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि वह दक्षिण से प्राप्त हुआ है। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसमें भास की जैसी शिल्प-विधि की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार, रूपक का आरंभ नांदी के बाद सूत्रधार से होता है। नांदी परिरक्षित नहीं है। आमुख की संज्ञा 'स्थापना' है, सामान्यतः व्यवहृत 'प्रस्तावना' नहीं। उसमें चौर-शास्त्र के एक लेखक **कर्पट** का भी निर्देश मिलता है, जैसा कि **भास** के **चारुदत्त** में है। परंतु दोनों में इस बात का तात्त्विक भेद है कि **मत्तविलास** के आमुख में लेखक के गुणों तथा रूपक के नाम को विस्तार से प्रस्तुत करने का विशेष ध्यान रखा गया है।

सूत्रधार कथोपकथन के द्वारा रूपक की 'स्थापना' करता है। वह नाट्य-प्रयोग में सहायता के लिए अपनी प्रथम पत्नी को (यद्यपि वह एक कनीयसी पत्नी के ग्रहण के कारण उससे खीझी हुई है) चतुराई-पूर्ण चाटुकारिता से अभिप्रेरित करता है। आमुख के बाद वास्तविक रूपक का आरंभ उसी प्रकार होता है जिस प्रकार **भास** में पाया जाता है। पद्य के बीच में सूत्रधार नेपथ्य से शब्द सुनकर रुक जाता है, और मुख्य अभिनेता तथा उसकी संगिनी के आगमन का उल्लेख करते हुए पद्य को पूरा करता है। आगंतुक एक शैव कापालिक और उसकी प्रियतमा **देवसोमा** हैं। दोनों नशे में हैं। युवती अपने साथी से सहायता माँगती है ताकि वह गिर न पड़े। यदि उसके लिए संभव होता तो वह उसे थाम लेता, परंतु अपनी बुरी दशा के कारण उसकी सहायता नहीं कर पाता। ग्लानिवश वह सुरा-पान त्याग देने की प्रतिज्ञा करता है, परंतु स्त्री उससे प्रार्थना करती है कि मेरे लिए इस प्रकार अपनी साधना को खंडित न करो! वह प्रसन्नतापूर्वक अपनी अविचारित प्रायोजना (project) को त्याग देता है, और उलटे अपनी जीवन-पद्धति की प्रशंसा करने लगता है—

---

१. EI. iv. 152; South Ind. Inscr. i. 29 f. ; G. Jouveau-Dulreuil, The Pallavas, pp. 37 ff.

२. राजाराम शास्त्री के 'सूचीपत्र' में **बाण** को किसी 'सर्वचरित' का लेखक बतलाया गया है, परंतु हो सकता है कि यह 'पार्वतीपरिणय' (Ettinghausen, Harṣa Vardhana, pp. 122 ff. के विरुद्ध) की भाँति **वामन, भट्ट, बाण** की रचना हो। 'नलचम्पू' पर लिखित चंडपाल की टीका में **बाण** का 'मुकुटताडितक' प्रोद्धृत है।

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितोऽविकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥[1]

'जिन्होंने इस प्रकार का मोक्ष-मार्ग दिखलाया है—सुरा पियो, प्रियतमा के मुख को देखते रहो, स्वभावतः सुंदर और अविकृत वेष धारण करो; वे भगवान् पिनाकपाणि (शिव) दीर्घजीवी रहें ।' उसके साथी उसे स्मरण दिलाते हैं कि अर्हतों की मोक्ष-साधन की परिभाषा बहुत भिन्न है, किंतु उन्हें निवटा देने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती—

कार्यस्य निःसंशयमात्महेतोः
सरूपतां हेतुभिरभ्युपेत्य ।
दुःखस्य कार्यं सुखमामनन्तः
स्वेनैव वाक्येन हता वराकाः ॥

'उनकी प्रस्थापना है कि कार्य अपना कारण स्वयं है, अतः उसका वही स्वरूप है जो उसके कारण का है। इसलिए, जब वे यह कहते हैं कि सुख दुःख का कार्य है तब वे बेचारे मूर्ख अपनी ही बात से अपने मत का खंडन कर देते हैं।' उसके बाद कांची का प्रशंसात्मक वर्णन है, और मदिरालय (जहाँ वे दोनों अधिक दान माँग रहे हैं) तथा यज्ञस्थल के सादृश्य का यत्नपूर्वक निरूपण है। कापालिक को सुरा की दिव्य उत्पत्ति का भी पता चलता है। शिव के नेत्र की ज्वाला से दग्ध कामदेव ने जो रूप ग्रहण किया था वही सुरा है। उसके इस निष्कर्ष को उसकी संगिनी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती है। भिक्षा-प्राप्ति में दोनों सफल होते हैं। पता चलता है कि खप्पर का काम देने वाला कपाल (ऐसा प्रतीत होता है कि कापालिक के 'कापालिक' कहलाने का कारण यह कपाल ही था) खो गया है। परंतु, वह यह सोचकर अपने को आश्वस्त करता है कि वह तो एक प्रतीक मात्र था, और यह कि 'मेरा व्यवसाय तो अब भी बना हुआ है'। तदनंतर कांची में उसकी खोज आरंभ होती है। एक बौद्ध-भिक्षु शांतिभिक्षु पर संदेह किया जाता है। वह इस बात पर पछता रहा है कि उत्तम भोजन मिलने पर भी धर्म सुरा और सुंदरी के भोग का निषेध करता है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बुद्ध के वास्तविक प्रवचन में

---

१. सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलक' में भास को इस पद्य का रचयिता बतलाया है; Peterson, Reports, ii. 46.

इस प्रकार के हास्यास्पद प्रतिबंधों का समावेश नहीं था, और प्रामाणिक पाठ की खोज करके संपूर्ण समाज को लाभान्वित करने की अभिलाषा प्रकट करता है। स्वभावतः, टोके जाने पर वह इस बात को अस्वीकार करता है कि उसका खप्पर कापालिक का खप्पर है। वह अपने गुरु को धन्यवाद देता है जिन्होंने आग्रहपूर्वक उसका मूँड़ मुड़ाने की बुद्धिमानी की थी, क्योंकि इस कारण से ही वह युवती अपने साथी की सहायता करने के लिए उसका बाल पकड़कर खींचने के अभीष्ट प्रयत्न में सफल नही हो पाती। उसके द्वारा अपने खप्पर की पहचान के विषय में दिये गये तर्क कापालिक की दृष्टि में अप्रत्यायक हैं—

दृष्टानि वस्तूनि महीसमुद्र-
महीधरादीनि महान्ति मोहात्।
अपह्नुवानस्य सुतः कथं त्व-
मल्पं न निह्नोतुमलं कपालम्॥

'तुम ऐसे व्यक्ति की संतान हो जो पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि प्रत्यक्ष पदार्थों को भी असत्य घोषित करता है; तो फिर खप्पर-जैसी तुच्छ वस्तु को त्यागने के लिए क्यों नहीं प्रस्तुत हो?' इसके अतिरिक्त, जब वह बौद्ध देवसोमा को (जो उसके बालों पर निष्फल आक्रमण करने के फलस्वरूप भूमि पर गिर पड़ी थी) शिष्टता और प्रशंसनीय उदारता के साथ उठाता है तब वह कापालिक उस पर उस युवती के पाणि-ग्रहण करने का दोषारोपण करता है और ब्राह्मणों के अधिकारों के इस अतिक्रामक को दंडित करने के लिए दुहाई देता है। एक पाशुपत, जो अधिक प्रतिष्ठित प्रकार का सांप्रदायिक शैव है, उस घटनास्थल पर आता है। वे उससे मध्यस्थ होने का अनुरोध करते है, परंतु वह इस कार्य में अत्यंत कठिनाई का अनुभव करता है। दोनों दावेदार ऐसे पंथ में अपनी अनुपक्ति घोषित करते हैं जिसमें झूठ बोलना निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध-भिक्षु शिक्षापाद के नैतिक नियमों की संपूर्ण सूची का पाठ कर जाता है। बौद्ध अपने पक्ष में रंग और आकार के आधार पर तर्क प्रस्तुत करता है। प्रतिपक्षी कापालिक यह कहकर उसका प्रतिवाद करता है कि वह पदार्थों को इच्छानुसार रूपांतरित करने में प्रवीण है। अंत में पाशुपात इस मामले को अधिकरण में ले जाने का सुझाव देता है। परंतु, वहाँ जाते समय मार्ग में कोई उन्मत्तक उन्हें नया मोड़ देता है। उसने एक कुत्ते से (जो असली चोर है) वह कपाल प्राप्त किया है। पहले वह उस कपाल को उपहार के रूप में पाशुपत को देना चाहता है। पाशुपत अकड़ के साथ उस भयानक वस्तु का तिस्कार करता है, परंतु यह सुझाव देता है कि वह कापालिक

को दे दिया जाए। फिर वह अपना विचार बदल देता है, परंतु, 'उन्मत्त' की चिल्लाहट से खीझ उठता है, कापालिक को कपाल पकड़ा देता है और उससे उन्मत्तक को दिखलाने के लिए कहता है। कापालिक इच्छापूर्वक उसे ग्रहण कर लेता है, और उन्मत्तक को बहका देता है। अब सभी प्रसन्न हैं। कापालिक बौद्ध-भिक्षु से यथोचित क्षमायाचना करता है। रूपक की समाप्ति यथारीति भरतवाक्य से होती है जिसमें शासक राजा (रचना के लेखक) का निर्देश है।

इस प्रहसन से सूचित होता है कि लेखक को बौद्धधर्म के तत्त्वों का प्रचुर ज्ञान है। यह प्रहसन काफी रोचक है। यह और बात है कि इसका विषय बहुत साधारण है, किंतु इसकी रचना में अधिक परिश्रम किया गया है। इसकी शैली विषय-वस्तु के सर्वथा उपयुक्त है। हर्ष की शैली की भाँति ही सरल और ललित है। अनेक पद्यों में शक्ति और सौंदर्य की कमी नहीं है। परंतु, कापालिक की गद्योक्तियों में कहीं-कहीं भवभूति के बोझिल समासों का पूर्वरूप[1] उपलब्ध होता है। अन्य परवर्ती प्रहसनों की भाँति उसमें भी विषयवस्तु की साधारणता और रूप-विधान के श्रमपूर्वक निष्पादन में वैषम्य पाया जाता है। परंतु लेखक में यह गुण है कि उसने *अपनी रचना को उस स्थूल ग्राम्यता से बचा लिया है जो इस प्रकार की परवर्ती* रचनाओं में प्रसामान्यतया लक्षित होती है।

संक्षिप्त होने पर भी इस रूपक में प्राकृतों की विविधता पायी जाती है। नाटक के पात्रों में से कापालिक और पाशुपात संस्कृत बोलते हैं। इसके विपरीत, उन्मत्तक, बौद्ध भिक्षु और देवसोमा की उक्तियाँ प्राकृत में हैं। बौद्ध और देवसोमा की भाषा प्रायः शौरसेनी है, परंतु उन्मत्तक मागधी[2] का प्रयोग करता है। इन प्राकृतों में प्राचीनता के कुछ लक्षण पाये जाते हैं, जो भास के नाटकों में देखे जा चुके हैं। इस प्रकार ण्ण के स्थान पर आणि और ञ्ञ में बहुवचन के रूप मिलते हैं। यह निस्संदेह भास के प्रभाव का परिणाम है। अहो नु खलु और किं नु खलु के सदृश रूपों की पुनरावृत्ति भास की शैली के ठीक अनुरूप है। यह भी उल्लेखनीय है कि प्राकृत में तुमुन् के साथ निषेधार्थक मा का प्रयोग किया गया है।

रूपक के आयाम को ध्यान में रखते हुए, छंदों की विविधता काफी है। नौ भिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है। श्लोक और शार्दूलविक्रीडित पांच-पांच हैं, तीन-

१. pp. 7, 8, 9.

२. इसी प्रकार भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में उन्मत्तक.

तीन इंद्रवज्रा और आर्याएँ हैं, वंशस्था और वसंततिलक दो-दो हैं, एक मात्र प्राकृतपद्य पहले प्रकार का है, और एक-एक रुचिरा, मालिनी तथा स्रग्धरा हैं।[१]

१. 'चतुर्भाणी' (1922)--वररुचि-कृत उभयाभिसारिका, शूद्रक-कृत पद्मप्राभृतक, ईश्वरदत्त-कृत धूर्तविटसंवाद, आर्यश्यामिलक-कृत पादताडितक--के संपादकों ने भाणों की पुरातनता का दावा किया है, परंतु प्रथम दो के कर्तृत्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता, और इनमें से कोई भी रूपक १००० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता। उनका शिल्प-विधान मत्तविलास के समान है.

: ८ :

भवभूति

१. भवभूति का समय

भवभूति ने अपनी प्रस्तावनाओं में बतलाया है कि वे उदुंबर-नामक ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे, जो विदर्भ के अंतर्गत पद्मपुर के निवासी थे। वे काश्यप गोत्र के और कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी थे। उनका पूरा नाम श्रीकंठ नीलकंठ था। वे नीलकंठ और जतुकर्णी के पुत्र थे, भट्टगोपाल के पौत्र थे, और अपने पांडित्य के लिए प्रसिद्ध तथा वाजपेय-याजी महाकवि की पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे। वे व्याकरण, काव्यशास्त्र और न्याय के ज्ञाता थे। मालतीमाधव की एक हस्तलिखित प्रति में उपाख्यान है कि वे कुमारिल के शिष्य थे। इसने लेखक को कुमारिल के ग्रंथों के टीकाकार उम्बेकाचार्य की संज्ञा देकर बात को उलझा दिया है। यदि इस उपाख्यान पर विश्वास करें तो वे कदाचित् व्याकरण, न्याय और मीमांसा[1] के पंडित थे। इस सुझाव को छोड़ देना ही अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे वेदों, उपनिषदों तथा सांख्य-योग के ज्ञाता थे, और ज्ञाननिधि उनके गुरु थे। उनके तीनों ही रूपक कालप्रियनाथ के यात्रा-महोत्सव पर खेले गये थे। कालप्रिय प्रसामान्यतः उज्जयिनी के महाकाल से अभिन्न माने जाते हैं, यद्यपि मालतीमाधव का घटनास्थल पद्मावती है। अतएव हम कल्पना कर सकते हैं कि वे अर्थोपार्जन के लिए उज्जयिनी या पद्मावती की ओर चले गये थे। उन्होंने अपने नाटकों में किसी ऐश्वर्य की चर्चा नहीं की है। अतः यह देखकर आश्चर्य होता है कि राजतरङ्गिणी[2] में कल्हण का स्पष्ट कथन है कि वे कान्यकुब्ज के यशोवर्मा के परिवार के एक सदस्य थे।

---

१. पदवाक्यप्रमाणज्ञ, देखिए–Belvalkar, HOS. XXI. xxxvi ff. जिसमें नरवर के पास पवाया के रूप में पद्मावती के साथ पद्मपुर की, और यमुना के किनारे काल्पी के साथ कालप्रिय के मंदिर की अभिन्नता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। उनके वैदिक अध्ययन के विषय में देखिए—Keith, JRAS. 1914, pp. 729 f. वे कामसूत्र से परिचित थे. JBRAS. xviii. 109 f.

२. iv. 144. समय के विषय में देखिए—Stein's Intr., 85, और iv. 126 तथा 134 पर टिप्पणी.

यशोवर्मा को काश्मीर के **मुक्तापीड ललितादित्य** ने पराजित किया था। यह घटना संभवत: ७३६ ई० के पहले की नहीं है। उनके समय के संबंध में एक और संकेत मिलता है। **वाक्पति** ने **गौडवह**[1] में **भवभूति** के काव्य-रत्नाकर का निर्देश किया है। यह पद्य **यशोवर्मा** द्वारा एक गौड़ राजा की पराजय के प्राकृत में किये गये वर्णन की प्रस्तावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह काव्य अपूर्ण है। कल्पना की जा सकती है कि स्वयं **यशोवर्मा** की पराजय के कारण उसमें बाधा पड़ गयी। अतएव, हमें **भवभूति** का समय ७०० ई० के आस-पास मानना चाहिए। उनके विषय में **बाण** के मौन से सूचित होता है कि उन्हें **भवभूति** की जानकारी नहीं थी, इसके विपरीत वे **कालिदास** से अभिज्ञ थे। उनको उद्धृत करने वाले प्रथम काव्यशास्त्री **वामन** हैं।[2] **भवभूति** के नाम से ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो उनके उपलब्ध नाटकों में नहीं पाये जाते। हो सकता है कि उन्होंने संप्रति उपलब्ध 'प्रकरण' और रामोपाख्यान पर लिखित दो नाटकों के अतिरिक्त ग्रंथ भी लिखे हों। अभिनेताओं के साथ मैत्री की विशेषता का उन्होंने स्वयं निर्देश किया है, और उनकी कृतियों में इस बात का साक्ष्य ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है कि उन्होंने रंगमंच के उपयोग के लिए उनमें संशोधन किया था।

२. रूपकत्रय

कदाचित् सबसे पहली रचना **महावीरचरित** है, किंतु इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, और इसे **मालतीमाधव** से पहले की रचना मानने के लिए कोई निश्चित कारण नहीं है। संभवत: ये दोनों ही **उत्तररामचरित** से बहुत पहले की रचनाएँ हैं। एक प्रकरण के रूप में **मालतीमाधव**[3] की कथावस्तु कवि द्वारा उद्भावित होनी चाहिए। यह बात इस सीमा तक सत्य है कि प्रेम-प्रबंध का निर्माण करने वाले तत्त्वों का संयोजन स्पष्ट रूप से कवि का अपना है, यद्यपि

---

१. v. 799.

२. i. 2, 12 (नामोल्लेखरहित), अनुमान किया जा सकता है कि भवभूति को भास की जानकारी थी, उनके द्वारा अप्रचलित दंडक का प्रयोग संभवत: भास से गृहीत है, और **उत्तररामचरित**, अंक २ तथा **स्वप्नवासवदत्ता**, अंक १ आदि में समानताएँ विद्यमान हैं।

३. Ed. R. G. Bhandarkar, Bombay, 1876 (2nd ed., 1905); trs. Wilson, ii. 1 ff.; G. Strehly, Paris, 1885; L. Fritze, Leipzig. 1884. मिलाकर देखिए—Gawronski, Les sources de quelques drames indiens, pp. 43 ff.; Cimmini, Osservacioni sul rasa nel Mālatimādhava, Naples, 1915.

कहानी के मुख्य अभिप्राय और प्रमुख प्रसंगों का सादृश्य उपलब्ध कथा-साहित्य में मिल सकता है।

भूरिवसु पद्मावती के राजा का मंत्री है। उसकी कन्या **मालती** है। **भूरिवसु** का पुराना मित्र **देवरात** विदर्भ के राजा का मंत्री है। उसका पुत्र **माधव** है। **भूरिवसु** ने *अपनी पूर्वपरिचिता* **कामंदकी** *से (जो अब भिक्षुणी हो गयी है)* **माधव** *के साथ* **मालती** के विवाह की व्यवस्था करने को कहा है। **देवरात** ने अपने पुत्र को **पद्मावती** भेजा है, मुख्यतया इस आशा से कि **भूरिवसु** को याद होगा कि दोनों ने अपने छात्र-जीवन में अपने बच्चों के परस्पर विवाह का समझौता किया था। इस विवाह के मार्ग में एक बाधा पड़ती है। राजा का नर्मसुहृद् **नंदन** राजा की अनुमति से **मालती** के साथ ब्याह करना चाहता है। इसलिए **कामंदकी** युवक-युवती के मिलन और विवाह का प्रबंध करने का निश्चय करती है, जिससे वह राजा के समक्ष एक निर्विवाद तथ्य प्रस्तुत कर सके। नायक का मित्र **मकरंद** है, और नायिका की सखी **नंदन** की बहन **मदयंतिका** है। इन दोनों ने दूसरे अंक के अंत तक नायक-नायिका के परस्पर-अनुराग को अंकुरित कर दिया है। तीसरे अंक में, दोनों प्रणयी शिव के मंदिर में मिलते हैं। एक बाघ निकल भागा है, जिसके कारण **मदयंतिका** के प्राण संकट में हैं। **मकरंद** उसे बचाता है, किंतु घायल हो जाता है। तदनंतर ये दोनों परस्पर आसक्त हो जाते हैं। चौथे अंक में सूचित होता है कि राजा **मालती** और **नंदन** का विवाह करने के लिए कृतसंकल्प है। **माधव** केवल **कामंदकी** की सहायता से सफलता पाने की आशा त्याग देता है। वह महामांसविक्रय के द्वारा श्मशान के पिशाचों की सहायता प्राप्त करने का निश्चय करता है। इसके अनुसार वह पाँचवें अंक में एक साहसिक कार्य पर अग्रसर होता है। अपने इस कृत्य के क्रम में उसे समीपवर्ती मंदिर से क्रंदन-ध्वनि सुनायी देती है। वह दौड़ पड़ता है। कापालिक **अघोरघंट** और उसकी चेली **कपालकुंडला** दोनों चामुंडा देवी को **मालती** की बलि चढ़ाने ही वाले थे कि ठीक समय पर पहुँचकर **माधव** उसकी रक्षा करता है। वह **अघोरघंट** को मार डालता है। छठे अंक में **कपालकुंडला** प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करती है। कुछ समय तक सब ठीक-ठाक चलता है। **मालती** का **नंदन** से विवाह होने वाला है, परंतु जब वह विवाह के पूर्व पूजा के लिए मंदिर में जाती है तब कूटयुक्ति से **मकरंद** उसका स्थान ग्रहण करता है। **मालती** और **माधव** गायब हो जाते हैं। **मकरंद** दुल्हिन के रूप में विदा होता है। सातवें अंक में पता चलता है कि बेचारा **नंदन** अपनी 'वधू' के द्वारा बुरी तरह तिरस्कृत हुआ है। **मदयंतिका** अपनी भाभी की भर्त्सना करने के लिए आती है, वहाँ अपने प्रेमी को देखती है और उसके साथ भाग जाती है। परंतु, अपनी मित्र-मंडली में फिर

संमिलित होने के लिए जाते समय उनका पीछा किया जाता है। आठवें अंक में विदित होता है कि माधव उन भगोड़ों (मकरंद और मदयंतिका) की सहायता करता है। वे इतने शानदार ढंग से शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करते हैं कि राजा उन्हें प्रसन्नतापूर्वक क्षमा कर देता है। किंतु, उस हलचल में कपालकुंडला आकर मालती को ला-पता कर देती है। संपूर्ण नवें अंक में अपने मित्र के साथ माधव द्वारा मालती की उत्कट खोज का निरूपण है। उनकी यह खोज निष्फल हो जाती यदि कामंदकी की शिष्या सौदामिनी सौभाग्य से पहुँचकर कपालकुंडला के पंजे से मालती को बचा न लेती। दसवें अंक में प्रेमियों के प्रत्यागमन से शोक का दृश्य निवृत्त हो जाता है, और राजा विवाह का अनुमोदन करता है।

महावीरचरित[1] का स्रोत बहुत भिन्न है। इसमें प्रधान घटनाओं का वर्णन करते हुए कथोपकथन के माध्यम से रामायण की मुख्य कथा का निरूपण किया गया है। नाटकीय प्रभाव के लिए सारी कहानी को जान-बूझकर एक नया रूप दिया गया है—आरंभ से ही रावण राम का विरोध करता है, और उन्हें नष्ट करने के लिए षड्यंत्र रचता है। इस अभिप्राय की प्रस्तावना पहले अंक में की गयी है। विश्वामित्र के आश्रम में राम और लक्ष्मण विदेहराज जनक की कन्याओं सीता और उर्मिला को देखकर उन पर अनुरक्त हो जाते हैं। तथापि, रावण दूत भेजकर सीता के पाणिग्रहण की माँग करता है। परंतु, राम राक्षसी ताड़का को परास्त करते हैं। विश्वामित्र उन्हें दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं, और शिव का धनुष मँगवाते हैं। यदि वे उसे मोड़ दें तो सीता को पा सकते हैं। धनुष तोड़ा जाता है, और रावण का दूत क्रुद्ध होकर प्रस्थान करता है। दूसरे अंक में रावण का मंत्री माल्यवंत अनुभूत पराजय की क्षतिपूर्ति के लिए उसकी बहन शूर्पणखा से मिलकर षड्यंत्र रचता है। परशुराम के पत्र से एक उपाय सूझता है। वे परशुराम को शिव के धनुर्भंग का बदला लेने के लिए उकसाते हैं। इस संकेत पर परशुराम अपने स्वाभाविक औद्धत्य के अनुसार आचरण करते हैं। वे मिथिला पहुँचकर राम का अपमान करते है, और द्वंद्व के लिए आह्वान करते हैं। तीसरे अंक में आक्षेप-प्रत्याक्षेप चलता रहता है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक और दशरथ किशोर राम एवं मातृघाती, क्षत्रिय-विनाशक तथा बर्बर ब्राह्मण (परशुराम) के संघर्ष को बचाने का निष्फल प्रयत्न करते हैं। चौथे अंक में ज्ञात होता है कि परशुराम हार चुके हैं, और उन्होंने विजयी राम की सादर वंदना की है। माल्यवंत एक नयी

---

१. Ed. F. H. Trithen, London, 1848; N. S. 1901; trs. J. Pickford, London, 1892.

युक्ति सोचता है। शूर्पणखा दशरथ की मुँह लगी पत्नी कैकेयी की दासी मंथरा का वेष धारण करके उस राज-परिवार की एकता भंग करेगी। वह परिवार आनंद-मग्न है। राम अपनी ससुराल मिथिला में हैं। तभी कल्पित मंथरा कैकेयी का अभिकथित पत्र लेकर आती है। उस पत्र में कहा गया है कि एक बार दशरथ ने दो वरदान दिये थे, राम उनसे उस वचन की पूर्ति कराएँ। ये दोनों वरदान हैं—उसके पुत्र भरत का युवराज के रूप में चुनाव और चौदह वर्ष के लिए राम का निर्वासन। इधर भरत और उनके मामा युधाजित् ने दशरथ से राम का अविलंब अभिषेक कर देने के लिए कहा है। वे तैयार हैं। परंतु, राम आ पहुँचते हैं, और कैकेयी की माँग का प्रतिवेदन करते हैं। वे सीता और लक्ष्मण के साथ वन-गमन का आग्रह करते हैं। भरत को रुकने का आदेश मिलता है। वे अपने को राम का प्रतिनिधि मात्र मानते हैं। पाँचवें अंक में वृद्ध गृध्रों जटायु और संपाति के संवाद से वन में राम के कार्यों और राक्षसों के संहार की सूचना मिलती है। संपाति चिंतित है और जटायु को राम की भली-भाँति रक्षा करने का आदेश देता है। जटायु अपने कर्तव्य का पालन करता है, रावण के द्वारा चुरायी गयी सीता को देखता है, और उनकी प्रतिरक्षा करते हुए मारा जाता है। राम और लक्ष्मण शोकग्रस्त दिखायी देते हैं। वन में घूमते हुए वे एक तापस को बचाते हैं, और उससे समाचार प्राप्त करते हैं। लंका से निर्वासित होने पर रावण का भाई विभीषण उनसे ऋष्यमूक पर मिलना चाहता है, जहाँ पर निराश सीता ने अपने आभूषणों को गिराया है। परंतु, माल्यवंत के उकसाने से वाली उनका प्रवेश वर्जित कर देता है। राम डटे रहते हैं और अपने शत्रु का वध करते हैं, जो (मरते समय) अपने भाई सुग्रीव को राम के खोज-प्रयत्न में सहायता करने का आदेश देता है। छठे अंक में माल्यवंत अपनी योजनाओं की असफलता के कारण हताश दिखायी देता है। वह सुनता है कि हनुमंत ने लंका-दहन कर दिया है। रावण आता है, वह सीता पर रुष्ट है। मंदोदरी उसे अग्रवर्ती शत्रु के विषय में निष्फल चेतावनी देती है। रावण के अविश्वास का अनिष्ट ढंग से निराकरण होता है। अंगद सीता के समर्पण और लक्ष्मण के चरणों में अवनति की शर्त लेकर आते हैं। रावण अस्वीकार करता है, और दूत को दंड देना चाहता है, जो बच निकलता है। तदनंतर रावण युद्ध में जाता है। इंद्र और चित्ररथ उस युद्ध का विस्तार से वर्णन करते हैं, क्योंकि वे देवता होने के कारण आकाश से उसका प्रेक्षण कर सकते हैं। रावण वीरता के चमत्कारपूर्ण कार्य करता है, परंतु हनुमंत अमृत से राम और उनके साथियों को पुनरुज्जीवित कर लेते हैं। अंत में रावण अपने वीर पुत्र मेघनाद के पास ही स्वर्गगामी हो जाता है। सातवें अंक में अधिष्ठातृदेवताओं द्वारा प्रतिनिधित्व लंका और अलका परस्पर समवेदना प्रकट

करती हैं। प्रतिविदित होता है कि सीता ने अग्नि-परीक्षा द्वारा अपना पातिव्रत सिद्ध कर दिया है। इस समय राम का सारा दल विजयी है। आकाश-मार्ग से वे उत्तर की यात्रा करते हैं, जहाँ पर राम के भाइयों और दशरथ की विधवाओं द्वारा उनका स्वागत किया जाता है। विश्वामित्र राम का अभिषेक करते हैं।

उत्तररामचरित[1] का आधार रामायण का अंतिम और उत्तर कांड है। जनक विदा हो गये हैं। गर्भवती सीता खिन्न हैं और राम उन्हें आश्वासन दे रहे हैं। वसिष्ठ का संदेश आया है कि राम अपनी पत्नी की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करें, किंतु प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य को प्रथम स्थान दें। लक्ष्मण सूचित करते हैं कि उनके चरित के दृश्यों का चित्रण करने वाले चित्रकार ने कार्य समाप्त कर दिया है। वे वीथिका में प्रवेश करते है। अतीत के अनुभव उन्हें प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। अपने पति और संबंधियों से सीता के वियोग के विषय में राम उन्हें आश्वासन देते हैं। प्रसंगवश वे भगवती गंगा से प्रार्थना करते हैं कि वे सीता की रक्षा करें, और उनके पास के दिव्यास्त्र उनके पुत्रों को स्वतः प्राप्त हो जाएँ। सीता थककर सो जाती हैं। ब्राह्मण दुर्मुख, जो प्रजा के भावों के सूचनार्थ भेजा गया था, बतलाता है कि लोग सीता के चरित्र में संदेह करते हैं। राम ने सीता को पहले से वचन दे रखा है कि वे उन्हें उनके संचार-स्थल वनों को एक बार फिर दिखाएँगे। अब वे निश्चय करते हैं कि वहाँ जाकर सीता फिर वापस नहीं लौटेंगी। उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है। दूसरे अंक में तापसी आत्रेयी और 'वनदेवता' वासंती का संवाद है। पता चलता है कि राम अश्वमेध कर रहे हैं, और वाल्मीकि दो सुंदर बालकों का पालन-पोषण कर रहे हैं, जिनको किसी देवी ने उन्हें सौंपा है। खड्गहस्त राम पापी शूद्र शंबूक का वध करने के लिए आते हैं। मारे जाने पर, मृत्यु के द्वारा परिपूत, शंबूक दिव्य पुरुष के रूप में उपस्थित होता है और अपने उद्धारक को अगस्त्य के आश्रम में पहुँचाता है। तीसरे अंक में दो नदियों तमसा और मुरला का संवाद है। वे बतलाती हैं कि परित्यक्ता सीता आत्महत्या कर लेतीं किंतु गंगा ने उनकी रक्षा की और दुरवस्था में उत्पन्न उनके पुत्रों को शिक्षा के लिए वाल्मीकि को सौंप दिया। छाया-रूप में सीता आती हैं। वे मनुष्यों के लिए अदृश्य हैं। गंगा उन्हें अपने यौवन-काल में देखे गये दृश्यस्थलों को फिर देखने के लिए तमसा की देख-रेख में जाने की अनुमति देती हैं। राम भी आते हैं। अपने प्रेम के उस स्थल को देखकर दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं। सचेत होकर सीता अदृश्य रूप से राम का

---

१. Ed. and trs. S. K. Belvalker, HOS. xxi-xxiii; trs. C. H. Tawney, Calcutta, 1874; P. d'Alheim, Bois-le-Roi, 1906.

स्पर्श करती हैं। वे होश में आकर फिर मूर्च्छित हो जाते हैं और फिर होश में आते हैं। अंत में सीता मूर्च्छित होते हुए राम को छोड़कर चली जाती है।

चौथे अंक में दृश्य बदल जाता है। यह जनक का आश्रम है। उन्होंने राजधर्म से संन्यास ले लिया है। राम की माता कौशल्या उनसे मिलती हैं। दोनों एक-दूसरे को आश्वासन देते हुए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। आश्रम के बालकों के कोलाहल से उनकी बात रुक जाती है। उनमें से एक बालक विशेष रूप से अग्रणी है। पूछने पर वह बतलाता है कि उसका नाम लव है, उसका भाई कुश है, जो राम को केवल वाल्मीकि के ग्रंथ से जानता है। सैनिकों द्वारा रक्षित राम के यज्ञ का अश्व वहाँ पहुँचता है। लव अपने साथियों में संमिलित हो जाता है। किंतु, उनके विसदृश, वह प्रभुसत्ता के राजकीय अधिकार से भयभीत नहीं है, और उसका विरोध करने का निश्चय करता है। पाँचवें अंक में लव और राम के यज्ञ के अश्व के रक्षक चंद्रकेतु के बीच युद्धोपयुक्त आक्षेप-प्रत्याक्षेप होता है, यद्यपि वे एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। छठे अंक में एक विद्याधर और उसकी पत्नी दोनों, आकाश-मार्ग से जाते हुए, उन किशोर वीरों के युद्ध और उनके द्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्रों का वर्णन करते हैं। राम के आगमन से संघर्ष रुक जाता है। वे लव की वीरता की प्रशंसा करते हैं, चंद्रकेतु उसे और भी बढ़ाकर बखानता है। पूछने पर उसे पता चलता है कि वे दिव्यास्त्र लव को जन्म से ही प्राप्त हुए थे। भरत के आश्रम से कुश आता है, वह वाल्मीकि के काव्य के नाटकीकरण के लिए वहाँ ले जाया गया था। पिता उन गरिमाशाली कुमारों की श्लाघा करता है, जो उसके औरस पुत्र हैं। यद्यपि वह इस तथ्य से अनभिज्ञ है।

सातवें अंक में सब लोग भरत द्वारा प्रकल्पित और अप्सराओं द्वारा अभिनीत अलौकिक नाटक देखते हैं। उसमें परित्याग के पश्चात् सीता के भाग्य का चित्रण किया गया है। वे रोती हुई भागीरथी में कूद पड़ती हैं, और पृथ्वी के सहारे फिर दृष्टिगत होती हैं। दोनों एक-एक नवजात शिशु लिए हुए हैं। पृथ्वी ओजस्वी शब्दों में राम की कठोरता की निंदा करती है, गंगा उनके कार्य को निर्दोष बताती है। दोनों सीता से बालकों की तब तक देख-रेख करने के लिए कहती है जब तक वे वाल्मीकि को सौंपे जाने योग्य न हो जाएँ। तत्पश्चात् वे जैसा चाहें वैसा करें। राम प्रभावाभिभूत हो जाते हैं, वे उस दृश्य को वास्तविक समझने लगते हैं, कभी कथोपकथन के बीच में बोल उठते हैं, कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। अरुंधती अचानक आती हैं। उनके साथ सीता है। वे अपने पति के पास जाती हैं और उन्हें होश में लाती हैं। जनता रानी सीता का स्वागत करती है, और वाल्मीकि राम के पुत्रों कुश तथा लव को लाकर सौंपते हैं।

भारतीय परंपरा कहती है कि भवभूति ने पाँचवें अंक के ४६वें पद्य तक ही **महावीरचरित** की रचना की थी, अवशिष्ट भाग सुब्रह्मण्य कवि ने पूरा किया था। यदि इस बात को असंदिग्ध मान लिया जाए तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वह नाटक कभी पूरा नहीं हुआ, और इसलिए वह कवि की अंतिम कृति है। परंतु, **उत्तररामचरित** की प्रौढ़ता से यह सर्वथा स्पष्ट है कि, इस कहानी में चाहे जितनी सत्यता हो, उसकी अपूर्णता का कारण समयाभाव नहीं था।

३. भवभूति की नाट्यकला और शैली

इस बात में संदेह करना कठिन है कि भवभूति ने **मृच्छकटिक** के रचयिता की स्पर्धा से प्रेरित होकर अपने प्रकरण की रचना का प्रयत्न किया होगा। यह सत्य है कि उस नाटक को रोचक बनाने वाला परिहास **मालतीमाधव** में नहीं मिलता, परंतु यह भवभूति के निजी स्वभाव का परिणाम है। वे इस दिशा में प्रतिभासंपन्न नहीं थे। उन्हें इस बात का बोध था[1]। इसीलिए उन्होंने विदूषक की भूमिका का (जिसका वे सफलता के साथ निर्वाह नहीं कर सकते थे) साहसपूर्वक त्याग किया है। किंतु ऐसा करके उन्होंने अपने कथास्रोतों को बहुत परिसीमित कर दिया है, और उन्हें अपनी विषयवस्तु के लिए प्रहसनात्मक प्रसंगों के स्थान पर भयानक तथा रौद्र प्रकार के प्रसंग चुनने पड़े हैं। मुख्य प्रेम-कहानी दो तरुण प्रेमियों का उपाख्यान है जिनकी अभिलाषाएँ एक शक्तिशाली प्रणयी के बीच में आ पड़ने के कारण प्रतिरुद्ध हो जाती हैं, और जिनके व्यापार में दो अन्य प्रेमियों का प्रसंग भी जुड़ जाता है, दोनों प्रेम-प्रसंगों का अंत सहपलायन में होता है—यह सब **कथासरित्सागर**[2] में वर्णित है। और, किसी अभिचारी द्वारा किसी सुंदरी के बलिदान, एवं पिशाचों की सहायता प्राप्त करने के लिए मांसविक्रय का अभिप्राय उस संग्रह में तथा अन्यत्र[3] भी पाया जाता है। भवभूति का गौरव उनके संयोजन तथा प्रभावान्विति में, और पाँचवें अंक में एक साथ ही भयानक तथा प्रोद्दीपक दृश्य-विधान में है। उपलब्ध कथानक के सूक्ष्म विवरणों में भी उन्होंने सुधार किया

---

१. **उत्तररामचरित** के चौथे अंक में उनके बरबस परिहास लाने के शोचनीय प्रयत्न से इस विषय में उनकी शक्तिहीनता प्रकट होती है। वे किसी मात्रा तक कथास्थिति की व्यंग्यात्मकता लाने में ही सफल हो सके हैं, उदाहरणार्थ—अपने पुत्रों की स्वरूपता के विषय में राम की अनभिज्ञता के प्रसंग में, मिलाकर देखिए—उत्तररामचरित, iv. 22-23, vi. 19-20. २. xiii.

३. KSS. xviii, xxv. (Aśokadatta and the Rākṣasas) : cxxi. (Kāpalika and Madanmañjari); DKC. vii. (Mātṛgupta and Kanakalekhā).

है; अधिक रूढ़ि-प्रथित हाथी के स्थान पर बंधनभ्रष्ट बाघ की योजना की गयी है, और मदयंतिका को राजा के कृपापात्र नंदन की बहन बनाकर उपाय-कौशल को अधिक प्रभावशाली ढंग से संयोजित किया गया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कामंदकी और उसकी सहायिकाओं अवलोकिता तथा सौदामिनी के साधनतंत्र का अंतर्निवेश किया है। इसका स्रोत भी 'कथा'-साहित्य है। भवभूति के समान ही ब्राह्मणवादी लेखक दंडी ने दूतियों के रूप में बौद्ध भिक्षुणियों को चुना है, और कामंदकी के कार्य सर्वथा सात्त्विक हैं। वह तो अभिभावकों की प्रार्थना पर मालती के उद्धार का बीड़ा उठाती है, क्योंकि उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ होने जा रहा है जो उसके अयोग्य है और जिसका चुनाव उसके पिता ने नहीं किया है। नवें अंक पर कालिदास का प्रभाव है। स्पष्ट है कि यह अंक विक्रमोर्वशी के चौथे अंक की बराबरी में लिखा गया है। यदि वह लालित्य और चित्ताकर्षकता में घटकर है तो मार्मिक करुणा में उससे बढ़कर है। इसी अंक में मेघदूत का भी स्पष्टतया अनुकरण है, माधव के द्वारा अपनी खोयी हुई प्रेमिका को मेघ-संदेश भेजने की कल्पना मेघदूत के शाब्दिक संस्मरणों से भरी हुई है।

रोचक होने पर भी कथावस्तु की निबंधना अत्यंत निकृष्ट है। व्यापार एक हास्यास्पद मात्रा में संयोग पर निर्भर है। मालती दो बार मृत्यु के मुख में पहुँचती है और दोनों बार संयोग से बचा ली जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रकरण के पात्र वास्तविक जीवन के संपर्क से दूर रहते हैं। वे मृच्छकटिका के पात्रों की भाँति नगर के निवासी हैं, परंतु अपने काल्पनिक संसार में रहते हुए-से प्रतीत होते हैं जिसमें बाघों का निकल भागना और वध के उद्देश्य से युवतियों का अपहरण आश्चर्यजनक नहीं है। नायक या नायिका का अपना व्यक्तित्व नहीं है, यद्यपि नायिका की लज्जाशीलता के वैषम्य में संकल्पपूर्वक अपने को मकरंद के अधीन कर देने वाली मदयंतिका का चित्रण है। माधव के मित्र कलहंस को आगे चलकर[1] 'विट' कहा गया है, परन्तु उसमें विट की कोई विशेषता नहीं पायी जाती, और संभवतः यह कथन निराधार है।

महावीरचरित में मालतीमाधव का सा अनुत्साह नहीं है, किंतु भवभूति के द्वारा कथावस्तु को कुछ अन्विति देने का प्रयत्न स्पष्ट है, यद्यपि वह असफल है। हाँ, घातक त्रुटि इस बात में है कि व्यापार के स्थान पर लंबी वार्ताओं के माध्यम से घटनाओं का वर्णन किया गया है। माल्यवंत और शूर्पणखा, जटायु और संपाति, इंद्र और चित्ररथ तथा अलका और लंका के संवाद सर्वथा अनाटकीय हैं।

---

१. Kumarasvamin, प्रतापरुद्रीय, i. 38.

प्रत्यावर्तन की यात्रा में विमान पर से देखे गये उनके साहस-कार्यों के स्थानों का जो शब्द-चित्र अंकित किया गया है, नाटक में उसके स्थान की तनिक भी संकल्पना नहीं की जा सकती। **राम** और **परशुराम** ने जो एक-दूसरे को चुनौती दी है उसका दो अंकों तक अतिनिर्वाह नाटककार की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा की गौरव-वृद्धि नहीं करता, अपितु खेदजनक और व्यापार में बाधक मात्र है। दूसरी ओर, जिसमें **भरत राम** के प्रतिनिधि-रूप में कार्य करने का निश्चय करते हैं वह दृश्य और **वाली** तथा **सुग्रीव** का दृश्य दोनों प्रभावोत्पादक हैं। **वाली** कुमंत्रणा के कारण **राम** का विरोध करता है, इस प्रकार उसे **राम** का शत्रु बनाकर उत्कृष्ट अभिरुचि का परिचय दिया गया है, और **रामायण** में वर्णित विश्वासघात एवं बंधु-विरोध का सर्वथा लोप हो गया है। चरित्रचित्रण शिथिल है। **सीता** और **राम** एक नीरस साँचे में ढले हुए हैं, जिसमें उनके अपने गुण की छाया नहीं है। न **माल्यवंत** सामान्यता से ऊपर उठ सका है और न ही **रावण**।

नाटक के रूप में **उत्तररामचरित** उच्चतर स्तर तक नहीं पहुँचता। लेखक को बारह वर्षों के समय का विवरण देना है, **महावीरचरित** में तो यह अवधि चौदह वर्षों की थी। ऐसी स्थिति में प्रभावशाली अन्विति का विधान किसी भी लेखक के लिए कठिन है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए **भवभूति** ने कोई गंभीर प्रयत्न भी नहीं किया। वे चित्ताकर्षक चित्रों की शृंखला की कल्पना करके संतुष्ट हो गये हैं। पहले अंक का विधान अद्भुत है। **सीता** सुदूर अतीत के दुःखद जीवन के चित्र देख रही है, वे उससे भी अधिक निर्दय नियति के कगार पर खड़ी हैं, और अपने हर्ष-विषाद के पुराने दृश्यस्थलों को देखने की कामना प्रकट करती हैं जिससे **राम** को उन्हें तत्काल त्यागने का उपाय मिल जाता है—इस प्रकार करुणरसप्रधान व्यंग्य का द्योतन अत्यंत उत्कृष्ट है। तथापि राजा **राम** के दोषाच्छादन का प्रयत्न किया गया है। वे कर्तव्य-पालन का संदेश सुनते हैं। इस सहसा किये गये कार्य को रोक सकने वाले गुरुजन दूर हैं। तीसरे अंक का दृश्य, जिसमें **सीता राम** को देखती और क्षमा करती हैं, अद्भुत है। राम कठोर होने पर भी **सीता** के प्रति अतिशय अनुरागवान् हैं, यह बात प्रमाणित होने पर वे भावाभिभूत हो जाती है। उनके इस क्रमिक किंतु उदात्त वशीभाव के चित्रण की मार्मिकता सराहनीय है। गर्वीले **लव** का चित्रण भी हृदयहारी है, आगे चलकर वह महाराज **राम** के नम्र व्यवहार से उनके प्रति विनीत हो जाता है। परंतु विद्याधर के द्वारा दिव्यास्त्रों का वर्णन असंदिग्ध रूप से **भारवि** के **किरातार्जुनीय** के साथ स्पर्धा करने-का प्रभावहीन प्रयास है। जो भी हो, अंतिम अंक **भवभूति** की उत्कृष्टतम सृष्टि है। **रामायण** की सरल कथा में यज्ञ के अवसर पर **लव** और **कुश रामायण** की

कथा का पाठ करते हैं और अपने पिता द्वारा पहचाने जाते हैं। यहाँ पर अप्सराओं द्वारा अभिनीत एक अलौकिक रूपक का विधान किया गया है जो अनजाने ही सुखांतता की ओर ले जाता है। **भवभूति** ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतिहास का अतिक्रमण किया है, जिसके बिना हमारी दृष्टि में भी यह मादक सदोष हो जाता। **सीता और राम** का चरित्रांकन अत्युत्तम है; एक अपनी शक्ति एवं उदात्त भावना में महान् है, दूसरी पार्थिव स्थूलता से परे अलौकिक रूप से सुकुमार और दिव्य है। **जनक** और **कौशल्या** का चित्रण हृदयस्पर्शी है। उनकी समवेदनाओं में अमायिकता का बल है। परंतु, अन्य पात्रों (कुल मिलाकर चौबीस हैं) में कोई विशेष बात नहीं है। **भवभूति** के सीमित परिसर में विस्तृत पैमाने पर पात्रों की सृष्टि संभव नहीं थी। अपने अन्य नाटकों में उन्होंने व्यापार की आवश्यकता के अनुसार पात्रों की संख्या यथासंभव न्यूनतम रखी है।

काव्य के रूप में **उत्तररामचरित** के गुण सुस्पष्ट और निर्विवाद हैं। प्रकृति और जीवन में जो महामहिम तथा चित्तप्रेरक है, **भवभूति** की प्रकृति उसके अनुरूप थी। इस नाटक में **राम** और उनके वीर पुत्र के वीरोचित उत्साह के साथ ही निर्वासित रानी के दुर्भाग्य की मँड़राती हुई करुणा का अद्भुत समन्वय है। प्रथम तीन अंकों में वनों, पर्वतों और नदियों ने उन्हें प्रकृति के कर्कश एवं सुकुमार तत्त्वों के चित्रण की महती शक्ति के उपयोग का प्रचुर सुअवसर प्रदान किया है। जो अपनी महिमा में चकित कर देने वाला और शोभाशाली है, वह **भवभूति** के लिए आकर्षक है। **कालिदास** के अपेक्षाकृत सीमित प्रकृति-प्रेम में उसकी व्यंजना नहीं हुई। अंतिम अंक में वे **कालिदास** से भी उत्कृष्ट हैं, क्योंकि **सीता** और **राम** के पुनर्मिलन मे भाव की गहराई है। दुष्यंत और शकुंतला के मिलन के अपेक्षाकृत निर्जीव चित्र से वह भाव उद्बुद्ध नहीं होता। दुष्यंत और उनकी तपोवन-प्रेयसी की अपेक्षा **राम** और **सीता** अधिक मार्मिक जीवन तथा गहनतर अनुभूति के प्राणी हैं।

वस्तुतः **भवभूति** में पदार्थों के रहस्य का बोध पाया जाता है, जो उस मात्रा में **कालिदास** में नही मिलता। **कालिदास** सौभाग्यशाली थे, उन्हें जीवन व्यवस्थित और आनंदमय प्रतीत होता था। **भवभूति** का कथन है—'कोई रहस्यमय आंतर हेतु पदार्थों को परस्पर मिला देता है; निश्चय ही प्रीति बाह्य परिस्थितियों पर आश्रित नही होती।'[1] **भवभूति** की दृष्टि मे आत्म-बलिदान एक वास्तविकता है; प्रजा के अनुरंजन के लिए **राम** स्नेह, दया, सुख अथवा जानकी को भी छोड़ने के लिए प्रस्तुत हैं,[2] और अपने संकल्प के अनुसार आचरण करते हैं। मैत्री उनके

---

१. उत्तररामचरित, vi. 12.

लिए महाव्रत है, प्राण देकर भी मित्र के हितों का रक्षण, द्रोहरहित और निश्छल व्यवहार तथा अपने समान ही उसके सुख-सौभाग्य के प्रयत्न—यह मैत्री का आवश्यक लक्षण है।[1] उनकी प्रेम की संकल्पना भी श्लाघ्य है, जो भारतीय साहित्य में प्रसामान्यतः अभिव्यक्त कल्पना से कहीं अधिक उदात्त है; वह दुःख और सुख में समान, तथा प्रत्येक अवस्था में अनुकूल रहता है; उसमें हृदय को विश्रांति मिलती है; वृद्धावस्था में वह विकृत नहीं होता; समय बीतने के साथ ही संकोच के हट जाने पर अधिक सारवान् और मधुर हो जाता है; वह महत्तम वरदान है जो विरले भाग्यशालियों को बड़ी साधना से प्राप्त होता है।[2] अपत्य (शिशु) पति-पत्नी के मिलन को पूर्ण करता है; वह दंपति के अंतःकरण के तत्त्वों को संयोग की ग्रंथि में बाँधता है।[3] **भवभूति** स्पष्ट रूप से अकेले प्राणी थे; यह बात **मालतीमाधव** की प्रस्तावना से प्रमाणित है—

> **ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां**
> **जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।**
> **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा**
> **कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥**

'जो मेरी अवज्ञा करते हैं, उनका ज्ञान संकुचित है; मेरा यह प्रयत्न उनके लिए नही है; कोई-न-कोई मेरा समानधर्मा उत्पन्न हुआ है या होगा; क्योंकि काल सीमारहित है और पृथ्वी बहुत विस्तीर्ण है।' फिर भी हम उन लोगों से सहानुभूति रख सकते है जिन्होंने यह अनुभव किया[4] कि **भवभूति** की कला रंगमंच के अनुपयुक्त है, क्योंकि उनकी शैली में शिल्पविधि के दोषों के अतिरिक्त और भी अनेक अवगुण हैं।

वस्तुतः **भवभूति** ने स्वयं उद्घोषित किया है कि प्रौढ़ता, वाणी की उदारता (**प्रौढत्वमुदारता च वचसाम्**) और अर्थगौरव उनके काव्य के गुण हैं। स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका दावा निराधार नहीं है। **भवभूति** के विषय में स्वीकार्य अर्थगौरव और उदात्तता को भारतीय कसौटी पर ही परखना चाहिए, और परंपरानिष्ठता के साथ अस्तित्व बनाये रखने वाली किसी ब्राह्मणवादी विचार-धारा पर आरोपित कठोर सीमाओं का ध्यान रखते हुए उन्हें समझना चाहिए। यह परंपरानिष्ठता **भवभूति** में उतनी ही अभिव्यक्त है जितनी कि अपेक्षाकृत

१. महावीरचरित, v. 59. मिलाकर देखिए—उत्तररामचरित, iv. 13, 14.
२. वही, i. 39.
३. उत्तररामचरित, iii. 18.
४. देखिए—वही, i. 5.

उल्लसितचित्त कालिदास में। अतएव जब यह कहा जाता है[1] कि 'कालिदास की तुलना में उनका वही स्थान है जो Euripides की तुलना में Aischylos का है' तब इस तुलना को गंभीरता से नही ग्रहण करना चाहिए। वस्तुतः, Euripides के साथ किसी भी कवि की तुलना की कल्पना उतनी ही सरलता से की जा सकती है जितनी सरलता से कालिदास की। उनमें उस वितर्क-बुद्धि का लेश भी नही है, जो (तार्किक) सोफ़िस्टों (Sophists) के समसामयिक, और सुस्थापित रूढियों के उत्कट परीक्षक उस यूनानी नाटककार में पायी जाती है। शैली की दृष्टि से भी उनका लक्ष्य है—निष्पत्ति की पराकाष्ठा। Euripides ने न तो उसके लिए प्रयत्न किया और न ही उसकी उपलब्धि की। निस्सदेह, यदि उपमा दी ही जाए तो कालिदास को भारतीय नाटक के Sophokles का पद दिया जा सकता है, क्योंकि (जहाँ तक किसी भारतीय कवि के लिए संभव था) उन्होंने 'जीवन को स्थिरता से और उसकी समग्रता में देखा'। वे उन निरर्थक जिज्ञासाओं से मुक्त थे जिन्होंने Euripides के अंतःकरण को पीड़ित किया। Aischylos के साथ भी भवभूति की यथार्थ तुलना नहीं हो सकती। इसका कारण है। उस महान् एथीनियन (Athenian) ने जीवन के मूलभूत तथ्यों की स्वतः व्याख्या की, क्योंकि उसे लोक-विश्वास में अथवा परंपरागत धर्म-दर्शन में उनका समाधान नही मिला। उसके विपरीत भवभूति ने विश्व-व्यवस्था की ब्राह्मण-अवधारणाओं को बिना किसी संदेह के स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त, दोनों की शैली में जो वैषम्य है, उससे अधिक वैषम्य नही हो सकता। Aischylos में चित्ताकर्षक बिंब-विधान[2] की प्रतिभा के होते हुए सरलता की शक्ति है, किंतु, भवभूति में अतिजटिलता और अतिशयोक्ति है। कालिदास और उनके परवर्ती (भवभूति) का अंतर भिन्न प्रकार का है। दोनों ने परंपरागत व्यवस्था को स्वीकार किया है। परंतु, गुप्त-कालीन भारत के स्वर्ण-युग में (असंदिग्ध रूप से) समग्र ऐश्वर्य-सुख का भोग करते हुए कालिदास ने जीवन के विषयों को निश्चित आशावाद की दृष्टि से देखा। उनकी इस दृष्टि का उस युग में ह्रासोन्मुख बौद्धधर्मदर्शन के साथ विलक्षण वैषम्य अवेक्षणीय है। बौद्धों ने संसार को अनिष्ट-कारक मानकर उसकी सत्यता का कट्टर प्रत्याख्यान किया, जीवन की समस्याओं के संबंध में यह उनका योगदान था। जहाँ तक भवभूति का संबंध है, उन्होंने सच्ची अंतर्दृष्टि से जीवन की कठिनाइयों और दुःखों को वस्तुतः पहचाना था। संभवतः ऐश्वर्यहीनता, और पर्याप्त राजकृपा के सुखभोग से वंचित होने के कारण उनकी

१. Ryder, The Little Clay Cart, p. xvi.

२. G. Norwood, Greek Tragedy, pp. 121 ff.

दृष्टि पैनी हो गयी थी। उनका विषय हमारे जीवन को स्पर्श करने वाली मानवता से अति दूर किसी विलासी महाराजा के हर्षोल्लास अथवा किसी **पुरूरवा** का उलटफेर नहीं है, अपितु नरत्व और नारीत्व के यथार्थ रूप **राम** और **सीता** की मर्मवेधिनी विपत्ति है। इस बात के अनेक मार्मिक उदाहरण हैं—

> **किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-**
> **दविरलितकपोलं जल्पतोश्च क्रमेण ।**
> **अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकदोष्णो-**
> **रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥**[1]

'समीपता के कारण कपोल से कपोल सटाये हुए, एक-दूसरे के गाढ़ आलिंगन में बद्ध, धीरे-धीरे मंद स्वर से बातें करते थे, और इस प्रकार रात बीत जाती थी, हमें पता ही नही लगता था कि उसके पहर कब बीत गये !'

जहाँ तक **भवभूति** की शैली के रूपात्मक पक्ष का संबंध है, उनकी अभिव्यंजना-शक्ति निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है। वह उनके तीनों ही नाटकों में समान रूप से अभिव्यक्त हुई है। आधुनिक अभिरुचि के पाठक को **भवभूति** अत्यधिक चित्ताकर्षक तब प्रतीत होते हैं जब वे सरल और स्वाभाविक रूप में आते हैं; वे जब चाहें तब ऐसा कर सकते है। इस प्रकार **मालतीमाधव** के छठे अंक में **माधव** की अपने समीप उपस्थिति से अनभिज्ञ **मालती** जब उसके प्रति अपने अनुराग की बात कहती हैं तब **माधव** के आनंद की मनोहर अभिव्यंजना हुई है—

> **म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि**
> **सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।**
> **आनन्ददानि हृदयैकरसायनानि**
> **दिष्ट्या मयाप्यधिगतानि वचोऽमृतानि ॥**

'भाग्य ने मेरा साथ दिया है, क्योंकि मैंने उसके वचनामृत को प्राप्त किया है जो मेरे मुरझाये हुए जीवन-पुष्प को विकसित करने वाला है, तृप्तिकारक है, सभी इंद्रियों को मोहित करने वाला है, आनंददायक है, और हृदय के लिए रसायन है।' इस प्रकार के सविस्तर विन्यास में अंत्यानुप्रास का सोद्देश्य प्रयोग जितना उपयुक्त है उतना ही असाधारण भी है, और यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि कुछ दूर आगे चलकर उसी प्रकार के प्रयोग की आवृत्ति हुई है। सातवें अंक में **मदयंतिका** और **मकरंद** के सहपलायन के पक्ष में युक्ति देती हुई **बुद्धरक्षिता** की (सामान्य

---

१. i. 27.

नियम के विरुद्ध संस्कृतनिष्ठ) उक्ति में प्रभावशाली सहजता तथा ऋजुता की विशेषता है—

> प्रेयान्मनोरथसहस्रवृतः स एष
> सुप्तप्रमत्तजनमेतदमात्यवेश्म ।
> प्रौढं तमः कुरु कृतज्ञतयैव भद्र-
> मुक्षिप्तमूकमणिनूपुरमेहि यामः ॥

'सहस्र अभिलाषाओं से प्रार्थित ये वही प्रियतम हैं; मंत्री के भवन में लोग सोये हुए अथवा प्रमत्त होकर पड़े है, अंधकार अभेद्य है; कृतज्ञ होकर अपना कल्याण करो; आओ, हम लोग अपने मणिनूपुरों को उतारकर चुप कर दें और चल दें।' माधव और मालती का मिलन कराने में सफल होने पर कामंदकी ने जो सराहनीय शिक्षा उन लोगों को दी है उसकी अभिव्यंजना भी उसी के समान प्रभावशाली है—

> प्रेयो मित्रं वन्धुता वा समग्रा
> सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा ।
> स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
> मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥

'मेरे प्यारे बच्चो, तुम्हें समझ रखना चाहिए कि नारी के लिए पति और पति के लिए धर्मपत्नी प्रियतम मित्र है, संपूर्ण बंधुत्व है, कामनाओं की समष्टि है, बहुमूल्य निधि हैं, यहाँ तक कि एक-दूसरे के प्राण है।' दसवें अंक में मालती के लोप का समाचार पाकर कामंदकी जिन शब्दों में विलाप करती है वे भी हृदय हारी है—

> आजन्मनः प्रतिमुहूर्तविशेषरम्या-
> ण्याचेष्टितानि तव संप्रति तानि तानि ।
> चाटूनि चारुमधुराणि च संस्मृतानि
> देहं दहन्ति हृदयं च विदारयन्ति ॥

'जन्म से लेकर क्षण-क्षण अतिशय रमणीयता प्राप्त करने वाली तुम्हारी चेष्टाएँ और मनोहर मीठी बातें आज याद आने पर मेरे शरीर को जला रही हैं और हृदय को विदीर्ण कर रही है।'

अतएव, यह बात और भी खेदजनक है कि भवभूति सहजता से संतुष्ट नहीं रह सके हैं, अपितु प्रायः जटिल तथा बोझिल वर्णनों के अतिप्रेमी हो गये हैं। उन वर्णनों में सरलता और सुबोधता की अत्यंत कमी है, और ये सूक्ष्म अध्ययन एवं

छानबीन के बाद ही भली-भाँति समझे जा सकते हैं। परंतु, यह मान्य है कि समय बीतने के साथ ही **भवभूति** की रुचि में निश्चित रूप से सुधार हुआ था। यह बात स्पष्ट है। उनका अंतिम नाटक **उत्तररामचरित** निर्णय-दोषों की दृष्टि से उतना आलोचनायोग्य नहीं है, जितना कि **मालतीमाधव** है, जो एक ऐसे प्रकार की रचना का प्रयास है जो कवि की प्रतिभा के अनुकूल नहीं है। **उत्तररामचरित** के पहले अंक के उस दृश्य में अद्भुत मार्मिकता है जहाँ पर खिन्न **सीता राम** की भुजा का तकिया की भाँति सहारा लेकर सो जाती हैं, उस भुजा पर किसी दूसरी नारी का अधिकार नहीं हुआ और वह **सीता** को सदा से सुलाती आयी है, **राम** उन्हें निहारते हुए अत्यंत स्नेह से कहते हैं —

> **इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-**
> **रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।**
> **अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः**
> **किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥**[१]

'यह घर में लक्ष्मी है; नेत्रों के लिए अमृत की शलाका है; इसका यह स्पर्श शरीर पर गाढ़ा चंदनरस है; मेरे कंठ में पड़ी हुई इसकी भुजा मोतियों की माला के समान शीतल और स्निग्ध है; इसकी कौन-सी बात प्रिय नहीं है ? यदि कोई बात अत्यंत असहनीय है तो वह इसका विरह है।' उनके वाक्य के समाप्त होते ही प्रतिहारी आकर कहती है, 'उपस्थित है'। उसका तात्पर्य गुप्तचर **दुर्मुख** के आगमन की सूचना देना है, जिसकी सूचना के परिणामस्वरूप **सीता** का निर्वासन होगा। परंतु, सामाजिक उसकी बात को तुरंत उस 'विरह' पर लागू कर देता है जिस पर **राम** शोक कर रहे थे, और जो उनकी दृष्टि में अतीत का विरह था, जब **सीता** को **रावण** चुरा ले गया था। दोनों राजकुमारों **लव** और **चंद्रकेतु** के मिलन पर उनके हृदय में जो सहज-स्वाभाविक सद्भाव उमड़ पड़ता है उसका चित्रण अत्युत्तम है—

> यदृच्छासंपातः किमु गुणानामतिशयः
> पुराणो वा जन्मान्तरनिविडबन्धः परिचयः ।
> निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोऽप्यविदितो
> ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥[२]

'यह आकस्मिक मुठभेड़ है, अथवा इसके गुणों का प्रकर्ष है, अथवा पूर्वजन्म

---

१. i. ३8. २. v. 16.

में दृढ़ता से बँधा हुआ पुराना परिचय है, अथवा भाग्यवश अज्ञात कोई आत्मीय संबंध है, जो प्रथम दर्शन में ही मेरे हृदय को इसकी ओर खींच रहा है ?'

पतिव्रता होने पर भी सीता के प्रति राम ने जो व्यवहार किया है उसके लिए वासंती उनकी भर्त्सना करती है, राम की मूर्च्छा के द्वारा उस भर्त्सना की समाप्ति बड़े प्रभावशाली ढंग से की गयी है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥[1]

' "तुम जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की चंद्रिका हो, तुम मेरे शरीर के लिए अमृत हो" इस प्रकार की सैकड़ों चाटूक्तियों से तुमने उस मुग्धा को वशीभूत किया, और उसी को. . . ., अथवा बस, इसके आगे कुछ कहने से क्या लाभ ?'

अन्य स्थलों पर प्रसाद गुण की कमी पायी जाती है। ये स्थल दो प्रकार के हैं। कहीं पर अभिव्यंजना की कठिनता और जटिलता भावों के निदर्शन में सहायक है, और कहीं भावों के स्थान पर शब्दाडंबर खड़ा किया गया है। इन दोनों के पार्थक्य को अवधानपूर्वक समझ रखना चाहिए। अनेक स्थलों पर, वस्तुतः सरल न होते हुए भी, वे पर्याप्त सफलता की उपलब्धि के अधिकारी हैं। माधव पर प्रेम के प्रभाव की सफल व्यंजना हुई है—

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥[2]

'जो निश्चयात्मक ज्ञान के परे है, वाणी के सर्वथा अगोचर है, पूर्वजन्म में या इस जन्म में कभी अनुभव का विषय नहीं हुआ, और जो विवेक के नष्ट हो जाने के कारण अत्यंत मोहजनक है, ऐसा कोई (अनिर्वचनीय) विकार अंतःकरण को जड़ बना देता है और ताप उत्पन्न कर रहा है।'

उसके उत्तरवर्ती पद्य से कवि का दार्शनिक संकल्पनाओं पर अधिकार सूचित होता है—

---

१. iii. 27. २. i. 29.

परिच्छेदव्यक्तिर्भवति न पुरःस्थेऽपि विषये
भवत्यभ्यस्तेऽपि स्मरणमतथाभावविरसम् ।
न सन्तापच्छेदो हिमसरसि वा चन्द्रमसि वा
मनो निष्ठाशून्यं भ्रमति च किमप्यालिखति च ॥

'दृष्टि के संमुख होने पर भी विषय का निश्चय नहीं होता है; वारंवार अनुभूत पदार्थ में भी तथ्य के विपरीत स्मरण होता है; शीतल सरोवर में अथवा चंद्रमा में भी विरह-ताप का शमन नही होता; किसी निश्चित फल की प्राप्ति में असमर्थ मन भटकता है, और साथ ही कुछ अंकित करता है।' इसके अतिरिक्त, जब माधव स्मृति के आधार पर अपनी प्रियतमा का चित्र बनाकर अपनी व्यथा को दूर करना चाहता है तब उसके रतिभाव-संबंधी अनुभावों का मनोरम चित्र अंकित किया गया है—

वारं वारं तिरयति दृशोरुद्गतं बाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहितजडिमस्तम्भमभ्येति गात्रम् ।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलांगुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि ॥[1]

'आंखों से वारंवार निकला हुआ अश्रुप्रवाह अंधा बना देता है; उसके चिंतन से उत्पन्न जड़ता मेरे शरीर को स्तंभित कर देती है, जब मैं चित्र बनाना चाहता हूँ तब मेरे हाथ में पसीना हो जाता है और उसके लगातार कंप से अँगुलियाँ चंचल हो जाती है; मैं क्या करूँ ?'

परंतु, अतिशयोक्ति में वह जाना भी सहज है, उदाहरण के लिए—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥[2]

'मुझसे संबद्ध प्रिया मानो मुझमें लीन हो गयी है, मुझमें प्रतिबिंबत है, मुझमें चित्रित है, मुझमें उत्कीर्ण है, मुझमें घुल-मिल गयी है, किसी वज्र-लेप से मुझमें जोड़ दी गयी है, मेरे अंतःकरण में जमा दी गयी है, कामदेव के पाँच बाणों से मेरे मन में गड़ा दी गयी है, ध्यान-परंपरा के सूत्र-समूह से दृढतापूर्वक सी दी गयी है।'

---

१. i. 34. २. v. 10.

कुरु घनोरु पदानि शनैः शनै-
रयि विमुञ्च गतिं परिवेपिनीम् ।
पतसि बाहुलतोपनिबन्धनम्
मम निपीडय गाढमुरःस्थलम् ॥[1]

'हे विशालजघने ! धीरे-धीरे पैर रखो; अपनी लड़खड़ाती हुई गति को रोको; मेरी भुजलताओं का आश्रय लेकर मेरा गाढ़ आलिंगन करो ।' परंतु सुकुमारता की अभिव्यक्ति दुर्योधन में सामान्य नहीं है । जब उसकी माँ उसे शत्रु से संधि कर के जीवन-रक्षा के लिए प्रेरित करती है तब वह उसकी भर्त्सना करता है—

मातः किमप्यसदृशं विकृतं वचस्ते
सुक्षत्रिया क्व भवती क्व च दीनतैषा ।
निर्वत्सले सुतशतस्य विपत्तिमेतां
त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोग्यम् ॥[2]

'माँ ! तुम्हारी यह बात सर्वथा अयोग्य और भद्दी है । कहाँ उच्च क्षत्रियवंश की पुत्री और कहाँ यह कातरता ? तुम वात्सल्य से हीन हो, क्योंकि तुम अपने सौ पुत्रों की इस विपत्ति को भूल रही हो और मुझ अयोग्य को बचाना चाहती हो ।' धृतराष्ट्र के द्वारा उससे की गयी करुण अभ्यर्थना व्यर्थ जाती है—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ द्रोणभीष्मौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
क्रोधं वैरिषु मुञ्च वत्स पितरावन्धाविमौ पालय ॥[3]

'जिनके बल पर मैं युधिष्ठिर आदि बांधवों को तुच्छ समझता था वे द्रोण और भीष्म मारे गये; कर्ण के आगे ही उनके पुत्र को मारते हुए अर्जुन ने संसार को भयभीत कर दिया; मेरे अन्य पुत्रों के संहार के बाद अब एकमात्र तुम शत्रु के लक्ष्य हो; हे पुत्र ! शत्रु-विषयक क्रोध को छोड़ दो और अपने इन अंधे माता-पिता का पालन करो ।' संधि करने के लिए प्रयत्नशील युधिष्ठिर का तिरस्कार करने वाले भीम की उग्रता की अभिव्यंजना श्लाघ्य है—

---

१. ii. 47., २।२१ (निर्णयसागर प्रेस सं०).
२. v. 120, ५।३ (निर्णयसागर प्रेस सं०).
३. v. 122, ५।५ (निर्णयसागर प्रेस सं०).

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्-
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥'[1]

'क्या मैं संग्राम में सौ कौरवों का मर्दन नहीं कर डालूंगा ! क्या मैं दुःशासन के वक्ष से रक्त का पान नहीं करूँगा ! क्या मैं गदा से दुर्योधन की जाँघों को चूर नहीं कर डालूंगा ! तुम्हारे राजा (युधिष्ठिर) मूल्य देकर संधि करें।' रण-यात्रा का वर्णन भी प्रशंसनीय है—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशोदुन्दुभिः ॥[2]

'हम चार ऋत्विज हैं, और भगवान् कृष्ण यज्ञ-विधान के उपदेशक आचार्य हैं; राजा युधिष्ठिर युद्धरूपी महायज्ञ के यजमान हैं, पत्नी ने व्रत धारण किया है; कौरव यज्ञपशु हैं, प्रिया के अपमानजनित दुःख की शांति इसका फल है; वीर राजाओं के आह्वान के लिए यह यशोदुंदुभी जोर-शोर से वज रही है।' इसी प्रकार उनके पराक्रम का संक्षिप्त वर्णन भी प्रभावशाली है—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनं भीमगात्रे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥[3]

'उसके शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है; भीम के अंगों में उसका रक्त चंदन की भाँति लगा हुआ है; उसकी राजश्री चारों समुद्रों की सीमा तक की पृथ्वी के साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है; सेवक, मित्र, योद्धा और संपूर्ण कुरुवंश इस युद्ध की आग में भस्म हो चुके हैं; हे राजन् ! उस धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) का केवल नाम वचा हुआ है जिसका आप उच्चारण कर रहे है।' न्यायतः अप्रसन्न अश्वत्थामा के प्रति धृतराष्ट्र की आज्ञापालक संजय द्वारा की गयी अभ्यर्थना हृदयस्पर्शी है—

---

१. i. 15. २. i. 25.

३. vi. 197, ६/३९ (निर्णयसागर प्रेस सं०).

स्मरति न भवान्पीतं स्तन्यं चिराय सहामुना
मम च मलिनं क्षौमं बाल्ये त्वदङ्गविवर्तनैः।
अनुजनिधनस्फीताच्छोकादतिप्रणयाच्च त-
द्विकृतवचने मास्मिन् क्रोधश्चिरं क्रियतां त्वया॥'

'क्या आपको स्मरण नहीं है कि आपने बहुत समय तक इसके साथ स्तन्यपान किया है और बचपन में लोट-पोट कर मेरे रेशमी वस्त्रों को मैला किया है? अपने छोटे भाइयों की मृत्यु से उत्पन्न शोक, अथवा प्रेमाधिक्य के कारण अनुचित बात करने वाले इस दुर्योधन पर क्रोध मत कीजिए।'

दूसरी ओर, भवभूति के अनेक दोष भट्ट नारायण में भी पाये जाते हैं, मुख्य रूप से प्राकृत तथा संस्कृत दोनों के गद्य में दीर्घसमासप्रियता, और वैसा ही बोझिल अनुप्रास; उदाहरणार्थ, जब द्रौपदी भीम को युद्ध में सावधान रहने के लिए सचेत करती है तब वे युद्ध का वर्णन करते हैं—

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥'

उद्धतता में दुर्योधन भीम से पीछे नहीं है; हाँ, वह उग्र वायु-पुत्र की अपेक्षा कदाचित् अधिक बुद्धिमान् है—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
तस्मिन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥[1]

'तेरी पत्नी—तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की, अथवा उन दोनों (नकुल-सहदेव) की पत्नी[2]—मुझ पृथ्वीपति की आज्ञा से राजाओं के समक्ष केश पकड़ कर घसीटी गयी, वह मेरी द्यूतदासी थी। हम लोगों में इस प्रकार का वैर-संबंध होने पर तू ही बतला कि उन राजाओंने क्या अपकार किया था जिसके कारण वे मारे गये ? मुझको जीते विना ही भुजाओं के पराक्रम की अतिशयता के धन से प्रमत्त होकर तू व्यर्थ गर्व क्यों कर रहा है ?'

भाषा के उग्र होने पर भी विपन्न धृतराष्ट्र के प्रति भीम की असाधारण निष्ठुरता से पूर्ण उक्ति किसी सीमा तक क्षम्य है। द्रौपदी के लज्जाजनक अपमान का स्मरण दिलाने के कारण वह प्रायः न्यायोचित है—

निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥[3]

'समस्त कौरवों का मर्दनकारी, दुःशासन के रक्तपान से मत्त, और आगे चलकर दुर्योधन की जाँघों को तोड़ने वाला भीम नतमस्तक होकर प्रणाम करता है।' कृष्ण के अग्रज (बलराम) की युधिष्ठिर द्वारा की गयी तीक्ष्ण किंतु विनीत भर्त्सना का वैषम्य मार्मिक है—

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।

---

१. v. 146, ५।३० (निर्णयसागर प्रेस सं०).

२. जगद्धर ने प्रथम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—तेरे (भीम के), तेरे (अर्जुन के), उस राजा के (युधिष्ठिर के), उन दोनों के (नकुल-सहदेव के) और राजाओं के समक्ष....

३. v. 144, ५।२८ (निर्णयसागर प्रेस सं०).

> तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
> कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥[1]

'आपने संबंधियों की प्रीति का ध्यान नहीं रखा, क्षत्रिय-धर्म का उल्लंघन किया, अपने अनुज और अर्जुन की घनिष्ठ मैत्री की उपेक्षा की। दोनों शिष्यों के प्रति आपका समान स्नेह होना उचित है, परंतु यह कौन-सा मार्ग है कि आप मुझ अभागे से इस प्रकार रुष्ट हो गये हैं?'

ये तथा अन्य लेखांश काव्य-शास्त्रियों द्वारा उद्धृत हैं। वेणीसंहार में शास्त्रीय सिद्धांतों के उदाहरणों की अनंत राशि उपलब्ध है। उन सिद्धांतों ने लेखक की रचना पर असंदिग्ध रूप से गंभीर प्रभाव डाला था। परंतु, काव्यशास्त्रियों ने आँख मूंद कर उनकी प्रशस्ति नहीं की है, भानुमती-विषयक शृंगारिक दृश्य निश्चित रूप से असंगत माना गया है।[2]

६. वेणीसंहार की भाषा और छंद

इसकी संस्कृत और प्राकृतों में कोई महत्त्वपूर्ण विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते। इसमें प्रयुक्त प्राकृत प्रायः शौरसेनी है, किंतु तीसरे अंक के प्रारंभ में राक्षस तथा राक्षसी की उक्तियाँ स्पष्टतया मागधी में हैं। उनकी कुछ विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं। अकारांत प्रातिपदिकों के (पुल्लिंग और नपुंसक लिंग दोनों में) कर्ता-कारक एकवचन में ए पाया जाता है, र के स्थान पर ल, और अकारांत प्रातिपदिकों के संबोधन में आ मिलता है। ग्रिल[3] (grill) का यह अनुमान कि उन प्राकृत को अर्धमागधी मानना अधिक उपयुक्त है आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा परिगणित तत्त्व (श के साथ स की उपस्थिति, कर्ता-कारक में ए के स्थान पर ओ तथा अं के भिन्न रूप, और र्य के स्थान पर ज्ज का प्रयोग, य्य का नहीं) लिपिकों की भ्रांति अथवा लेखक की भूल के कारण सहज संभव है। उन योग्य लिपिकों ने जिस स्वच्छंदता से काम लिया है वह इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि इस रचना के देवनागरी-संस्करण के विरुद्ध बंगाली संस्करण के एक प्रतिनिधि ने उन प्राकृत को व्यवस्थित रूप से शौरसेनी में रूपांतरित करके लिपिबद्ध किया है।

---

१. vi. 178, ६।२० (निर्णयसागर सं०).

२. SD. 403. परंतु, लेवी का यह अनुमान (TI. i. 35, 224) कि 'साहित्यदर्पण' (406) ने तीसरे अंक के दुर्योधन-कर्ण-संवाद को अनुपयुक्त कह कर कठोर बतलाया गया है, भ्रांतिपूर्ण है.

३. pp. 137, 140.

छंदों का प्रयोग इस दृष्टि से ध्यान योग्य है कि **वसंततिलक** (३९), **शार्दूल-विक्रीडित** (३२), **शिखरिणी** (३५) और **स्रग्धरा** (२०) का प्रायः समान रूप से प्रयोग हुआ है। ५३ श्लोक प्रयुक्त हुए हैं; कुछ पद्य **मालिनी**, **पुष्पिताग्रा** और **प्रहर्षिणी** में हैं; एक-एक **औपच्छंदसिक**, **वैतालीय**, **इंद्रवज्रा** और **द्रुतविलंबित** हैं; ६ **आर्याएँ** और २ प्राकृत **वैतालीय** हैं। इस भाँति पद्य-रचना निश्चित रूप से उत्तरकालीन प्रकार (type) की है।

: १० :

मुरारि, राजशेखर; उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती

१. मुरारि के पूर्ववर्ती

आठवीं और नवीं शताब्दी ई० के बहुत कम नाटककारों के विषय में हमारी जानकारी है। कल्हण[1] ने कान्यकुब्ज के यशोवर्मा का स्पष्ट उल्लेख साहित्य के संरक्षक के रूप में किया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वे भवभूति और वाक्पति के आश्रयदाता थे। उनके रामाभ्युदय नाटक का पता चलता है, जिसका उल्लेख आनंदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में, और धनिक तथा विश्वनाथ ने किया है, परंतु जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। काश्मीर के अवंतिवर्मा के शासन-काल (८५५-८३ ई०) में विद्यमान शिवस्वामी के समय के विषय में भी हम कल्हण[2] के ऋणी हैं। शिवस्वामी कवि रत्नाकर के समसामयिक थे। उन्होंने अनेक नाटकों, नाटिकाओं और प्रकरणों की भी रचना की, परंतु सुभाषित-संग्रहों में उपलब्ध एक प्रकीर्ण पद्य को छोड़ कर उनकी ख्याति लुप्त हो गयी।

दूसरी ओर, आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त को अनंगहर्ष मात्रराज[1] की जानकारी है। उन्होंने तापसवत्सराजचरित नाम का रूपक लिखा है। वासवदत्ता के प्रति दृढ़ प्रेम होने पर भी पद्मावती के साथ उसका विवाह कराने के लिए यौगंधरायण ने छलपूर्ण उपाय किया। प्रस्तुत रूपक में यह कहानी रूपांतरित हो गयी है। यह रूपक कवित्व या नाटकीयता की दृष्टि से महत्त्वहीन है। अपनी रानी वासवदत्ता की कल्पित विपत्ति का समाचार सुन कर वत्स (उदयन) तापस हो जाता है (इसी आधार पर रूपक का नामकरण हुआ है)। मंत्री यौगंधरायण द्वारा प्रेषित वत्सराज के रूपचित्र को देख कर उस पर मुग्ध पद्मावती भी वैसा ही करती है। जब प्रयाग में वासवदत्ता और वत्स वियोगजन्य शोक से अभिभूत होकर आत्महत्या करने जा रहे थे तब संयोग से उनका मिलन हो जाता है। परिपाटी के अनुसार नाटक को

सुखांत बनाने के लिए **रुमण्वंत** विजय का समाचार लाता है। इसमें संदेह नहीं प्रतीत होता कि लेखक ने **रत्नावली** का उपयोग किया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उसका समय **रत्नावली** से बाद का है। उसके पिता का नाम **नरेंद्रवर्धन** दिया गया है।

मायुराज[1] कम भाग्यशाली हैं क्योंकि उनके **उदात्तराघव** का उल्लेख मात्र मिलता है। **राजशेखर** ने उन्हें **करचुलि** या **कुलिचुरि** के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे यह सूचित होता है कि वे संभवतः **करचुलि**-वंश के राजा थे। दुर्भाग्य से हमें इस वंश की तत्कालीन जानकारी नहीं है जिस काल में उनका होना संभाव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे **भवभूति** से परिचित थे। **भवभूति** की भाँति उन्होंने **राम** द्वारा किये गये **वालिवध** से वंचना का निरसन किया है। उन्होंने चित्रित किया है कि पहले **लक्ष्मण** ने माया-मृग का पीछा किया और **राम** बाद में पीछे-पीछे गये। **दशरूप** पर **धनिक** की टीका में वे अनेक बार उद्धृत किये गये हैं।

इस युग का कोई अन्य नाटककार निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं है। किसी समय बाण-रचित माना जाने वाला **पार्वतीपरिणय** अब **वामन भट्ट बाण** (लगभग १४०० ई०) की रचना माना जाता है। भूल से दंडी का रूपक समझा जाने वाला **मल्लिकामारुत** वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के **उद्दंडी** की कृति है।

इन नाटककारों में से **यशोवर्मा** को नाट्यशास्त्रियों ने संमान दिया है, उन्हें उद्धरण के योग्य समझ कर उनके कुछ महत्त्वपूर्ण पद्यों की परिरक्षा की है—

> **आक्रन्दैः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-**
> **स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।**
> **अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्ती समाप्यावयो-**
> **स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर (त्वं) दग्धुमेवोद्यतः**[2]

'मेरा क्रंदन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरा अश्रु-प्रवाह तुम्हारी अनवरत जलधारा के तुल्य है, प्रिया के वियोग से उत्पन्न मेरी शोकाग्नि तुम्हारे विद्युत्-विलास के समान है, मेरे अंतःकरण में प्रेयसी का मुख है और तुझमें चंद्रमा, हम दोनों की वृत्ति समान है; तो फिर, मित्र मेघ, तू मुझे निरंतर जलाने के लिए क्यों उद्यत है ?'

---

१. भट्टनाथ स्वामी, IA. xli. 139f.; भण्डारकर Report (1897), pp. xi, xviii; Peterson, Report, ii. 59. मायूराज के रूप में नामांतर मिलता है.

२. सुभाषितावलि, 1766.

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारः शशी ।
येऽपित्वद्गमनानुकारगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥'

'तुम्हारे लोचनों की कांति की समता करने वाला कमल जल में डूब गया है; प्रिये, तुम्हारे मुख की शोभा का अनुकरण करने वाले चंद्रमा को बादलों ने आच्छादित कर लिया है; तुम्हारी गति का अनुकरण करने वाले राजहंस चले गये हैं; दुर्दैव यह भी नहीं सह सकता कि मैं तुम्हारे सादृश्य से ही विनोद प्राप्त कर सकूँ।'

इस पद्य का महानाटक में उपयोग किया गया है। उसी प्रकार निम्नांकित पद्य भी प्रयुक्त हुआ है। उसमें सशोक प्रेमी और अशोक वृक्ष का सामान्यतः प्रचलित वैषम्य निरूपित है। 'अशोक' का अर्थ है—शोक-रहित। कवि लोग कहते आये हैं कि वह सुंदरी के, मुख्यतया युवती के, चरणस्पर्श से फूल उठता है—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वमायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादलताहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः'
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

'हे अशोक ! तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लाल) हो, मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरागयुक्त) हूँ। तुम्हारे पास शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं, मुझ पर कामदेव के धनुष से छोड़े गये शिलीमुख (बाण) आते हैं। कांता का चरण-प्रहार तुम्हारे लिये आनंददायक है तो वह मेरे लिए भी वैसा ही है। हम दोनों सब प्रकार बराबर हैं, अंतर केवल इतना ही है कि विधाता ने मुझे सशोक कर दिया है।'

पान्थव्याधशराहतिर्न गणिता संजीवनी त्वं स्मृता
नो दग्धो विरहानलेन झटिति त्वत्संगमाशामृतैः ।
नीतोऽयं दिवसो विचित्रलिखितैः संकल्परूपैर्मया
किं वान्यद्धृदये स्थितासि ननु मे तत्र स्वयं साक्षिणी ॥'

'मैंने कामदेवरूपी व्याध के वाणों के प्रहार को तृणवत् समझा, क्योंकि तुम्हारी स्मृति की संजीवनी मेरे पास थी। तुम्हारे संयोग की आशा के कारण विरह की आग मुझे सहसा जला न सकी। मनःकल्पित तुम्हारे रूप का विचित्र चित्र अंकित करते हुए मैंने यह सारा दिन विता दिया। अधिक क्या कहूँ ? तुम तो मेरे हृदय में स्थित हो, तुम स्वयं ही इसकी साक्षिणी हो।'[1] खेद का विषय है कि **राम-सीता** के पिष्टपेषित विषय पर भी इस प्रकार के रमणीय पद्यों से युक्त रचना लुप्त हो गयी।

यदि इस वात का पता चल पाता कि अपने रूपक के प्रसिद्ध कथानक में **यशोवर्मा** नवीन तत्त्वों का कहाँ तक अंतर्निवेश कर सके थे तो यह जानकारी महत्त्वपूर्ण होती। **दशरूप-टीका**' में 'छलन' या 'अवमानन' की युक्ति (संध्यंग) को उदाहृत करने के लिए इस रूपक से उद्धरण दिया गया है, और **रत्नावली** की **वासवदत्ता** के निरूपण से समतुल्य उद्धरण दिया गया है। शास्त्रीय परिभाषाओं से 'छलन' या 'अवमानन' का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि **विश्वनाथ** के अनुसार इसका तात्पर्य है—कार्य के लिए अपमान आदि का सहन।[2] संभव है कि **सीता**-विषयक निर्देश **राम** के द्वारा कर्तव्य-कर्म के रूप में उनके परित्याग का सूचक हो।

उदात्तराघव के कतिपय परिरक्षित खंडित अंशों से उसके विषय में कुछ वहुत अच्छी धारणा नही वनती। भयानक की ओर कवि की प्रवृत्ति प्रतीत होती है, क्योंकि उसके दो पद्यों में इसकी निवंधना मिलती है। अधिक उत्कृष्ट पद्य है—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
र्भास्वन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी।
एताश्चोग्रकवन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रा रवाः फेरवाः॥[3]

'विजेता पराजित हो गये हैं; आकाश-व्यापी गहन अंधकार ने सूर्य की चमकती हुई किरणों पर विजय प्राप्त कर ली है ; इस अकस्मात् घटित होने वाली घटना का कारण क्या है ? जिनके पेट भयानक कवंधों के घावों के रक्त से फूल गये हैं और जो अपने कंदरा-सदृश मुखों से आग उगल रहे हैं, ऐसे सियार क्यों फेकर रहे हैं ?'

---

१. i. 42; SD. 390; N. xix. 94; Lévi, TI. ii. 9.

२. यह वात स्मरणीय है कि विश्वनाथ ने इस संध्यंग को 'छादन' नाम दिया है.

४. DR. ii. 54. वृत्ति.

इस आधार पर कि लक्ष्मण को किसी राक्षस से खतरा है चित्रमाय रक्षा के लिए पुकारता है। एक नीरस-से पद्य में राम के तत्कालीन मानसिक द्वंद्व का निरूपण किया गया है—

> वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयम् मन्ये कथं राक्षसात्
>
> त्रस्तश्चैव मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः।
>
> माहासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
>
> न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः॥[1]

'वत्स लक्ष्मण अभय का समुद्र है, कैसे समझूँ कि उसको किसी राक्षस से भय है? तथापि यह मुनि रक्षा के लिए चिल्ला रहा है, और मेरा मन भ्रम में पड़ गया है। स्नेह के कारण गुरु की बारंबार प्रार्थना है कि सीता को अकेली मत छोड़ो। मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। हतबुद्धि होकर मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि रुकूँ या जाऊँ।'

धनिक ने अपनी दशरूप-टीका में एक अन्य राम-विषयक नाटक छलितराम का निर्देश किया है। संभव है कि वह उसी काल में या कुछ बाद में लिखा गया हो। उसमें बंदी लव के ले जाये जाने का चित्रण मिलता है—

> येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
>
> बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम्।
>
> युष्माकं हृदयं स एव विशिखैरापूरितांसस्थलो
>
> मूर्च्छाघोरतमः प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते॥[2]

'जिसने अपने बचपन में सामवेद-पाठकों का मुँह बंद कर के उन्हें बहुत तंग किया, जिसने अक्षसूत्र तथा वलय को चुरा कर और फिर उन्हें वापस कर के बचपन में क्रीड़ा की, तुम्हारे हृदय का आनंद वही लव, जिसके कंधे बाणों से भर गये हैं, मूर्च्छा के घोर अंधकार में प्रवेश करने के कारण विवश हो कर बंदी के रूप में ले जाया जा रहा है।'

एक अन्य पद्य में भरत का निर्देश है। पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हुए राम नगर में इस प्रकार प्रवेश करने से इनकार करते हैं, क्योंकि वह भरत के शासन में है। विमान से उतरते ही वे अपने सामने अपने भाई को देखते हैं—

> कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः।
>
> जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते॥[3]

'सिंहासन के नीचे और पादुकाओं के सामने कोई जटाधारी अक्षमाला तथा चवँर धारण किये हुए खड़ा है।'

उसी नाटक[1] में सीता की एक रोचक भूल पायी जाती है। वे अपने लड़कों से अयोध्या जाकर राजा का अभिवादन करने को कहती हैं। उत्तर में लव स्वभावतः प्रश्न करता है—हम राजोपजीवी क्यों बनें ? सीता उत्तर देती हैं—वे तुम्हारे पिता हैं। वे इस भूल का यथाशक्ति परिहार यह कह कर करती हैं कि राजा संपूर्ण पृथ्वी का पिता है।

धनिक से एक अन्य नाटक पाण्डवानन्द का भी पता चलता है। उससे एक पद्य उद्धृत किया गया है जिसकी प्रश्नोत्तरमाला रोचक है। यह साहित्यिक रूप नाटककारों को प्रिय है—

का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥[2]

'गुणियों के लिए क्या श्लाघ्य है ? क्षमा। अपमान क्या है ? जो स्वजनों द्वारा किया गया है। दुःख क्या है ? दूसरे का आश्रय। प्रशंसनीय कौन है ? जो दूसरों का आश्रय है। मृत्यु क्या है ? विपत्ति। शोक-रहित कौन है ? जिसने शत्रुओं को जीत लिया है। किन लोगों ने इस तत्त्व को समझा ? विराट के नगर में छद्मवेश में स्थित पांडवों ने।'

धनिक से हमें दो अन्य रूपकों का भी पता चलता है जिनका कर्तृत्व और रचना-काल अज्ञात है। दो प्रकार के प्रकरणों के उदाहरण-रूप में उनका उल्लेख[3] किया गया है। उनके भेद-निरूपण का आधार यह है कि एक में नायिका नायक की पत्नी और इसलिए कुलजा होती है, दूसरे में वेश्या होती है। दूसरे प्रकार का उदाहरण तरङ्गदत्त है, और पहले प्रकार का उदाहरण पुष्पदूषितक है। यह नाम पुष्पभूषित के किंचित्परिवर्तित रूप में साहित्यदर्पण में आया है। समवकार के उदाहरण-रूप में दशरूप[4] ने समुद्रमन्थन का उल्लेख किया है। प्रस्तुत रूपक का नाम और विवरण असंदिग्ध है।

---

१. DR. iii. 17 वृत्ति. २. DR. iii. 12. वृत्ति.

३. DR. iii. 38 वृत्ति; SD. 512.

४. DR. iii. 56 f. वृत्ति; SD. 516.

२. मुरारि

मुरारि के कथनानुसार वे मौद्गल्य गोत्र के श्रीवर्धमानक और तंतुमती के पुत्र थे। वे महाकवि होने का दावा करते है, और बालवाल्मीकि कहलाने का अनुचित अधिकार जताते हैं। उनका समय अनिश्चित है। वे निश्चित रूप से भवभूति के परवर्ती है क्योंकि उन्होंने उत्तररामचरित[1] से उद्धरण दिया है। सुभाषित-संग्रहों में इस बात का साक्ष्य भी मिलता है कि कुछ लोगों ने उन्हें प्रत्यक्षतः उनके पूर्ववर्ती) भवभूति से श्रेष्ठ माना है। इसके अतिरिक्त काश्मीरी कवि रत्नाकर[2] से उनके समय के विषय में कुछ सूचना प्राप्त होती है। उन्होंने अपने हरविजय में मुरारि का नाटककार के रूप मे स्पष्ट निर्देश किया है। इस निर्देश को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भट्टनाथ स्वामी ने जो प्रयत्न किया है उसे सर्वथा असफल समझना चाहिए। रत्नाकर का समय नवीं शताब्दी ई० का मध्य-काल है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वह काल मुरारि के समय की उत्तर-सीमा है। विचित्र बात है कि रत्नाकर के मुरारि-विषयक निर्देश को अप्रामाणिक मानने वाले प्रो० कोनो[3] यह स्वीकार करते है कि मंख के श्रीकण्ठचरित[4] (लगभग ११३५ ई०) में मुरारि के निर्देश से यह सूचित होता है कि उसके लेखक ने उन्हें राजशेखर का पूर्ववर्ती माना है। यह तथ्य इस बात से बहुत अच्छी तरह मेल खाता है कि वे रत्नाकर के पहले हुए थे। यह तथ्य इस तथ्य की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ग्यारहवीं शताब्दी ई० के नाट्य-शास्त्रकारों ने उनकी रचना मे उद्धरण नही दिये है। डा० Hultzsch[5] ने उन्हें पश्चात्कालीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने हेमचंद्र के शिष्य रामचंद्र के कौमुदीमित्राणन्द के तीसरे पद्य से यह अनुमान किया है कि वह नाटककार मुरारि का समसामयिक था। परंतु इस विषय में साक्ष्य पर्याप्त नहीं है। उक्त पद्य में प्रयुक्त शब्द इस तथ्य के सर्वथा अनुकूल है कि मुरारि मर चुके थे। उनके मत के मार्ग में कालक्रम-संबंधी गंभीर कठिनाइयाँ भी है। श्रीकण्ठचरित की रचना के समय मंख के द्वारा रामचंद्र के किसी समसामयिक का उद्धृत किया जाना बिल्कुल असंभव प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि प्रसन्नराघव[1] में जयदेव ने मुरारि का अनुकरण किया है।

उनके कार्य-स्थान का कुछ पता नहीं है। परंतु, उन्होंने कलचुरियों के वास-स्थान के रूप में माहिष्मती का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि वे उस वंश के किसी राजा के आश्रय मे माहिष्मती (नर्मदा के किनारे वर्तमान मांधाता) में रहे थे।

३. अनर्घराघव

मुरारि-का एक मात्र उपलब्ध नाटक अनर्घराघव[2] है। उद्धरणों से सूचित होता है कि उन्होंने अन्य ग्रंथ भी लिखे थे। उक्त नाटक की प्रस्तावना में उन्होंने घोषणा की है कि उनका उद्देश्य रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत रस से ऊबे हुए लोगों को उदात्त, वीर और आद्योपांत (केवल उपसंहार में ही नहीं) अद्भुत रस की रचना से आनंदित करना है। उन्होंने राम-संबंधी घिसे-पिटे विषय के चुनाव का औचित्य सिद्ध किया है; उनका चरित्र कवि की रचना को उदात्तता और मनोहरता प्रदान करता है, और इतने सुंदर विषय का तिरस्कार करना मूर्खता है। परंतु, अनर्घराघव से कवि के वस्तुचयन-विषयक आत्मविश्वास का औचित्य सिद्ध नहीं होता। भवभूति जिस वस्तु का विस्तारपूर्वक निरूपण कर चुके थे उसमें किसी महाकवि की ही सफलता की संभावना हो सकती थी। मुरारि इस प्रकार के कवि नही थे। हाँ, एकाध परवर्ती लेखकों ने उनकी गंभीरता का गुणगान किया है, परंतु उसमें औचित्य का लेश भी नही है।

पहले अंक में दशरथ वामदेव के साथ वार्तालाप करते हुए दिखायी देते हैं। ऋषि विश्वामित्र के आगमन की सूचना मिलती है। ऋषि और राजा दशरथ की परस्पर प्रशंसा जी उकताने वाली है। परंतु, विश्वामित्र काम की बात करते हैं और अपने आश्रम को पीड़ित करने वाले राक्षसों के विरुद्ध राम की सहायता माँगते हैं। इतने छोटे और प्रिय बालक को संकट में डालते हुए राजा को बड़ी हिचकिचाहट होती है। विश्वामित्र उनमे कर्तव्य-पालन का आग्रह करते हैं, और दशरथ राम-लक्ष्मण को मुनि को सौप देते है। वैतालिक मध्याह्न की घोषणा करता है। राजा पुत्रों के वियोग से व्यथित होता है। दूसरे अंक के आरंभ में विश्वामित्र के दो शिष्यों शुनःशेफ और पशुमेढ का बहुत दूर तक खीचा गया संवाद है जिससे वाली,

१. ii. 34 की vii. 83 से तुलना कीजिए.

२. Ed. KM. 1894; मिलाकर देखिए—Baumgartner, Das Rāmāyana, pp. 125 ff.

रावण, राक्षसों, जांबवंत, हनुमंत और ताड़का के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। विष्कंभक के अनंतर राम और लक्ष्मण आते है। वे आश्रम तथा आश्रमवासियों के कार्यो और फिर मध्याह्न की गर्मी का वर्णन करते हैं। परंतु नाटककार को चिंता नहीं है, यद्यपि व्यापार में कोई प्रगति नहीं होती और संवाद में कोई व्याघात नहीं होता तथापि हमारे सामने सहसा संध्या का दृश्य उपस्थित हो जाता है। विश्वामित्र आते हैं और उन बालकों से बातचीत करते हुए सूर्यास्त का वर्णन करते हैं। नेपथ्य में कोलाहल होता है, कोई पुकार कर कहता है कि राक्षसी ताड़का आ पहुँची है। राम एक स्त्री को मारने में संकोच करते है, किंतु अंत में आवश्यक कर्तव्य के पालन के लिए चल देते है। लौटकर वे चंद्रोदय का वर्णन करते है। विश्वामित्र मिथिला के जनक के यहाँ चलने का सुझाव देते हैं। इस प्रकार उस नगर और उसके राजा के वर्णन का अवसर मिलता है।

दूसरे अंक में हम उस अभिप्राय पर पहुँचते है जिसको भवभूति ने कहीं अधिक कौशल के साथ अपने नाटक का मुख्य भाव बनाया है, और इस प्रकार कथानक के अनुसार उसे सफल एकान्विति प्रदान की है। सीता की एक परिचारिका कलहंसिका के साथ वार्तालाप करते हुए जनक का कंचुकी बतलाता है कि राजकुमारी विवाह के योग्य हो गयी है, और रावण उसका पाणिग्रहण करना चाहता है। अगले दृश्य में शतानंद के साथ राजा (जनक) राम का स्वागत करते है, परंतु वे इस विषय में संकोच का अनुभव करते है कि राम शिव के धनुष को चढ़ाने की कठिन परीक्षा दें। रावण का दूत शौष्कल आकर निवेदन करता है कि सीता का विवाह रावण से कर दिया जाए। वह इस बात को रोषपूर्वक अस्वीकार करता है कि उसका स्वामी (रावण) धनुष को चढ़ाए। वह रावण की प्रशस्ति करता है जिसका राम अवमूल्यन करते है। अंत में राम को शक्ति-परीक्षा का अवसर मिलता है। मंचस्थ लोग उनके धनुर्भंग के अद्भुत कार्य का वर्णन करते हैं। सीता के साथ राम का विवाह होता है। दशरथ के अन्य पुत्रों को भी पत्नियाँ मिलती है। प्रतिशोध की धमकी देता हुआ शौष्कल वहाँ से चल देता है। चौथे अंक में रावण का मंत्री माल्यवंत आता है। वह अपनी सीता-प्राप्ति-विषयक योजना की असफलता पर पश्चात्ताप कर रहा है। विदेह से शूर्पणखा आती है और राम-सीता-संयोग की बात बताती है। माल्यवंत जानता है कि रावण उन दोनों को अलग करने का निश्चित प्रयत्न करेगा। वह शूर्पणखा को परामर्श देता है कि वह राम को वन में निर्वासित कराने के लिए कैकेयी की दासी मंथरा का छद्मवेश धारण करे, क्योंकि वन में उन पर आक्रमण करना अधिक सरल होगा। वह शूर्पणखा द्वारा दिये गये इस समाचार से भी प्रसन्न होता है कि परशुराम मिथिला में पहुँच गये है, इससे

उसकी लक्ष्य-सिद्धि मे सहायता मिलने की संभावना हो सकती है। इसके बाद के दृश्य में **राम** और **परशुराम** का वाग्युद्ध होता है। प्रत्यक्ष है कि लेखक ने **महावीरचरित** का अनुकरण किया है। इस नाटक के **राम** '**महावीरचरित**' के **राम** की अपेक्षा कही अधिक विनम्र हैं, परतु उनके हितैषी, रंगमंच पर वस्तुतः उपस्थित हुए विना, नेपथ्य से आक्षेप करते है। अत मे, **राम** अपने प्रतिद्वंद्वी को चिताते है कि उसकी क्षत्रिय-विनाश से अर्जित यश की पताका जीर्ण हो गयी है; वे **परशुराम** को अपना यश पुन. स्थापित करने की चुनौती देते है, और दोनों संघर्ष पर तुल जाते है। यह नेपथ्य मे होता है। नेपथ्य से सुनायी पड़ता है कि **सीता** को इस वात की आशका है कि **राम** किसी दूसरी कन्या की प्राप्ति के लिए तो धनुष नही चढा रहे है। उसके बाद दोनो प्रतिद्वद्वियो मे वड़ा अच्छा संबंध स्थापित हो जाता है। वे मच पर आते है और एक-दूसरे का अभिनंदन करते है। **परशुराम** चले जाते है। तब **जनक** और **दशरथ** आते है। **दशरथ** ने **राम** के लिए राज-त्याग करने का निश्चय किया है, परंतु **लक्ष्मण मंथरा** को साथ लेकर प्रवेश करते है। वह **कैकेयी** का एक अनर्थकारी पत्र लाती है। उसमे उसने राजा से दो वरदान माँगे है—**राम** का निर्वासन और **भरत** का राज्याभिषेक। **दशरथ** और **जनक** मूर्च्छित हो जाते है। **सीता** को सूचना देने के लिए **राम लक्ष्मण** को उनके पास भेजते है, और अपने पिता को **जनक** की देख-रेख मे सौप कर प्रस्थान करते हैं।

पाँचवे अक मे **जांबवंत** और तापसी **श्रवणा** के संवाद में **राम** के वन में पहुँचने तक के कार्यो का वर्णन है। **श्रवणा** पथिक **राम-लक्ष्मण** के स्नेहपूर्ण स्वागत का पूर्व-प्रबंच कराने के लिए **सुग्रीव** के पास जाती है। **जांबवंत** परिव्राजक-वेप में आये हुए **रावण** और **लक्ष्मण** का कथोपकथन छिप कर सुनता है। उसके बाद गृद्ध **जटायु** यह भयानक समाचार लाता है कि उसने **रावण** तथा **मारीच** को वन मे देखा है। **सुग्रीव** को इस खतरे से सावधान करने के लिए **जांबवंत** उसके पास जाता है। **सीता** का अपहरण देखकर **जटायु** अपहर्ता का पीछा करता है। इस विष्कंभक के अनतर **राम** और **लक्ष्मण** आते है। वे निष्फल खोज के कारण शोकमग्न हो कर भटक रहे हैं। इसी बीच उन्हे चीत्कार सुनायी पडती है। वे देखते है कि उनका मित्र निषाद-राज **गुह कबंध** के द्वारा आक्रांत है। **लक्ष्मण** उसे बचाते है, परन्तु ऐसा करते हुए वे **दुंदुभि** के ककाल-वृक्ष को उलट देते है। इससे उत्तेजित हो कर **वाली** आता है, और लंबे कथोपकथन के बाद **राम** को युद्ध के लिए ललकारता है। मंच पर से **लक्ष्मण** और **गुह** इस युद्ध का वर्णन करते हैं। शत्रु मारा जाता है। नेपथ्य से **सुग्रीव** के राज्याभिषेक की सूचना मिलती है; वह **सीता** की प्राप्ति के लिए **राम** की सहायता करने को कृतसंकल्प है। अपने मित्र **गुह** के साथ **लक्ष्मण** उस अभिषेक-महोत्सव

कुरु घनोरु पदानि शनैः शनै-
रयि विमुञ्च गतिं परिवेपिनीम् ।
पतसि बाहुलतोपनिबन्धनम्
मम निपीडय गाढमुरःस्थलम् ॥[1]

'हे विशालजघने ! धीरे-धीरे पैर रखो; अपनी लड़खड़ाती हुई गति को रोको; मेरी भुजलताओं का आश्रय लेकर मेरा गाढ़ आलिंगन करो।' परंतु सुकुमारता की अभिव्यक्ति दुर्योधन में सामान्य नहीं है। जब उसकी माँ उसे शत्रु से संधि कर के जीवन-रक्षा के लिए प्रेरित करती है तब वह उसकी भर्त्सना करता है—

मातः किमप्यसदृशं विकृतं वचस्ते
सुक्षत्रिया क्व भवती क्व च दीनतैषा ।
निर्वत्सले सुतशतस्य विपत्तिमेतां
त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोग्यम् ॥[2]

'माँ ! तुम्हारी यह बात सर्वथा अयोग्य और भद्दी है। कहाँ उच्च क्षत्रियवंश की पुत्री और कहाँ यह कातरता ? तुम वात्सल्य से हीन हो, क्योंकि तुम अपने सौ पुत्रों की इस विपत्ति को भूल रही हो और मुझ अयोग्य को बचाना चाहती हो।' धृतराष्ट्र के द्वारा उससे की गयी करुण अभ्यर्थना व्यर्थ जाती है—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ द्रोणभीष्मौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
क्रोधं वैरिषु मुञ्च वत्स पितरावन्धाविमौ पालय ॥[1]

'जिनके बल पर मैं युधिष्ठिर आदि बांधवों को तुच्छ समझता था वे द्रोण और भीष्म मारे गये; कर्ण के आगे ही उसके पुत्र को मारते हुए अर्जुन ने संसार को भयभीत कर दिया; मेरे अन्य पुत्रों के संहार के बाद अब एकमात्र तुम शत्रु के लक्ष्य हो; हे पुत्र ! शत्रु-विषयक क्रोध को छोड़ दो और अपने इन अंधे माता-पिता का पालन करो।' संधि करने के लिए प्रयत्नशील युधिष्ठिर का तिरस्कार करने वाले भीम की उग्रता की अभिव्यंजना श्लाघ्य है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्-
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥[1]

'क्या मैं संग्राम में सौ कौरवों का मर्दन नहीं कर डालूँगा ! क्या मैं दुःशासन के वक्ष से रक्त का पान नहीं करूँगा ! क्या मैं गदा से दुर्योधन की जाँघों को चूर नहीं कर डालूँगा ! तुम्हारे राजा (युधिष्ठिर) मूल्य देकर संधि करें।' रण-यात्रा का वर्णन भी प्रशंसनीय है—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशोदुन्दुभिः ॥[2]

'हम चार ऋत्विज हैं, और भगवान् कृष्ण यज्ञ-विधान के उपदेशक आचार्य हैं; राजा युधिष्ठिर युद्धरूपी महायज्ञ के यजमान हैं, पत्नी ने व्रत धारण किया है; कौरव यज्ञपशु हैं, प्रिया के अपमानजनित दुःख की शांति इसका फल है; वीर राजाओं के आह्वान के लिए यह यशोदुंदुभी जोर-शोर से बज रही है।' इसी प्रकार उनके पराक्रम का संक्षिप्त वर्णन भी प्रभावशाली है—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनं भीमगात्रे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥[3]

'उसके शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है; भीम के अंगों में उसका रक्त चंदन की भाँति लगा हुआ है; उसकी राजश्री चारों समुद्रों की सीमा तक की पृथ्वी के साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है; सेवक, मित्र, योद्धा और संपूर्ण कुरुवंश इस युद्ध की आग में भस्म हो चुके हैं; हे राजन् ! उस धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) का केवल नाम बचा हुआ है जिसका आप उच्चारण कर रहे हैं।' न्यायतः अप्रसन्न अश्वत्थामा के प्रति धृतराष्ट्र की आज्ञापालक संजय द्वारा की गयी अभ्यर्थना हृदयस्पर्शी है—

---

१. i. 15. २. i. 25.
३. vi. 197, ६/३९ (निर्णयसागर प्रेस सं०).

स्मरति न भवान्पीतं स्तन्यं चिराय सहामुना
मम च मलिनं क्षौमं बाल्ये त्वदङ्गविवर्तनैः।
अनुजनिधनस्फीताच्छोकादतिप्रणयाच्च त-
द्विकृतवचने मास्मिन् क्रोधश्चिरं क्रियतां त्वया ॥'

'क्या आपको स्मरण नहीं है कि आपने बहुत समय तक इसके साथ स्तन्यपान किया है और बचपन में लोट-लोट कर मेरे रेशमी वस्त्रों को मैला किया है? अपने छोटे भाइयों की मृत्यु से उत्पन्न शोक, अथवा प्रेमाधिक्य के कारण अनुचित बात करने वाले इस दुर्योधन पर क्रोध मत कीजिए।'

दूसरी ओर, भवभूति के अनेक दोष भट्ट नारायण में भी पाये जाते है, मुख्य रूप से प्राकृत तथा संस्कृत दोनों के गद्य[2] में दीर्घसमास-प्रियता, और वैसा ही बोझिल अनुप्रभाव; उदाहरणार्थ, जब द्रौपदी भीम को युद्ध में सावधान रहने के लिए सचेत करती है तब वे युद्ध का वर्णन करते हैं—

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवमांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबंधे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥'

'पांडव उस संग्राम-समुद्र के गंभीर जल में विचरण करने में दक्ष है जिसमें परस्पर संघर्ष से हाथियों के फूटे हुए मस्तक से निकलते हुए रक्त, मांस, चर्बी तथा मस्तिष्क के कीचड़ में धंसे हुए रथों पर पैर रख कर पैदल योद्धा आक्रमण कर रहे हों और समृद्ध रक्त की पानगोष्ठी में अमंगल शब्द करती हुई सियारिनों की तुरही की गत पर कबंध नृत्य कर रहे हों।' इस स्थल पर अर्थानुकूल शब्दविन्यास निस्संदेह सराहनीय है, और दुर्धर्ष चित्रांकन सजीव है; परंतु यह शैली अत्यंत श्रमसाधित है और आधुनिक अभिरुचि वाले सहृदय के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सकती।

तथापि भट्टनारायण में, विशाखदत्त की भांति, दीप्ति और ओज की विशेषता पायी जाती है। अधिकांश रौद्र-संवादों में कठोरता तथा उग्रता है, परंतु साथ ही यथार्थता और सजीवता है। राम-विषयक नाटकों में राम-परशुराम-प्रसंग के ऊबा देने वाले और वर्णनों को बोझिल बनाने वाले वाग्युद्धों में यह बात नहीं पायी जाती।

छंदों का प्रयोग इस दृष्टि से ध्यान योग्य है कि **वसंततिलक** (३९), **शार्दूल-विक्रीडित** (३२), **शिखरिणी** (३५) और **स्रग्धरा** (२०) का प्रायः समान रूप से प्रयोग हुआ है। ५३ श्लोक प्रयुक्त हुए हैं; कुछ पद्य **मालिनी**, **पुष्पिताग्रा** और **प्रहर्षिणी** में हैं; एक-एक **औपच्छंदसिक**, **वैतालीय**, **इंद्रवज्रा** और **द्रुतविलंबित** हैं; ६ **आर्याएँ** और २ प्राकृत **वैतालीय** हैं। इस भाँति पद्य-रचना निश्चित रूप से उत्तरकालीन प्रकार (type) की है।

मुरारि, राजशेखर; उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती

१. मुरारि के पूर्ववर्ती

आठवीं और नवीं शताब्दी ई० के बहुत कम नाटककारों के विषय में हमारी जानकारी है। कल्हण[1] ने कान्यकुब्ज के **यशोवर्मा** का स्पष्ट उल्लेख साहित्य के संरक्षक के रूप में किया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वे **भवभूति** और **वाक्पति** के आश्रयदाता थे। उनके **रामाभ्युदय** नाटक का पता चलता है, जिसका उल्लेख **आनंदवर्धन** ने अपने ध्वन्यालोक में, और **धनिक** तथा **विश्वनाथ** ने किया है, परंतु जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। काश्मीर के **अवंतिवर्मा** के शासन-काल (८५५-८३ ई०) में विद्यमान **शिवस्वामी** के समय के विषय में भी हम कल्हण[2] के ऋणी हैं। **शिवस्वामी** कवि **रत्नाकर** के समसामयिक थे। उन्होंने अनेक नाटकों, नाटिकाओं और प्रकरणों की भी रचना की, परंतु सुभाषित-संग्रहों में उपलब्ध एक प्रकीर्ण पद्य को छोड़ कर उनकी ख्याति लुप्त हो गयी।

दूसरी ओर, **आनंदवर्धन** और **अभिनवगुप्त** को **अनंगहर्ष मात्रराज**[3] की जानकारी है। उन्होंने **तापसवत्सराजचरित** नाम का रूपक लिखा है। **वासवदत्ता** के प्रति दृढ़ प्रेम होने पर भी **पद्मावती** के साथ उसका विवाह कराने के लिए **यौगंधरायण** ने छलपूर्ण उपाय किया। प्रस्तुत रूपक में यह कहानी रूपांतरित हो गयी है। यह रूपक कवित्व या नाटकीयता की दृष्टि से महत्त्वहीन है। अपनी रानी **वासवदत्ता** की कल्पित विपत्ति का समाचार सुन कर वत्स (उदयन) तापस हो जाता है (इसी आधार पर रूपक का नामकरण हुआ है)। मंत्री **यौगंधरायण** द्वारा प्रेषित वत्सराज के रूपचित्र को देख कर उस पर मुग्ध **पद्मावती** भी वैसा ही करती है। जब प्रयाग में **वासवदत्ता** और **वत्स** वियोगजन्य शोक में अभिभूत होकर आत्महत्या करने जा रहे थे तब संयोग से उनका मिलन हो जाता है। परिपाटी के अनुसार नाटक को

---

१. देखिए— Aufrecht, ZDMG. xxxvi, 521.

२. v. 36. Lévi, TI. ii. 87. मुख्यतया उनके 'कप्फिणाभ्युदय' से प्रोद्धरण दिये गये हैं; Thomas, **कवीन्द्रवचनसमुच्चय**, *p. 111.*

३. Pischel, ZDMG. xxxix. 315; Hultzsch, GN. 1886, pp. 224 ff.

सुखांत बनाने के लिए **रुमण्वंत** विजय का समाचार लाता है। इसमें संदेह नहीं प्रतीत होता कि लेखक ने **रत्नावली** का उपयोग किया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उसका समय **रत्नावली** से बाद का है। उसके पिता का नाम **नरेंद्रवर्धन** दिया गया है।

मायुराज[1] कम भाग्यशाली हैं क्योंकि उनके **उदात्तराघव** का उल्लेख मात्र मिलता है। **राजशेखर** ने उन्हें **करचुलि** या **कुलिचुरि** के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे यह सूचित होता है कि वे संभवतः **करचुलि**-वंश के राजा थे। दुर्भाग्य से हमें इस वंश की तत्कालीन जानकारी नही है जिस काल मे उनका होना संभाव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे **भवभूति** से परिचित थे। **भवभूति** की भाँति उन्होंने **राम** द्वारा किये गये **वालिवध** से वंचना का निरसन किया है। उन्होंने चित्रित किया है कि पहले **लक्ष्मण** ने माया-मृग का पीछा किया और **राम** बाद में पीछे-पीछे गये। **दशरूप** पर **धनिक** की टीका में वे अनेक बार उद्धृत किये गये हैं।

इस युग का कोई अन्य नाटककार निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं है। किसी समय **बाण**-रचित माना जाने वाला **पार्वतीपरिणय** अब **वामन भट्ट बाण**(लगभग १४०० ई०)की रचना माना जाता है। भूल से **दंडी** का रूपक समझा जाने वाला **मल्लिका-मारुत** वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के **उद्दंडी** की कृति है।

इन नाटककारों में से **यशोवर्मा** को नाट्यशास्त्रियों ने संमान दिया है, उन्हें उद्धरण के योग्य समझ कर उनके कुछ महत्त्वपूर्ण पद्यों की परिरक्षा की है—

> आक्रन्दैः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
> स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
> अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्ती समाप्यावयो-
> स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर (त्वं) दग्धुमेवोद्यतः[2]

'मेरा क्रंदन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरा अश्रु-प्रवाह तुम्हारी अनवरत जलधारा के तुल्य है, प्रिया के वियोग से उत्पन्न मेरी शोकाग्नि तुम्हारे विद्युत्-विलास के समान है, मेरे अंतःकरण में प्रेयसी का मुख है और तुझमें चंद्रमा, हम दोनों की वृत्ति समान है; तो फिर, मित्र मेघ, तू मुझे निरंतर जलाने के लिए क्यों उद्यत है?'

---

१. भट्टनाथ स्वामी, IA. xli. 139f.; भण्डारकर Report (1897), pp. xi, xviii; Peterson, Report, ii. 59. मायूराज के रूप में नामांतर मिलता है.

२. सुभाषितावलि, 1766.

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारः शशी ।
येऽपित्वद्गमनानुकारगतयस्ते राजहंसा गता–
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥[1]

'तुम्हारे लोचनों की कांति की समता करने वाला कमल जल में डूब गया है; प्रिये, तुम्हारे मुख की शोभा का अनुकरण करने वाले चंद्रमा को बादलों ने आच्छादित कर लिया है; तुम्हारी गति का अनुकरण करने वाले राजहंस चले गये हैं; दुर्दैव यह भी नहीं सह सकता कि मैं तुम्हारे सादृश्य से ही विनोद प्राप्त कर सकूं।'

इस पद्य का महानाटक में उपयोग किया गया है। उसी प्रकार निम्नांकित पद्य[2] भी प्रयुक्त हुआ है। उसमें सशोक प्रेमी और अशोक वृक्ष का सामान्यतः प्रचलित वैपम्य निरूपित है। 'अशोक' का अर्थ है—शोक-रहित। कवि लोग कहते आये हैं कि वह सुंदरी के, मुख्यतया युवती के, चरणस्पर्श से फूल उठता है—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वमायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादलताहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः[3]
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

'हे अशोक ! तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लाल) हो, मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरागयुक्त) हूँ। तुम्हारे पास शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं, मुझ पर कामदेव के धनुप से छोड़े गये शिलीमुख (बाण) आते हैं। कांता का चरण-प्रहार तुम्हारे लिये आनंददायक है तो वह मेरे लिए भी वैसा ही है। हम दोनों सब प्रकार बराबर हैं, अंतर केवल इतना ही है कि विधाता ने मुझे सशोक कर दिया है।'

कामव्याधशराहतिर्न गणिता संजीवनी त्वं स्मृता
नो दग्धो विरहानलेन झटिति त्वत्संगमाशामृतैः ।
नीतोऽयं दिवसो विचित्रलिखितैः संकल्परूपैर्मया
किं वान्यद्धृदये स्थितासि ननु मे तत्र स्वयं साक्षिणी ॥[4]

---

१. सुभापितावलि, 1366. २. वही, 1364

३. डा० कीथ ने अशुद्ध पाठ दिया है—तदपि ममावयोः.

४. सुभापितावलि, 1634.

'मैने कामदेवरूपी व्याध के वाणो के प्रहार को तृणवत् ममझा, क्योकि तुम्हारी स्मृति की सजीवनी मेरे पास थी । तुम्हारे सयोग की आशा के कारण विरह की आग मुझे सहसा जला न सकी । मन.कल्पित तुम्हारे रूप का विचित्र चित्र अकित करते हुए मैने यह सारा दिन विता दिया । अधिक क्या कहूँ ? तुम तो मेरे हृदय मे स्थित हो, तुम स्वय ही इसकी साक्षिणी हो ।' खेद का विषय हे कि **राम-सीता** के पिष्टपेषित विषय पर भी इस प्रकार के रमणीय पद्यो से युक्त रचना लुप्त हो गयी ।

यदि इस वात का पता चल पाता कि अपने रूपक के प्रसिद्ध कथानक मे **यशोवर्मा** नवीन तत्त्वो का कहाँ तक अतर्निवेश कर सके थे तो यह जानकारी महत्त्व-पूर्ण होती । **दशरूप-टीका**' मे 'छलन' या 'अवमानन' की युक्ति (सध्यग) को उदाहृत करने के लिए इस रूपक से उद्धरण दिया गया है, और **रत्नावली** की **वासवदत्ता** के निरूपण से समतुल्य उद्धरण दिया गया है । शास्त्रीय परिभाषाओ से 'छलन' या 'अवमानन' का तात्पर्य स्पष्ट नही हे । ऐसा प्रतीत होता हे कि **विश्वनाथ** के अनुसार इसका तात्पर्य हे—कार्य के लिए अपमान आदि का सहन ।[२] सभव है कि **सीता**-विपयक निर्देश **राम** के द्वारा कर्तव्य-कर्म के रूप मे उनके परि-त्याग का सूचक हो ।

उदात्तराघव के कतिपय परिरक्षित खडित अशो से उसके विषय मे कुछ वहुत अच्छी धारणा नही वनती । भयानक की ओर कवि की प्रवृत्ति प्रतीत होती है, क्योकि उसके दो पद्यो मे इसकी निवधना मिलती है । अधिक उत्कृष्ट पद्य हे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
र्भास्वन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।
एताश्चोग्रकवन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रा रवाः फेरवाः ॥[१]

'विजेता पराजित हो गये है, आकाश-व्यापी गहन अधकार ने सूर्य की चमकती हुई किरणो पर विजय प्राप्त कर ली हे , इस अकस्मात् घटित होने वाली घटना का कारण क्या है ? जिनके पेट भयानक कवधो के घावो के रक्त से फूल गये हैं और जो अपने कदरा-सदृश मुखो से आग उगल रहे है, ऐसे सियार क्यो फेकर रहे हैं ?'

---

१. 1 42; SD 390; N. xix. 94, Levi, TI. ii. 9.

२. यह वात स्मरणीय है कि विश्वनाथ ने इस सध्यग को 'छादन' नाम दिया है. ४. DR ii. 54. वृत्ति.

इस आधार पर कि लक्ष्मण को किसी राक्षस से खतरा है चित्रमाय रक्षा के लिए पुकारता है। एक नीरस-से पद्य में राम के तत्कालीन मानसिक द्वंद्व का निरूपण किया गया है—

> वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयम् मन्ये कथं राक्षसात्
> त्रस्तश्चैव मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
> माहासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
> न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥[1]

'वत्स लक्ष्मण अभय का समुद्र है, कैसे समझूँ कि उसको किसी राक्षस से भय है ? तथापि यह मुनि रक्षा के लिए चिल्ला रहा है, और मेरा मन भ्रम में पड़ गया है। स्नेह के कारण गुरु की वारंवार प्रार्थना है कि सीता को अकेली मत छोड़ो। मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। हतबुद्धि होकर मैं यह निश्चय नही कर पा रहा हूँ कि रुकूँ या जाऊँ।'

धनिक ने अपनी दशरूप-टीका में एक अन्य राम-विषयक नाटक छलितराम का निर्देश किया है। संभव है कि वह इसी काल में या कुछ बाद में लिखा गया हो। उसमें बंदी लव के ले जाये जाने का चित्रण मिलता है—

> येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
> बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
> युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
> मूर्च्छाघोरतमः प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥[2]

'जिसने अपने बचपन में सामवेद-पाठकों का मुँह बंद कर के उन्हें बहुत तंग किया, जिसने अक्षसूत्र तथा वलय को चुरा कर और फिर उन्हें वापस कर के बचपन में क्रीड़ा की, तुम्हारे हृदय का आनंद वही लव, जिसके कंधे बाणों से भर गये हैं, मूर्च्छा के घोर अंधकार में प्रवेश करने के कारण विवश हो कर बंदी के रूप में ले जाया जा रहा है।'

एक अन्य पद्य में भरत का निर्देश है। पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हुए राम नगर में उस प्रकार प्रवेश करने से इन्कार करते हैं, क्योंकि वह भरत के शासन में है। विमान से उतरते ही वे अपने सामने अपने भाई को देखते हैं —

> कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
> जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥[3]

---

१. DR. iv. 26 वृत्ति.
२. DR. i. 41. वृत्ति.
३. DR. iii. 13. वृत्ति.

'सिंहासन के नीचे और पादुकाओं के सामने कोई जटाधारी अक्षमाला तथा चवँर धारण किये हुए खड़ा है।'

उसी नाटक[1] में सीता की एक रोचक भूल पायी जाती है। वे अपने लड़कों से अयोध्या जाकर राजा का अभिवादन करने को कहती हैं। उत्तर में लव स्वभावतः प्रश्न करता है—हम राजोपजीवी क्यों बनें ? सीता उत्तर देती हैं—वे तुम्हारे पिता हैं। वे इस भूल का यथाशक्ति परिहार यह कह कर करती हैं कि राजा संपूर्ण पृथ्वी का पिता है।

धनिक से एक अन्य नाटक **पाण्डवानन्द** का भी पता चलता है। उससे एक पद्य उद्‌धृत किया गया है जिसकी प्रश्नोत्तरमाला रोचक है। यह साहित्यिक रूप नाटककारों को प्रिय है—

का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥[2]

'गुणियों के लिए क्या श्लाघ्य है ? क्षमा। अपमान क्या है ? जो स्वजनों द्वारा किया गया है। दुःख क्या है ? दूसरे का आश्रय। प्रशंसनीय कौन है ? जो दूसरों का आश्रय है। मृत्यु क्या है ? विपत्ति। शोक-रहित कौन है ? जिसने शत्रुओं को जीत लिया है। किन लोगों ने इस तत्त्व को समझा ? विराट के नगर में छद्मवेश में स्थित पांडवों ने।'

धनिक से हमें दो अन्य रूपकों का भी पता चलता है जिनका कर्तृत्व और रचना-काल अज्ञात है। दो प्रकार के प्रकरणों के उदाहरण-रूप में उनका उल्लेख[3] किया गया है। उनके भेद-निरूपण का आधार यह है कि एक में नायिका नायक की पत्नी और इसलिए कुलजा होती है, दूसरे में वेश्या होती है। दूसरे प्रकार का उदाहरण तरङ्गदत्त है, और पहले प्रकार का उदाहरण पुष्पदूषितक है। यह नाम पुष्पभूषित के किंचित्परिवर्तित रूप में **साहित्यदर्पण** में आया है। समवकार के उदाहरण-रूप में **दशरूप**[4] ने **समुद्रमन्थन** का उल्लेख किया है। प्रस्तुत रूपक का नाम और विवरण असंदिग्ध है।

---

१. DR. iii. 17 वृत्ति. २. DR. iii. 12. वृत्ति.

३. DR. iii. 38 वृत्ति; SD. 512.

४. DR. iii. 56 f. वृत्ति; SD. 516.

२. मुरारि

मुरारि के कथनानुसार वे मौद्गल्य गोत्र के श्रीवर्धमानक और तंतुमती के पुत्र थे। वे महाकवि होने का दावा करते हैं, और बालवाल्मीकि कहलाने का अनुचित अधिकार जताते हैं। उनका समय अनिश्चित है। वे निश्चित रूप से भवभूति के परवर्ती हैं क्योंकि उन्होंने उत्तररामचरित[1] से उद्धरण दिया है। सुभाषित-संग्रहों में इस बात का साक्ष्य भी मिलता है कि कुछ लोगों ने उन्हें प्रत्यक्षतः उनके पूर्ववर्ती) भवभूति से श्रेष्ठ माना है। इसके अतिरिक्त काश्मीरी कवि रत्नाकर[2] से उनके समय के विषय में कुछ सूचना प्राप्त होती है। उन्होंने अपने हरविजय में मुरारि का नाटककार के रूप में स्पष्ट निर्देश किया है। इस निर्देश को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भट्टनाथ स्वामी ने जो प्रयत्न किया है उसे सर्वथा असफल समझना चाहिए। रत्नाकर का समय नवीं शताब्दी ई० का मध्य-काल है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वह काल मुरारि के समय की उत्तर-सीमा है। विचित्र बात है कि रत्नाकर के मुरारि-विषयक निर्देश को अप्रामाणिक मानने वाले प्रो० कोनो[3] यह स्वीकार करते हैं कि मंख के श्रीकण्ठचरित[4] (लगभग ११३५ ई०) में मुरारि के निर्देश से यह सूचित होता है कि उसके लेखक ने उन्हें राजशेखर का पूर्ववर्ती माना है। यह तथ्य इस बात से बहुत अच्छी तरह मेल खाता है कि वे रत्नाकर के पहले हुए थे। यह तथ्य इस तथ्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ग्यारहवीं शताब्दी ई० के नाट्य-शास्त्रकारों ने उनकी रचना से उद्धरण नहीं दिये हैं। डा० Hultzsch[5] ने उन्हें पश्चात्कालीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने हेमचंद्र के शिष्य रामचंद्र के कौमुदीमित्राणन्द के तीसरे पद्य से यह अनुमान किया है कि वह नाटककार मुरारि का समसामयिक था। परंतु इस विषय में साक्ष्य पर्याप्त नहीं है। उक्त पद्य में प्रयुक्त शब्द इस तथ्य के सर्वथा अनुकूल हैं कि मुरारि मर चुके थे। उनके मत के मार्ग में कालक्रम-संबंधी गंभीर कठिनाइयाँ भी हैं। श्रीकण्ठचरित की रचना के समय मंख के द्वारा रामचंद्र के किसी समसामयिक का उद्धृत किया जाना बिल्कुल असंभव प्रतीत होता है।

---

१. vi. 30/31 का i. 6/7 में उद्धरण है.

२. xxxviii. 68. उनके समय के लिए देखिए—Bühler, Kashmir Reports, p. 42. देखिए—भट्टनाथ स्वामी, IA. xli. 141; Lévi, TI. i. 277.

३. ID. p. 83. धनिक (DR. ii. 1.) ने नामोल्लेख किये बिना iii. 21 को उद्धृत किया है.

४. xxv. 74.

५. ZDMG. lxxv. 63.

इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि प्रसन्नराघव[1] में जयदेव ने मुरारि का अनुकरण किया है।

उनके कार्य-स्थान का कुछ पता नही है। परंतु, उन्होंने कलचुरियों के वास-स्थान के रूप में माहिष्मती का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि वे उस वंश के किसी राजा के आश्रय में माहिष्मती (नर्मदा के किनारे वर्तमान मांधाता) में रहे थे।

३. अनर्घराघव

मुरारि का एक मात्र उपलब्ध नाटक अनर्घराघव[2] है। उद्धरणों से सूचित होता है कि उन्होंने अन्य ग्रंथ भी लिखे थे। उक्त नाटक की प्रस्तावना में उन्होंने घोषणा की है कि उनका उद्देश्य रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत रस से ऊबे हुए लोगों को उदात्त, वीर और आद्योपांत (केवल उपसंहार में ही नहीं) अद्भुत रस की रचना से आनंदित करना है। उन्होंने राम-संबंधी घिसे-पिटे विषय के चुनाव का औचित्य सिद्ध किया है; उनका चरित्र कवि की रचना को उदात्तता और मनोहरता प्रदान करना है, और इतने सुंदर विषय का तिरस्कार करना मूर्खता है। परंतु, अनर्घराघव से कवि के वस्तुचयन-विषयक आत्मविश्वास का औचित्य सिद्ध नहीं होता। भवभूति जिस वस्तु का विस्तारपूर्वक निरूपण कर चुके थे उसमें किसी महाकवि की ही सफलता की संभावना हो सकती थी। मुरारि इस प्रकार के कवि नही थे। हाँ, एकाध परवर्ती लेखकों ने उनकी गंभीरता का गुणगान किया है, परंतु उसमें औचित्य का लेश भी नही है।

पहले अंक में दशरथ वामदेव के साथ वार्तालाप करते हुए दिखायी देते हैं। ऋषि विश्वामित्र के आगमन की सूचना मिलती है। ऋषि और राजा दशरथ की परस्पर प्रशंसा जी उकताने वाली है। परंतु, विश्वामित्र काम की बात करते हैं और अपने आश्रम को पीड़ित करने वाले राक्षसों के विरुद्ध राम की सहायता माँगते हैं। इतने छोटे और प्रिय बालक को संकट में डालते हुए राजा को बड़ी हिचकिचाहट होती है। विश्वामित्र उनसे कर्तव्य-पालन का आग्रह करते हैं, और दशरथ राम-लक्ष्मण को मुनि को सौंप देते है। वैतालिक मध्याह्न की घोषणा करता है। राजा पुत्रों के वियोग से व्यथित होता है। दूसरे अंक के आरंभ में विश्वामित्र के दो शिष्यों शुनःशेफ और पशुमेढ़ का बहुत दूर तक खींचा गया संवाद है जिससे वाली,

---

१. ii. 34 की vii. 83 से तुलना कीजिए.

२. Ed. KM. 1894; मिलाकर देखिए—Baumgartner, Das Rāmāyaṇa, pp. 125 ff.

रावण, राक्षसों, **जांबवंत**, **हनुमंत** और **ताड़का** के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। विष्कंभक के अनंतर **राम** और **लक्ष्मण** आते हैं। वे आश्रम तथा आश्रमवासियों के कार्यों और फिर मध्याह्न की गर्मी का वर्णन करते हैं। परंतु नाटककार को चिंता नहीं है, यद्यपि व्यापार में कोई प्रगति नहीं होती और संवाद में कोई व्याघात नहीं होता तथापि हमारे सामने सहसा संध्या का दृश्य उपस्थित हो जाता है। **विश्वामित्र** आते हैं और उन बालकों से बातचीत करते हुए सूर्यास्त का वर्णन करते हैं। नेपथ्य में कोलाहल होता है, कोई पुकार कर कहता है कि राक्षसी ताड़का आ पहुँची है। **राम** एक स्त्री को मारने में संकोच करते हैं, किंतु अंत में आवश्यक कर्तव्य के पालन के लिए चल देते हैं। लौटकर वे चंद्रोदय का वर्णन करते हैं। **विश्वामित्र** मिथिला के जनक के यहाँ चलने का सुझाव देते हैं। इस प्रकार उस नगर और उसके राजा के वर्णन का अवसर मिलता है।

दूसरे अंक में हम उस अभिप्राय पर पहुँचते हैं जिसको **भवभूति** ने कहीं अधिक कौशल के साथ अपने नाटक का मुख्य भाव बनाया है, और इस प्रकार कथानक के अनुसार उसे सफल एकान्विति प्रदान की है। **सीता** की एक परिचारिका **कलहंसिका** के साथ वार्तालाप करते हुए जनक का कंचुकी बतलाता है कि राजकुमारी विवाह के योग्य हो गयी है, और रावण उसका पाणिग्रहण करना चाहता है। अगले दृश्य में **शतानंद** के साथ राजा (**जनक**) **राम** का स्वागत करते हैं, परंतु वे इस विषय में संकोच का अनुभव करते हैं कि **राम** शिव के धनुप को चढ़ाने की कठिन परीक्षा दें। **रावण** का दूत **शौष्कल** आकर निवेदन करता है कि **सीता** का विवाह **रावण** से कर दिया जाए। वह इस बात को रोषपूर्वक अस्वीकार करता है कि उसका स्वामी (**रावण**) धनुष को चढ़ाए। वह **रावण** की प्रशस्ति करता है जिसका **राम** अवमूल्यन करते हैं। अंत में **राम** को शक्ति-परीक्षा का अवसर मिलता है। मंचस्थ लोग उनके धनुर्भंग के अद्‌भुत कार्य का वर्णन करते हैं। **सीता** के साथ **राम** का विवाह होता है। **दशरथ** के अन्य पुत्रों को भी पत्नियाँ मिलती हैं। प्रतिशोध की धमकी देता हुआ **शौष्कल** वहाँ से चल देता है। चौथे अंक में **रावण** का मंत्री **माल्यवंत** आता है। वह अपनी **सीता-प्राप्ति-विषयक** योजना की असफलता पर पश्चात्ताप कर रहा है। विदेह से **शूर्पणखा** आती है और **राम-सीता-संयोग** की बात बताती है। **माल्यवंत** जानता है कि **रावण** इन दोनों को अलग करने का निश्चित प्रयत्न करेगा। वह **शूर्पणखा** को परामर्श देता है कि वह **राम** को वन में निर्वासित कराने के लिए **कैकेयी** की दासी **मंथरा** का छद्मवेश धारण करे, क्योंकि वन में उन पर आक्रमण करना अधिक सरल होगा। वह **शूर्पणखा** द्वारा दिये गये इस समाचार से भी प्रसन्न होता है कि **परशुराम मिथिला** में पहुँच गये हैं, इससे

उसकी लक्ष्य-सिद्धि में सहायता मिलने की संभावना हो सकती है। इसके बाद के दृश्य में **राम** और **परशुराम** का वाग्युद्ध होता है। प्रत्यक्ष है कि लेखक ने **महावीर-चरित** का अनुकरण किया है। इस नाटक के **राम** 'महावीरचरित' के **राम** की अपेक्षा कहीं अधिक विनम्र हैं, परंतु उनके हितैषी, रंगमंच पर वस्तुतः उपस्थित हुए बिना, नेपथ्य से आक्षेप करते हैं। अंत में, **राम** अपने प्रतिद्वंद्वी को चिताते हैं कि उसकी क्षत्रिय-विनाश से अर्जित यश की पताका जीर्ण हो गयी है; वे **परशुराम** को अपना यश पुनः स्थापित करने की चुनौती देते हैं, और दोनों संघर्ष पर तुल जाते है। यह नेपथ्य में होता है। नेपथ्य से सुनायी पड़ता है कि **सीता** को इस बात की आशंका है कि **राम** किसी दूसरी कन्या की प्राप्ति के लिए तो धनुष नही चढ़ा रहे हैं। उसके बाद दोनों प्रतिद्वंद्वियों में बड़ा अच्छा संबंध स्थापित हो जाता है। वे मंच पर आते हैं और एक-दूसरे का अभिनंदन करते हैं। **परशुराम** चले जाते हैं। तब **जनक** और **दशरथ** आते हैं। **दशरथ** ने **राम** के लिए राज-त्याग करने का निश्चय किया है, परंतु **लक्ष्मण मंथरा** को साथ लेकर प्रवेश करते हैं। वह **कैकेयी** का एक अनर्थकारी पत्र लाती है। उसमें उसने राजा से दो वरदान माँगे हैं—**राम** का निर्वासन और **भरत** का राज्याभिषेक। **दशरथ** और **जनक** मूर्च्छित हो जाते हैं। **सीता** को सूचना देने के लिए **राम लक्ष्मण** को उनके पास भेजते है, और अपने पिता को **जनक** की देख-रेख में सौंप कर प्रस्थान करते हैं।

पाँचवें अंक में **जांबवंत** और तापसी **श्रवणा** के संवाद में **राम** के वन में पहुँचने तक के कार्यो का वर्णन है। **श्रवणा** पथिक **राम-लक्ष्मण** के स्नेहपूर्ण स्वागत का पूर्व-प्रबंध कराने के लिए **सुग्रीव** के पास जाती है। **जांबवंत** परिव्राजक-वेष में आये हुए **रावण** और **लक्ष्मण** का कथोपकथन छिप कर सुनता है। उसके बाद गृद्ध **जटायु** यह भयानक समाचार लाता है कि उसने **रावण** तथा **मारीच** को वन में देखा है। **सुग्रीव** को इस खतरे से सावधान करने के लिए **जांबवंत** उसके पास जाता है। **सीता** का अपहरण देखकर **जटायु** अपहर्ता का पीछा करता है। इस विष्कंभक के अनंतर **राम** और **लक्ष्मण** आते हैं। वे निष्फल खोज के कारण शोकमग्न हो कर भटक रहे हैं। इसी बीच उन्हें चीत्कार सुनायी पड़ती है। वे देखते हैं कि उनका मित्र निषाद-राज **गुह** कबंध के द्वारा आक्रांत है। **लक्ष्मण** उसे बचाते हैं, परन्तु ऐसा करते हुए वे **दुंदुभि** के कंकाल-वृक्ष को उलट देते है। इससे उत्तेजित हो कर **वाली** आता है, और लंबे कथोपकथन के बाद **राम** को युद्ध के लिए ललकारता है। मंच पर से **लक्ष्मण** और **गुह** उस युद्ध का वर्णन करते है। शत्रु मारा जाता है। नेपथ्य से **सुग्रीव** के राज्याभिषेक की सूचना मिलती है; वह **सीता** की प्राप्ति के लिए **राम** की सहायता करने को कृतसंकल्प है। अपने मित्र **गुह** के साथ **लक्ष्मण** उस अभिषेक-महोत्सव

में संमिलित होने के लिए मंच से चल देते हैं। छठे अंक में **रावण** के दो चर **सारण** और **शुक** समुद्र पर सेतु-निर्माण और **राम** की सेना के आगमन का विवरण **माल्यवंत** को देते है। नेपथ्य से सूचना मिलती है कि **कुंभकर्ण** और **मेघनाद** ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया है। उसी प्रकार (नेपथ्य से) हमें ज्ञात होता है कि वे मारे जा चुके हैं और **रावण** अंतिम वार युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहा है। **माल्यवंत** उसका अनुगमन करने का निश्चय करता है। दो विद्याधर **रत्नचूड** और **हेमांगद** वोझिल तथा नीरस वाग्विस्तार के साथ अंतिम संग्राम का वर्णन करते हैं। इससे अंक की समाप्ति होती है।

सातवें अंक में **महावीरचरित** के उपसंहार से होड़ करने का प्रयत्न किया गया है। **राम, सीता, लक्ष्मण** और **सुग्रीव कुवेर** के पुष्पक विमान में **अयोध्या** के लिए प्रस्थान करते है। परंतु उनका मार्ग साधारण पथ से भिन्न है, क्योंकि वे यात्री पहले काल्पनिक पर्वत **सुमेरु** और चंद्र-लोक के सम्यक् प्रेक्षण के लिए अंतरिक्ष-लोक में जाते हैं। तत्पश्चात् ही **सिंहल** (जो परंपरानुसार **लंका** से भिन्न माना गया है) के वर्णन के साथ उनकी पार्थिव यात्रा आरंभ होती है। तदनंतर वे **मलय** पर्वत, वन, **प्रस्रवण** गिरि, **गोदावरी, माल्यवंत** शिखर, महाराष्ट्र देश के **कुंडिनीपुर, कांची, उज्जयिनी, माहिष्मती, यमुना, गंगा, वाराणसी, मिथिला** और **चंपा** के ऊपर से यात्रा करते है। तव विमान पश्चिम की ओर मुड़ कर **प्रयाग** पहुँचता है, और उसके वाद मुड़ कर **अयोध्या** की ओर चलता है जहाँ पर **राम** के भाइयों के साथ गुरु **वसिष्ठ** उनके राज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे है।

इस काव्य के दोप स्पष्ट हैं। परंपरागत कथा में सुधार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। हाँ, **वाली** का वध औचित्य के साथ कराया गया है। पात्र रूढ़िवद्ध हैं। विपय को बोझिल वनाने और विस्तृत करने में लेखक ने रुचि ली है। प्रत्येक भाव में अतिशयोक्ति की विशेपता पायी जाती है। जहाँ पर वह अति-साधारणता के स्तर पर नहीं उतरा है (जैसा कि तीसरे अंक में प्रायः हुआ है) वहाँ पर उसके पुराणकथा-विपयक पर्याप्त ज्ञान के कारण कल्पनाओं और शब्द-क्रीड़ा का वाहुल्य है। जिस अभिरुचि से उसने चंद्रलोक और **सुमेरु** के दर्शन की उद्भावना को है वह शोचनीय है। **महावीरचरित** के **जटायु-संपाति**-संवाद के स्थान पर **जटायु-जांववंत**-संवाद की योजना भी इतनी ही शोचनीय है। **मुरारि** संवाद-कला के तनिक भी मर्मज्ञ नहीं हैं। उनकी रचना में जो कुछ भी गुण है वह केवल इस वात में है कि उन्होंने संस्कृत भापा के प्रयोग और प्रभावशाली छंदों के अनुरूप शब्द-विन्यास में कुशलता दिखलायी है। उनका शब्दकोश-संबंधी ज्ञान

प्रत्यक्ष है। व्याकरण के दुर्बोध प्रयोगों के कारण उन्हें इतनी ख्याति मिली कि **सिद्धान्तकौमुदी** के लेखक ने उनसे अप्रसिद्ध रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये है। इन भाषा-संबंधी गुणों के कारण आधुनिक अभिरुचि के पाठकों ने उन्हें महत्त्व दिया है। वस्तुतः उनकी अभिव्यंजना-शक्ति को अस्वीकार करना उचित नहीं है—

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशङ्कमेणीकुलम्॥[1]

'वसंत ऋतु के कारण मतवाली कोकिलाओं से कंपित आम्र-मंजरियों की पराग-धूलि के कारण दुर्गम (गोदावरी के) तट के प्रदेश दिखायी दे रहे है, जिन्हें आखेटकों से भयभीत मृगों का समूह किसी प्रकार पार कर के, धारावाही धूलि-समूह से पदचिह्नों के लुप्त हो जाने पर, निःशंक है।' उक्त पद्य का भाव निश्चय ही अत्यंत साधारण है, परंतु उसकी अभिव्यंजना (जिसका अँगरेजी में रूपांतर करना कठिन है) निष्पत्ति-सिद्धि की श्रेष्ठ कृति है।

सातवें अंक में एक मनोहर शृंगारिक पद्य मिलता है—

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं परिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः॥[2]

'हे कदली के समान ऊरुओं वाली (सीते), तुम्हारे मुख से तुलना करने के लिए चंद्रमा पलड़े में रखा गया, उसमें कमी दिखायी पड़ी, उस कमी की पूर्ति के लिए पासंग (प्रतिमानखंड) के रूप में ये तारागण चमक रहे है।'

निम्नांकित पद्य में अभिव्यक्त प्रशंसा का अधिक विस्तृत, किंतु ललित, उदाहरण बुरा नहीं है—

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान्।
एकाग्रं यद्दधति भगवत्युष्णभानौ च भक्ति
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि॥[3]

'इन कमलों के वंश में भगवान् ब्रह्मा ने साक्षात् जन्म लिया, शय्या से उठ कर ये कमल दिन-भर भ्रमरों को तृप्त करते हैं, एकाग्र दृष्टि से भगवान् सूर्य की ओर

---

१. v. 6. २. vii. 87. ३. vii. 82.

भक्तिपूर्वक देखने का व्रत धारण करते है, इसीलिए, हे सुंदरि, ये कमल तुम्हारे मुख की समता प्राप्त कर सके हैं।'

एक अन्य शृंगारिक पद्य भी सुंदर है--

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्त्रलेखः।
कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिदुर्मनाः कपोलः॥[1]

'ललाट पर से सामने गिरने वाली पसीने की बूँदों द्वारा युवतियों के कपोल की पत्र-रचना धुल गयी है। ऐसे विवर्ण चंद्रमा के समान खिन्न कपोल से सूचित होता है कि उन्होंने विपरीतरति की है।'

उदेष्यत्पीयूषद्युतिरुचिकणार्द्राः शशिमणि-
स्थलीनां पन्थानो घनचरणलाक्षालिपिभृतः।
चकोरैरुड्डीनैर्झटिति कृतशंकाः प्रतिपदं
पराञ्चः संचारानविनयवतीनां विवृणते॥[2]

'उदित होने वाले चंद्रमा की किरणों से आर्द्र चंद्रकांत मणियों के मार्ग गहरे अलक्तक के पदचिह्नों से युक्त है, वे चकोरों के उड़ने से पग-पग पर (किसी के आने की) सहसा शंका उत्पन्न करके दुःशील अभिसारिकाओं को उलटे पाँव लौटने के लिए बाध्य करते हैं।'

इस नाटक के कुछ हस्तलेखों में एक और पद्य मिलता है, परंतु अन्यत्र वह मुरारि-विषयक माना गया प्रतीत होता है—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतम्
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥[3]

'सरस्वती देवी की उपासना तो बहुत लोग करते हैं, परंतु वाणी के तत्त्व को गुरुकुल में रह कर परिश्रम करने वाले मुरारि कवि ही भली-भाँति जानते है। वानर वीरों ने समुद्र को अवश्य पार कर लिया था, किंतु उसकी गहराई को पाताल तक निमग्न स्थूलकाय मंदराचल ही जानता है।'

---

१. vii. 107. २. vii. 90. ३. Ed. p. 1. note.

४. राजशेखर का समय

सामान्यत: वढ़ा-चढ़ा कर वात करने वाले कुकवियों की भाँति **राजशेखर** ने अपने व्यक्तित्व के विपय में दूर की हाँकी है। वे महाराष्ट्र के यायावर क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुए थे—यायावरों ने **राम** का वंशज होने का दावा किया है। वे अमात्य **दुर्दुक** अथवा **दुहिक** और शीलवती के पुत्र थे, **अकालजलद** के पौत्र थे जो **सुरानंद**, **तरल** और **कविराज** जैसे ख्यातनामा कवियों के वंशज थे। उन्होंने चह्वाण-कुल की **अवंतिसुंदरी** मे विवाह किया। वे उदार शैव थे।[1]

कर्पूरमञ्जरी में (जो संभवत: उनका प्रथम रूपक है क्योंकि उसका अभिनय उनकी पत्नी ने कराया था, किसी राजा ने नही) उन्होंने अपने को **निर्भय** अथवा **निर्भर** का अध्यापक वतलाया है। **निर्भयराज** स्पष्ट रूप से **महोदय** या **कान्यकुब्ज** का प्रतिहार राजा **महेंद्रपाल** है जिसके ८९३ और ९०७ ई० के अभिलेख उपलब्ध हैं। उसके आदेश पर **वालरामायण** का अभिनय किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक अन्य राजदरवार में भी गये थे, क्योंकि **विद्धशालभञ्जिका** **त्रिपुरी** के कलचुरि राजा युवराज **केयूरवर्ष** के लिए प्रस्तुत की गयी थी। परंतु अपूर्ण **वाल-भारत** **महेंद्रपाल** के उत्तराधिकारी **महीपाल** के लिए लिखा गया था जिसके अभि-लेख ९१४ ई० से मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि वे प्रतिहारों के दरवार में लौट आये थे और वही पर स्वर्गवासी हुए। **वालरामायण** में उन्होंने अपनी छ: कृतियों की वात कही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें **विद्धशालभञ्जिका** और **वालभारत** समाविष्ट नही है। प्रसिद्ध साहित्यकारों के विपय में **राजशेखर** के नाम से अनेक पद्य मिलते हैं, किंतु इस वात का पूर्ण प्रमाण नहीं है कि उन सभी के कर्ता वही राजशेखर है।

वालरामायण में **राजशेखर** ने स्वयं अपना मूल्यांकन किया है और अपनी उत्कृष्टता सूचित की है। उन्होंने अपने कवि-वंशानुक्रम का निर्देश इस प्रकार किया है—कवि **वाल्मीकि** ही आगे चल कर **भर्तृमेण्ठ** हुए, फिर उन्होंने **भवभूति** के रूप में जन्म लिया, और उन्ही के अवतार **राजशेखर** हैं। परंतु, यह वात स्पष्ट नहीं है कि **भर्तृमेण्ठ** ने **रामायण** का नाटकीकरण किया था। उनके अज्ञात व्यक्तित्व के विपय में हमारी नगण्य जानकारी इतनी ही है कि उन्होंने **हयग्रीववध** नाम का महाकाव्य लिखा था। **विक्रमादित्य** और **मातृगुप्त**[2] की समस्याओं ने उनके काल-निर्णय को उलझन में डाल दिया है।

---

१. Konow, कर्पूरमञ्जरी, pp. 177ff.; Hultzsch, IA, xxxiv. 177ff; VS. Apte, राजशेखर, Poona, 1886. विशेप महत्त्वपूर्ण उनका काव्यशास्त्रीय ग्रंथ **काव्यमीमांसा** है जो उनके नाटकों से अधिक उत्कृष्ट है।

२. Winternitz, GIL. iii. 47, LAi, TI. i. 183 f.

५. राजशेखर के नाटक

बालरामायण[1] महानाटक है। उसमें दस अंक हैं। लेखक ने अपने अविद्यमान गुणों का गान करते हुए प्रस्तावना का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि उसका आयाम लगभग एक अंक के बराबर हो गया है। इससे रचना के विस्तार की भीषणता और भी बढ़ गयी है। प्रत्येक अंक का विस्तार एक नाटिका के परिमाण के बराबर है। संपूर्ण कृति में ७४१ पद्य हैं। उनमें से १९ मात्रा वाले **शार्दूलविक्रीडित** २०३ से कम नहीं हैं, और ८९ **स्रग्धरा** हैं जिसके प्रत्येक चरण में दो और मात्राएँ अर्थात् पूरे पद्य में ८४ मात्राएँ होती हैं। इस नाटक में कुछ नवीनता है, क्योंकि लेखक ने **रावण** के राग को महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्रदान किया है। पहले अंक में वह स्वयं आता है, किंतु शिव का धनुष चढ़ा कर परीक्षा देने से इन्कार कर देता है और **सीता** के किसी भी पति का अहित करने की धमकी देता हुआ चल देता है। दूसरे अंक में वह **परशुराम** से सहायता माँगता है, परंतु बदले में अपमानित होता है, और मित्रों के बीच-बिचाव से युद्ध होते-होते रुकता है। तीसरे अंक में उसके राग-संबंधी शोक को ध्यान से हटाने के लिए **सीता** का विवाह उसकी उपस्थिति में संपन्न होता है, परंतु इस प्रयत्न में उतनी ही नगण्य सफलता मिलती है जितनी कि मिलनी चाहिए थी। **रावण** व्याघात करता है, और अंततः रंग-भंग हो जाता है। चौथे अंक में **राम** और **परशुराम** के द्वंद्व का निपटारा होता है, परंतु पाँचवें अंक में **रावण** के विनोद के लिए एक हास्यजनक प्रयास किया गया है। उसको **सीता** और उसकी धात्रेयी जैसी पुत्तलिकाएँ भेंट की जाती हैं। वह तब तक भ्रम में रहता है जब तक उसे यह पता नहीं चल जाता कि उसने लकड़ी को पकड़ रखा है। विक्षिप्त हो कर वह **विक्रमोर्वशी** के पुरूरवा की भाँति प्रकृति, ऋतुओं, सरिताओं और पक्षियों से अपनी प्रेयसी का पता पूछता है। उसकी बहन **शूर्पणखा** (जो **राम** पर आक्रमण करने के कारण अत्यंत क्षतिग्रस्त है) आकर उसे अधिक पुरुषोचित आवेश की अवस्था में लाती है। तदनंतर एक नीरस अंक में शोकाकुल **दशरथ** की मृत्यु तक का वस्तु-विन्यास है। सातवें अंक में सेतु का भार स्वीकार करने के लिए समुद्र को समझाने की समस्या सुलझायी गयी है, दो वानर **दधित्थ** और **कपित्थ** सेतु-रचना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। **माल्यवंत** की कूटयुक्ति से क्षणिक आतंक छा जाता है; **सीता** का कटा हुआ सिर समुद्रतट पर फेंका हुआ प्रतीत होता है, परंतु वह बोलता है और छल का उद्घाटन कर देता है; वह बोलनेवाली पुत्तलिका का सिर है। आठवें अंक में एक के बाद एक आपत्ति की सूचना मिलने पर

---

१. Ed. Calcutta, 1884.

रावण की रक्षा का चित्रण है। वह **कुंभकर्ण** को भेजता है, किंतु उसके मायिक अस्त्रों के बावजूद उसे **राम** के सामने असहाय पाता है। नवें अंक में स्वयं **इंद्र** **राम-रावण** के घोर संग्राम का वर्णन करता है। दसवें अंक में **राम** अपने साथियों के साथ विमान द्वारा चंद्रलोक होते हुए यात्रा करते हैं। अंत में उनका राज्याभिषेक होता है।

बालभारत[1] अपूर्ण है। इसके अंतर्गत **द्रौपदी** के विवाह और द्यूत तथा **द्रौपदी** के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का वर्णन है। अन्य दो रूपक वस्तुतः नाटिकाएँ हैं, परंतु पहला रूपक, **कर्पूरमंजरी**[2], शास्त्रानुसार सट्टक के वर्ग मे रखा गया है। इसका कारण केवल यह है कि उसकी रचना प्राकृत में हुई है, कोई भी पात्र संस्कृत में नहीं बोलता। उसका कथानक पुराना है। नायक (राजा) **चंद्रपाल** है। यह संभवतः **महेंद्रपाल** के प्रति आदरभाव का सूचक है। **कुंतल** की राजकुमारी **कर्पूर-मंजरी** नायक की प्रेयसी है। वह वस्तुतः रानी की मौसेरी बहन है। पहले अंक में *तांत्रिक भैरवानंद नायिका को राजा और रानी के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसके* रूप और वेष से ही उसका बहुत-कुछ परिचय मिल जाता है। रानी उसे कुछ दिनों तक अपने साथ रखने का निश्चय करती है। प्रथम दर्शन में ही नायक और नायिका दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। दूसरे अंक में नायिका एक पत्र द्वारा अपना अनुराग स्वीकार करती है। उसकी सखी **विचक्षणा** और विदूषक ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे राजा उसे झूला झूलते हुए और चरण-स्पर्श से अशोक को कुसुमित करते हुए देख सके। इस बात का अनुमान कर लेना चाहिए कि इस बीच मे रानी को उनके प्रेम का पता चल गया है। वह नायिका को बंदीगृह में डाल देती है, परंतु राजा उसके कारागार तक पहुँचने वाली सुरंग बनवा लेता है। इस उपाय से राज-कुमारी और राजा उद्यान में प्रेमलीला का आनंद लेते हैं। इसी समय रानी को इसका पता चल जाता है। चौथे अंक में ज्ञात होता है कि उद्यान की ओर निकलने वाला मार्ग बंद कर दिया गया है, परंतु चामुंडा के आयतन की ओर एक दूसरा मार्ग बना लिया गया है। जिसका द्वार प्रतिमा के पीछे गुप्त है। इस प्रकार बंदिनी नायिका रानी के साथ आँख-मिचौनी खेल सकती है। वह तांत्रिक द्वारा आविष्कृत कपटयुक्ति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करती है जिससे विवाह के लिए रानी का आशीर्वाद प्राप्त हो सके। रानी को बहका कर उससे कहलाया

---

१. Ed. C. Cappeller, Strassburg, 1885; Weber, IS. xviii, 481ff.

२. Ed. S. Konow, trs. C.R. Lanman, HOS. iv. 1901; J. Charpentier Monde oriental, ii. 226 ff.

जाता है कि चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति के लिए राजा लाट देश की राजकुमारी से विवाह करे। वह अपने घर पर ही है, परंतु तांत्रिक उसे ला देगा। आनंदपूर्वक विवाह होता है, किंतु वह राजकुमारी **कर्पूरमंजरी** के अतिरिक्त और कोई नहीं है, और रानी ने अजाने ही उन प्रेमियों की कामना पूर्ण कर दी है।

विद्धशालभञ्जिका[1] में (जो शास्त्रीय दृष्टि से नाटिका है) भी उसी अभिप्राय की आवृत्ति हुई है। पहले अंक में वर्णित है कि **विद्याधरमल्ल** का सामंत लाट का **चंद्रवर्मा** अपनी पुत्री **मृगांकावली** को अपने उत्तराधिकारी और पुत्र के छद्मवेष में अपने अधिपति के दरबार में भेजता है। राजा **विद्याधरमल्ल** ने ब्राह्म मुहूर्त में स्वप्न देखा है कि किसी सुंदरी ने उसके गले में मोतियों की माला डाल दी है। वह उसकी स्मृति में घूम रही है। तदनंतर वह चित्र-वीथी में शालभंजिका के रूप में उसे देखता है। आगे चल कर उसको एक बार उसके शरीर की झलक मिलती है, किंतु फिर नहीं। इतने में ही वैतालिक मध्याह्न की सूचना देते हैं। दूसरे अंक में रानी उस छद्म-युवक के साथ **कुंतल** की **कुवलयमाला** के विवाह का प्रस्ताव करती है, और विदूषक को धात्रेयी ने वचन दिया है कि उसका विवाह एक युवती से कर दिया जाएगा जिसका मोहक नाम **अंबरमाला** है। कल्पना कीजिए कि उस समय विदूषक को कितनी जुगुप्सा हुई होगी जब उसने यह देखा कि वह तो एक क्रीत गुलाम मात्र है। राजा को उसे शांत करना पड़ता है। वे दोनों साथ-साथ छिप कर **मृगांकावली** को उद्यान में खेलते हुए देखते हैं, और कोई प्रेम-पत्र पढ़ते हुए सुनते हैं। वैतालिक घोषणा करते हैं कि संध्या हो गयी है। तीसरे अंक में ज्ञात होता है कि राजा जिसको स्वप्न समझता था वह उसके मंत्री **भागुरायण** द्वारा प्रकल्पित एक यथार्थ घटना थी। मंत्री यह जानता था कि नायिका का पति चक्रवर्ती होगा। विदूषक छल करने वाली **मेखला** को छल द्वारा दंडित करता है। वह एक स्त्री को छिपा कर उसके द्वारा **मेखला** को यह चेतावनी दिलवाता है कि यदि वह किसी ब्राह्मण के अंगों के बीच नहीं चलेगी तो उस पर विपत्ति पड़ना अवश्यंभावी है। रानी विदूषक से प्रार्थना करती है कि वह इस समारोह को समाप्त हो जाने दे। उसके समाप्त होने पर विदूषक अपने कपटप्रबंध को स्वीकार करता है। इससे रानी रुष्ट होती है। तदनंतर विदूषक और राजा नायिका से मिलते हैं। चौथे अंक में रानी राजा को दंड देने के लिए एक छल करती है। वह उसको उकसा कर उस छद्मवेषी लड़के की बहन के साथ विवाह करने को राजी कर लेती है।

---

१. Ed. Poona, 1886; trs. L.H. Gray, JAOS. xxvii i. ff.

उसका तात्पर्य यह है कि आगे चल कर राजा को पता चले कि उसने एक लड़के से विवाह किया है। राजा सहमत हो जाता है, विवाह संपन्न होता है। चंद्रवर्मा के यहाँ से समाचार मिलता है कि उसके पुत्र हुआ है, उसने रानी से प्रार्थना की है कि उसकी पुत्री अपने नारी-रूप में आ जाए और उसका विवाह कर दिया जाए। परास्त और प्रवंचित रानी अपनी स्थिति को उत्तम रूप से संभालती है। वह गरिमा और गर्व के साथ मृगांकावली और कुवलयमाला दोनों का अपने पति से विवाह करा देती है। इसी समय संवाद मिलता है कि अंतिम विद्रोही दवा दिये गये हैं और राजा का आधिपत्य सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया है।

राजशेखर की रचनाओं के दोषों के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। उनमें पात्रों की सृष्टि करने की शक्ति नहीं है। विद्याधरमल्ल का आदर्श **वत्स** **(उदयन)** है, परतु धीरललित और वीर **वत्स** के सामने वह कठोर और अरोचक है। रानी मे **वासवदत्ता** का-सा प्रेम और महिमा नहीं है। **यौगंधरायण** का प्रतिरूप **भागुरायण** शक्तिहीन है। **कर्पूरमञ्जरी** में **यौगंधरायण** के ऐंद्रजालिक का अनुकरण किया गया है और यह अनुकरण बड़ा भ्रष्ट है। नायिकाएँ गुणरहित हैं। **कर्पूर-मञ्जरी** का विदूषक जी उबाने वाला है, किंतु **विद्धशालभञ्जिका** के **कारायण** में गुण है। उसमें बहुत-कुछ ठोस सहजबुद्धि है, यद्यपि वह सरल है और दूसरों के बहकावे में आ जाता है। दोनों ही नाटिकाओं में प्रेम-विषयक वैदग्ध्यप्रयोग शिथिल हैं। **कर्पूरमञ्जरी** में पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण के गड़बड़झाले को समझना कठिन है और उसका अभिनय करना तो और भी कठिन है। **विद्धशालभञ्जिका** में रानी विदूषक-संबंधी एक बालिश घटना के कारण विवाह का आयोजन करती है। नायक के एक-साथ ही दो विवाह कराने की अभिरुचि शोचनीय है। प्रस्तावित विवाह के अभिप्राय से अनभिज्ञ राजा उसे क्यों स्वीकार कर लेता है—इस बात का कोई कारण न बताना भी उसी प्रकार चिंत्य है।

परंतु, अपने सभी नाटकों में **राजशेखर** की दृष्टि शैली के वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोगों पर केंद्रित रही है। **कर्पूरमञ्जरी** की प्रस्तावना में (संस्कृत और प्राकृत की तुलना करते हुए) उन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि (दोनों में) प्रतिपाद्य विषय वही हैं, शब्दावली भी वही है, प्रश्न अभिव्यंजना का है; पुरुष की भाँति परुष संस्कृत की तुलना में प्राकृत नारी की भाँति सुकुमार है; अतएव सर्वभाषाचतुर कवि के द्वारा वह अभिव्यंजना के माध्यम-रूप में प्रयोज्य है। यही कारण है कि हमें कला-पूर्ण छंदों में प्रभात, मध्याह्न, संध्या, अंतःपुर-विलास, कंदुक-क्रीड़ा, हिंडोले (जो

भारतीय नायिकाओं का प्रिय मनोरंजन है) आदि का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है, और नाटकों में मायिक आयुधों द्वारा किये गये युद्धों के उबाने वाले चित्र एवं कल्पित भौगोलिक पदार्थों तथा स्थानों के उद्वेगजनक वर्णन मिलते है। उनके द्वारा किये गये स्थानीय रीति-रिवाजों के निर्देश पुराविदों के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं, परंतु काव्यमय नहीं हैं। छंदोविधान में उनकी वास्तविक उपलब्धि अधिक प्रशंसनीय है। प्रमुखतया वे **शार्दूलविक्रीडित** (जिसके रचना-कौशल की **क्षेमेंद्र** ने उचित प्रशंसा की है), **वसंततिलक**, **श्लोक** और **स्रग्धरा** के प्रयोग में निपुण हैं। जटिल प्राकृत-छंदों के प्रयोग में उनकी क्षमता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। **कर्पूरमञ्जरी** के कुल १४४ पद्यों में १७ प्रकार के छंद हैं। यदि शब्द-मैत्री में ही काव्यत्व माना जाए तो उन्हें कवि के रूप में उच्च पद मिलना चाहिए। लोकोक्तियों के प्रयोग में उनकी विशेष रुचि है : **वरं तक्कालोवणदा तित्तिरी ण उण दिअहंतरिदा मोरी** (जिसका अंगरेजी-रूपांतर है : 'A bird in hand is worth two in the bush')। वे जनपदीय भाषाओं (जिनमें मराठी भी संमिलित है) के शब्दों का स्वच्छंदता से प्रयोग करते हैं। परंतु, अपने पांडित्य-प्रदर्शन के बावजूद वे अपने नाटकों में **शौरसेनी** और **मराठी** में ठीक-ठीक भेद नहीं कर सके हैं। उनकी **शौरसेनी** में **यष्टि** के लिए **लट्ठि**, और अकारांत शब्दों के अधिकरण-कारक में **अम्मि** तथा अपादान-कारक में **हिंतो** रूप मिलते हैं। **एस** सर्वनाम का भी प्रयोग मिलता है। शब्दकोश की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत दोनों के लिए **राजशेखर** का महत्त्व है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों ही उनके लिए मृत भाषाएँ थीं जिनको उन्होंने श्रमपूर्वक सीखा था। **कर्पूरमञ्जरी** में **शिथिल** के समरूप **ढिल्ल** जैसे प्रयोगों से ज्ञात होता है कि जनपदीय भाषाएँ उस रूपक की प्राकृतों से कहाँ तक आगे बढ़ चुकी थीं।

परंतु, **राजशेखर** की सफल अभिव्यंजना-शक्ति को अस्वीकार करना अनुचित होगा। अन्य परवर्ती नाटककारों की भाँति वे ललित एवं आकर्षक पद्यों की रचना में समर्थ हैं जो नीरस वस्तु-राशि से दबे होने के कारण अपने संदर्भ में प्रायः विकृत हो गये हैं। **विद्धशालभञ्जिका** का नांदी-श्लोक निश्चित रूप से लालित्यपूर्ण है—

> कुलगुरुरबलानां केलिदीक्षाप्रदाने
> परमसुहृदनङ्गो रोहिणीवल्लभस्य ।
> अपि कुसुमपृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
> जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारः ॥

'केलि-दीक्षा प्रदान करने मे युवतियो के कुलगुरु, रोहिणीप्रिय (चंद्रमा) के परम सुहृद्, फूल के बाणो मे महादेव को भी जीतने वाले और सुरत-लीला की नाटिका के सूत्रधार अनग (कामदेव) की जय हो ।'

पिष्टपेषित ग्रीष्म-वर्णन भी मनोहर है—

रजनिविरमयामेष्वादिशन्ती रतेच्छाम्
किमपि कठिनयन्ती नारिकेलीफलाम्भः ।
अपि परिणमयित्री राजरम्भाफलानाम्
दिनपरिणतिरम्या वर्तते ग्रीष्मलक्ष्मीः ॥

'ग्रीष्म की शोभा दिनात के समय रमणीय है। इस ऋतु मे केले के फल परिपक्व हो जाते है, नारियल के फलो का जल कठिनता प्राप्त करता है, रात के अतिम पहर मे रति की कामना जागृत होती है।'

विरहिणी की विशेषताओ का अतिसूक्ष्मता मे वर्णन किया गया है—

चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखितं सा मार्ष्टि दष्टाधरा
वन्ध्यं निन्दति यच्च मन्मथमसौ भङ्क्त्वाग्रहस्ताङ्गुरीः ।
कामः पुष्पशरः किलेति सुमनोवर्गं लुनीते च यत्
तत् काम्या सुभग त्वया वरतनुर्वातूलतां लम्भिता ॥

'ओठ काटती हुई वह चदन के लेप से अकित चद्रमा को मिटा देती है, उँगलियाँ चटकाती हुई निष्फल कामदेव की निंदा करती है, यह सोच कर कि कामदेव पुष्पबाण है वह फूलो को नोच डालती है, हे सुदर ! तुम्हारे द्वारा काम्य वह सुदरी तुम्हारे कारण पागल-सी हो गयी है।'

अन्तस्तारं तरलिततलाः स्तोकमुत्पीडभाजः
पक्ष्माग्रेषु ग्रथितपृषतः कीर्णधाराः क्रमेण ।
चित्तातङ्कं निजगरिमतः सम्यगासूत्रयन्तो
निर्यान्त्यस्याः कुवलयदृशो बाष्पवाराम्प्रवाहाः ॥

'उस कमलनयनी के नेत्रो मे आँसुओ की धारा निकल रही है। वे आँसू उसकी पुतलियो पर लहराते है, फिर धीरे-धीरे बहते है, बरौनियो के अग्रभाग मे पहुँच कर बूदो का रूप धारण करते है, फिर क्रमश धारा के रूप मे वह निकलते है ! वे अपनी गरिमा से उसके हृदय के आतक को सूचित करते है।'

यद्यपि कर्पूरमञ्जरी के तीसरे जवनिकातर मे राजशेखर की प्रेम-विषयक अवधारणा पिष्टपेषित एव कुठित है तथापि उनके सभी रूपको मे वह असदिग्ध

रूप से ऐसा रूपक है जिसमें इस बात का बहुत ठोस प्रमाण विद्यमान है कि उनमें कुछ यथार्थ कवि-प्रतिभा थी। हिंडोले वाले दृश्य में भावानुरूप छंद के माध्यम से वस्तुतः मर्मस्पर्शी शब्द-चित्र अंकित किया गया है—

विच्छाअंतो णअररमणीमंडलस्साणणाइं
विच्छोलंतो गअणकुहरं कंतिजोण्हाजलेण।
पेच्छंतीणं हिअअणिहिअं णिद्दलंतो अ दप्पं
दोलालीलासरलतरलो दीसए से मुहेंदू॥[1]

'कर्पूरमंजरी का चंद्रमुख नगर की सुंदरियों के मुख को कांतिहीन करता हुआ, अपनी कांति की चाँदनी के जल से आकाशमंडल को धवलित करता हुआ, और देखने वाली रमणियों के हृदयस्थित गर्व को चूर करता हुआ झूले के आने-जाने के साथ पास तथा दूर दिखायी देता है।' इस पद्य के मनोहर अनुप्रास और शब्दक्रीड़ा से अधिक सुंदर इससे तीसरे छंद का पद्यात्मक कौशल है जिसमें झंकारकारी रणनात्मक गणों (जगण-सगण-यगण) से युक्त **पृथ्वी** वृत्त का प्रयोग किया गया है। उसमें ध्वनि के द्वारा अभीष्ट अर्थ की अद्भुत व्यंजना हुई है—

रणंतमणिणेउरं झणझणंतहारच्छडं
कणक्कणिअकिंकिणीमुहलमेहलाडंबरं।
विलोलबलआवलीजणिअमंजुसिंजारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिंडोलणं॥[2]

'मणिनूपुरों की झंकार से युक्त, हारावली के झन्-झन् शब्द से पूर्ण, छोटी-छोटी घंटियों के मधुर शब्द से भरा हुआ और चंचल कंकणों के मधुर शब्द वाला चंद्रमुखी **कर्पूरमंजरी** का यह झूलना किसके मन को मोहक नहीं प्रतीत होता?'

कर्पूरमंजरी के पादाघात द्वारा अशोक को कुसुमित करने के प्रसंग में राजा की अशोक-विषयक उक्ति[3] अत्यंत उत्कृष्ट है। परंतु, विदूषक ने अतीतयौवना रानी के सौंदर्य और युवती नायिका की कमनीयता की जो भद्दी तुलना की उससे प्रेरित हो कर राजा द्वारा की गयी उक्ति अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है—

बालाउ होंति कोऊहलेण एमेय चवलचित्ताओ।
दरलसिअथणीसु पुणो णिवसइ मअरद्धअरहस्सं॥[4]

---

१. ii, 30. २. ii. 32.
३. ii. 47. ४. ii. 49.

'वालाएँ यौवनसुखोपभोग के कौतूहल से इसी भाँति चंचल चित्त वाली होती हैं, परंतु, जिनके स्तन कुछ-कुछ उभर आये हों उनमें तो काम का रहस्य ही छिपा रहता है।'

रचना-पद्धति की दृष्टि से **राजशेखर** का महत्त्व है, क्योंकि **कर्पूरमञ्जरी** में उन्होंने प्रस्तावना के प्राचीन रूप की निवंधना की है जिसमें नांदी-पाठ असंदिग्ध रूप से सूत्रधार द्वारा किया गया है, उसके वाद स्थापक आता है और दो श्लोकों का पाठ करता है। यह वात ध्यान देने योग्य है कि मूल पाठ का तात्पय स्पष्ट होने पर भी हस्तलिखित प्रतियों में स्थापक के वदले प्रायः सूत्रधार का उल्लेख किया गया है। परवर्ती **पार्वतीपरिणय** में भी सूत्रधार द्वारा श्लोक-पाठ के पूर्व एक नांदी-श्लोक पाया जाता है। यह संभाव्य है कि प्राचीनतर रचना-पद्धति वहुत समय तक दक्षिण में प्रचलित रही हो।

राजशेखर अपने पूर्ववर्ती लेखकों के सर्वतोभावेन ऋणी हैं। उन पर **कालिदास, हर्ष** और **भवभूति** का प्रभाव स्पष्ट है। वे **मुरारि** की रचनाओं से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं, इससे संभवतः यह सूचित होता है कि वे उनके समसामयिक थे। अथवा कुछ ही परवर्ती थे। उन्होने पश्चात्कालीन **गीतगोविन्द** या **मोहमुद्गर** की भाँति कहीं-कही अंत्यानुप्रास का प्रयोग किया है, इससे जनपदीय भाषा अथवा प्राकृत का प्रभाव परिलक्षित होता है।

६. भीमट और क्षेमीश्वर

राजशेखर के नाम से उद्धृत एक पद्य में **भीमट** के पाँच रूपकों का उल्लेख मिलता है। उनमे से **स्वप्नदशानन** उनकी ख्याति का मुख्य आधार है। कालिंजर-पति के रूप में उनका वर्णन किया गया है। इस पद से यह अनुमान किया गया है कि उनका **जेजाकभुक्ति** के चंदेल राजा **हर्ष** से संवंध था। हमें विदित है कि **हर्ष राजशेखर** के आश्रयदाता कान्यकुब्ज के **महीपाल** का समसामयिक था। परंतु, इस विषय मे निश्चित कथन के लिए कोई ठोस आधार उपलब्ध नहीं है।[1]

क्षेमीश्वर की वात भिन्न है। उन्होंने **महीपाल** के लिए **चण्डकौशिक** की रचना की। इसमें संदेह नहीं कि **महीपाल राजशेखर** का आश्रयदाता कान्यकुब्ज-नरेश है। **क्षेमीश्वर** ने कर्णाटों पर अपने आश्रयदाता की विजय का कथन किया है जो निस्संदेह राजकीय क्षेत्रों में स्वीकृत मत था। उनके अनुसार यह विजय राष्ट्रकूट

---

१. Konow, ID. p. 87; Peterson, Reports, ii 63; Bhandarkar, Report (1897), p. xi.

इंद्र तृतीय के विरुद्ध युद्ध में हुई थी जिसने अपनी ओर से महोदय अथवा कान्यकुब्ज पर विजय का दावा किया है।[1] प्रस्तुत नाटककार का एक नामांतर **क्षेमेंद्र** है, परंतु उसे इस नाम के काश्मीरी कवि (क्षेमेंद्र) से अभिन्न नहीं मानना चाहिए। उनके प्रपितामह **विजयकोष्ठ** अथवा **विजयप्रकोष्ठ** को 'आर्य' अथवा 'आचार्य' कहा गया है, अतएव वे किसी-न-किसी प्रकार के पंडित थे।

क्षेमीश्वर के दो रूपक उपलब्ध हैं। सात अंकों के **नैषधानन्द**[2] में इतिहास-काव्य तथा परवर्ती साहित्य में विख्यात नलोपाख्यान का वर्णन है। **चण्डकौशिक**[3] में **हरिश्चंद्र** की कहानी है। वे यह समझ कर कि एक युवती का वलिदान किया जा रहा है **कौशिक विश्वामित्र** की भर्त्सना करते हैं। अपने इस साहसपूर्ण कार्य के फलस्वरूप वे चंड (क्रोधी) ऋषि के द्वारा अभिशप्त होते हैं। **हरिश्चंद्र** अपना राज्य और एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देकर क्षमा प्राप्त करते है। मुद्राओं की प्राप्ति के लिए वे अपनी धर्मपत्नी और पुत्र को एक ब्राह्मण के हाथ वेचते हैं, और अपने को एक चांडाल के हाथ बेच कर श्मशान के पहरेदार वनते हैं। एक दिन उनकी धर्मपत्नी अपने वालक के शव को लेकर आती हैं, परंतु यह घटना उनके चरित्र की परीक्षा के रूप में परिणत होती है। वालक पुनर्जीवित होता है और उसका राज्याभिषेक किया जाता है। इस नाटक का कथानक शिथिल है और उसी प्रकार प्रबंध-रचना भी। **क्षेमीश्वर** ने **शिखरिणी** छंद के प्रयोग मे विशेष रुचि दिखलायी है। **शार्दूलविक्रीडित** (२३) के लगभग ही उसका २० वार प्रयोग हुआ है, और **वसंत-तिलक** का २७ वार तथा **श्लोक** का ३६ वार। उनकी प्राकृतें (**शौरसेनी** और **महाराष्ट्री** के कतिपय पद्य) कृत्रिम हैं।

सुभाषितसंग्रहकारों ने **क्षेमीश्वर** को महत्त्वहीन समझा है। इसके लिए पर्याप्त कारण है, क्योंकि उनके पद्य साधारणता से ऊपर नहीं उठ पाते। **नैषधानन्द** के तीन मंगल-श्लोकों में से दूसरे की विषयवस्तु सामान्य है, परंतु उसकी अभिव्यंजना असुंदर नही है। इसकी योजना उस युग में प्रचलित निष्पक्षता के साथ **पुरुषोत्तम** और **श्री** की स्तुति के एक पद्य के वाद की गयी है—

---

१. देखिए—प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ २५२ की पाद-टिप्पणी.

२. Peterson, Reports, iii. 340 f.

३. Ed. Calcutta, 1884; trs. L. Fritze, Leipzig, 1883. उसी विषय पर लिखित **रामचंद्र** का **सत्यहरिश्चन्द्र** (वारहवीं शती) है; देखिए—Keith, JRAS 1914, pp. 1104 f.

अस्थि ह्यस्थि फणी फणी किमपरम् भस्म भस्मैव त-
च्चर्मैव चर्म किं तव जितं येनैवमुत्ताम्यसि ।
नैतां धूर्त पणीकरोषि सततम् मूर्ध्नि स्थितां जाह्नवी-
मित्येवं शिवया सनर्मगदितो द्यूते हरः पातु वः ॥

'कपाल कपाल ही है, सर्प सर्प ही है, अधिक क्या कहा जाए ? भस्म भी भस्म ही है और तुम्हारा वस्त्ररूप चर्म भी चर्म ही है। तुम्हारी कौन-सी वस्तु जीत ली गयी जिसके कारण इतने अधीर हो रहे हो ? धूर्त ! तुम अपने शीश पर सदैव स्थित इस गंगा की बाजी नहीं लगाते हो। शिव तुम्हारी रक्षा करें, शिव जिनसे भवानी ने द्यूत-क्रीड़ा के समय इस प्रकार के वचन कहे थे।'

अपनी मुंडमाला और सर्प-हार तथा भस्म और चर्म के वस्त्र की बाजी हार जाने पर शिव की आगे जुआ न खेलने की इच्छा के विषय में किया गया यह परिहास रमणीय है। इसके पश्चात्, उनके इतिवृत्त के महान् क्षणों का निर्देश करते हुए, तांडव-नृत्य में निरत महादेव के दृष्टि-निक्षेप की नीरस प्रशस्ति है। उसी प्रकार की निकृष्ट रुचि नाटक के अंतिम पद्य के विचित्र तथा रीति-विरुद्ध रूप में दृष्टिगोचर होती है—

येनादिश्य प्रयोगं घनपुलकभृता नाटकस्यास्य हर्षाद्
वस्त्रालंकारहेम्नाम् प्रतिदिनमकृशा राशयः संप्रदत्ताः ।
तस्य क्षत्रप्रसूतेर्भ्रमतु जगदिदं कार्त्तिकेयस्य कीर्तिः
पारे क्षीराम्बुसिन्धो रविकवियशसा सार्धमग्रेसरेण ॥

'जिसने इस नाटक को अभिनीत करने का आदेश दिया और उसके प्रेक्षण से पुलकित एवं आनंदित होकर ढेर-के-ढेर वस्त्राभूषण तथा स्वर्णराशि प्रतिदिन प्रदान की उस क्षत्रियकुलोत्पन्न कार्तिकेय की कीर्ति क्षीरसागर को पार कर के आगे-आगे चलने वाले रविरूपी कवि के यश के साथ संपूर्ण विश्व में भ्रमण करे।' अपने को और अपने आश्रयदाता को इस प्रकार अमरत्व प्रदान करने के ढंग को यथार्थतः गौरवान्वित मानना कठिन है, और यह निश्चित रूप से नाटक की परंपरा के अनुरूप नहीं है।

: ११ :

संस्कृत-नाटक की अवनति

१. रूपक का ह्रास

मुरारि और **राजशेखर** के प्रसंग में रूपक को वास्तविक नाट्य-गुणों से वंचित करने वाली प्रक्रिया का दिग्दर्शन किया जा चुका है। प्राचीनतर कवि वस्तुतः इतिहास-काव्य के प्रभाव में थे। वे दरबारी कविता के वातावरण में रहते थे। अतः उनकी रचनाओं में इतिहासकाव्यात्मक और प्रगीतात्मक पद्यों के अंतर्निवेश की प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। उनकी नाटकीय सहजबुद्धि को इस प्रवृत्ति के विरुद्ध सदैव संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने रूपक पर पड़ने वाले विनाशकारी प्रभाव की उपेक्षा की। यदि रंगमंच अधिक लोकधर्मी होता तो इस दोष का प्रतिकार संभव होता, परंतु तत्कालीन कवि जिन सामाजिकों से अनुमोदन की आशा करता था वे विद्वान् थे। वे काव्य-सौंदर्य और काव्य-दोषों का विवेचन करने के लिए कृतसंकल्प थे, और जैसा कि शास्त्रग्रंथों से सिद्ध होता है, उन्हें रूपक के यथार्थ स्वरूप का असाधारण रूप से नगण्य ज्ञान था।

इसमें संदेह नहीं कि अन्य तत्त्व भी रूपक की अवनति में सहायक हुए। उत्तर भारत में मुसलमानों का आक्रमण हुआ। उसका गंभीरतापूर्वक आरंभ ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। आरंभ में उसकी गति मंद थी। इसलिए नाट्य-कला की प्रगति पर उसका तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ सका। परंतु धीरे-धीरे हिंदू राजाओं के स्थान पर मुसलमान शासकों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। मुसलमानों के मन में रूपक से घनिष्ठतया संबद्ध जातीय धर्म के प्रभाव के प्रति घृणा और भय था। हिंदू राजा नाटककारों के उदार और कुशल संरक्षक थे। मुस्लिम शासन ने इस साहित्यिक रूप के संवर्धन पर अवश्य ही अवसादकारी प्रभाव डाला होगा। रूपक ने असंदिग्ध रूप से भारत के उन भागों में शरण ली जिनमें मुस्लिम शक्ति का प्रसार मंदतम था। परंतु उन भागों में भी मुस्लिम अधिपतियों का आधिपत्य हो गया, और परिस्थिति नाटक की रचना एवं अभिनय के उपयुक्त नहीं रही, जब तक कि पुनरुज्जीवित हिंदू जाति ने भारतीय राष्ट्रीय भावना की पुनःस्थापना नहीं की, और प्राचीन राष्ट्रीय गौरव के उद्धार को प्रोत्साहन नहीं दिया।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारण भी था। नाटक की भाषाओं और यथार्थ जीवन की भाषाओं का अंतर बढ़ता जा रहा था। कल्पना की जा सकती है कि **भास** के समय में और यहाँ तक कि **कालिदास** के समय में भी संस्कृत तथा प्राकृत में लिखित नाटकों की प्रमुख विशेषताओं को समझने में बहुत अधिक कठिनाई नहीं थी। परंतु लोक-भाषाओं और पंडितों की भाषाओं का अंतर प्रतिवर्ष बढ़ता गया। जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने असंदिग्ध पांडित्य के बावजूद भी **राजशेखर** अपनी प्राकृतों में विभेद नहीं कर सके। इससे यह मत किसी प्रकार असिद्ध नहीं होता कि **सोमदेव** के **ललितविग्रहराजनाटक** का **हेमचंद्र** के व्याकरण में प्रतिपादित भाषा के साथ घनिष्ठ संबंध सूचित होता है। वह ग्रंथ इस नाटक से पहले की कृति है और उसका निर्माण **अण्हिलवाड** के दरबार में हुआ था, जिसका **संभार** से घनिष्ठ संबंध था जहाँ **सोमदेव** का निवास था। इस बात में संदेह नहीं कि **हेमचंद्र** के व्याकरण की प्रतियाँ कृत्रिम प्राकृत की रचना के लिए उपलब्ध थीं।

स्पष्ट है कि ४०० ई० की अपेक्षा १००० ई० में संस्कृत और प्राकृत में रचना बिलकुल भिन्न वस्तु थी, जब कि जनपदीय भाषाएँ साहित्यिक रूप प्राप्त करने लगी थीं। प्रभावशाली ढंग से रचना की कठिनाई दिनोंदिन बढ़ती गयी। इस कठिनाई का एक और कारण था। इस बात का अनुभव किया जाने लगा था कि नवीन परिस्थितियों में नाटकों की रचना द्वारा यशःप्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि उनके दर्शक जनसाधारण नहीं है और सामाजिकों का क्षेत्र बिलकुल संकुचित है। आश्चर्य की बात है कि शताब्दियों तक बहुत काफ़ी संख्या में संस्कृत-नाटकों का निर्माण होता रहा। इसकी पुष्टि हस्तलिखित प्रतियों के अस्तित्व से होती है। परंपरा की शक्ति इतनी प्रबल थी कि जब बिहार के **विद्यापति ठाकुर** ने नाटक में देशभाषा के अंतर्निवेश का प्रथम प्रयत्न किया तब उसने ऐसी रचना का रूप धारण किया जिसके पात्र संस्कृत तथा प्राकृत का प्रयोग करते हैं और केवल गीत ही **मैथिली** में है। संस्कृत-नाटक का प्राबल्य इतना शक्तिशाली रहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में पहुँच कर ही जनपदीय भाषा का नाटक **हिंदी** में प्रकट हुआ, और सामान्यतया पिछले कुछ समय से ही जनपदीय भाषाओं में नाटक अभिव्यंजना का माध्यम समझा जाने लगा है। परंतु कृत्रिम भाषाओं में की गयी रचना ने नाटककारों पर कुप्रभाव डाला है। उनकी रचनाएँ **लैटिन** और **ग्रीक** पद्यों की आधुनिक अनुकृतियों का स्मरण दिलाती है। खेद का विषय है कि सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर प्रतीत होने वाली उनकी सारी युक्तियाँ मृत भाषाओं में नाटक ही नहीं, यथार्थ काव्य के निर्माण की असंभवता सूचित करती है। इस विषय

में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्तरकालीन नाटकों में सर्वाधिक रोचक नाटक **कृष्णमिश्र** का **प्रबोधचन्द्रोदय** है, जो दार्शनिक विषय पर लिखित एक साध्यवसान रूपक (allegory) है। उसके पात्रों ने अभिव्यंजना के माध्यम के रूप में संस्कृत पर अपना अधिकार जताया है। इस प्रकार लेखक की संस्कृत शास्त्रार्थ में स्वभावतः प्रयुक्त माध्यम का प्रतिनिधान करती है और प्रतिपाद्य विषय के सर्वथा उपयुक्त है।

पूर्ववर्ती युगों में नाटकीय सिद्धांतों का नाटककारों के मन पर गहरा प्रभाव था। इस युग में उनका प्रभाव अनिवार्यतः और भी अधिक हो गया। यही कारण है कि हमें रूपक के उन विरल प्रकारों के कतिपय नमूने उपलब्ध होते हैं जो संस्कृत-रूपक के अत्यल्प अवशेषों में प्रतिनिहित (represented) नहीं है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि ये प्रकार पहले के नाटककारों में लोकप्रिय थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये विधाएँ **नाट्यशास्त्र** के वर्तमान रूप प्राप्त करने के पहले प्रचलित थीं, किंतु आभिजात्य नाटक ने उन्हें अनुपयुक्त समझ कर उनका तिरस्कार किया। उन प्रकारों के नमूने भी पाये जाते है जिनका आभिजात्य नाटक के युग में विधिवत् निर्माण होता रहा होगा, परंतु जिनकी प्रतिनिधि रचनाएँ उपलब्ध साहित्य में नहीं पायी जातीं। अंत में, हमें नये रूपों के नमूने भी मिलते हैं, जो अधिक लोकप्रिय जन-मंडलों में विकसित नाटकीय रूपों को संस्कृत में अंतर्निविष्ट करने के प्रयत्न के परिणाम हैं।

२. नाटक

रूपक के संपूर्ण अभिजातोत्तर (post-classical) युग में नाटक नाट्यकला के उच्चतर रूप का स्वाभाविक आदर्श रहा है। उसके स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दिखायी देता। उन नाटकों में उन विशेषताओं का क्रमशः विकास हुआ है जिनके निर्माण की पूर्ण प्रगति **मुरारि** और **राजशेखर** के नाटकों में पायी जाती है—वर्णन के सामने व्यापार गुणीभूत है, वर्णन भी शब्दाडंबर और शैली का व्यायाम मात्र रह गया है।

अवनति का लक्षण **प्रसन्नराघव**[1] में काफी स्पष्ट है। सात अंकों के इस नाटक में **महादेव** और **सुमित्रा** के पुत्र, **बरार** के **कुंडिन** के निवासी, तार्किक **जयदेव** (लग-

१. Ed. Bombay, 1894; Poona, 1894; मिला कर देखिए—Baumgartner, Das Rāmāyaṇa, pp. 129 ff.

भग १२०० ई०) ने **रामायण**[1] की कहानी का पुनः वर्णन करने का प्रयास किया है। पहले अंक मे **याज्ञवल्क्य** का एक शिष्य आता है, और दो भौरों द्वारा नेपथ्य मे किये गये संवाद को दुहराता है। **सीता** के पाणिग्रहण के लिए **बाण रावण** का प्रतिद्वंद्वी है। तदनंतर दो वदीजन आकर नायिका के उन अभिलाषियों का वर्णन करते है। बीच ही मे एक स्थूल ओर उद्धत व्यक्ति आकर उनका अपमान करता है और चढाये जाने वाले धनुष पर उपेक्षापूर्ण दृष्टि डालता हे। ऐसा लगता है कि वह बलपूर्वक पुरस्कार पर अधिकार करेगा। वदीजन उसे शात करते है, परतु वह अपने दस शिरों सहित **रावण** का दानव-रूप धारण करता है। तब **बाण** आता है, धनुष को चढाने का निष्फल प्रयास करता हे, **रावण** का तिरस्कार करता है और चला जाता है। दूसरे अक मे एक हास्यजनक दृश्य है जिसमे **राम सीता** और उनकी सखियो को देखते है। **सीता** और **राम** वासती लता तथा आम के संयोग की सुंदरता का वर्णन करते हे। यह उनके भावी मिलन की ओर निर्देश करता है। आमने-सामने होने पर वे प्रणय-निवेदन करते है। तीसरे अंक मे **विश्वामित्र, शतानंद, जनक, दशरथ, राम** और **लक्ष्मण** के परस्पर स्तुतिवचनों की असह्य शृंखला मिलती है। **विश्वामित्र राम** को **शिव**-धनुष चढाने का आदेश देते है, यद्यपि **परशुराम** का सदेश इस प्रकार के अपमान को रोकना चाहता है। धनुष टूटने पर आनद छा जाता हे, ओर विवाह सपन्न होता हे। चौथे अंक मे स्वयं **परशुराम** का आगमन होता हे। **राम-लक्ष्मण**-संवाद में अनके अद्‌भुत कार्यो का निरूपण है। उन दोनो से उनकी भिडत होती है, कटु वचनो का आदान-प्रदान होता हे। **जनक, शतानंद** और **विश्वामित्र** उन्हे युद्ध से विरत करने का उद्योग करते ह। परतु उनके द्वारा **विश्वामित्र** के अपमान के कारण **राम** का धैर्य छूट जाता हे। वे युद्ध करते हैं। **राम** विजयी होते है, परतु अपने प्रतिद्वंद्वी के चरणो पर गिर कर आशीर्वाद माँगते है। पाँचवे अक मे हमे एक नवीन और चित्रमयी सकल्पना मिलती हे जो नाटक से पूर्णतः अलग हे। अपने भाई **सुग्रीव** को निर्वासित करने वाले **वाली** के कार्य मे खिन्न **यमुना** अपने शोक का **गंगा** से वर्णन करती हे। **सरयू** भी आ जाती है और **राम** के वन-गमन तक की गति का समाचार देती हे। उसका नीलकठ आकर कथा

---

१. मिला कर देखिए—सुभाषितावलि, pp. 38 f; Keith, Indian Logic, pp. 33 f. Lévi (TI. ii. 48) और Konow (ID. p. 88) के बावजूद, स्पष्ट है कि उक्त नाटक और **महानाटक** के उभयनिष्ठ पद्य प्राचीनता के प्रमाण नहीं है। वे मुरारि के परवर्ती हैं; Hall का (DR. p. 36 n) यह अनुमान ठीक नहीं है कि दशरूप (२/१०) की टीका मे जयदेव का निर्देश हे। **रसार्णवसुधाकर** (लगभग १३३० ई०), iii. 171 f., और **शार्ङ्गधरपद्धति** को उनकी जानकारी है.

को आगे बढ़ाता है जहाँ **राम** स्वर्ण-मृग का पीछा करने के लिए प्रस्थान करते हैं। चिंतित नदियाँ समाचार जानने के लिए शीघ्रता से सागर के पास जाती हैं। वे देखती हैं कि **गोदावरी** सागर से वार्तालाप कर रही है। वह **सीता** के हरण, **जटायु** की मृत्यु, **सीता** के आभूषणों के गिरने और उनके **ऋष्यमुख** पर ले जाये जाने का वर्णन करती हैं। **तुंगभद्रा** वहाँ पहुँच कर आगे की कथा सुनाती है; **राम** ने **बाली** का वध किया है और **सुग्रीव** तथा **हनुमंत** से मैत्री की है। अचानक एक विशाल पिंड सागर के ऊपर से उड़ता है। क्या यह **हिमालय** है ? क्या **विंध्य** है ? सागर उसे देखने के लिए बाहर जाता है और नदियाँ उसका अनुगमन करती हैं। छठे अंक में हम देखते हैं कि शोक ने **राम** को पागल बना दिया है। वे पक्षियों से, चंद्रमा से अपनी प्रिया के विषय में पूछते हैं। सौभाग्य से दो विद्याधर मायाशक्ति के द्वारा उन्हें लंका की घटनाएँ दिखलाते हैं; **सीता** प्रकट होती हैं; वे शोकाकुल हैं कि कहीं **राम** के मन में शंका तो नहीं है या वे अनुरागरहित तो नहीं हो गये हैं; **रावण** उनका प्रेम चाहता है; वे उससे घृणा करती हैं; क्रुद्ध हो कर वह उन्हें मारने को कृपाण के लिए हाथ बढ़ाता है, परंतु वहाँ **हनुमंत** के द्वारा मारे गये अपने पुत्र **अक्ष** का सिर पाता है। ये वही **हनुमंत** है जिन्होंने कूद कर समुद्र पार किया और लंका पर आक्रमण किया। **सीता** हताश हैं; वे चिता में भस्म हो जाने का प्रयत्न करती हैं, परंतु अंगार मोती में परिणत हो जाता है। **राम** के पत्नीव्रत का समाचार सुना कर **हनुमंत** उन्हें आश्वस्त करते हैं। सातवें अध्याय में **प्रहस्त रावण** को एक चित्र देता है। यह चित्र **माल्यवंत** ने भेजा है जिसमें शत्रु के आक्रमण और सेतु का विवरण प्रदर्शित किया गया है। **रावण** उसे चित्रकार की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ मानने से इनकार करता है। उसकी पत्नी **मंदोदरी** आती है। उसने द्व्यर्थक भविष्यवाणी सुनी है जो उसको और **प्रहस्त** को भी भयभीत कर देती है, किंतु **रावण** उसे हँस कर उड़ा देता है। *तथापि, अंततोगत्वा वह अनुभव करता है* कि नगर पर आक्रमण हो गया है। वह **कुंभकर्ण** और **मेघनाद** को भेजता है। वे मारे जाते हैं। अंत में वह स्वयं निकलता है और मारा जाता है। एक विद्याधर और विद्याधरी ने उसकी मृत्यु का वर्णन किया है। तदनंतर **राम, सीता, लक्ष्मण, विभीषण** और **सुग्रीव** आते हैं। वे सब बारी-बारी से सूर्यास्त और चंद्रोदय का वर्णन करते हैं। वे विमान में सवार होते हैं, उत्तर की ओर यात्रा करते हुए जिन प्रदेशों के ऊपर से गुजरते हैं उनकी कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन करते हैं, और फिर विधिपूर्वक सूर्योदय का वर्णन करते हैं।

उक्त रूपक परवर्ती नाटक का उपलक्षक (typical) है। उसकी एक विशिष्टता पाँचवाँ अंक है जिसमें सागर के चारों ओर समवेत नदियों का दृश्य

प्रभावशाली झांकी (tobleau) के लिए अद्भुत अवसर प्रदान करता है, किंतु नाटकीय व्यापार से उसका कोई तालमेल नहीं है। परिपाटी के अनुसार, लंबे छंदों में लेखक की विशेष रुचि है। हाँ, वसंततिलक उसका प्रिय छंद है। उसके बाद शार्दूलविक्रीडित, श्लोक, शिखरिणी और स्रग्धरा का स्थान है। उसने निश्चित रूप से स्वागता में रुचि दिखलायी है जिसका राजशेखर और महानाटक में कुछेक बार प्रयोग हुआ है, किंतु जो पहले के नाटकों में प्रयुक्त नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में विद्यमान एवं अनेक निकृष्ट ग्रंथों के रचयिता रामभद्र दीक्षित के बहुत लोकप्रिय राम-विषयक नाटक जानकीपरिणय[1] की अपेक्षा यह नाटक श्रेष्ठ है। राम-विषयक ज्ञात नाटकों की संख्या बहुत बड़ी है, परंतु उनमें से कोई भी उत्कृष्ट गुणों वाला नहीं है। दशरूप की वृत्ति में छलितराम का उल्लेख है जिसका रचनाकाल संभवतः १००० ई० है, परंतु उसके परिरक्षित होने में संदेह है। रामभद्र दीक्षित के समसामयिक, कृष्ण सूरि के पुत्र, महादेव का अद्भुतदर्पण[2] उपलब्ध है। वह जयदेव से इस बात में प्रभावित है कि उसमें माया के द्वारा लंका की घटनाएँ घटित होती हुई दिखलायी गयी है। उसके दस अंकों में रावण के पास अंगद के दूत बन कर जाने से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का ही वर्णन है। राम-विषयक नाटकों के नियम के विरुद्ध उसमें विदूषक की भी योजना की गयी है।

कृष्णोपाख्यान ने, असंदिग्ध रूप से, कम ध्यान नहीं आकृष्ट किया। केरल के राजा रविवर्मा (जन्म १२६६ ई०) ने प्रद्युम्नाभ्युदय[3] की रचना की। हुसेन शाह के मंत्री रूप गोस्वामी ने चैतन्य के भक्ति-आंदोलन का पोषण करते हुए १५३२ ई० के लगभग राधा-कृष्ण के प्रेम पर क्रमशः सात और दस अंकों में विदग्धमाधव[4] तथा ललितमाधव[5] लिखा। अकबर के मंत्री टोडरमल के पुत्र के लिए शेषकृष्ण ने कंसवध[6] लिखा। इसके सात अंकों में भास के बालचरित तथा उनके अन्य राम-विषयक रूपकों की प्रतिपाद्य वस्तु का निरूपण है। त्रावनकोर के रामवर्मा (१७३५-८७) के रुक्मिणीपरिणय[7] का वर्ण्य विषय कृष्ण के द्वारा रुक्मिणी की प्राप्ति है। सामराज दीक्षित द्वारा १६८१ ई० में लिखित श्रीदामचरित[8] में अपने एक दरिद्र मित्र के प्रति कृष्ण की अद्भुत उदारता का वर्णन है।

---

१. Ed. Madras, 1892; trs. by L. V. Ramachandra Aiyar, Madras, 1906.
२. Ed. KM. 1896.
३. Ed. TSS. 1910.
४. Ed. KM. 1903.
५. Ed. Murśidābād, 1880 f.
६. Ed. KM. 1888.
७. Ed. KM. 1894.
८. Wilson, ii. 404.

महाभारत पर आधारित नाटकों की संख्या निश्चित रूप से अपेक्षाकृत कम है। काश्मीर के महोत्साही **क्षेमेंद्र** का **चित्रभारत** (ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल) उपलब्ध नहीं है। केरल के राजा **कुलशेखर वर्मा** के **सुभद्राधनंजय** और **तपसीसंवरण**[1] संभवतः उसी शताब्दी की रचनाएँ हैं। चंद्रावती के राजा **धारावर्ष** के भाई युवराज **प्रह्लादनदेव** का व्यायोग **पार्थपराक्रम**,[2] (जिस पर आगे विचार किया जाएगा) लगभग १२०० ई० की रचना है।

अन्य पौराणिक विषयों पर लिखित नाटकों में से चह्वाणराज **वीसलदेव विग्रहराज** का **हरकेलिनाटक**[3] उपलब्ध है। उनका ११६३ ई० का एक शिलालेख पाया जाता है, और उनकी कृति शिलालेख के रूप में अंशतः परिरक्षित है। कोंडवीडु के रेड्डि राजा **वेम** के शासनकाल में १४०० ई० के आसपास **वामन भट्ट बाण** ने **पार्वतीपरिणय**[4] लिखा। भ्रांतिवश **बाण** की कृति समझी जाने के कारण उस रचना को ख्याति प्राप्त हुई। नेपाल के **जगज्ज्योतिर्मल्ल** (१६१७-३३) का **हरगौरीविवाह**[5] रोचक है, क्योंकि यह रूपक की अपेक्षा सांगीत (opera) अधिक है और जनपदीय भाषा के पद्य ही उसके स्थिर तत्त्व हैं, परंतु इसको उसका आदिकालीन लक्षण नहीं माना जा सकता।

साहसिक कार्यों से संबद्ध कथा के पात्रों को नायक-रूप में अंकित करने वाले नाटकों में से नेपाली कवि **मणिक** का **भैरवानन्द**[6] उपलब्ध है जो चौदहवीं शताब्दी के अंत की रचना है। उसके कम-से-कम एक शताब्दी बाद का **हरिहर**-कृत **भर्तृहरि-निर्वेद**[7] है, जो महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें **भर्तृहरि** की लोकप्रियता प्रदर्शित की गयी है। उनकी अपनी मृत्यु के मिथ्या प्रवाद के कारण निराश पत्नी की मृत्यु से वे शोकमग्न हैं। एक योगी से आश्वासन पाकर उनके मन में वैराग्य का उदय होता है, यहाँ तक कि अपनी पुनर्जीवित पत्नी और बच्चे के प्रति भी वे आकृष्ट नहीं होते।

---

१. Ed. TSS. 1912 और 1911.

२. Ed. GOS. 1917.

३. Kielhorn, Bruchstücke indischer Schauspiele, Berlin, 1901.

४. Ed. R. Schmidt, Leipzig, 1917; trans. K. Glaser, Treste, 1886. मिला कर देखिए—GIL. iii. 248, n. 4.

५. Lévi, Le Népal, ii. 242.

६. Haraprasād, Nepal Catal., p. xxxvii.

७. Ed. KM. 1900; trs. L. H. Gray, JAOS. xxv. 197 ff.

हुआ। तेजःपाल इन शत्रुओं के विरुद्ध भी सफलता का विश्वास दिलाता है। चौथे अंक के अर्थोपक्षेपक दृश्य में दो गुप्तचरों कुवलयक और शीघ्रक के कथोपकथन से वस्तुपाल के कार्य की सूचना मिलती है, उसने एक झूठे समाचार से बगदाद के खलीफा को उकसाया है जिससे वह खर्पर खाँ को आदेश करे कि वह मीलच्छ्रीकार को बंदी बना कर उसके पास भेज दे और, उसने तुरुष्कों के पराजित होने पर उनकी भूमि गुर्जर राजाओं को देने का वचन दे कर उन्हें अपनी ओर मिला लिया है। इसके अनंतर हम मीलच्छ्रीकार को अपने मंत्री गोरी ईसप के साथ परिस्थिति पर विचार-विमर्श करते हुए पाते हैं। एक ओर खर्पर खाँ और वीरधवल उस पर जोर डालते हैं। वह पीछे लौटने की बात सोचने से भी इनकार करता है, परंतु वीरधवल की सेना के आगमन के पहले ही भाग जाता है। अपने शत्रुओं को न पकड़ पाने से वह खिन्न है, किंतु आवेश में आकर पीछा करने के विरुद्ध वस्तुपाल की सलाह के अनुसार आज्ञापालन करता है। पाँचवें अंक में राजा विजय के साथ लौटता है और अपनी पत्नी जयतलदेवी से मिलता है। वह और वस्तुपाल तथा तेजःपाल एक-दूसरे का अभिनंदन करते हैं। पता चलता है कि वस्तुपाल ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया है। उसने मीलच्छ्रीकार के गुरुओं रदी और कदी को बगदाद से लौटते समय रोक लिया है और उनको बचाने के लिए उसे मैत्री-संबंध स्थापित करने के लिए मजबूर किया है। अंततः, राजा शिव के मंदिर में प्रवेश करता है। शिव स्वयं प्रकट हो कर उसे वरदान देते हैं। परंतु, वह अपने मंत्रियों के विषय में इतना भाग्यशाली है कि उसे औपचारिक रूप से कोई याचना नहीं करनी है।

इतिहास और काव्य किसी की भी दृष्टि से इस रचना में विशिष्ट गुण नहीं हैं। इसका मुख्य प्रयोजन वस्तुपाल और तेजःपाल की असीम प्रशस्ति है, और गौण रूप से उस राजा का गुणगान जिसके अनुचरों में इस प्रकार के बुद्धिमान् और कुशल आदर्शपुरुष विद्यमान हैं। परंतु, सच बात यह है कि इस कृति से लेखक के प्रशंसा-पात्रों की वास्तविक सफलता के विषय में अभीष्ट धारणा नहीं बन पाती। सच पूछिए तो उनकी छोटी-मोटी सफलताओं और बहुत-कुछ सुस्पष्ट राजनयिकता की धारणा उत्पन्न होती है। शैली, प्राकृत और छंद घिसे-पिटे हैं।

उसी प्रकार के कुछ नाटक परिरक्षित हैं।[1] गंगाधर के गंगादासप्रतापविलास[2]

---

१. कहा जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में तंजौर के चोल राजराज प्रथम के आदेश से शिव के मंदिर में राजराजनाटक का प्रतिवर्ष अभिनय किया जाता था, परंतु उसकी विषयवस्तु की कोई जानकारी नहीं है; H. Krishna Sastri in Ridgeway's Dramas, etc., p. 204.

२. India Office Catal., no. 4194.

में गुजरात के शाह मुहम्मद द्वितीय (१४४३-५२ ई०) के विरुद्ध एक चंपानीर राजा के संघर्ष का वर्णन है। क्षीण होने पर भी यह धारा लक्ष्मण सूरि के डिल्लीसाम्राज्य[1] (१९१२) तक निरंतर प्रवाहित रही है।

अँगरेजी नाटक का रूपांतर आर० कृष्णमाचारी द्वारा किये गये Midsummer Night's Dream के रूपांतर वासन्तिकस्वप्न[2] में द्रष्टव्य है।

३. साध्यवसान (Allegorical) नाटक

कहा नहीं जा सकता कि कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय[3] नाटक के उस रूप का (जो अश्वघोष के समय से ही एक छोटे पैमाने पर प्रयुक्त होता रहा) पुनरुज्जीवन है अथवा एक सर्वथा नवीन रचना है (जिसका होना सहज संभव है)। जो भी हो, उनकी कृति का ठीक-ठीक काल-निर्धारण किया जा सकता है। इसका अभिनय किसी गोपाल के लिए जेजाकभुक्ति के चंदेल राजा कीर्तिवर्मा की उपस्थिति में किया गया गया था जिसका १०९८ ई० का अभिलेख उपलब्ध है। पता चलता है कि गोपाल ने १०४२ ई० में विद्यमान (चेदि के) कर्ण द्वारा पराजित कीर्तिवर्मा को उसका राज्य लौटा दिया था, परंतु हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि वह एक सेनापति था। छः अंकों के इस नाटक में वैष्णवमत के अद्वैत-सिद्धांत का पक्षपोषण किया गया है उसमें वैष्णवधर्म के साथ वेदांत का समन्वय है।

परमार्थतत्त्व (पुरुष) वस्तुतः एक है, परंतु माया से उसका संयोग होता है। उसका पुत्र है—मन। उसके दो पुत्र हैं—विवेक और महामोह। महामोह के वंशजों की शक्ति बहुत बढ़ गयी है। इससे विवेक और उसकी संतानों के लिए भय उत्पन्न हो गया है। नाटक के आरंभ में रति के साथ वार्तालाप करते हुए काम ने यह बात बतलायी है। काम को विश्वास है कि उसने अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए काफी कार्य कर लिया है। केवल एक खतरा उस भविष्यवाणी से है जिसके अनुसार विवेक एवं उपनिषद् के संयोग से प्रबोध का उदय होगा, परंतु वे दोनों बहुत समय से अलग हैं और उनके पुनर्मिलन की संभावना नहीं है। तथापि, अपनी एक पत्नी मति के साथ बात करते हुए राजा विवेक

---

१. Ed. Madras, 1912. २. Kumbhakonam, 1892.

३. Ed. Bombay, 1898; trs. J. Taylor, Bombay 1893. मिला कर देखिए— J.W. Boissevain, प्रबोधचन्द्रोदय, Leiden, 1905.

के वहाँ पहुँचने के पहले ही वे दोनों भाग जाते हैं। **विवेक** को यह जान कर प्रसन्नता होती है कि **मति** उसके तथा **उपनिषद्** के पुनर्मिलाप के पक्ष में है, और इस कार्य को संपन्न कराने के लिए उद्यत है। दूसरे अंक में ज्ञात होता है कि **महामोह** अपने राज्य-नाश के भय से आतंकित है। वह **दंभ** के द्वारा पृथ्वी के सबसे बड़े मुक्तिस्थान **काशी** पर तुरंत अधिकार करने का प्रयत्न करता है। **दंभ** का पितामह **अहंकार काशी** पहुँचता है और वहाँ पर अपने संबंधियों को देख कर प्रसन्न होता है। **महामोह** विजेता के ठाटबाट से नयी राजधानी में प्रवेश करता है। देहात्मवादी **चार्वाक** उसका पक्षपोषण करता है। परंतु एक बुरा समाचार है, **धर्म** ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया है। **उपनिषद्** सोचती है कि **विवेक** से फिर मेल कर ले। **महामोह** अपने मुँहलगे पुरुषों को **श्रद्धा** की पुत्री **शांति** को कारागार में डाल देने की आज्ञा देता है, और **मिथ्यादृष्टि** को आदेश करता है कि **उपनिषद्** और **श्रद्धा** अलग कर दी जाएँ। तीसरे अंक में **शांति** अपनी सखी **करुणा** के सहारे आती है। वह अपनी माँ **श्रद्धा** के वियोग में शोकाकुल है, यहाँ तक कि आत्महत्या की बात सोचती है। **करुणा** उसे इस भावना से विरत करती है। वह दिगंबरजैनधर्म, बौद्धधर्मदर्शन और सोम-सिद्धांत में **श्रद्धा** की निष्फल खोज करती है, उनमें से प्रत्येक एक पत्नी के साथ दिखायी देता है जिसको वह **श्रद्धा** कहता है। परंतु, **शांति** उन विकृत रूपों में अपनी माँ को नहीं देखती। बौद्धमत (भिक्षु) और जैनमत (क्षपणक) झगड़ते हैं। सोम-सिद्धांत (कापालिक) आता है और उन्हे सुरारस से मत्त कर के **श्रद्धा** की पुत्री **शांति** को खोजने के लिए उनको साथ लेकर चल देता है। चौथे अंक में अत्यंत दुःखी **श्रद्धा** एक विपत्ति का वर्णन करती है, वह और **धर्म** एक महाभैरवी के चंगुल से बच कर निकल आये हैं। यदि **विष्णुभक्ति** की सहायता न मिलती तो वह उनको खा गयी होती। **विष्णुभक्ति** ने उन्हें बचा लिया है। वह विवेक के पास युद्ध आरंभ करने का संदेश लाती है। **विवेक** अपने नायकों **वस्तुविचार, क्षमा, संतोष** आदि को संगठित करता है, और स्वयं **काशी** पहुँचता है जिसका वह वर्णन करता है। पाँचवें अंक में युद्ध समाप्त हो गया है। **महामोह** और उसकी संतानें मर चुकी हैं। परंतु, **महामोह** एवं **प्रवृत्ति** के निधन पर शोक करता हुआ **मन** उद्विग्न है। **वैयासिकी सरस्वती** (वेदांत-विद्या) आती है और उसके अंतःकरण को भ्रांति से मुक्त करती है। वह अपने अनुरूप पत्नी **निवृत्ति** के साथ वानप्रस्थ के रूप में शांतिपूर्वक रहने का संकल्प करता है। छठे अंक में विदित होता है कि समस्त प्राणियों का आदिपिता **पुरुष** अब भी **महामोह** के प्रभाव में है। मरने के पहले **महामोह** ने **मधुमती** को उसे भ्रांत करने के लिए भेजा था। उसकी सहचरी **माया** ने भी इस उद्योग में सहायता की। परंतु,

उसका मित्र तर्क उसकी भ्रांति के विषय में उसे सचेत करता है, और पुरुष उन सबको भगा देता है। हार्दिक शांति उपनिषद् और विवेक का पुनर्मिलन कराती है। वह यज्ञविद्या और मीमांसा तथा न्याय (तर्कविद्या) और सांख्य (निदिध्यासन) से संबद्ध अपनी विपत्तियों का वर्णन करती है, पुरुष को बतलाती है कि वह परमेश्वर है। यह तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि के लिए दुर्ग्राह्य है। इस कठिनाई को विद्या दूर करती है जो उस पुनःसंयुक्त दंपति (पुरुष एवं उपनिषद्) की अव्यवहित अतिप्राकृत (संकल्पजात) संतान है। विष्णुभक्ति आकर फलप्राप्ति की प्रशंसा करती है और नाटक समाप्त होता है।

नाटककार ने जिस कौशल के साथ महाभारत में वर्णित एकवंशीय जातियों के संघर्ष, और नाटिका के रीतिबद्ध कथानक तथा शृंगार रस का संमिश्रण किया है अथवा जिस युक्ति से वेदांत के ब्रह्मवाद एवं वैष्णव-भक्ति का सामंजस्य प्रस्तुत किया है उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। अहंकार और दंभ (जो पाखंड के पूरे नमूने हैं) के कथोपकथन में निश्चय ही कुछ हास्य है, और बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा सोम-सिद्धांत के दृश्य स्पष्टतया हास्यजनक हैं। परंतु, यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न व्यर्थ होगा कि इस रचना में नाटकीय गुण हैं। इसके मुख्य गुण इसके प्रभावशाली और भव्य पद्य हैं जिनमें नैतिक एवं दार्शनिक विषयों का निरूपण किया गया है। कृष्णमिश्र अपने प्रिय छंद शार्दूलविक्रीडित के सिद्ध रचनाकार हैं। उनके वसंततिलक तथा तुकांत प्राकृत-पद्य भी मार्मिक हैं।

कृष्णमिश्र के आदर्श की प्रेरणा से उस प्रकार के बहुसंख्यक नाटकों की रचना हुई, परंतु उनका महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। चौदहवी शताब्दी के वेंकटनाथ का संकल्पसूर्योदय[1] अत्यंत नीरस है, परंतु प्रसिद्ध चैतन्यचन्द्रोदय[2] से अच्छा है। कविकर्णपूर के चैतन्यचन्द्रोदय में चैतन्य की सफलता का वर्णन है, किंतु वह चैतन्य की आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यंजना में सर्वथा असफल है। वे एक गड्डमड्ड धर्मदर्शन के दीर्घश्वास-वक्ता के रूप में हमारे सामने आते है जो आज्ञापालक और मंदबुद्धि शिष्यों से घिरा हुआ है। दो शैव नाटक विद्यापरिणयन[3] और जीवा-

---

१. Ed. काञ्ची, 1914; tr. K. Narayanacharya and D. Raghunathaswamy Iyengar, Vol. i. Srirangam, 1917.

२. Ed. KM. 1906; Lévi, द्वारा विवेचित, TI. i. 237ff. रचनाकाल, लगभग १५५० ई०.

३. Ed. KM. 1893. दूसरी अनुकृति गोकुलनाथ-कृत अमृतोदय है, Haraprasād, Report (1901), p. 17.

नन्दन[1] सत्रहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में लिखे गये। उनमें कोई विशेषता नहीं है।

जैन साध्यवसान रूपक का अपेक्षाकृत प्राचीनकालीन उदाहरण **मोहराज-पराजय**[2] है। उसमें वर्णित है कि प्रसिद्ध साधु **हेमचंद्र** के प्रयत्नों के फलस्वरूप गुजरात का चालुक्य राजा **कुमारपाल** मत-परिवर्तन कर के जैन-धर्म में दीक्षित हुआ, उसने जीवहिंसा का निषेध किया, और अपने राज्य में लावारिस मरने वालों की संपत्ति को राज्यसात् करने की प्रथा बंद कर दी। उसके रचयिता **यशःदेव** मोढ बनिया जाति की **रुक्मिणी** और अमात्य **धनदेव** के पुत्र थे। वे चक्रवर्ती **अभयदेव** अथवा **अभयपाल** की सेवा में रहे जिसने **कुमारपाल** के बाद १२२९ ई० से १२३२ ई० तक राज्य किया। इस नाटक में पाँच अंक हैं, और राजा, हेमचंद्र तथा विदूषक को छोड़ कर सभी पात्र सत् एवं असत् गुणों के मानवीकृत रूप हैं। यह नाटक **कुमारपाल** के द्वारा **थारापद्र** में बनवाये गये महावीरविहार अथवा मंदिर में प्रतिमा-समारोह के अवसर पर खेला गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक **थारापद्र** का राज्यपाल या निवासी था।

नाटक का आरंभ नांदी से होता है। उसके तीन पद्यों में तीर्थंकरों **ऋषभ, पार्श्व** और **महावीर** की स्तुति है। तदनंतर सूत्रधार और उसकी पत्नी नटी का रूढ़िबद्ध संवाद है। उसके पश्चात् विदूषक के साथ **कुमारपाल** आता है। **मोहराज** की गति-विधि का समाचार लाने के लिए प्रेषित चर **ज्ञानदर्पण** प्रवेश करता है। वह सूचना देता है कि **मोहराज** ने **जनमनोवृत्ति** पर आक्रमण कर के सफलता प्राप्त की है, और उसके राजा **विवेकचंद्र** को विवश हो कर अपनी पत्नी **शांति** तथा पुत्री **कृपासुंदरी** के साथ भाग जाना पड़ा है। उसके बच निकलने का समाचार सुन कर **कुमारपाल** प्रसन्न होता है। वह चर **कुमारपाल** की पत्नी, और **सच्चरित्र** तथा **नीतिदेवी** की पुत्री **कीर्तिमंजरी** से मिलने का समाचार भी देता है। वह शिकायत करती है कि राजा एक जैन साधु के प्रयत्न के फलस्वरूप उससे तथा उसके भाई **प्रताप** से विमुख हो गया है। अतएव उसने **मोहराज** से सहायता माँगी है और वह **कुमारपाल** पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है। परंतु, वह चर उसके युद्ध-विजय-विषयक प्रश्न का उत्तर देते हुए दृढ़ता के साथ कहता है कि **मोहराज** पराजित हो कर रहेगा, और इस प्रकार उसे निराश करता है। राजा प्रतिज्ञा

---

१. Ed. KM. 1891 **विद्यापरिणय** के रचयिता (वेदकवि, नामतः आनंदराय) के विषय में देखिए—KM. xliv. Pref. p. 9.

२. Ed. Gaekwad's Oriental Series, no. ix. 1918.

करता है कि मैं **मोहराज** को उखाड़ फेकूँगा। वैतालिक घोषणा करते हैं कि उपासना का समय हो गया है। अंक समाप्त होता है।

प्रवेशक में राजा के अमात्य **पुण्यकेतु** के द्वारा ज्ञात होता है कि **हेमचंद्र** के आश्रम में पहुँच कर **विवेकचंद्र** राजा से मिला है जिसने उसकी पुत्री को स्नेह-दृष्टि से देखा है। दूसरे अंक में विदूषक के साथ राजा परंपरागत ढंग से छिप कर **कृपासुंदरी** तथा उसकी सखी **सोमता** की बातें सुनना चाहता है, और अंततोगत्वा उनसे वार्तालाप करता है। जैसा कि होता आया है, रानी **राज्यश्री** अपनी सहचरी **रौद्रता** के साथ बीच में आ धमकती है, और राजा उससे क्षमा-याचना का निष्फल प्रयत्न करता है। तीसरे अंक में **पुण्यकेतु** उन प्रेमियों के मार्ग की बाधा को एक चतुर युक्ति से दूर कर देता है। वह अपनी एक सेविका को उस देवी की मूर्ति के पीछे बैठा देता है जिसके पास जाकर रानी अपनी होने वाली सौत को विरूप कर देने का वरदान माँगने के लिए जाती है। इस प्रकार रानी को उपदेश मिलता है कि **कृपासुंदरी** के साथ विवाह कर के ही राजा **मोहराज** को पराजित कर सकता है। वह इस उपदेश को देवी का हस्तक्षेप समझती है, और **विवेकचंद्र** से उसकी कन्या के विवाह के विषय में प्रार्थना करने के लिए प्रेरित होती है। **विवेकचंद्र** सहमत हो जाता है, परंतु उसका आग्रह है कि उसकी कन्या को प्रसन्न करने के लिए सात व्यसन निर्वासित कर दिये जाएँ, और लावारिस मरने वालों की संपत्ति जब्त करने की प्रथा बंद कर दी जाए। रानी इस शर्त को स्वीकार कर लेती है। राजा भी सहमत हो जाता है, और अंक के अंत में वह मृत समझे जाने वाले **कुबेर** की संपत्ति छोड़ देता है। परंतु, **कुबेर** ठीक समय पर एक नववधू के साथ विमान द्वारा आ उपस्थित होता है।

सात व्यसनों के निर्वासन के विषय में जो वचन दिया गया था उसका चौथे अंक में पालन किया जाता है। आरंभ में **नगरश्री** और **देशश्री** की भेंट होती है। **देशश्री** को समझा-बुझा कर **नगरश्री** उससे जैनधर्म के सिद्धांतों को मनवाना चाहती है। तदनंतर **कृपासुंदरी** आती है। वह आखेटकों और मछली मारने वालों के कोलाहल से झुंझलायी हुई है। किंतु दांडपाशिक के आगमन से उसको आश्वासन मिलता है। दांडपाशिक सात व्यसनों को निर्वासित करने के कार्य में प्रवृत्त होता है। यद्यपि राजा के पूर्वाधिकारी से उन्हें अनुज्ञा प्राप्त थी, और वे राज्य को राजस्व देते हैं तथापि **द्यूत**, **मांस-भक्षण**, **मद्य-पान**, **मारि** (हत्या), **चौर्य** और **पारदारिकत्व** का निर्वासन अनिवार्य है; यदि **कृपासुंदरी** चाहे तो **वेश्याव्यसन** को बने रहने की अनुमति दी जा सकती है। पाँचवें अंक में राजा हेमचंद्र के **योगशास्त्र** (जो उसका कवच है) और **वीतरागस्तुति** (जो उसको अदृश्य रखती है) से सज्जित

हो कर **मोहराज** के रक्षित स्थानों का निरीक्षण करता है। अंत में वह प्रकट हो कर शत्रु के साथ युद्ध करता है और उस पर महान् विजय प्राप्त करता है। **विवेकचंद्र** को उसका राज्य वापस मिल जाता है। भरतवाक्य में राजा **जिन** और **हेमचंद्र** की प्रशंसा के साथ ही **कृपा** और **विवेकचंद्र** के घनिष्ठ योग की कामना करता है, और इस बात की आशा व्यक्त करता है कि 'मेरा यश, चंद्र के साथ मिल कर **मोह** के अंधकार को दूर करने में समर्थ बना रहे।'

यह नाटक निश्चय ही गुण-रहित नहीं है। इसका मुख्य गुण यह है कि इसकी रचना सरल संस्कृत में हुई है जो उन कूटयुक्तियों से मुक्त है जिनके कारण आडंबरपूर्ण नाटक विकृत हो जाते हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह **कुमारपाल** के राज्य का नियमन करने वाली जैनधर्म की गतिविधियों का स्पष्ट निदर्शन करता है। इससे गुजरात के इतिहास के विषय में अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। **जिनमंडन** के **कुमारपाल-प्रबन्ध** में अभिलिखित है कि **कृपासुंदरी** के साथ उक्त राजा का विवाह ११५९ ई० में हुआ। उसमें द्यूत-क्रीड़ा, शतरंज और पशुबलि के समर्थक संप्रदायों के रोचक विवरण दिये गये हैं। उसकी प्राकृतें **हेमचंद्र** के व्याकरण से अवश्य प्रभावित हैं, और उनके अंतगत **मागधी** तथा **जैन महाराष्ट्री** भी हैं।

४. नाटिका और सट्टक

नाटिका नाटक से तत्त्वतः भिन्न नहीं है, केवल अंकों की संख्या में अंतर है परंतु उसका प्रकार हर्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्श के साँचे में ही सीमित रहा है। **बिल्हण** की **कर्णसुन्दरी**' लगभग १०८०-९० ई० के समय की रचना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना **अणिहलवाड** के **कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल** (१०६४-९४) के संमान में, और उसकी वृद्धावस्था में कर्णाटराज **जयकेशी** की पुत्री **मियाणल्लदेवी** के साथ उसके विवाह का उत्सव मनाने के लिए की गयी थी। कहानी इस प्रकार चलती है। चालुक्यराज का विद्याधरों की राजकुमारी से विवाह होने वाला है। मंत्री उस राजकुमारी का अंतःपुर में प्रवेश करा देता है। राजा पहले उसे स्वप्न मे और फिर चित्र में देखता है। वह उस पर आसक्त हो जाता है। रानी को ईर्ष्या होती है। वह उनके मिलन में बाधा डालती है, और एक बार **कर्णसुंदरी** का वेष धारण कर के राजा के पास उपस्थित होती है। तदनंतर

१. Ed. KM. 1888. मिला कर देखिए— Keith: Sans. Lit., pp. 64 ff.

वह एक लड़के को **कर्णसुंदरी** की वेषभूषा में सजा कर उसके साथ राजा का विवाह करने का प्रयत्न करती है, परंतु मंत्री चतुरता से उस कल्पित बाला के बदले वास्तविक को प्रस्तुत कर देता है। अंत में रूढ़ि के अनुसार ही राजा की विजय का समाचार मिलता है। यह नाटक स्पष्टतया **कालिदास, हर्ष** और **राजशेखर** से गृहीत वस्तु की खिचड़ी है।

धारा के परमार **अर्जुनवर्मा** के गुरु **मदन बालसरस्वती** ने **विजयश्री** अथवा **पारिजातमञ्जरी**[1] की रचना की। यह चार अंकों की नाटिका है जिसके दो अंक **धारा** में शिलालेख के रूप में परिरक्षित हैं। चालुक्यराज **भीमदेव** द्वितीय पर विजय प्राप्त करने के उपरांत **अर्जुनवर्मा** के वक्षःस्थल पर एक माला गिरती है, और वह एक युवती के रूप में बदल जाती है। उसको कंचुकी के संरक्षण में सौंप दिया जाता है। वह चालुक्य-कन्या है। रीतिबद्ध घटनाक्रम के अनुसार राजा से उसका विवाह होता है। असंदिग्ध रूप से उसमें ऐतिहासिक निर्देश है; उसका रचना-काल तेरहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है।

अपेक्षाकृत कम साधारण नाटिका **मथुरादास**-रचित **वृषभानुजा**[2] है जिसमें **कृष्ण** और **राधा** के प्रेम का वर्णन है। वे **गंगा-यमुना** के किनारे स्थित **सुवर्णशेखर** के कायस्थ थे। उन्होंने प्रस्तुत नाटिका में **राधा** की ईर्ष्या के अभिप्राय का प्रयोग किया है। इस ईर्ष्या का विषय एक नारी-चित्र है जो **कृष्ण** के पास है, परंतु अंत में पता चलता है कि वह **राधा** का ही चित्र है। **नरसिंह**-कृत **शिवनारायणभञ्ज-महोदय** एक दार्शनिक रूपक है।

सट्टक-रचना का अनुसरण प्राकृत में किया गया जो सामान्य कवि के लिए अत्यंत कठिन था। (**कर्पूरमञ्जरी** के अतिरिक्त) केवल दो सट्टक उपलब्ध हैं—मराठ **तुक्कोजी** के अमात्य क्लांतिकारक **घनश्याम** द्वारा रचित **आनन्दसुन्दरी**[3] और अठारहवीं शताब्दी में अल्मोड़ा के कवि **विश्वेश्वर** द्वारा लिखित **शृङ्गार-मञ्जरी**।[4]

५. प्रकरण

मृच्छकटिका के आदर्श के कारण लेखक उस प्रकार की रचना करने के लिए

---

१. Ed. E. Hultzsch, Leipzig, 1906; मिला कर देखिए—GGA. 1908, pp. 98 ff.

२. Ed. KM. 1895. त्रिमलदेव के पुत्र विश्वनाथ द्वारा लिखित पश्चात्कालीन **मृगाङ्कलेखा** के सारांश के लिए देखिए—Wilson, ii. 390 f.

३. Hultzsch, Reports, no. 2142, उन्होंने एक नाटक, एक भाण, एक प्रहसन और दस अलंकारों में **डमरुक** की रचना की Madras Catal. xxi. 8403 ff.

४. KM. Part 8, p. 51.

बहुत कम उत्साहित हुए। इसका असंदिग्ध कारण यह था कि उन भावी अनुकर्ताओं ने समझदारी के साथ यह अनुभव किया कि उस श्रेष्ठ कृति के समकक्ष रखी जाने योग्य रचना का प्रणयन अत्यंत दुस्साध्य है। तथापि, **उद्दंडी** अथवा **उद्दंडनाथ** के **मल्लिकामारुत**[1] में उन्हीं भावों की पुनरावृत्ति मिलती है जो **भवभूति** के **मालती-माधव** में निबद्ध हैं। **उद्दंडी** को **दंडी** समझे जाने का अनुचित गौरव दिया गया है, वास्तविकता यह है कि वे सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में **कुक्कुटक्रोड** अथवा **कालीकट** के एक ज़मींदार के दरबारी कवि मात्र थे। इस प्रकरण का कथानक **भवभूति** के रूपक का प्रायः अंधानुकरण है। योगिनी **मंदाकिनी विद्याधरराज** के अमात्य की कन्या **मल्लिका** और कुंतल-नरेश के अमात्य के पुत्र **मारुत** का विवाह कराने को उत्सुक है। वह दोनों के परस्पर साक्षात्कार का प्रबंध करती है। वे एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं, परंतु **मल्लिका** से विवाह करने के अभिलाषी सिंहल-नरेश के कारण उन दोनों के विवाह में बाधा पहुँचती है। **मारुत** का मित्र **कलकंठ** भी **रमयंतिका** पर अनुरक्त है। तीसरे अंक में मंदिर का रूढ़िबद्ध दृश्य है, कथानक-रूढ़ि के अनुसार ही दो हाथी बंधनमुक्त हो कर उन दोनों युवतियों को भयभीत करते है और उनकी रक्षा की जाती है। सिंहल-नरेश का एक चर **मारुत** को बतलाता है कि **कलकंठ** की मृत्यु हो चुकी है। आत्महत्या के लिए उद्यत **मारुत** को उसका मित्र स्वयं आकर बचाता है। पाँचवें अंक में **मारुत** प्रेत-सिद्धि का प्रयत्न करता है। उसे पता चलता है कि किसी राक्षस ने **मल्लिका** का अपहरण किया है, वह उसे बचाता है, किंतु स्वयं उसी का अपहरण किया जाता है, और अंत में वह राक्षस को पराजित करता है। परंतु, विवाह कराना है, इसलिए **मल्लिका** और **मारुत** सहपलायन करते है, और यथारूढ़ि वर को वंचित किया जाता है। दूसरा युग्म भी इस उदाहरण का अनुसरण करता हुआ भाग निकलता है। **मल्लिका** का दुबारा अनिवार्यतः अपहरण होता है, उसकी आवश्यक खोज की जाती है, और अंत में सफलता प्राप्त होती है। **मंदाकिनी** के संरक्षण में सबका मिलन होता है, और राजा तथा माता-पिता अनुमति प्रदान करते हैं।

छंद की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि लेखक ने **वसंततिलक** (११८) के प्रयोग में अधिमान अभिरुचि दिखलायी है। यद्यपि उसे **शार्दूलविक्रीडित** विशेष प्रिय है, और उसने विविध छंदों का व्यवहार किया है तथापि अधिकांश परवर्ती लेखकों के विसदृश उसने **आर्या** के विभिन्न रूपों (७४) का स्वच्छंदतापूर्वक प्रयोग किया है।

---

१. Ed. Calcutta, 1878.

जैन लेखकों[1] द्वारा रचित प्रकरणों का भी पता चलता है। **हेमचंद्र** के आश्रयदाता **कुमारपाल** (११७३-११७६ ई०) के भतीजे और उत्तराधिकारी **अजयपाल** के शासनकाल में दिवंगत, एवं **हेमचंद्र** के शिष्य **रामचंद्र** ने अन्य रूपकों के अतिरिक्त दस अंकों के **कौमुदीमित्राणन्द**[2] की रचना की। यह कृति सर्वथा अनाटकीय है। इसमें वस्तुतः 'कथा' की अनेक घटनाओं को रूपक के रूप में निवद्ध कर दिया गया है, और फल का उपस्थापन आधुनिक स्वाँग (Pantomime) के कथानक से भिन्न नहीं है। आरंभ में हमें ज्ञात होता है कि **मित्राणंद** एक सार्थवाह का पुत्र है, उसने तथा उसके मित्र ने **वरुण** द्वारा निर्दयतापूर्वक एक वृक्ष से बाँधे गये सिद्धराज को मुक्त किया है, और तदनंतर **मित्राणंद** वरुण-द्वीप में एक विहार के अध्यक्ष की कन्या **कौमुदी** को पत्नी-रूप में ग्रहण करता है। वह उसको बतलाती है—ये साधु मक्कार हैं, और मेरे पतियों का दुर्भाग्यपूर्ण अंत होता आया है, वे विवाह-मंडप के नीचे एक गर्त में झोंक दिये जाते रहे है। **मित्राणंद** की बात और है। उसने **वरुण** से मोहन-मंत्र प्राप्त किया था जिसके कारण **कौमुदी** उस पर मुग्ध है। वह अपने भूतपूर्व पतियों द्वारा संगृहीत धन-राशि को लेकर उसके साथ **सिंहल** भाग जाने को सहमत हो जाती है। यदि **मित्राणंद** ने अपने विवाह के अवसर पर **जांगुली** देवी द्वारा दिये गये मंत्र की सहायता से युवराज **लक्ष्मीपति** को सर्पदंश से बचा न लिया होता तो उन दोनों की बड़ी दुर्दशा होती, क्योंकि राजपुरुषों ने **मित्राणंद** को चोर समझ लिया था। कृतज्ञ राजा उस दंपति को मंत्री के हाथों में सौंप देता है, परंतु वह मंत्री **कौमुदी** पर मोहित हो गया है और उसके पति से पिंड छुड़ाने के लिए व्यग्र है। राजा का एक सामंत मानव-बलि देना चाहता है। इस प्रकार मंत्री को अपनी इच्छा-पूर्ति का अवसर मिलता है। वह **मित्राणंद** को बलि बनाने के उद्देश्य से एक पत्र के साथ भेजता है, परंतु भाग्यवश उसका साथी **मैत्रेय** (जो जड़ी-बूटी से सामंत को चंगा कर के उसका कृपापात्र बन गया था) उसको पहचान लेता है। इसी बीच मंत्री की ईर्ष्यालु पत्नी **कौमुदी** को अपने घर से निकाल देती है। भटकती हुई **कौमुदी** की भेंट एक सार्थवाह की कन्या **सुमित्रा** और उसके परिवार से होती है। वे सब आदिवासी जातियों के सरदार **वज्रवर्मा** द्वारा बंदी बना लिये जाते हैं जिसके पास कोई **मकरंद** भी लाया जाता है। आगे चल कर पता चलता है कि वह (मकरंद) **मित्राणंद** का मित्र है। **मित्राणंद** और **कौमुदी** के क्षेम-कुशल की पूछताछ करने के लिए **लक्ष्मीपति** का एक पत्र आता है। **कौमुदी** उसका लाभ उठा कर **वज्रवर्मा** से **मकरंद** और

१. Hultzsch, ZDMG. lxxv. 61 ff.   २. Ed. Bhāvanagar, 1917.

सुमित्रा का विवाह करवाती है। तदनंतर **एकचक्रा** में वे तीनों किसी कापालिक के संपर्क में जोखिम उठाते है जो एक भूमिगत कंदरा में स्त्रियों का प्रवेश कराता है। इसी समय, नारी-लोलुप कहे जाने वाले एक विद्याधर के विरुद्ध वह **मित्राणंद** की सहायता माँगता है। वह एक शव में प्राण-संचार करता है जो अपने हाथ में कृपाण उठा लेता है, परंतु **मित्राणंद** मंत्र द्वारा उससे कापालिक पर प्रहार करवाता है। कापालिक अदृश्य हो जाता है। नवें अंक में **मकरंद** को अपने सार्थ (कारवाँ) पर अपना स्वामित्व सिद्ध करना है जिस पर कोई **नारायण** अपना अधिकार जताता है। **वज्रवर्मा** और **मित्राणंद** के आने से यह विवाद तय हो जाता है। दसवें अंक में सिद्धराज के निवास-स्थान पर पति-पत्नी का मिलन करा कर रूपक समाप्त होता है। यह कृति सर्वथा नीरस है, हाँ, इसकी एकमात्र रोचकता विस्मय-कारी घटनाओं की योजना में है जो सामाजिकों में अद्भुत रस का उद्रेक करती है। लेखक ने **मुरारि** का इस ढंग से निर्देश किया है जिस पर से डा० Hultzsch[1] ने अनुमान किया है कि वह उनका समसामयिक था। परंतु, उद्धृत लेखांश की शब्दावली से यह तात्पर्य किसी प्रकार आवश्यक नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात यह है कि **मुरारि** की समसामयिकता का उपर्युक्त निष्कर्ष इस तथ्य से मेल नहीं खाता कि ११३५ ई० के लगभग **मंख** और **मुरारि** की जानकारी थी और उन्होंने उनको प्रोद्धृत किया है, क्योंकि किसी लेखक को वह पद प्राप्त करने में कुछ समय लगता है जब कि वह आप्त वक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

दूसरी जैन-रचना **प्रबुद्धरौहिणेय**[2] है जिसके लेखक प्रसिद्ध नैयायिक **देव सूरि** (मृत्यु-काल ११६९ ई०) के संप्रदाय के **जयप्रभ सूरि** के शिष्य **रामभद्र मुनि** थे। यह प्रकरण यात्रा-समारोह के अवसर पर **युगादिदेव** (अर्थात् तीर्थंकर ऋषभ) के मंदिर में अभिनय के लिए लिखा गया था। इसमें छः अंक हैं। पहले अंक में एक निर्भीक दस्यु **रौहिणेय** की विवाहिता **मदनवती** का अपहरण करता है, जब कि उसका सहायक **मागधी**-भाषी शबर उसके प्रेमी को उलझाये रखता है। दूसरे अंक में वह **मनोरथ** नाम के युवक की माँ का वेष धारण करता है, पार्श्व-वर्ती लोगों को चीथड़ों से बनाये गये साँप के द्वारा आतंकित कर के **मनोरथ** के आभूषणों के लिए उसका अपहरण करता है। आगामी तीन अंकों में वर्णित है कि **मगध** के **श्रेणिक** के यहाँ अपहरणों के संबंध में परिवाद (फरियाद) किया जाता है, उसका मंत्री **अभयकुमार** अपराधी की खोज कराता है, अंत में वह पकड़ा जाता

---

१. ZDMG. lxxv. 63.

२. Ed. Bhāvnagar, 1917.

है और अपने को निर्दोष सिद्ध करने की जी-तोड़ कोशिश करता है, परंतु अपनी उन्मुक्ति के प्रयत्न में उसे सफलता नहीं मिलती। छठे अंक में नृत्यशिक्षक **भरत** की अधीनता में नारियाँ और संगीतज्ञ छलपूर्वक उसके मन में यह भ्रांति उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं कि वह स्वर्ग में है, और इस प्रकार वे उससे उसके दुष्कर्मों की संस्वीकृति करा लेना चाहते हैं। परंतु, वह रूपक के अंतर्निहित रहस्य को समझता है, क्योंकि उसको एक पद्य याद है जो उसने अपने बंदी होने के पहले **वर्धमान स्वामी** से सुना था और जिसमें देवताओं के लक्षण[1] बतलाये गये है--उन्हें पसीना नहीं आता, उनकी मालाएँ नहीं कुम्हलाती, उनके पाँव धरती को नहीं छूते। अतएव दुराचारी निर्दोष घोषित कर दिया जाता है, परंतु, मुक्त होने पर वह अपने अनुशोक की अभिव्यक्ति करता है—वह राजा और मंत्री को **वैभार** पर्वत पर ले जाता है जहाँ उसके द्वारा चुरायी गयी धन-राशि और गायब युवक तथा स्त्री रक्षित है। **हेमचंद्र** ने अपने **योगशास्त्र** के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत सामग्री में इस वृत्तांत का उपयोग किया है।

धर्कट-वंश में उत्पन्न **धनदेव** के पौत्र, **पद्मचंद्र** के पुत्र, **यशश्चंद्र** के द्वारा रचित **मुद्रितकुमुदचन्द्र**[2] का स्वरूप बिलकुल भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सपादलक्ष में किसी शाकंभरी राजा के मंत्री थे। प्रस्तुत रूपक में पूर्वोक्त श्वेतांबर जैन आचार्य **देव सूरि** और दिगंबर **कुमुदचंद्र** के वादानुवाद का (जो ११२४ ई० में हुआ था) वर्णन है। उसमें **कुमुदचंद्र** को चुप हो जाना पड़ा था। तदनुसार रचना का नामकरण **मुद्रितकुमुदचन्द्र** हुआ।

६. प्रहसन और भाण

प्रहसन अवश्य ही जननाट्य रहा होगा, अतः **लटकमेलक**[3] से निस्संदेह पूर्व का कोई उदाहरण परिरक्षित नहीं है। **लटकमेलक** कान्यकुब्ज के **गोविंदचंद्र** के शासन-काल में **शंखधर कविराज** द्वारा लिखा गया था। इस प्रहसन का स्वरूप वैशिष्ट्यपूर्ण है। कार्य-स्थल कुट्टनी **दंतुरा** का घर है जहाँ पर मोहनी **मदनमंजरी** के प्रेम को मोल लेने के लिए उत्सुक सभी तरह के लोग आते हैं। उस युवती के गले से मछली का काँटा निकालने के लिए वैद्य **जंतुकेतु** के आगमन से हास्य में और भी वृद्धि हो जाती है। वह सर्वथा अयोग्य है। उसकी युक्तियाँ हास्यास्पद हैं,

---

१. नल के समय से प्रसिद्ध.

२. Ed. Benares, Vikasamvat, 2432.

३. Ed. KM. 1889. R. iii. 271 आनन्दकोश का प्रोद्धरण.

परंतु अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोजन को सिद्ध करती हैं, क्योंकि उसकी वेतुकी वातों पर हँसने से काँटा अनायास निकल जाता है। प्रेमियों की सौदाकारी में व्यंग्य की चोट है, और जिस विवाह का वस्तुतः आयोजन किया गया है वह स्वयं कुट्टनी तथा दिगंवर के वीच है, यह प्रकार निश्चित रूप से हास्योत्पादक है।

वहुत वाद की रचना सुप्रसिद्ध **धूर्तसमागम**[1] है। उसके रचयिता **ज्योतिरीश्वर कविशेखर** धीरेश्वर-वंश में उत्पन्न **रामेश्वर** के पौत्र और **धनेश्वर** के पुत्र थे। उन्होंने विजयनगर के राजा **नरसिंह** के शासन-काल (१४८७-१५०७ ई०) में रचना की थी। एक नेपाली हस्तलिखित प्रति में **धीरसिंह** को उनका पिता और **हरसिंह** को उनका आश्रयदाता वतलाया गया है। **हरसिंह** को **सिमराँव** के हरसिंह (१३२४ ई०) से अभिन्न माना गया है। यह मत तर्कसंगत नहीं है। रूपक के पूर्वार्ध में सुंदरी **अनंगसेना** के विषय में साधु **विश्वनगर** और उसके शिष्य **दुराचार** के विवाद का वर्णन है। गुरु-शिष्य के नाम साभिप्राय हैं। शिष्य का दावा उचित है, क्योंकि उसी ने उस सुंदरी को देखा था और विश्वासपूर्वक अपने प्रेम का रहस्य अपने गुरु पर प्रकट कर दिया था। गुरु नीचतापूर्वक स्वयं ही उस सुंदरी को अपनाना चाहता है। वह आग्रह करती है कि किसी मध्यस्थ से इसका निर्णय कराया जाए। रूपक के उत्तरार्ध में धर्माधर्मविचारणविद्या का विशेषज्ञ ब्राह्मण **असज्जाति** इस दायित्व को सँभालता है। वह वड़ी चतुराई के साथ उस युवती को अपने अधिकार में कर लेने का निर्णय देता है, हालाँकि उसके विमर्श करते समय उसका विदूषक उस पारितोषिक को स्वयं हथिया लेना चाहता है। विवाद के समाप्त होने पर नाई **मूलनाशक** आकर **अनंगसेना** से ऋण चुकाने की माँग करता है। वह उसको **असज्जाति** के पास भेज देती है। **असज्जाति** अपने शिष्य के धन से ऋण चुका देता है। तदनंतर वह नाई को सावधान रहने के लिए सचेत करता है। नाई उसे वाँध कर छोड़ देता है। वाद में विदूषक उसका उद्धार करता है।

जगदीश्वर का **हास्यार्णव**[2] वहुत लोकप्रिय है। राजा **अनयसिंधु** (कुशासन का समुद्र) तवाह है क्योंकि उसके राज्य में वहुत गड़वड़ी फैल गयी है—चांडाल जूते वनाते हैं, ब्राह्मण नहीं; पत्नियाँ पतिव्रता हैं, पति एकनिष्ठ हैं, और सज्जनों का आदर किया जाता है। वह अपने मंत्री से पूछता है कि लोगों के चरित्र का सुंदरतम अध्ययन कहाँ पर किया जा सकता है। मंत्री उसको कुट्टनी **वंधुरा** के घर

१. Ed. in Lassen's Anth. Sanscr., Bonn, 1838. मिला कर देखिए—Haraprasād, Nepal Catal., p. xxxvii.

२. Ed. Calcutta, 1896. मिला कर देखिए—Wilson, ii. 408 f.

जाने की राय देता है। **बंधुरा** अपनी लड़की **मृगांकलेखा** को उससे मिलाती है। अपने एक शिष्य के साथ धर्माध्यक्ष प्रवेश करता है। वे दोनों उस युवती की ओर आकृष्ट होते हैं। एक विदूपक वैद्य अस्वस्थ **बंधुरा** के लिए बुलाया जाता है। उसकी चिकित्सा रोग से भी भयानक है। उसे भागना पड़ता है। बहुत-से अन्य पात्रों का प्रवेश होता है। तदनंतर एक नाई आता है। उसने एक रोगी के शरीर में घाव कर दिया है। रोगी उससे क्षतिमूल्य (हर्जाना) माँगता है, परंतु उसका मुकदमा खारिज कर दिया जाता है। तब आरक्षियों का सरदार **साधुहिंसिक**, भंड-नायक **रगजंबुक** और ज्योतिपी **महायात्रिक** आते हैं। ज्योतिषी जी प्रस्थान का समय ऐसे ग्रहों के संयोग की स्थिति बतलाते हैं जो मृत्युसूचक है। पहले अंक के अंत में राजा चला जाता है। दूसरे अंक में उस युवती को पाने के लिए धर्माध्यक्ष और उसके शिष्य के प्रयत्न का विवरण है, परंतु एक अन्य धार्मिक और उसके शिष्य के रूप में दूसरे प्रतिद्वंद्वी भी आ खड़े होते हैं। अंततोगत्वा उस युवती की प्राप्ति उन दोनों बुड्ढे नराधमों को होती है, और युवकों को **बंधुरा** से संतोष करना पड़ता है जो घटनाचक्र के इस उलट-फेर से प्रसन्न है। इन दोहरे विवाहों को संपन्न कराने का कार्य एक अन्य पुरोहित पर छोड़ दिया जाता है। वह भी इस गणिका में साझीदार होना चाहता है। इस प्रहसन का रचना-काल अज्ञात है। इसी प्रकार **गोपीनाथ चक्रवर्ती** के **कौतुकसर्वस्व**[1] के समय का भी पता नहीं चलता जो बंगाल में दुर्गापूजा के शरद्-महोत्सव के लिए लिखा गया था। अधिकांश प्रहसनों की अपेक्षा यह अधिक रोचक और कम अश्लील है। लंपट, सभी प्रकार से दुर्व्यसनी और भँगेड़ी राजा **कलिवत्सल** पुण्यात्मा ब्राह्मण **सत्याचार** के प्रति दुर्व्यवहार करता है। **सत्याचार** देखता है कि राज्य में सब-कुछ गड़बड़ चल रहा है, लोग परिपीड़न में शूरता दिखलाते हैं, झूठ बोलने में कुशल हैं, और धर्मशील जनों के प्रति घृणा-भाव रखने में आग्रहवान् हैं। सेनापति बहादुर है : वह तलवार से मक्खन की टिकिया को काट सकता है, मच्छर के आने पर काँपने लगता है। पुराणों में वर्णित अनैतिकता की हँसी उड़ायी गयी है; ऋषियों ने पाप के विपय में जो निपेध किया है उसका इस रूप में वर्णन किया गया है कि वे दूसरों की उन बातों की निंदा करते हैं जिनका वे स्वयं वृद्धावस्था के कारण भोग नहीं कर सकते। राजा स्वच्छंद प्रेम की घोपणा करता है, परंतु स्वयं गणिका-विपयक एक विवाद में फँस जाता है। वह रानी के पास बुला लिया जाता है। इससे गणिका इतनी परेशान होती है कि सब लोग उसे ढाढ़स

---

१. Ed. Calcutta, 1828; Wilson, ii. 410 f.

बँधाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। राजा उसे प्रसन्न करने के लिए विवश हो कर समस्त ब्राह्मणों को अपने राज्य से निष्कासित कर देता है।

सामराज दीक्षित का **धूर्तनर्तक**[1] सत्रहवीं शताब्दी की रचना है। इसमें किसी **मुरेश्वर** का वर्णन है। शैव साधु हो कर भी वह एक नर्तकी का भक्त है। बाहर जाते समय वह उस नर्तकी को अपने शिष्यों की देख-रेख में सौंप जाता है। वे उस युवती को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। असफल होने पर वे राजा से **मुरेश्वर** की निंदा करते हैं, परंतु **पापाचार** इसे तमाशा समझता है और अनुज्ञा करता है कि साधु उस युवती को रखे। भूलुआ के **लक्ष्मण माणिक्यदेव** के पुरोहित का **कौतुकरत्नाकर**[2] इससे पूर्व की ही रचना है। इसमें मुख्यतया नायिका के भगाये जाने का चित्रण है। आरक्षकों का अध्यक्ष उसकी रक्षा करने के लिए उसके पार्श्व में सोता है। आगे चल कर मदनमहोत्सव के समय उक्त नायिका का स्थान ग्रहण करने वाली गणिका के साहसकर्मों का भी वर्णन है।

शास्त्रग्रंथों से भाण की प्राचीनता सिद्ध होती है, किंतु रूपक के इतिहास के आरंभिक काल की इसकी कोई भी प्रतिनिधि-रचना उपलब्ध नहीं है। **शृंगार-भूषण**[3] इस वर्ग की प्रकारात्मक रचना है जिसके रचयिता **वामन भट्ट बाण** (लगभग १५०० ई०) हैं। विट **विलासशेखर** गणिका **अनंगमंजरी** से मिलने के लिए उसके घर पर आता है। वह गणिकाओं के मुहल्ले में आता है और लगातार आकाश-भाषित करता है—अपने ही प्रश्नों का स्वयं उत्तर देता है, अथवा दूसरे की बात सुनता हुआ-सा प्रतीत होता है और फिर उसका उत्तर देता है। वह गणिकाओं, मेषों के युद्ध, मुर्गों की लड़ाई, मुक्केबाजी, दो प्रतिद्वंद्वियों के झगड़े, दिन के विभिन्न कालों और मदनमहोत्सव के प्रमोद का वर्णन करता है। **रामभद्र दीक्षित** का **शृङ्गारतिलक**[4] अथवा **अय्याभाण** भी उसी पद्धति पर लिखा गया है। उसकी रचना वैष्णव **वरदाचार्य** अथवा **अम्मालाचार्य** के **वसन्ततिलक**[5] या **अम्माभाण** की प्रतिस्पर्धा में की गयी थी। यह रूपक मदुरा की देवी **मीनाक्षी** के विवाहोत्सव पर खेले जाने के लिए लिखा गया था। नायक **भुजंगशेखर** अपनी प्रेयसी **हेमांगी**

---

१. Wilson, ii. 407.

२. Capeller, गुरुपूजाकौमुदी, pp. 62 f.

३. Ed. KM. 1896. R. iii. 248 में उदाहरण के रूप में अनुपलब्ध शृङ्गारमञ्जरी का उल्लेख मिलता है। देखिए—पृ० १९०, टिप्पणी १.

४. Ed. KM. 1894.

५. Ed. Madras, 1874.

से वियुक्त हो जाने के कारण उद्विग्न है, परंतु उसे आश्वासन मिला है कि अपने पति के घर लौट जाने पर भी वह उससे फिर मिलेगी। वह, रीतिबद्ध ढंग से, गणिकाओं की गली में संचरण करता है; रीतिबद्ध काल्पनिक वार्तालाप (आकाश-भाषित) करता है; सँपेरों, देवताओं के इंद्रजाल और पर्वतों आदि साधारण दृश्यों का वर्णन करता है। अंत में हेमांगी से उसका पुनर्मिलन होता है। उसी प्रकार के लंबे वर्णन शंकर के शारदातिलक[1] में मिलते हैं। उसका दृश्यस्थल कोलाहलपुर नाम का कल्पित नगर है। उसमें जंगमों अथवा शैवों और वैष्णवों पर व्यंग्य की चोट की गयी है। नल्लाकवि (लगभग १७०० ई०) की रचना शृङ्गारसर्वस्व[2] है। उसका नायक अनंगशेखर है। उसे अपनी प्रेयसी से बिछुड़ना पड़ता है, परंतु एक हाथी के आ जाने से उसको अपनी प्रिया से मिलने में सहायता मिलती है। बात यह है कि हाथी ने गली के अन्य लोगों को आतंकित कर दिया है। परंतु, अनंगशेखर उसको अपनी सहायता के लिए की गयी शिव-प्रार्थना का फल समझ कर और उसे गणेश मान कर उसकी पूजा करता है। केरल के कोटिलिंग के किसी युवराज द्वारा लिखित रससदन[3] में इससे कुछ भिन्न चित्रण है। उसका नायक एक विट है। उसने अपने मित्र मंदारक को उसकी प्रेयसी की देख-भाल करने का वचन दिया है। उसके साथ घूमता हुआ वह एक मंदिर में जाता है, फिर अपने घर पहुँचता है। घर से निकल कर गली में घूमता है, विस्तार से बातें तथा वर्णन करता है, और अंत में एक समीपवर्ती नगर की महिला का निमंत्रण स्वीकार कर के उससे मिलने के लिए जाता है। घर लौट कर वह देखता है कि दोनों प्रेमी फिर मिल गये हैं।

किसी भी आधुनिक यौरपीय दृष्टिकोण से ये प्रहसन और भाण अत्यंत भद्दे हैं, परंतु एक अर्थ में वे प्रायः निश्चित रूप से कलात्मक कृतियाँ हैं। लेखकों में अकृत्रिमता की तनिक भी कामना नहीं है। प्रहसन में उनकी उच्छृंखलता की प्रवृत्ति अवरुद्ध है, क्योंकि छंदों का प्रयोग शृंगारिक पद्यों तथा वर्णनों तक सीमित है। दूसरी ओर, भाण में वर्णन की प्रवृत्ति सर्वोच्च है, और कवियों ने अपने को पूरी छूट दी है। इस प्रहसनात्मक एकालाप में उन्होंने ठीक उन्हीं दोषों का प्रदर्शन किया है जो तत्कालीन नाटक में दृष्टिगोचर होते हैं। सब-कुछ शैलीगत कौशल के अभ्यास में सिमट कर रह गया है, मुख्यतया वर्ण-विन्यास के विषय में। उन्होंने शब्दकोश से अर्जित संस्कृत शब्दावली पर अपने विस्तृत अधिकार के प्रदर्शन में

---

१. Wilson, ii. 384.
२. Ed. KM. 1902.
३. Ed. KM. 1893; JRAS. 1907, p. 729.

रस लिया है, और सहजता अथवा प्रसन्नता पर कम ध्यान दिया है। उक्त दोनों प्रकारों में घनिष्ठ संबंध है। इसका स्पष्टतम निदर्शन इस तथ्य से होता है कि **काशीपति कविराज** (जो निश्चय ही तेरहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं) के **मुकुन्दानन्द**[१] में मिश्रित भाण का प्रकार उपलब्ध होता है । नायक **भुजंगशेखर** द्वारा वर्णित साहसकर्म **कृष्ण** और गोपियों की लीला का भी संकेत करते हैं। यह द्व्यर्थकता लेखक द्वारा अंगीकृत शैली की कठिनता का कारण है।

७. रूपक के गौण प्रकार

ऐसा प्रतीत होता है कि **भास** द्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्श के होते हुए भी व्यायोग की अधिक रचना नहीं हुई। **प्रह्लादनदेव** का **पार्थपराक्रम**[२] ११६३ ई० के बाद की अर्धशताब्दी में किसी समय लिखा गया, क्योंकि उसका लेखक **धारावर्ष** का भाई था। **धारावर्ष** चद्रावली के राजा **यशोधवल** का पुत्र था जिसके शासन-काल का **आबू** पर्वत के परमारों के अभिलेखों मे प्रतिष्ठा के साथ उल्लेख किया गया है। **आबू** पर्वत के अधिष्ठातृदेवता के प्रतिष्ठापन-समारोह के अवसर पर उसका अभिनय किया गया था। लेखक का दावा है कि उसमें दीप्तरस की अभिव्यक्ति हुई है। उसका कथानक **महाभारत** के **विराट पर्व** से ग्रहण किया गया है। यह कहानी सुप्रसिद्ध है कि कौरवों के आक्रमण करने पर **अर्जुन** ने **विराट** की गायों का उद्धार किया और आक्रमणकारी पराजित हुए । अतएव शास्त्र-ग्रंथों में प्रतिपादित लक्षण से वह भली-भाँति मेल खाता है। उसमें जिस संघर्ष का वर्णन है उसका कारण कोई नारी नहीं है, नारी-विषयक अभिरुचि वैशिष्ट्य-रहित पात्रों **द्रौपदी** और **उत्तरा** तक सीमित है। उसका नायक न तो दिव्य पुरुष है और न ही कोई राजा। कवि (जिसकी वीरता और राजोचित उदारता की **सोमेश्वर** ने प्रशस्ति की है) दावा करता है कि उसकी कविता में धारावाहिकता और प्रसन्नता के गुण हैं। उसका यह दावा स्वीकार्य है, यद्यपि उसकी कृति मध्यम कोटि से ऊपर नहीं उठ पाती। शास्त्रीय दृष्टि से वह रूपक कुछ महत्त्व का है। नांदी के बाद स्थापक आता है, दो पद्यों का पाठ करता है, और फिर एक अभिनेता रंगमंच पर आता है। वह स्थापक को संबोधित कर के अपनी बात कहता है, परंतु उसका उत्तर सूत्रधार देता है। ऐसा आभासित होता है कि उक्त व्यायोग के लेखक की दृष्टि में अथवा परवर्ती परंपरा में दोनों शब्द (सूत्रधार

---

१. वही, 1889.

२. Ed. Gaekward's Oriental Series, no. iv. 1917.

और स्थापक) पर्यायवाची मान लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, भरतवाक्य का वक्ता नायक अर्जुन न हो कर वासव है, जो नाटक के उपसंहार में विमान द्वारा अप्सराओं के साथ आकर वधाई और आशीर्वाद देता है। प्रह्लादन ने अन्य कृतियों का भी प्रणयन किया। उनके कुछ पद्य सुभाषित-संग्रहों में परिरक्षित हैं। वे अवश्य ही वहुत योग्य और गुणवान् व्यक्ति रहे होंगे।

वत्सराज का **किरातार्जुनीय**[१] एक व्यायोग है जो **भारवि** के महाकाव्य पर आधारित है। उन्होंने अपने को **कालंजर** के **परमर्दिदेव** का (जिसने ११६३ ई० से १२०३ ई० तक शासन किया) अमात्य वतलाया है। ह्रास-काल के अच्छे आदर्श के रूप में **वत्सराज** का विशेष महत्त्व है। उनके छः रूपक उपलब्ध हैं जिनमें से प्रत्येक रचना रूपक के एक भिन्न प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करती है। उनका **कर्पूरचरित** शास्त्रवद्ध प्रकार का भाण है। अपने एकालाप में जुआरी **कर्पूरक** अपनी रंगरलियों, द्यूत-क्रीड़ा और प्रेम का वर्णन करता है। **हास्यचूडामणि** एकांकी प्रहसन है। उसका नायक भागवत-संप्रदाय का एक आचार्य है जिसका नाम **ज्ञानराशि** है। वह केवली-विद्या का ज्ञाता होने का दंभ करता है जिसके द्वारा वह खोयी हुई वस्तुओं और गड़े हुए धन का पता लगा सकता है। वह विभिन्न प्रकार के छल-छद्मों तथा मूर्खतापूर्ण क्रियाओं से अपना व्यवसाय चलाता रहता है। उसका एक दुर्निग्रह शिष्य है जिसकी अपने गुरु में तनिक भी श्रद्धा नहीं है। वह गुरु की उक्तियों की शब्दतः व्याख्या कर के आनंदित होता है। **किरातार्जुनीय** में कोई विशेष गुण नहीं है, परंतु शास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नांदी में भवानी की स्तुति की जाती है। उसके वाद सूत्रधार आता है। उसके तत्काल पश्चात् ही स्थापक प्रवेश करता है। इस आधार पर कि वीररस के रूपक में उसके अनुरूप ही नांदी-पाठ होना चाहिए वह शिव के त्रिशूल को विषय वना कर पुनः नांदी-पाठ का आग्रह करता है। इस रूपक की रचना अन्य पाँच रूपकों के वाद हुई थी, क्योंकि यह **परमर्दि** के उत्तराधिकारी **त्रैलोक्यवर्मदेव** के शासन-काल में लिखा गया। अन्य तीन रूपकों (ईहामृग, डिम और समवकार) पर आगे विचार किया जाएगा।

विश्वनाथ का एक व्यायोग **सौगन्धिकाहरण**[२] भी उपलब्ध है। उसका रचना-काल लगभग १३१६ ई० है। उसमें वर्णित है कि **द्रौपदी** के लिए **भीम** कमलिनी

---

१. अन्य पाँच रूपकों के सहित संपादित, Gaekwad's Oriental Series, no. viii. 1918.

२. Ed. KM. 1902, मिला कर देखिए—SD. 514.

के फूल लाने के निमित कुबेर के सरोवर की यात्रा करते हैं, पहले उनका हनुमंत से सघर्ष होता है और फिर यक्षों से। अंत में उन्हें विजय मिलती है। पांडव कुबेर के घर पर मिलते है और द्रौपदी अपने वांछित फूलों को प्राप्त करती है। नारायण के पुत्र कांचन-पंडित के धनञ्जयविजय[1] का रचना-काल अज्ञात है। उसमें विराट के पशुओं पर आक्रमण करने वाले दुर्योधन तथा अन्य कौरवों को पराजित करने वाले अर्जुन की वीरता का वर्णन है। स्पष्ट है कि यह विषय नाटककारों को विशेष प्रिय है। उस युद्ध का (जिसमें अर्जुन ने दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया है) विवरण इंद्र एव दो दिव्य साथियों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। रूपक के अंत में विराट की कन्या उत्तरा का अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से विवाह होता है। मोक्षादित्य के भीमविक्रमव्यायोग[2] की १३२८ ई० की एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। रामचंद्र का निर्भयभीम[3] बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है।

ईहामृग का नमूना वत्सराज के रुक्मिणीहरण के रूप में उपलब्ध हैं। उसमें चार अंक है। उसमे वर्णित है कि चेदि के शिशुपाल को उसकी वाग्दत्ता रुक्मिणी से वंचित करने में कृष्ण सफल होते हैं। दो पद्यों में किये गये नांदी-पाठ के बाद सूत्रधार आता है। सूत्रधार और स्थापक का कथोपकथन होता है। उसमें बतलाया गया है कि चंद्रस्वामी के महोत्सव में चंद्रोदय के समय उस रूपक का अभिनय किया गया था। रूपक के व्यापार में शिथिलता है, और लेखक को उसे चार अंकों में फैलाने में कष्ट उठाना पड़ा है। उसके पात्र रूढ़ि-बद्ध हैं। नायिका रुक्मिणी का व्यक्तित्व नगण्य है। कृष्ण की शत्रुता के आलंबन शिशुपाल और रुक्मी में चरित्रचित्रण का वैशिष्ट्य नही है। चौथे अंक में अपनी विजय को पूर्ण करने के लिए तार्क्ष्य की उपस्थिति के निमित्त कृष्ण रंगमंच पर समाधिस्थ हो जाते हैं। नारीपात्र सुबुद्धि प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का व्यवहार करती है।

इस प्रकार[4] के अन्य रूपक उत्तरकालीन वीरविजय और सर्वविनोदनाटक हैं। उनके रचयिता क्रमशः कृष्णमिश्र और कृष्ण अवधूत घटिकाशतमहाकवि हैं।

डिम के नमूने के लिए भी हम वत्सराज के ऋणी हैं। उनका त्रिपुरदाह चार अंकों मे लिखित डिम है। उसमें शिव के द्वारा त्रिपुरासुर की राजधानी के दहन का वर्णन है। इस प्रकार की रचना की कल्पना का प्रेरक नाट्यशास्त्र है जिसमें इस नाम के डिम का उल्लेख किया गया है। यह रूपक अत्यंत नीरस है। रंगमंच

---

१. Ed. KM. 1885; Wilson, ii. 374.
२. Bendall, Brit. Mus. Catal., p. 273.
३. Hultzsch, ZDMG. lxxv. 62 f.
४. Konow, ID. p. 114.

पर भीड़ लगाने वाले बहुसंख्यक पात्र निर्जीव हैं, और असुरों को पराजित करने वाले दिव्यास्त्रों में यथार्थता नहीं है। शिष्टाचार का यथोचित पालन किया गया है। **कुमार** अपनी विजय की बाढ़ के समय अपने पिता द्वारा रोक दिया जाता है, और **शुक्र** उस देवता के इस शिष्टाचारपूर्ण कार्य को प्रसन्नतापूर्वक गौरव देता है, हालाँ कि वह दानवों के विरुद्ध है। देवताओं और ऋषियों द्वारा की गयी महेश-स्तुति के साथ नाटक का उपसंहार होता है। महेश क्रीड़ा का अनुभव करते हैं। भरतवाक्य **इंद्र** द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, रूपक के नायक द्वारा नहीं।

अन्य डिम बाद के हैं। इस प्रकार, **घनश्याम** का एक डिम उपलब्ध है। **वेंकटवरद** ने **कृष्णविजय** लिखा है। **राम** का **मन्मथोन्मथन**[1] १८२० ई० का रूपक है।

वत्सराज ने **समुद्रमथन** नामक एक समवकार की भी रचना की है। इसमें तीन अंक हैं। इसके अस्तित्व में आने और नामकरण की प्रेरणा भी **नाट्यशास्त्र** से मिली है जिसमें समवकार के आदर्श के रूप में इस प्रकार के नाम वाले रूपक का उल्लेख किया गया है। इसमें भी दो पद्यों के नांदी-पाठ के पश्चात् सूत्रधार और स्थापक कथोपकथन करते है। सूत्रधार और उसके ग्यारह भाई साथ-साथ संपत्ति पाना चाहते हैं। यह कसे संभव है? स्थापक सुझाव देता है कि राजा **परमर्दि** अथवा समुद्र की सेवा से ही ऐसा हो सकता है। इस उक्ति को पकड़ कर नेपथ्य से कोई कहता है कि समुद्र से सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं। तदनंतर **पद्मक** आता है। यह रूपक देवताओं एवं दानवों के द्वारा किये गये समुद्र-मंथन के उपाख्यान पर आधारित है, जिस मंथन के फलस्वरूप **विष्णु** को **लक्ष्मी** की, तथा इस अद्भुत कार्य में भाग लेने वाले सुरासुरों को अन्य रत्नों की प्राप्ति होती है। कवि की रचना साधारणता से ऊपर नहीं उठ सकी है। पहले अंक में **लक्ष्मी** अपनी सखियों **लज्जा** और **धृति** के साथ अपने प्रियतम के चित्र को तन्मयता से देखती हुई दिखायी देती है, बाद में उसका प्रेमपात्र भी रंगमंच पर आता है। इस वर्ग के अन्य रूपकों के अभाव से रूपक के इस प्रकार की कृत्रिमता प्रमाणित होती है।

अंक (अथवा एकांक रूपक) के बहुत ही कम नमूने उपलब्ध हैं। रूपक के अंतर्गत रूपक का द्योतन करने के लिए इस शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है। **बालरामायण** में इस प्रकार के रूपकों के लिए 'प्रेक्षणक' शब्द का प्रयोग मिलता है। **भास्कर कवि** के **उन्मत्तराघव**[2] को भी यही नाम दिया गया है। इस रचना

---

१. Schmidt, ZDMG. lxiii, 409 f, 623 f.

२. Ed. KM. 1889.

का समय अज्ञात है, यद्यपि इसमें उल्लिखित **विद्यारण्य सायण** अथवा उनके सम-सामयिक हो सकते हैं। यह रूपक **विक्रमोर्वशी** के चौथे अंक का भद्दा अनुकरण है। जब **राम** और **लक्ष्मण** स्वर्ण-मृग का पीछा करते हैं तब **दुर्वासा** के शाप से **सीता** स्वयं ही मृगी के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। **राम** लौट कर आते हैं और **सीता** की खोज में बुरी तरह भटकते हैं, परंतु अंत में **अगस्त्य** की सहायता से उन्हें प्राप्त करते हैं।

'प्रेक्षणक' शब्द **लोकनाथ भट्ट** के **कृष्णाभ्युदय** के साथ भी प्रयुक्त हुआ है। अनेक आधुनिक रूपकों का भी पता चलता है जिनको 'अंक' की संज्ञा दी जा सकती है। **साहित्यदर्पण** में उल्लिखित **शर्मिष्ठाययाति** संभवतः **कृष्णकवि**[1] की उस नाम की रचना से अभिन्न है।

नाटिका और सट्टक को छोड़ कर उपरूपकों के अन्य प्रकारों की प्रतिनिधि-रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। जो उपलब्ध हैं वे, प्रत्यक्ष है कि, शास्त्र-ग्रंथों में में प्रतिपादित लक्षणों के अनुसार ही लिखी गयी हैं। इस प्रकार **रूप गोस्वामी** की एक भाणिका **दानकेलिकौमुदी**[2] उपलब्ध है जिसमें उन्होंने रूपक को अपने सांप्रदायिक सिद्धांतों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया है। दूसरा उपरूपक **मंडलेश्वर भट्ट** और **इंदुमती** के पुत्र तथा **हरिहर** के भाई **माधव** का **सुभद्राहरण**[3] है। कवि ने उसे 'श्रीगदित' की संज्ञा प्रदान की है। बहुत संभव है कि यह **साहित्यदर्पण** के बाद की रचना है, क्योंकि इसने अपना विवरण उस ग्रंथ में प्रयुक्त शब्दों के सदृश शब्दावली में दिया है। दूसरी ओर, इसकी एक १६१० ई० की हस्तलिखित प्रति भी विद्यमान है। इस रूपक का कथानक **सुभद्रा** के साथ **कृष्ण** के मित्र **अर्जुन** के पलायन का प्राचीन उपाख्यान है। उसमें **अर्जुन** एक भिक्षुक के रूप में **सुभद्रा** के पिता के घर पर जा कर मिलते हैं। इसमें एक वर्णनात्मक पद्य है जिसके आधार पर छायानाटक से इसके सादृश्य की कल्पना की गयी है, परंतु इसके अतिरिक्त कोई पर्याप्त साक्ष्य नहीं है।

८. छायानाट्य

यह अत्यंत संदिग्ध है कि भारत में छायानाट्य का आविर्भाव किस समय हुआ। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस प्रकार का प्रतिनिधान करने वाला वाला पहला रूपक **मेघप्रभाचार्य** का **धर्माभ्युदय** है। उसके रंगमंचीय निर्देश में

१. Konow, ID. p. 118.

२. Ed. Murśidābād, 1881 f.

३. Ed. KM. 1888.

'पुत्रक' (puppet) का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और लेखक ने अपनी कृति को 'छायानाटकप्रबन्ध' कहा है। दुर्भाग्य से इस कृति का रचना-काल असंदिग्ध रूप से निश्चेय नहीं प्रतीत होता।

यह अनुमान करना (जैसा कि पिशेल ने किया है) स्वाभाविक है कि 'छाया-नाटक' के नाम से अभिहित सुभट-रचित दूताङ्गद वस्तुतः एक छायानाट्य था। दूसरी ओर राजेन्द्रलाल मित्र[1] का अनुमान है कि यह रूपक दो अंकों के मध्यांतर दृश्य के रूप में प्रस्तुत किये जाने के लिए लिखा गया था, और 'छायानाटक' शब्द की व्याख्या के आधार पर इसका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। 'छाया-नाटक' का अर्थ है--छाया के रूप में नाटक, अर्थात् नाटक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए अल्पतम सीमा तक लघूकृत। दुर्भाग्य से स्वयं रूपक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी सहायता से उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण किया जा सके। सन् १२४३ ई० में अणिहलपाटक के चालुक्य त्रिभुवनपाल के दरवार में स्वर्गीय राजा कुमारपाल के संमान में इसका अभिनय किया गया था। यह अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। इसके दो भिन्न संस्करण माने जा सकते हैं—दीर्घतर और लघुतर, यद्यपि इन दोनों संस्करणों में बहुत निश्चित भेद नहीं है। दीर्घतर संस्करण में इतिहासकाव्यात्मक पद्यों का प्रयोग है, और आरंभ में उनतालीस पद्यों की एक प्रस्तावना है जो अंशतः राम तथा हनुमंत के मुख से प्रस्तुत की गयी है। उसमें छिपायी हुई सीता की खोज का वर्णन है। कहानी सरल है। अंगद दूत बन कर रावण के पास जाते हैं, और उससे सीता की वापसी की माँग करते हैं। रावण उनको यह समझाने का प्रयत्न करता है कि सीता उससे प्रेम करती हैं। अंगद धोखे में नहीं आते, और रावण को धमकी देकर चल देते हैं। कुछ समय बाद ज्ञात होता है कि रावण का नाश हो गया है। इस रूपक के गुण नगण्य हैं।

दूसरा कोई ऐसा रूपक उपलब्ध नहीं है जिसके विषय में हम तनिक भी तर्क-संगति के साथ कह सकें कि वह यथार्थतः छायानाटक था। पंद्रहवीं शताब्दी के व्यास श्रीरामदेव के तीन रूपक मिलते हैं। रायपुर के कलचुरि राजा उनके आश्रयदाता थे। पहला रूपक सुभद्रापरिणय है जो ब्रह्मदेव अथवा हरिब्रह्मदेव के शासनकाल में खेला गया था। उसमें अर्जुन के साथ सुभद्रा का पिष्टपेषित विषय

१. Bikaner Catal., p. 251. यह अनुवाद है, Gray, JAOS. xxxii, 59 ff. इस रूपक में बालरामायण (ix. 58 f.=पद्य ५२-५३) और महानाटक से वस्तु-ग्रहण किया गया है.

वर्णित है। महाराणा मेह के शासनकाल में दूसरा रूपक **रामाभ्युदय** प्रकाश में आया। उसमें लंका पर राम की विजय, सीता की अग्नि-परीक्षा, और उनके अयोध्या लौटने का वर्णन है। रणमल्लदेव के शासनकाल में लिखित तीसरे रूपक **पाण्डवाभ्युदय** के दो अंकों में सीता के जन्म और विवाह की कहानी है। परंतु, केवल नाम को छोड़ कर कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिससे सूचित हो सके कि ये वस्तुतः छायानाटक थे, क्योंकि इनकी अन्य सभी विशेषताएँ सामान्य रूपकों के सदृश ही हैं। महेश्वर के पुत्र शंकरलाल का **सावित्रीचरित** अपने को 'छायानाटक' कहता है, किंतु, १८८२ ई० में लिखित यह कृति एक साधारण रूपक ही है। लूडर्स[1] की यह मान्यता निस्संदेह सही है कि ये रूपक किसी भी प्रकार छायानाटक नहीं हैं। दूसरी ओर, उन्होंने छायानाटकों की सूची में **हरिदूत** का नाम जोड़ दिया है। उसमें भास के **दूतवाक्य** में वर्णित कृष्ण के दूतत्व की कहानी वर्णित है, कृष्ण शांति की स्थापना के लिए पांडवों के शत्रुओं के पास दूत बन कर जाते हैं। परतु, यह रूपक अपने को छायानाटक नहीं कहता, अतएव लूडर्स का तर्क महत्त्वहीन है। परंतु महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शास्त्र-ग्रंथों में इस प्रकार के रूपक का निर्देश नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है इसका आविर्भाव निश्चित रूप से बाद में हुआ।

९. रीतिमुक्त प्रकार के नाटक

प्रोफ़ेसर लूडर्स[2] ने छायानाटकों की प्रायः असत् सूची में **महानाटक** को भी जोड़ दिया है। उनके इस आकलन का आधार यह है कि **महानाटक** मुख्यतया पद्य-बद्ध है, गद्य का प्रयोग बहुत कम हुआ है; पद्य भी स्थान-स्थान पर नाटकीय न हो कर निश्चित रूप से वर्णनात्मक प्रकार के हैं; प्राकृत का अभाव है; पात्रों की संख्या बड़ी है; विदूषक नहीं है; और ये विशेषताएँ छायानाटक के नाम से अभिहित **दूताङ्गद** में पायी जाती हैं। किसी वास्तविक साक्ष्य के अभाव में यह तर्क अपर्याप्त है, और **महानाटक** का विवेचन दूसरे रूप से किया जा सकता है।

इस नाटक का इतिहास विलक्षण है। यह दो संस्करणों में परिरक्षित है। एक संस्करण नौ या दस अंकों में है जो **मधुसूदन** द्वारा संपादित है, और दूसरा चौदह अंकों में है जो **दामोदरमिश्र** द्वारा ग्रथित है। टीकाकार **मोहनदास** और **भोजप्रबन्ध** द्वारा बतलायी गयी कहानियों का तात्पर्य एक ही है—शिलाओं पर अंकित अंशों को राजा **भोज** के आदेशानुसार समुद्र से निकाल कर नाटक का

१. SBAW. 1916, pp. 698 ff. २. पूर्वोल्लिखित.

ग्रथन किया गया। परंपरागत कहानी यह है कि **हनुमंत** ने स्वयं इस कृति की रचना की थी, इसीलिए यह '**हनुमन्नाटक**' कहलाता है। **वाल्मीकि** ने समझा कि यह नाटक उनके महान् इतिहासकाव्य को मात कर देगा। उनकी तुष्टि के लिए उदारचेता वानर हनुमंत ने अपने शिलालिखित नाटक को समुद्र में डलवा दिया। इससे निश्चित अनुमान होता है कि कुछ प्राचीन सामग्री इस नाटक में ग्रथित थी। इस मत का पोषण इस तथ्य से होता है कि **आनंदवर्धन** ने इस नाटक में से तीन पद्य उद्धृत किये है, किंतु उनके स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। **राजशेखर** और **धनिक** ने भी क्रमशः **काव्यमीमांसा** और **दशरूपावलोक** में ऐसा ही किया है। इसलिए यह साक्ष्य बहुत महत्त्व का नहीं है, क्योंकि अपने वर्तमान रूप में यह कृति साहित्यिक चोरियों से भरी पड़ी है। लेखक ने निर्लज्जता के साथ **भवभूति**, **मुरारि** एवं **राजशेखर** के नाटकों से, और यहाँ तक कि **जयदेव** के **प्रसन्नराघव** से चोरियाँ की हैं। हाँ, अंतिम के विषय में यह अनुमान किया जा सकता है कि **जयदेव** ने **हनुमन्नाटक** से शब्दार्थ-हरण किया है। इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सका है कि उक्त दोनों संस्करणों में से कौन प्राचीनतर है। कम अंकों वाले संस्करण में ७३० पद्य हैं। इसके विरुद्ध अधिक अंकों वाले संस्करण में ५८१ पद्य हैं। इनमें से ३०० पद्य उभयनिष्ठ हैं।[1]

इस नाटक में संक्षिप्त नांदी है, किंतु प्रस्तावना नहीं है। उसके बाद वर्णन चलता है। **शिव** का धनुष तोड़ कर **सीता** से विवाह करने के लिए **राम** मिथिला में पहुँचते हैं। व्यापार का यह भाग **सीता**, **जनक**, **राम** आदि के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिर कुछ वर्णन के बाद **परशुराम** का दृश्य आता है। उसके बाद **सीता** के विवाह का वर्णन है। दूसरा अंक अनाटकीय है, उसमें **राम** के साथ **सीता** के विहार का लालित्यपूर्ण विवरण है। तीसरा अंक भी मुख्यतया विवरणात्मक है। उसमें मृगरूप **मारीच** का पीछा करने के लिए **राम-लक्ष्मण** के प्रस्थान तक की कहानी है। चौथे अंक के अंत में **राम** अपनी सूनी कुटी में वापस आते हैं। पाँचवें अंक में **राम सीता** की खोज करते हैं, और **हनुमंत** को लंका भेजते हैं। छठे अंक में **सीता** को आश्वासन देकर **हनुमंत** लौट आते है। सातवें अंक में वानर-सेना समुद्र को पार करती है। आठवाँ अंक असामान्य रूप से नाटकीय है।

---

१. बंगाल में प्रचलित मधुसूदन के कुछ भिन्न उपाख्यान के लिए देखिए—SBAW. 1916, pp. 704 ff. हस्तलिखित प्रतियों में पद्यों की संख्या भिन्न-भिन्न है। **दशरूप** (२।१) की टीका में नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत पद्य कुछ ही हस्तलिखित प्रतियों में पाया जाता है.

उसमें अंगद दूत बन कर रावण के पास जाते हैं। शेष अंकों में युद्ध के विवरणों का नीरस विस्तार है जो प्रायः इतना त्रुटिपूर्ण है कि रामायण तथा पूर्ववर्ती नाटकों के ज्ञान के विना समझा नहीं जा सकता। दोनों संस्करण सामान्यतः संवादी हैं, परंतु उनके सूक्ष्म विवरण ठीक एकसमान नहीं है।

यह वात स्पष्ट नहीं है कि इस प्रकार के नाटक का ठीक-ठीक प्रयोजन क्या है, परंतु यह एक साहित्यिक चमत्कार के समान ही प्रतीत होता है जिसका उद्देश्य ऐसे अभिनय[1] की योजना करता था जिसमें संवादों की कमी की पर्याप्त पूर्ति सूत्रधार एवं अन्य अभिनेताओं द्वारा वर्णनात्मक पद्यों द्वारा की गयी हो। परंतु यह वात अविश्वसनीय है कि इस नाटक ने अपने वर्तमान रूप में कभी प्रयोगात्मक उद्देश्य की पूर्ति की। इसका महत्त्व इस वात में है कि इसका वर्तमान रूप संभवतः उस युग के नाटक-रूप का संकेत करता है जव नाटक महाकाव्यात्मक प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ था। इस प्रकार, ग्रंथिकों का पुराना कार्य ही नये रूप में उपलव्ध होता है। जिसमें संवाद का कुछ भाग वास्तविक अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। परंतु यह वात आपत्तिजनक है कि इतनी पश्चात्कालीन कृति में आरंभिक नाटक के विकास का साक्ष्य खोज निकालने की संभावना पर वल दिया जाए। हाँ, इस वात पर ध्यान देना उचित है कि नाटक के इस प्रकार और शकुन्तला[2] के तमिल-संस्करण के अभिनय के प्रकार में वहुत-कुछ सादृश्य है। अनुमान किया गया है कि हनुमन्नाटक के अंकों की असाधारण संख्या से यह सूचित होता है कि इस रचना का विभाजन सामान्य नाटक के रूप में न कर के किसी अन्य रूप में किया गया है, किंतु इस वात पर अधिक वल देना असंगत है।

इस नाटक के छंदों से एक असाधारण तथ्य का उद्घाटन होता है। इसमें २५३ शार्दूलविक्रीडित हैं, जव कि १०९ श्लोक, ८३ वसंततिलक, ७७ स्रग्धरा ५९ मालिनी, और ५५ इंद्रवज्रा हैं। मधुसूदन के संस्करण में उपलव्ध यह तथ्य भली-भाँति सूचित करता है कि नाटक के किसी प्रारंभिक रूप से हम कितनी दूर हैं।

महानाटक के प्रकार की तुलना गीतगोविन्द[3] से की जा सकती है। वारहवीं शताव्दी ई० में लक्ष्मणसेन के शासन काल में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की। उसमें कृष्ण, राधा और उनकी सखियों द्वारा गाये गये गीतों की निवंधना है,

---

१. केवल मधुसूदन के संस्करण में सौम्याः (छायानट) पाठ मानने का लूडर्स का प्रयत्न स्पष्टतया असंगत है; ZDMG. lxxiv. 142, n. 3.

२. Lévi, TI. i. 244; G. Deveze, Śakuntalā, Paris, 1888.

३. Lévi, TI. i. 235 ff.; Keith, Sansk. Lit., pp. 121 ff.

बीच-बीच में कवि ने प्रगीतात्मक पद्य संमिलित कर दिये हैं जिनमें उनकी अंगस्थितियों, उद्दीप्त भावों, और **कृष्ण**-विषयक स्तुतियों का वर्णन है। यह रचना श्रव्य काव्य है, और उसी रूप में आस्वाद्य है, किंतु यह अर्धनाटकीय प्रस्तुतीकरण के भी योग्य है। इसमें **कृष्ण**-मत की अकृत्रिम यात्राओं के अत्यंत विकसित रूप की अभिव्यक्ति पायी जाती है।

गुजरात के **रामकृष्ण** द्वारा रचित **गोपालचन्द्रिका**[१] का रचना-काल अज्ञात है। इतना निश्चित है कि यह **महानाटक** और **भागवतपुराण** के बाद की कृति है। यह एक रीतिमुक्त नाटक है। इसके रूप के विषय में बहुत-से अनुमान लगाये गये हैं, जिनमें से एक अनिवार्य किंतु असंगत समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि यह छाया-नाटक है। इस नाटक और **महानाटक**[२] के जो समरूप बतलाये गये हैं उनमें सबसे अधिक समीपी समरूप पश्चिमोत्तर भारत का स्वाँग है। सादृश्य यह है कि अभिनेता ही वर्णनात्मक पद्यों का पाठ करते हैं और संवाद में भी भाग लेते हैं। इस बात में संदेह करने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता कि प्रस्तुत नाटक में भी वही बात हुई होगी। हाँ, यह बात समझ में आने योग्य है कि यह मनोरंजन के उस प्रकार का अनुकरण है जिसमें वाचिक अंश ब्राह्मण बोलता जाता है, और उसके छोटे-छोटे शिष्य नाटक का अभिनय करते जाते है। जहाँ तक अभिनय का संबंध है, शौभिकों के साथ उसका सादृश्य कदाचित् दूर की कौड़ी है। परंतु हम कह सकते हैं कि यह साहित्यिक व्यायाम से अधिक कुछ नहीं है, और यही निर्णय **महानाटक** के विषय में भी चरितार्थ होता है। यह बात कि दोनों इस प्रकार बोलते हैं मानो व्यापार हो रहा हो, वास्तविक अभिनय का लक्षण नहीं है। आधुनिक युग का लिखित नाटक रंगमंचीय निर्देशों से भरा हुआ है, यद्यपि यह भी संभव है कि वह रंगमंच पर कभी भी अभिनीत न हो पाए। भारत में साहित्यिक नाटक के अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है।[३] यह रचना अत्यंत शैलीबद्ध है, और यदि कोई इसको समझ सकता है तो अभ्यस्त सामाजिक ही।

---

१. Ed. W. Caland, Amsterdam, 1917. मिला कर देखिए--ZDMG. lxxiv. 138 ff.; IA. xlix. 232 f.

२. नाटक के विसदृश स्वाँग आद्योपांत छंदोबद्ध होता है ; R. C. Temple, Legends of the Panjab, I. viii, 121.

३. यूनान में सार्वजनिक अभिनय की प्रभूत सुविधाओं के होते हुए भी पाठ्य नाटकों का आरंभिक काल में आविर्भाव हो गया था; Aristotle, Rhetoric, iii. 12. 2. गत कुछ वर्षों के अधिकांश नाटक साहित्यिक प्रतीत होते हैं.

प्रस्तावना में इस नाटक का **हनुमन्नाटक** के साथ संबंध स्पष्टतया स्वीकृत है। नटी आती है और प्राकृत में परंपरागत प्रश्न पूछती है कि कौन-सा नाटक खेलता है। सूत्रधार उसे बतलाता है कि यह नाटक प्राकृतमय न हो कर संस्कृत का ही है जो वष्णव सामाजिकों के ही योग्य है। स्वभावतः, नटी प्रश्न करती है कि प्राकृत के बिना कोई नाटक कैसे हो सकता है। सूत्रधार हनुमन्नाटक के सादृश्य द्वारा उसका उत्तर देता है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्रस्तुत नाटक साहित्यिक व्यायाम है, न कि किसी नाटकीय प्रस्तुतीकरण के जीवंत रूप का प्रतिनिधित्व करने वाला वास्तविक रंगमंचीय नाटक। किसी सामान्य नाटक से इसकी भिन्नता सूचित करने वाला तथ्य यह है कि इसमें वर्णनात्मक पद्य तथा गद्य मिलते हैं, और एक स्थल पर हमें विदित होता है कि ये अंश सूचक द्वारा सामाजिकों तक संप्रेपित किये गये है। **हेमचंद्र** को प्रमाण मान कर हम सूचक को सूत्रधार का समशील मान सकते हैं, और यदि हम यह कल्पना कर ले कि यह नाटक वस्तुतः खेला गया था[1] तो हमें यह मान लेना चाहिए कि नाटक के व्यापार में सहायता पहुँचाने के लिए सूत्रधार समय-समय पर बीच में आ जाया करता था।

इस नाटक का आरंभ धार्मिक कृत्य के साथ होता है। **कृष्ण** की आरती उतारी जाती है। वे गोपाल-वेप में हैं, और अपने भक्तों की पूजा स्वयं ग्रहण करते हैं। यह नाटक तत्त्वतः धार्मिक और रहस्यात्मक है। यह और बात है कि इसमें कृष्ण तथा उनके सखाओं एवं राधा तथा उनकी सखियों की केलि का पर्याप्त अंतर्निवेश है। तीसरे अंक में **वृंदा** अर्थात् **लक्ष्मी** के मुख से अनेक पद्यों द्वारा **कृष्ण** और **राधा** के तादात्म्य का रहस्यात्मक सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है; **कृष्ण** परम पुरुष हैं जिन्होंने गोपाल के वेप में पृथ्वी पर अवतार लिया है, और **राधा** उनकी शक्तिस्वरूपा हैं। चौथे अंक में **कृष्ण** के द्वारा गोपबालाओं के चीरहरण का परंपरा-प्रसिद्ध दृश्य है, परंतु वस्त्रों का प्रतिदान उनके भक्तिभाव की कसौटी है। वस्त्रों के मूल्य के रूप में **कृष्ण** उनकी भक्ति माँगते हैं, और बतलाते हैं कि उनके ज्ञान की प्राप्ति के साधन यज्ञ, वैराग्य और वेदों की अपेक्षा उनकी भक्ति श्रेष्ठ है। अंतिम अंक में हम पूर्णिमा और शरद् को इस बात पर खेद प्रकट करते हुए पाते हैं कि गोपबालाएँ **कृष्ण** के साथ रास-नृत्य नहीं कर रही हैं। **कृष्ण** आते हैं और वे उन्हें उनके इस कर्तव्य का स्मरण दिलाती हैं। वे अपनी योगमाया का आह्वान करते है और उसे आदेश देते हैं कि गोपों के घर जाकर गोपियों को

---

१. मिला कर देखिए—कदाचित् विल्सन द्वारा वर्णित उन्नीसवीं शताब्दी का चित्रयज्ञ (ii. 412 ff.)

रास-नृत्य के लिए बुला लाओ। तत्पश्चात् यह वर्णन है कि वे किस प्रकार स्वयं वहाँ पर जाते हैं और वंशी बजा कर गोपियों को आकर्षित करते हैं। उसी समय देव-गण आते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। इस प्रसंग में **भागवतपुराण** के अनेक पद्य उधार लिये गये हैं। अंत में भगवान् **कृष्ण** गोपियों की भक्ति स्वीकार करते हैं और उनके साथ रास करते हैं। इसका विवरण भी वर्णन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तदनंतर सूत्रधार कहता है कि भगवान् की महिमा का यथोचित रूप से प्रस्तुतीकरण असंभव है, और नाटक का उपसंहार कर देता है। बिना कहे ही हम तुरंत समझ सकते है कि लेखक **रामानुज** के प्रभाव में था। उसके पिता का नाम **देवजी**[1] था, इससे यह निश्चित अनुमान होता है कि वह आधुनिक काल का नाटककार है।

विक्रमोर्वशी के चौथे अंक में किसी अज्ञात समय में कुछ परिवर्तन किये गये है। ये परिवर्तन मनोविनोद के रूप की कुछ ऐसी झलक प्रस्तुत करते हैं जिसका प्रतिनिधान संस्कृत के किसी अब तक प्रकाशित नाटक में नहीं उपलब्ध होता। उस अंक में अंतर्निविष्ट अपभ्रंश के पद्य **कालिदास** के युग की रचना नहीं माने जा सकते। हाँ, उस भाषा का इतिहास फिर से लिखा जाए तो ऐसा हो सकता है। अपभ्रंश कोई बोली न हो कर एक साहित्यिक भाषा है, जिसका शब्द-समूह प्राकृत पर आश्रित है, और शब्दों के विभक्तिमय रूप जनपदीय भाषा पर, जिसमें प्राकृत-रूपों का भी स्वच्छंद प्रयोग हुआ है। **वलभी** के **गुहसेन** (जिनके ५५९-६९ ई० के अभिलेख उपलब्ध है) अपभ्रंश और साथ ही संस्कृत एवं प्राकृत के रचनाकार के रूप में प्रशंसित हैं। अतः छठी शताब्दी ई० में प्राकृत की अपेक्षा जनपदीय भाषा की अधिक निकटवर्ती रचनाओं के प्रयत्न के रूप में नये साहित्यिक रूप का आविर्भाव हुआ होगा, परंतु फिर भी उसका रूप उसी प्रकार साहित्यिक रहा जिस प्रकार आधुनिक बोलियों में विकसित साहित्य मुख्यतया संस्कृत पर निर्भर है। इस बात में संदेह करना कठिन है कि अपभ्रंश के पद्य नृत्य (Pantomime) के सांगीत-पाठ (libretto) का प्रतिनिधान करते हैं। इस प्रकार के नृत्य राजपूत-दरबारों में किये जाने वाले नाच के एक प्रकार के रूप में विख्यात है; नट किसी प्रसिद्ध दृश्य का अभिनय करते हैं, और वाद्य की गत पर पद्यों का गान करते हैं परंतु मुख्य तत्त्व हाव-भाव ही रहता है। जहाँ तक **विक्रमोर्वशी** पर आधारित नृत्य का प्रश्न है, राजा की उक्ति के रूप में प्रस्तुत किये गये पद्य

---

१. संपादक और विन्टरनित्स ने 'देवजीति' पाठ माना है जो असंगत (अशुद्ध) है.

किसी अभिनेता द्वारा गाये गये होंगे, परंतु विरही तथा हंसों से संबंध रखने वाले पद्य उसके अधीन अभिनय करने वाले गायकों अथवा गायिकाओं द्वारा गाये गये होंगे। सांगीत-पद्य के विपय में एक प्राकृत-बद्ध प्रस्तावना है। वहुत संभव है कि जिस रूप में उसका अंतर्निवेश किया गया था उस रूप में वह पूर्णतः उपलब्ध नहीं है। जो भी हो, इस प्रकार के उदाहरणों में सांगीत-पद्य का महत्त्व गौण है और कदापि पर्याप्त नहीं है। यह अनुमान तर्कसंगत है कि **विक्रमोर्वशी** में सांगीत-पद्यों का अंतर्निवेश इस रूपक के चौथे अंक को समझने में सामान्य सामाजिक द्वारा अनुभूत कठिनाई का परिणाम था। उस अंक में संस्कृत-पद्यों का अतिबहुल व्यवहार हुआ है, और इस कारण उन्हें समझने में सामाजिकों को अत्यंत कठिनाई हुई होगी। उक्त परिवर्तन का समय अनिश्चित है; भापा के आधार पर वह हेमचंद्र के वाद और **प्राकृतपिंगल**[1] के रचना-काल के पूर्व का माना गया है।

---

१. देखिए—Jacobi, भविसत्तकहा, p. 58n. यात्राओं का प्रभाव संभाव्य है; Windisch, Sansk. Phil. p. 407.

: १२ :

संस्कृत-नाटक की विशेषताएँ और उपलब्धि

संस्कृत-नाटक को हम औचित्यपूर्वक भारतीय काव्य की उत्कृष्टतम सिद्धि मान सकते हैं। उसमें भारतीय साहित्य के आत्मचेतन स्रष्टाओं द्वारा उपलब्ध साहित्यिक कला की चरम संकल्पना का सार है। यह कला तत्त्वतः अभिजात-वर्गीय थी। भारतीय नाटक उस अर्थ में कभी भी लोकधर्मी नहीं था जिस अर्थ में यूनानी नाटक इस विशेषता से युक्त है। भारतीय इतिहास के आरंभिक काल से ही भाषा-भेद में वर्ग-भेद का प्रतिबिंब मिलता है। संस्कृति मुख्यतया दो उच्चतर वर्णों ब्राह्मण और क्षत्रिय या शासक-वर्ग के लिए आरक्षित रही। इस विरलीकृत वातावरण में ही संस्कृत-नाटक का आविर्भाव हुआ, और धर्म तथा इतिहासकाव्य में उपलब्ध संकेतों से नाटक के निर्माण का श्रेय संभवतः विशेष परिष्कृत साहित्यिक-वर्ग को है। वस्तुतः, नाटक में और उसी प्रकार अन्यत्र विदूषित ब्राह्मण ही भारत की बौद्धिक श्रेष्ठता का स्रोत था। जिस प्रकार उसने भारतीय दर्शन का निर्माण किया, उसी प्रकार अपनी मेधा के दूसरे प्रयत्न द्वारा उसने नाटक के प्रकृष्ट और प्रभावशाली रूप का विकास किया। यह तथ्य स्मरणीय है कि ब्राह्मण बहुत समय तक इतिहासकाव्य-परंपरा के उत्तराधिकारी रहे, और उन्होंने इस परंपरा का नाटक के विकास में सदुपयोग किया।

अतएव नाटक में ब्राह्मणों के संबंध से प्रभावित आवश्यक लक्षण पाये जाते हैं। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था, वे व्यापक सामान्यीकरण में समर्थ थे, किंतु विवरणों की परिशुद्धता के विषय में उपेक्षाभाव रखते थे, और यथार्थवादी नाटक की रचना उनकी प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध पड़ती थी। तथ्यों अथवा पात्रों का यथावत् चित्रण उनकी दृष्टि में महत्त्वहीन था; उनका प्रयोजन सामाजिकों को रसानुभूति कराना था, और उन्होंने उन्हीं वस्तुओं के चित्रण का प्रयास किया जो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक थीं। पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं पर आश्रित परवर्ती आलोचनात्मक विश्लेषण से विदित होता है कि काव्य तत्त्वतः भाव-व्यंजना का माध्यम था। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक प्रतिफलन और विकास नाटक में हुआ। अतएव जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक नहीं है वह महत्त्व-

हीन है, और सच्चे नाटककार को चाहिए कि जो कुछ भी इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनुपयोगी है उसका सर्वथा तिरस्कार करे।

इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकलता है कि रूपक के उत्कृष्टतम रूप 'नाटक' में कथानक का तत्त्व गौण है।[1] कथानक की जटिलता से भावक का मन भाव से हट कर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो जाता, और इससे रसाभिव्यक्ति पर घातक प्रभाव पड़ता। इसलिए नाटककार नियमतः ऐसे प्रख्यात विषय का चुनाव करता है जो स्वयं ही प्रेक्षक को ऐसी मनःस्थिति में रखने में समर्थ हो जिससे वह तदनुरूप भाव से प्रभावित हो सके। तत्पश्चात् उसका यह कर्तव्य है कि विषय-निरूपण के कौशल द्वारा रचना के अनुरूप रस की पूर्णतम मात्रा में अभिव्यंजना करे। महान् नाटककारों ने मूलतः इसी कर्तव्य को अपना लक्ष्य बनाया, कालिदास ने **शकुंतला** की कहानी में परिवर्तन किया है, किंतु कथानक मात्र में सुधार करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि सामाजिकों द्वारा आस्वाद्य शृंगार रस की उत्कृष्ट अभिव्यंजना के लिए वह परिवर्तन आवश्यक था। **महाभारत** की अपरिष्कृत कथा में **शकुंतला** एक व्यावहारिक बुद्धि वाली युवती ही रहती है, और दुष्यंत एक स्वार्थी एवं रूप-लोभी प्रेमी ही रहता है। इन दोनों दोषों का परिहार करना आवश्यक था जिससे प्रेक्षक एक युवती के प्रथम प्रेम की सुकुमारता और एक राजा के सौजन्यपूर्ण अनुराग का (जो केवल अनिवारणीय शाप से आच्छन्न हो गया था) अपने मन में अनुभव कर सके।

परंतु, जिन भावों का इस प्रकार उद्रेक करना अभीष्ट था वे ब्राह्मण-जीवन-दर्शन से नितांत परिसीमित थे। किसी भी जीवन में मानव की स्थिति और उसके कर्म अकस्मात् संयोग पर निर्भर नहीं होते, वे तत्त्वतः उसके पूर्व-जन्म में किये गये कर्मों के परिणाम होते हैं, और वे पूर्व-कर्म भी अनादि काल से संचित कर्मों के परिणाम है। अतएव भारतीय नाटक उस अभिप्राय से वंचित है जो यूनानी त्रासदी (Tragedy) के लिए अमूल्य है। वह अभिप्राय है मनुष्य के कार्य-व्यापार में ऐसी शक्तियों का हस्तक्षेप जो उसके अनुमान और वश के बाहर हैं, और जो उसके मन के आगे ऐसी बाधाएँ खड़ी कर देती है जिनसे बड़ी-से-बड़ी बुद्धि एवं दृढ़तम संकल्प भी चूर हो जाते हैं। इस प्रकार की अवधारणा कर्म-सिद्धांत की कार्य-व्यवस्था को औचित्यहीन बना देती, और, लोक-मानस में कर्म

---

१. कथानक को त्रासदी (tragedy) की आत्मा मानने वाले अरिस्तू के सिद्धांत से तुलना कीजिए (Poetics, 1450 a 38).

का अपरिवर्तनीय स्वरूप (कर्म की अनिवार्य प्रवृत्ति में विश्वास का विकास होने के पहले) चाहे जितना अधिक प्रच्छन्न रहा हो, नाटक की सुचिंतित अभिव्यंजना में इस कर्म-सिद्धांत को भुलाया नहीं जा सकता था। इसीलिए संस्कृत-नाटक में ऐसा दृश्य नहीं मिलता जिसमें कोई सत्पुरुष अपरिवर्तनीय नियति के विरुद्ध निष्फल प्रयत्न करता हुआ दिखायी दे; यहाँ तक कि उस असत्पुरुष का भी चित्रण नहीं है जिसकी पराजय का स्वागत करते हुए भी हम उसकी वौद्धिक शक्ति और संकल्प की सराहना करते हैं। संस्कृत-नाटक की दृष्टि में असत्पुरुष का विनाश एक अपराधी का दंड-भोग मात्र है जिसकी यातना के प्रति हमारे मन में किसी भी प्रकार की सहानुभूति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का व्यक्ति किसी रूपक का नायक होने के उपयुक्त नहीं है। **उरुभङ्ग** के **दुर्योधन** को रूपक का नायक मानना प्राचीन साहित्य पर आधुनिक भावना का आरोपण मात्र है। **विष्णु** के प्रति अविनय और उनके तिरस्कार के कारण उसे न्यायतः दंड भोगना पड़ता है।

इससे तात्पर्य निकलता है कि जिन मुख्य रसों की अभिव्यक्ति करना संस्कृत-नाटक का लक्ष्य है वे वीर अथवा शृंगार हैं, और निर्वहण के उपयुक्त महत्त्वपूर्ण गौण तत्त्व के रूप में अद्भुत का मिश्रण कर दिया जाता है। अद्भुत की योजना पौराणिक कथाओं के आदर्श (कल्पित) पात्रों के साथ भली-भाँति मेल खाती है। इन कथाओं में मानवीय कार्य-व्यापार में दिव्य तत्त्वों का अंतःप्रवेश विना किसी असुविधा और अविश्वास के स्वीकार कर लिया जाता है। **शकुन्तला** अथवा **विक्रमोर्वशी** में समस्या के समाधान की सहज स्वीकृति इसी धारणा का परिणाम है। हाँ, नायक और नायिका को असफलता के संकट में डालने वाले प्रसंगों की सहायता के विना वीर और शृंगार का उद्रेक नहीं किया जा सकता; सच्चे प्रेम के मार्ग में आपत्ति और विघ्न का होना आवश्यक है, परंतु उसका उपसंहार फलागम में ही होना चाहिए। अतएव यह अपेक्षा करना असंगत है कि कोई नाटक वास्तविक त्रासदी हो सकेगा; अंततोगत्वा नायक और नायिका को मिलन और पूर्ण आनंद का फल मिलना ही चाहिए। **हर्ष** का **नागानन्द** इस नियम का उत्कृष्ट-तम उदाहरण है; आत्मवलिदान की गरिमा से यथार्थ त्रासदी का अनुमान होता है, परंतु भारत की भावना के साथ इसका कोई सामरस्य न होता, इसलिए इस जीवन में ही उस आत्मवलिदान की पूर्ण तथा अव्यवहित फल-प्राप्ति कराने के लिए **गौरी** का प्रवेश कराया गया है। भारतीय जीवन में किसी Antigone के चरित्र का सादृश्य प्रस्तुत किया जा सकता था, किंतु वह भारतीय नाटक की भावना के लिए ग्राह्य न होता।

भारतीय नाटक की भावना आदर्शवादी है, अतएव उसमें रसानुभूति के

विभाजन के लिए कोई अवकाश नहीं है; नायक के शत्रु को किसी भी मात्रा में नायक की प्रतिस्पर्धा करने की छूट नहीं दी जा सकती। इससे बढ़ कर ध्यान देने योग्य बात दूसरी नहीं है कि भारतीय नाटककार यह अनुभव करने में असमर्थ रहे हैं कि उनके द्वारा परिकल्पित **रावण**-जैसा महान् नाटकीय पात्र भी **सीता** के प्रेम के लिए **राम** का प्रतिस्पर्धी हो सकता है। विभिन्न नाटककारों की लेखनी से **रावण** का चित्रण विभिन्न रूपों में हुआ है, किंतु प्राय: सभी ने उसका एक विकत्थन और प्राय: जड़बुद्धि खलनायक के रूप में अपकर्ष किया है, जो अपने प्रतिद्वंद्वी **राम** से प्रत्येक बात में घट कर है। उसी प्रभावशाली ढंग से नायक और नायिका के मन में उठने वाले अंतर्द्वंद्व की संभावना का भी संस्कृत-नाटक ने बहिष्कार किया है।[1] यदि उसका निरूपण किया जाता तो वह सामाजिक के मन में भी उसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न करता, और रस की अन्विति एवं शुद्धता को नष्ट कर देता जिसकी सृष्टि करना ही नाटक का कार्य है।

इस प्रकार रसाभिव्यक्ति के लक्ष्य को दृष्टि में रख कर शैली का विवेचन और औचित्य-निरूपण किया गया है। प्रगीतात्मक पद्य प्रथम दृष्टि में विलक्षण रूप से अनाटकीय प्रतीत होते हैं।[2] यदि इस बात का स्मरण रखा जाए कि प्रत्येक पद्य सामाजिक के मन में कितने प्रभावशाली ढंग से उपयुक्त भाव का उद्रेक करता है, और संस्कृत-काव्य का मर्मज्ञ सामाजिक प्रत्येक पद्य के प्रभाव की अनुभूति के लिए उत्सुक है, तो इन पद्यों के संनिवेश का कारण स्पष्ट हो जाता है। नाटक में गद्य की सरलता अथवा उपेक्षा का भी यही समाधान है, और इस प्रकार के गद्य को सदोष नहीं कहा जा सकता। रसोद्रेक के लिए गद्य की आवश्यकता नहीं है। वह तथ्यों के संप्रेषण के प्रकार के रूप में ही प्रयुक्त होता है, और व्यापार को समझने में सामाजिक की सहायता करता है, जब तक कि पद्य के लालित्य द्वारा भावोद्रेक का अवसर नहीं उपस्थित होता। नीरस परिवेश में पद्य का आविर्भाव और भी अधिक प्रभावशाली होता है। जिनके विषय में हम बड़ी अस्पष्ट धारणा बना सकते हैं उन नृत्य, वाद्य, गीत और स्वाँग के महत्त्व का भी यही कारण है। नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में प्रतिपादित और प्रयोग में असंदिग्ध रूप से प्रचुरतया

---

१. वैषम्य के लिए देखिए— Aristotle, Poetics, 1453 ff.; G. Norwood, Greek Tragedy, pp. 209 f., 213 f.

२. यूनानी विद्वानों की अलंकारशास्त्र-विषयक प्रवृत्ति के तालमेल में, और नाटक की भाषा को सामान्य भाषा के समीप लाने के लिए यूनानी त्रासदी नाटक, गत प्रगीत-तत्त्व को क्रमश: कम करती गयी; Aristotle, Poetics, 1450 b 9; Rhetoric, iii. 1 and 2; Haigh, The Tragic Drama of the Greeks, ch. vi, § 3.

व्यवहृत अभिनय-संबंधी नियमावली का उद्देश्य सहृदयों के हृदय में नाटक के उपयुक्त रस का उद्रेक करना था।

'नाटक' का आदर्शवादी स्वरूप नाटिका तक भी व्याप्त है। नाटिका में यथार्थ जीवन के प्रति अधिक सूक्ष्म दृष्टि की संभावना की जा सकती थी। परंतु, नाटककारों ने यथार्थ-चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने पुराण-कथाओं से विषयों का चयन किया है, और अपने नायकों के तुच्छ प्रणय-प्रसंगों पर इस बात का मोहक रंग चढ़ाया है कि एक युवती के साथ किया गया विवाह उन्हें सार्वभौम सम्राट् बना देगा। इस प्रकार नाटिका का व्यापार बहुविवाह की परिस्थितियों में प्रचलित रनिवास-प्रणाली की घरेलू समस्याओं के चित्रण के रूप में अपकृष्ट होने से बच गया है। उन नाटककारों का लक्ष्य यथार्थवाद नहीं है, वे सहृदय के मन में शृंगार रस का उद्रेक कराने के लिए रति, ईर्ष्या, वियोग और पुनर्मिलन का रूढ़िबद्ध विधान कर के संतुष्ट हो गये हैं। प्रकरण में भी इसका वस्तुतः अपवाद नहीं मिलता; उसमें यथार्थवाद की संभावना की जा सकती थी। क्योंकि उसका लेखक थोड़ा नीचे उतर कर ऐसे नायक का चित्रण करता है जो राजा अथवा दिव्य पुरुष से निम्न कोटि का है। हाँ, **मृच्छकटिका** का लेखक अपने पात्रों में वास्तविकता और जीवन की झलक प्रस्तुत करने में अवश्य समर्थ है। परंतु, **भवभूति** के **मालतीमाधव** में शृंगार-व्यंजना के प्रकारों के अतिरिक्त और कुछ नही दिखायी देता। वीर रस की अभिव्यक्ति और इतिहासकाव्य-परंपरा से विषय का चयन करने वाला व्यायोग भी समान रूप से आदर्शपरक है।

भारतीय विचारधारा की इन परिस्थितियों के कारण वास्तविक त्रासदी हमें नहीं मिलती, और कामदी (comedy) भी अपने किसी उत्कृष्टतर रूप में दुष्प्राप्य है। नाटिका अथवा प्रकरण में उत्कृष्ट कामदी की आशा की जा सकती थी, परंतु शृंगार रस ने अनुचित सीमा तक उसके महत्त्व को घटा दिया है। यद्यपि उसका अभाव नहीं है तथापि वह अपेक्षाकृत अविकसित है। प्रहसन और भाण वस्तुतः रस की अनुभूति कराते हैं, परंतु अवनत और घटिया रूप में ही। इस तथ्य से यह सूचित होता है कि संस्कृत-नाटक रचना के उपयुक्त दोनों रूपों (त्रासदी और कामदी) में से किसी एक के नमूने के परिरक्षण में असफल रहा है।

जिन बौद्धिक प्रवृत्तियों ने संस्कृत-नाटक का निर्माण किया था उनकी विशेषताओं से परिसीमित होने के कारण वह यूनानी त्रासदी अथवा कामदी की उत्कृष्टता नहीं प्राप्त कर सका। संस्कृत के महत्तम नाटककार कालिदास जीवन के विधान और संसार की कार्य-प्रणाली के नियम में उद्विग्नता का तनिक भी अनुभव नहीं करते। वे बिना किसी संदेह एवं असंतोष के ही भारतीय समाज-व्यवस्था को

स्वीकार कर लेते हैं। उनके विषय में गेटे[1] (Goethe) की उक्ति है—

> **क्या कहीं वसंत के फूल और ग्रीष्म के फल एक-साथ हैं ?**
> **क्या कहीं मन का रसायन है, तृप्ति है, मोहनी है ?**
> **क्या कहीं स्वर्ग और भूतल का वैभव एकीभूत है ?**
> **उत्तर में केवल शकुन्तला का नाम पर्याप्त है; उसमें सब-कुछ है ।**

इसमें संदेह नहीं कि यह प्रशंसा अंगतः न्यायोचित है, किंतु इसमें औचित्य का अतिक्रमण भी सरलता से देखा जा सकता है। मानव-जीवन के गंभीर प्रश्नों के विषय में कालिदास ने हमें कोई संदेश नहीं दिया है। जहाँ तक हम समझ सकते हैं, वे प्रश्न उनके अपने मन में उठे ही नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-शासन-काल में पुनःप्रतिष्ठित समग्र ब्राह्मण-व्यवस्था से वे पूर्णतः संतुष्ट थे, और संसार के विषय में सर्वथा निश्चिंत थे। मनोमोहक और अत्यंत उत्कृष्ट होने पर भी **शकुन्तला** का संसार संकुचित है, और यथार्थ जीवन की कठोरता से बहुत दूर है। उसमें जीवन के उलझनमय प्रश्न न तो सुलझाये गये हैं और न ही उनके उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। यह सत्य है कि भवभूति ने जीवन की जटिलता और कठिनाई, दो धर्मों के परस्पर संघर्ष तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न शोक के प्रति संवेदनशीलता दिखलायी है, परंतु उनके साथ भी यह नियम अभिभावी रहा है कि सबका उपसंहार समरसता में होना चाहिए। प्राचीनतर कहानी में जो **सीता** अपने पति से सदा के लिए वस्तुतः दूर कर दी जाती हैं—उस पति से, जिसने उनके साथ ऐसा व्यवहार किया मानो **रावण** के यहाँ बंदिनी रहने के कारण उनका पातिव्रत कलुषित हो गया हो—वे **सीता राम** को लौटा दी जाती हैं। परिशुद्धि के पश्चात् अंतिम विच्छेद की तुलना में यह उपसंहार बहुत कम नाटकीय है। संस्कृत-नाटक का समूचा इतिहास इस बात का साक्षी है कि ब्राह्मण-जीवनदर्शन ने नाटक-संबंधी दृष्टिकोण को कितने गंभीर रूप से संकुचित कर दिया है।[2] इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण-परंपरा के कारण ही **चण्डकौशिक**-जैसे

---

१. गेटे की मूल उक्ति इस प्रकार है—

Willst du die Blüthe des frühen, die Früchte des späteren Jahres,
Willst du, was reitz und entzückt, willst du, was sättigt und nährt,
Willst du den Himmel, die Erde, mit einem Namen begreifen,
Nenn'ich Śakuntalā dich, und so ist alles gesagt.

२. यूनानी त्रासदी से तुलना कीजिए; Butcher Greek Genius, pp. 105 ff., G. Norwood, Greek Tragedy, pp. 97 f., 114 f. 128 f., 177, 318, 324; W. Nestle, Euripides (1901).

नाटक की रचना हुई है जिसमें वदान्यता के कारण हतभाग्य राजा के प्रति ऋषि **विश्वामित्र** द्वारा की गयी प्रतिहिंसा के द्वारा तर्क-बुद्धि और मानवता की अत्यंत अवहेलना की गयी है।

इतिहासकाव्य पर अतिशय निर्भरता के कारण भी नाटक की क्षति हुई, कवि यह समझने में असमर्थ रहे कि इतिहासकाव्य के अधिकतर विषय कुल मिला कर अनाटकीय थे। इसलिये प्रायः, उदाहरणार्थ **राम**-विषयक और **महाभारत** पर आधारित नाटकों में, हम देखते हैं कि इतिहासकाव्य के आख्यान को यथार्थ नाटकीय विधान के बिना ही एक अर्धनाटकीय रूप में फिर से ढाल भर दिया गया है। नाट्यशास्त्र में ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जो इस प्रकार की पद्धति की त्रुटि की ओर संकेत करे। इसके विपरीत, इस प्रकार का विषय कवियों को अत्यंत उपयुक्त जँचा, क्योंकि वह स्वयं ही अभीष्ट रसों का व्यंजक था, और कवियों के लिए केवल इतना ही कर्तव्य शेष रह गया था कि वे उन रसों के प्रभाव को तीव्रतर बना दें। इसका परिणाम यह हुआ कि वे बाह्य लक्षणों की ओर अग्रसर हुए और नाटक की अवनति होने लगी। रचना-कौशल से पूर्ण प्रगीतात्मक अथवा वर्णनात्मक पद्यों के अतिरिक्त अन्य किसी बात में उनकी अभिरुचि नहीं रही। उनकी रचना-विषयक धारणा ऐसी रुचि पर आश्रित थी जो दिनोंदिन नीचे गिरती गयी और जिसके अनुसार सुबोधता का तिरस्कार कर के दुर्बोधता को महत्त्व दिया जाने लगा। पश्चात्कालीन कवियों के लिए नाटक शैली का वैदग्ध्य-पूर्ण अभ्यास है, और भारतीय साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं की तुलना में अपरूप एवं निकृष्ट है।

ब्राह्मण-आदर्श में व्यक्तिता का कोई महत्त्व नहीं है; जीवन-व्यवस्था का प्रकार निर्धारित है, उससे हटने की गुंजाइश नहीं है; वर्ण-व्यवस्था नियम-बद्ध है, और प्रत्येक आश्रम के धर्म निश्चित हैं जिनसे विमुख होना अवांछित एवं आपत्ति-जनक है। तदनुसार संस्कृत-नाटक केवल प्रकारात्मक पात्रों की ओर ध्यान देता है, व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर नहीं। **अरिस्तू** और उसी प्रकार आधुनिक दृष्टि-विंदु से **राम**-विषयक नाटकों में केवल यही दोष है कि **राम** की संकल्पना अवगुण-रहित पुरुष के आदर्श-रूप में की गयी है, और इसलिए हमारी दृष्टि से उनमें मानवता की आवश्यक विशेषताओं की कमी है। उसी प्रकार नाटक की शैली में वर्गों के विसदृश व्यक्तियों के वैचित्र्य का निरूपण नहीं मिलता। संस्कृत अथवा प्राकृत एवं विभिन्न प्रकार की प्राकृतों की भिन्नता से पुरुषों तथा स्त्रियों और उच्चवर्गीय एवं निम्नवर्गीय व्यक्तियों का तात्त्विक अंतर अवश्य सूचित होता है, परंतु नाटक-गत चरित्र-चित्रण इसके आगे नहीं बढ़ा है। उन नाटकों की

कृत्रिम दरबारी भाषा रूढ़ मनोभावों के अनुरूप है; परिष्कृत, ललित, भावुकता-पूर्ण, दरबारी सभ्यता के स्तुतिवाद से भरी हुई, सामान्यतः प्रसिद्ध दार्शनिक उक्तियों की विशिष्ट शैली से युक्त, और भावी घटनाओं के सूचक व्यंग्यार्थों तथा द्व्यर्थकताओं से पूर्ण है। परंतु नाटककारों ने व्यक्तित्व-विशिष्ट पात्रों के सर्जन, और उन्हे उनकी अपनी भाषा देने का गंभीर प्रयत्न नहीं किया। जहाँ तक चरित्रचित्रण का संबंध है, गुण की दृष्टि से विभिन्न पात्रों में बहुत अंतर है, किंतु सुदरतम नाटक भी प्रकारों का चित्रण करते हैं, व्यक्तियों का नहीं।

व्यक्तित्व की उपेक्षा का आवश्यक परिणाम हुआ व्यापार की उपेक्षा, और उसके फलस्वरूप कथानक की उपेक्षा। इसी आधारभूत दृष्टिकोण के कारण संवादों की क्रमशः उपेक्षा होती गयी और पद्यों के प्रति रुचि बढ़ती गयी। पद्यों में सामान्य की अभिव्यंजना है। उनमें प्रकृति के पक्षविशेष के सौंदर्य के अथवा प्रियतमा की मनोहरता के अति संघनित किंतु साथ ही प्रायः अत्यंत कवित्वमय चित्र अंकित किये गये हैं, अथवा वे आचार एवं जीवन की समस्याओं के ब्राह्मणिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है, नायिका का वर्णन किया जा सकता है किंतु वह केवल प्रकारात्मक है। ये पद्य सामाजिकों को रुचते हैं। पात्रों एवं संबद्ध दृश्यों के अनुपयुक्त भावों की योजना के कारण Euripides के विरुद्ध जिस प्रकार की आलोचना का बवंडर यूनान में खड़ा हुआ था उस प्रकार की आलोचना की प्रतिध्वनि (इन पद्यों के विरुद्ध) भारत में नहीं मिलती। इस बात का कोई संकेत नहीं पाया जाता कि भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने कभी यह मत व्यक्त किया हो कि दसवीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटक ह्रासोन्मुख हो चला था।

नाटक की विशिष्ट और परिसीमित दृष्टि उसके ब्राह्मणिक स्वरूप से घनिष्ठतया संबद्ध थी। यूनान का नाटक लोकधर्मी था। सभी स्वतंत्र एथीनियन (Athenian) नागरिक[1] उसे पसंद करते थे। जिस समाज के लिए संस्कृत और प्राकृत में भारतीय नाटक रचे गये थे उसकी अपेक्षा यह वर्ग कहीं अधिक व्यापक था। यूनानी नाटक ऐसी भाषा में लिखा गया था जिसको अभिनय के दर्शक सरलता से समझ लेते थे। भारत के ज्ञात नाटकों के आदिम काल से ही उनमें प्रयुक्त वाक्यों का सम्यक् अवधारण सामाजिकों के एक परिमित वर्ग तक सीमित रहा

---

१. एथेन्स के बाहर इसके प्रसार और लोकप्रियता के लिए देखिए—Haigh, The Tragic Drama of the Greeks, chap. vi, 4.

होगा। परंतु, उस वर्ग को नाटक के अभिनय, गीत, नृत्य और वाद्य में यथेष्ट रस मिलता था, और उसमें इतना पर्याप्त सामान्य ज्ञान था कि वह नाटक को भली-भाँति समझ सके। अस्तु, इस प्रकार के सामाजिकों ने नाटककारों को परिष्कार तथा कलात्मक विस्तार के लिए प्रोत्साहित किया। भारतीय नाटककार बोधगम्य होने की प्रमुख आवश्यकता को (जिसको यूनानी नाटककार ने महत्त्व दिया था) उपेक्षित कर के गूढ़ और छांदसिक रूप तथा शब्द-विन्यास में उसके कौशल की अभिव्यक्ति करने वाली वस्तु के निर्माण में प्रवृत्त हो सकता था। संस्कृत सामान्य जीवित भाषा नहीं थी, इस तथ्य ने उसको शब्दकोशों[1] में प्रस्तुत किये गये पर्याय कहे जाने वाले शब्दों के विशाल समूह के स्वच्छंद प्रयोग का प्रलोभन दिया। कोई भी पश्चात्कालीन नाटककार उससे ऊपर नहीं उठ सका। प्रत्येक जीवित भाषा में पर्यायवाची शब्दों की अर्थच्छाया में सूक्ष्म अंतर होता है, और लेखक को शब्दविशेष का उसके सटीक अर्थ में प्रयोग करना पड़ता है, परंतु संस्कृत का नाटककार इस प्रकार की क्लेशकारिणी आवश्यकता से मुक्त था।

नाटकों के सार्वजनिक अभिनय द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करना कवि के लिए चाहे जितना महत्त्वपूर्ण रहा हो, उनकी ख्याति अधिकतर उनके पढ़े जाने पर निर्भर थी, प्रेक्षित होने पर नहीं। इस तथ्य के कारण भी उनकी कृत्रिमता की प्रवृत्ति को निस्संदेह प्रोत्साहन मिला। उपलब्ध काव्यों की लोकप्रियता और संख्या से यह प्रमाणित होता है कि ऐसे प्रभावशाली जन-समूह का अस्तित्व था जिसने यदि रचनाओं को पढ़ा नहीं तो कम-से-कम दूसरों के मुख से उनकासस्वर पाठ सुन कर आनंद लिया। अतएव नाटकीय रूप का अनुसरण करते हुए नाटककार साहित्य की इस विधा में काव्य-जनित प्रभावों से स्पर्धा करने के लिए प्रोत्साहित हुआ। काव्य के समूचे इतिहास में शैलीगत चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका प्रभाव भी नाटक की चमत्कारपूर्ण शैली के विस्तार का बहुत-कुछ कारण रहा होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि **कालिदास** के नाटकों में अपेक्षाकृत सरलता दृष्टिगोचर होती है; **भवभूति** के नाटकों, और **भारवि** तथा **माघ** के काव्यों में पायी जाने वाली जटिलता की तुलना में उसका वैषम्य प्रभावशाली है।

भारतीय नाटक को समझने में हमें **वात्स्यायन**[2] के विलक्षण और महत्त्व-

---

१. Gawron'ski, Les sources de quelques drames indiens, pp., ff.

२. Schmidt का *Beiträge zur indischen Erotik* भी देखिए।

पूर्ण ग्रंथ **कामशास्त्र** अथवा **कामसूत्र** से सहायता मिलती है। वे **कालिदास** और उनके परवर्ती नाटककारों की कृतियों से निस्संदेह परिचित थे। जिस जगत् ने संस्कृत-नाटक को जन्म दिया था उसमें सांसारिक सुखभोग की निंदा करने वाले बौद्धधर्मदर्शन के दुःखवाद का स्थान महान् सांप्रदायिक देवताओं **शिव** और **विष्णु** की पूजा ने ग्रहण कर लिया था जिनकी सेवा में भौतिक आनंद-भोग विहित एवं उचित था। स्वयं बौद्ध लोग सुखमय जीवन की प्रबल आवश्यकता का निश्चित रूप से अनुभव करने लगे थे। ऐसे पद्य उपलब्ध हैं जिनमें नारियों, मदिरा, सुख-मय जीवन और विलास के प्रति उनकी रागात्मक प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है। इस बात का भी प्रचुर साक्ष्य विद्यमान है जिससे सूचित होता है कि बौद्ध-संघ में कठोर संयम का ह्रास हो चला था। **हर्ष** की धार्मिक उदारता विशेष अर्थसूचक है। **ह्वेन सांग** ने बतलाया है कि प्रयाग के महान् उत्सव में उसने (हर्ष ने) समन्वयवादी नीति से काम लिया, पहले दिन **बुद्ध** की पूजा की, दूसरे दिन अपने पिता के इष्टदेव **सूर्य** की, और तीसरे दिन **शिव** की। इससे निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध-धर्म में उसकी एकनिष्ठ आस्था नहीं थी। यदि बौद्धों की भावना के विलक्षण परिवर्तन के विषय में किसी प्रकार का संदेह हो तो वह **नागानन्द** के आरंभिक नांदी-श्लोक से दूर हो जाता है जिसमें ऐसे **बुद्ध** का अभिवंदन किया गया है जिनकी निष्ठुरता का अंत करने के लिए मार-वधुओं का पूरा दल जुटा हुआ है। स्पष्ट है कि उस युग में अन्य मतों को आदर देने की विधि बहुत आगे बढ़ चुकी थी। उसी के समान उस युग के दर्शन में भी प्राचीन बौद्ध-सिद्धांतों के प्रति गंभीर अभिरुचि की कमी पायी जाती है। दुःख और दुःख-निरोध के आर्य-सत्यों के स्थान पर तार्किक अध्ययन का विशद विकास पाया जाता है। बौद्ध-क्षेत्रों के बाहर उस युग की सर्वोत्कृष्ट वस्तु सांख्य-दर्शन का जटिल और अद्‌भुत शास्त्र है जिसमें प्रकृति की उपमा एक नर्तकी से दी गयी है जो अपने प्रदर्शन द्वारा प्रेक्षकों को तुष्ट कर के रंगमंच से तिरोहित हो जाती है। इस प्रकार उसमें अपने युग की कलात्मक भावना का प्रतिबिंब प्रस्तुत किया गया है। भारत के राज-घरानों से अशोक की भावना का सर्वथा लोप हो गया था, और दरबारों में परिष्कृत मनोरंजन की उसी प्रकार माँग थी जिस प्रकार वे कला में लालित्य चाहते थे। उनकी सांसारिक स्पृहा जीवन के आनंद में केंद्रित थी। समय-समय पर मनाये जाने वाले उत्सव अपने धूम-धड़ाके से दरबार और जनता का मनोरंजन करते थे। मध्यावकाश मे राजप्रासाद और अंतःपुर के मनोविनोद थे—जल-क्रीड़ा, हिंडोला, पुष्प-चयन, गीत, नृत्य, स्वाँग और इस प्रकार के अन्य आमोद-प्रमोद जो राजाओं के अनंत अवकाश को बिताने के लिए आवश्यक थे। राजा

लोग अपने राज्य का कारबार मंत्रियों तथा सैनिकों पर छोड़ देते थे, और काम-क्रीड़ा के परिश्रम की तुलना में किसी गंभीर श्रमसाध्य कार्य के लिए अपनी आवश्यकता ही नहीं समझते थे। संपन्न प्रजा अपने राजाओं की रीति का वानरवत् अनुकरण करती थी, और उन लोगों के आमोद-प्रमोद में सहायक होने वाले दरबारियों तथा पीठमर्दों की कमी नहीं थी। **कामसूत्र**[1] में आलिखित नागरक संपन्न और संस्कृत है; इत्र-फुलेल, माला आदि से युक्त वेषभूषा और शारीरिक अलंकरण का ध्यान रखता है; वह संगीतज्ञ और पुस्तक-प्रेमी है; पालतू पक्षी उसके नेत्रों को आनंद देते हैं, और उन्हें बोलना सिखा कर वह मनबहलाव करता है; लता-मंडप से युक्त रमणीक उद्यान उसको विश्राम और मनोरंजन की सुविधा प्रदान करता है। उसका दिन का समय प्रसाधन, मुर्गों की लड़ाई, भेड़ों की लड़ाई और समीपवर्ती प्रदेश की सैर में बीतता है; जब कि रात का समय संगीत-गोष्ठी अथवा नाच-गान के बाद काम-क्रीड़ा में; जिसका इतना विस्तृत निदर्शन **कामसूत्र** में मिलता है जितना काम-कला के किसी आचार्य को कभी नहीं सूझा था। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए बहुविवाह का विलास पर्याप्त नहीं था। उसे गणिकाओं की संगति का आनंद लेने की छूट है, और उनमें (जैसा कि एथेन्स में होता था) उसे बौद्धिक आनंद मिलता है जिससे उसकी धर्मपत्नियाँ वंचित रखी गयी हैं। उन गणिकाओं और उसे घेरे रहने वाली ऊँच-नीच आश्रित-मंडली के अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत एवं संस्कृत जनों के साथ वह साहित्यिक विचार-चर्चा का आनंद और कवियों तथा नाटककारों की उत्कृष्ट कृतियों का रस ले सकता है। इस प्रकार के स्वभाव से किसी पराक्रम की आशा नहीं की जा सकती, और कवियों को इस वस्तुस्थिति का सम्यक् बोध है; इसके विपरीत वह परिष्कार, सौंदर्य तथा विलास चाहता है, और इस माँग की सर्वशः पूर्ति की गयी है। प्रेम स्वभावतः मुख्य विषय है, किंतु चित्रित समाज की परिस्थितियों के कारण नाटककारों को एक गंभीर कठिनाई का सामना करना पड़ा है। उन्होंने नायक-नायिकाओं को उस स्वच्छंद प्रेम के आदर्श से वंचित रखा है जो उन दो व्यक्तियों में होता है जो स्वतंत्र हैं, दूसरे पर आश्रित नहीं है और अपने भाग्य के स्वयं विधाता हैं। उनका शृंगार राजा और उस युवती के रूढ़िबद्ध प्रेम-चक्र तक सीमित है जो उसकी पत्नी होने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है, किंतु संयोगवश उसके अंतःपुर में हीन अवस्था में प्रविष्ट करा दी गयी है।

नाटककारों का मुख्य लक्ष्य राजा का अनुग्रह प्राप्त करना था। कृतियों की

---

१. pp. 57ff.; Keith, Sansk. Lit. pp. 29. ff.

रचना में राजाओं का वस्तुतः जो भी भाग रहा हो, वे नाटकों तथा अन्य रचनाओं पर अपना नाम देने के लिए स्पष्ट रूप से बहुत इच्छुक थे। हर्ष के विषय में यह जनश्रुति प्रचलित रही है कि बाण के यश का लोप करके उन्हें अंशतः ख्याति प्राप्त हुई थी। उस राजा के विषय में इस प्रकार की धारणा अनुचित हो सकती है, परंतु इससे सूचित होता है कि काव्य-जगत् में इस प्रकार की घटना की संभावना में लोगों का विश्वास था। इसके साथ ही यह बात वस्तुतः अविश्वसनीय जँचती है कि कोई राजा इतना सशंक हो सकता है कि वह अपने साहित्यिक प्रयत्नों में अपने दरबारी कवियों की सहायता को अस्वीकार कर दे। राजा लोग कवित्व-प्रदर्शन की प्रतिस्पर्धा को पसंद करते थे, परंतु केवल वे ही आश्रयदाता नहीं थे। उनके कार्यों ने अनुकरण[1] को प्रेरणा दी। बौद्ध और जैन क्षेत्रों में भी धर्म के संबंध में नाटक के माध्यम का उपयोग किया गया। ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों द्वारा दर्शन और धर्म के उद्देश्य से प्रयुक्त होने पर भी नाटक वीरता-प्रेमी सभ्य समाज में आरंभ से ही अधिक प्रभावशाली रहा। **नागानन्द** में बौद्ध विचारों की, **प्रबोधचन्द्रोदय** में ब्राह्मण-दर्शन की, और **मोहपराजय** में जैनधर्मदर्शन की उत्साहमयी अभिव्यंजना से यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है।

निश्चित था कि इस प्रकार का समाज काव्य में परिष्कार और लालित्य को प्रोत्साहन देगा; साथ ही यह भी निश्चित था कि वह काव्य को कृत्रिमता एवं अयथार्थता की ओर ले जाएगा। परंतु इस बात में संदेह नहीं है कि वह समाज रस-मर्मज्ञ था। यह तथ्य **कालिदास** के नाटकों जैसी रचनाओं के अस्तित्व और ख्याति से ही नही प्रमाणित है, अपितु समशील संगीत-कला के क्षेत्र में भी रस-मर्मज्ञता की अभिव्यंजना मिलती है। **शूद्रक** ने **मृच्छकटिका** के तीसरे अंक में किंचित् परिवर्तन के साथ **भास** का अनुसरण करते हुए **चारुदत्त** के मुख से संगीत के प्रभाव का महत्त्वपूर्ण विवेचन कराया है। **रेभिल** के मधुर गीत ने उसको बहुत प्रभावित किया है, उसके खिन्न मन को आश्वासन दिया है; परंतु उसका अनन्य मित्र **मैत्रेय** उस गीत से अप्रभावित है। **चारुदत्त** उसके प्रति अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है—

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।

---

१. मंख, **श्रीकण्ठचरित** xxv.; **भोजप्रबन्ध**, **विक्रमाङ्कदेवचरित**, **काव्यमीमांसा**, pp. 49 ff.

किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥[१]

'निश्चय ही उसका गीत रागयुक्त, मधुर, लय-ताल के अनुरूप, स्फुट, भावान्वित, ललित और मनोहर था। अथवा, मेरे द्वारा कहे गये इन प्रशंसात्मक वाक्यों से क्या लाभ ? मुझे तो ऐसा आभासित होता है कि पुरुष-रूप में प्रच्छन्न कोई रमणी गा रही थी; पुरुष नहीं। तुम से सच कहता हूँ कि यद्यपि गीत का समय वीत चुका है तथापि मुझको ऐसा लगता है कि मै अव भी उसके कोमल कंठस्वर के आरोहावरोह को, गीत की ध्वनि के साथ एकीकृत, अक्षरों की मूर्च्छना के अंतर्गत उच्च तथा समाप्ति के समय मृदु वीणा-नाद को, आरोहावरोह के औचित्य से युक्त एवं रागानुसार दुहराये गये गीत को सुनता हुआ-सा चल रहा हूँ।'

राजशेखर[२] ने उन विद्याओं का विस्तृत विवरण दिया है जिनका अध्ययन एक सिद्ध कवि बनने के लिए अपेक्षित है। कवि अपनी रुचि के अनुसार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची अथवा भूतभापा में से किसी को भी अपनी रचना का माध्यम वना सकता था। कवि के लिए व्याकरण, शब्दकोश, काव्यशास्त्र और छंदःशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। उसे चौंसठ कलाओं का भी ज्ञाता होना चाहिए। मन, वचन एवं शरीर की शुद्धता तथा आकर्षक परिवेश की भी आवश्यकता है। कवि के दासों को अपभ्रंश का, दासियों को मागवी का, अंतःपुर के लोगों को प्राकृत तथा संस्कृत का, और उसके मित्रों को सभी प्रकार की भापाओं का व्यवहार करना चाहिएं। ऐतिहासिक सत्य का ध्यान न रखते हुए (जो क्षम्य है) उन्होंने वतलाया है कि ऐसे राजा हुए है जिन्होंने कर्णकटुत्व के कारण कतिपय वर्णो एवं संयुक्त ध्वनियों के प्रयोग का अपने अंतःपुर में निषेव कर रखा था, और कवि लोग उनके व्यवहार का अनुकरण कर सकते हैं। हमें यह भी ज्ञात होता है कि वंगाल के लोगों में संस्कृत का, लाट में प्राकृत का, मारवाड़ में एवं टक्कों तथा भादानकों

१. डा० कीथ ने Ryder के पद्यबद्ध अनुवाद की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, यहाँ पर 'मृच्छकटिक' के मूल पद्य उद्धृत किये हैं; मृच्छकटिक (सं० काले), ३।४-५.

२. काव्यमीमांसा, p. 49 ff.

द्वारा अपभ्रंश का व्यवहार किया जाता था, और अवंती, परियात्र तथा दशरूप में भूतभाषा प्रचलित थी। अन्यत्र[1] बतलाया गया है कि सुराष्ट्र-निवासी और त्रवण लोग संस्कृत एवं अपभ्रंश का मिश्रण करते थे। काश्मीरी कवियों के संस्कृत के उच्चारण के ढंग पर आक्षेप किया गया है। पांचाल के कवियों की संगीतात्मकता के विरुद्ध उत्तर के कवियों के अनुनासिक उच्चारण पर भी टिप्पणी की गयी है। यह भी विदित होता है[2] कि अन्य स्थानों से उपलब्ध ज्ञान का अपनी रचनाओं में उपयोग करने के लिए कवि लोग यात्राएँ भी किया करते थे।

राजशेखर[3] ने नारियों की शक्ति का भी दृढ़ समर्थन किया है : राजकुमारियाँ, मंत्रियों की पुत्रियाँ, गणिकाएँ और विदूषकों की पत्नियाँ काव्य-रचना में निपुण थीं, क्योंकि काव्य-रचना की प्रतिभा का निर्माण करने वाली शक्ति मन का धर्म है, अत: लिंग से वह किसी भी प्रकार संबद्ध नहीं है। राजशेखर के मतानुसार पूर्वजन्म के संस्कारों के परिणामस्वरूप काव्य-रचना की शक्ति प्राप्त होती है, और उन्होंने तर्कसंगत ढंग से प्रतिपादित किया है कि उस पर लिंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। परंतु, यद्यपि सुभाषितसंग्रहों में कवयित्रियों के पद्य उद्धृत किये गये हैं, अनेक कवयित्रियों के नामों का पता है, और स्वयं राजशेखर की पत्नी अवंतिसुंदरी काव्यशास्त्र की आप्त पंडिता प्रतीत होती है तथापि यह बात असंदिग्ध है कि किसी नारी के द्वारा लिखित कोई महत्त्वपूर्ण नाटक उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनान की भाँति भारत में भी सामाजिक रूढ़ियों के कारण ही ऐसा हुआ, क्योंकि यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं है कि राजशेखर के द्वारा उल्लिखित विचक्षण नारियों ने (और उनकी संख्या निस्संदेह पर्याप्त थी) उत्कृष्ट रूपकों की रचना नहीं की होगी।

---

१. काव्यमीमांसा, p. 33. २. वही, p. 78. ३. वही, p. 53.

III

नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र

१. नाट्यकला-विषयक ग्रंथ

पाणिनि ने (जिनका समय असंदिग्ध रूप से ३०० ई० पू० के पहले है) अपने व्याकरण में **शिलालिन्** और **कृशाश्व** द्वारा संगृहीत **नटसूत्रों** का निर्देश किया है जिनमें नटों की शिक्षा के लिए नियमों का निरूपण किया गया है। प्रोफ़ेसर हिलब्रान्ड[1] ने सुझाव दिया है कि ये कृतियाँ भारतीय नाटक की प्राचीनतम पाठ्य-पुस्तकें मानी जानी चाहिएँ। परंतु हमें इस बात का कोई अन्य संकेत नहीं मिलता कि **पाणिनि** को नाटक के प्रयोग की जानकारी थी, और इससे एकमात्र उचित निष्कर्ष यही निकलता है कि ये नियम नर्तकों अथवा, कदाचित्, स्वाँगियों के लिए प्रस्तुत किये गये थे। इस निष्कर्ष का प्रबल समर्थन इस तथ्य से होता है कि नाट्य-परंपरा इन नामों से सर्वथा अपरिचित है, और उनके स्थान पर **भरत** को नाटक का प्रवर्तक आचार्य मानती है। यह ठीक है कि देवताओं की प्रार्थना पर देवों में श्रेष्ठ **ब्रह्मा** ने स्वयं ही वेद-चतुष्टयी (जिसमें धर्मशास्त्र और मंत्र-विद्या के तत्त्व पाये जाते हैं) के प्रतिरूप के रूप में नाटक-निरूपक लोकधर्मी नाट्यवेद की रचना की, किंतु यह नाट्यवेद लोक में प्रचलित नहीं है। दूसरी ओर, **भरत** का कार्य देवताओं के आनंद के लिए अप्सराओं के अभिनय का निर्देशन करता था, और उन्हें नाट्यकला के प्रयोग का अनुभव था। यद्यपि उनका **नाट्यशास्त्र** ईश्वर-प्रेरित नहीं है तथापि उसमें पवित्रता की कुछ-न-कुछ मात्रा अवश्य है। इस ग्रंथ में उन्होंने नाटकीय सिद्धांतों का लोकोपयोगी प्रतिपादन कर के नाट्य-प्रयोग का प्रामाणिक आधार प्रस्तुत किया है।

उसमें वर्णित उपाख्यान महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें प्रामाणिकता के विषय में भारतीय भावना का ठीक-ठीक निदर्शन मिलता है। नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में **भरत** का वही स्थान है जो व्याकरण के क्षेत्र में **पाणिनि** का है; परंतु दुर्भाग्यवश **अष्टाध्यायी** की तुलना में **नाट्यशास्त्र** की स्थिति अच्छी नहीं रही है। **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी** आज जिस रूप में उपलब्ध है वह टीकाकारों की सावधानी के

---

१. AID., pp. 3 ff.

कारण उसके उस मूल रूप से कुछ भिन्न नही है जो उसे उसके लेखक की लेखनी से प्राप्त हुआ था। **भारतीय नाट्यशास्त्र**[1] के नाम से उपलब्ध कृति हस्तलेख-परंपरा में अत्यंत भ्रष्ट रूप में परिरक्षित है। इसका एक कारण यह है कि इस पर अपेक्षाकृत वाद में टीका लिखी गयी। **मातृगुप्त**[2] के द्वारा **नाट्यशास्त्र** पर लिखित वृत्ति के केवल कुछ उल्लेख मिलते हैं। **मातृगुप्त** का व्यक्तित्व कुछ रहस्यमय है। **कालिदास** के साथ उनके संबंध के विषय में कुछ-कुछ निजंधरी कथा भी पायी जाती है। वे **कालिदास** से अभिन्न भी वतलाये गये हैं। यदि हम उनकी **कालिदास** की समकालीनता में कुछ भी विश्वास करें तो उनका आविर्भाव-काल चौथी शताब्दी ई० के अंत में माना जा सकता है। यह वात अर्थसूचक है कि परंपरा के अनुसार वे किसी समय काश्मीर के राजा थे, क्योंकि उसी प्रदेश में **शंकुक** और **भट्ट नायक** की टीकाएँ लिखी गयीं। **शंकुक** ने **अजितापीड़** (८१३-५० ई०) के शासन-काल में **भुवनाभ्युदय** नाम का महाकाव्य लिखा, और **भट्ट नायक शंकरवर्मा** (८८३-९०२ ई०) के समय में हुए थे। परंपरा-की उसी श्रेणी में **अभिनवगुप्त** का महान् ग्रंथ **अभिनवभारती** उपलब्ध है जो वहुत समय तक अंधकार में पड़ा रहने के वाद अव प्रकाश में आया है, और जो दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण के पांडित्य का प्रतिनिधान करता है।

नाट्यशास्त्र, अपने वर्तमान रूप में, एक विशाल ग्रंथ है जिसमें नाटक-संवंधी सभी विषयों का निरूपण किया गया है। इसके प्रतिपाद्य विषय हैं—प्रेक्षागृह का वास्तुशिल्प, दृश्यावली, अभिनेताओं का नेपथ्य-विधान और सज्जा-सामग्री; प्रत्येक प्रयोग के अवसर पर विधेय पूर्वरंग; गीत, नृत्य, अभिनेताओं की गतियाँ, मुद्राएँ और भाषण-विधि; भूमिकाओं का वितरण; काव्य के सामान्य लक्षण; रूपक की विभिन्न विधाएँ और उसके प्राण-तत्त्व का निर्माण करने वाले भाव

---

१. Ed. KM. 1894, i-xiv; J. Grosset, Paris, 1898; xviii-xx, F. Hall के **दशरूप** में xxxiv; Regnaud, *Annales du Musée Guimet, i-ii*; Grosset, Contribution ā l'étude de la musique hindoue (Paris, 1888), xxviii; Regnaud, Rhetorique sanskrite.

२. Bhan Daji, JBRAS. vi. 218 ff. Lévi (TI, ii. 4) का अनुमान है कि मूल सूत्रों पर लिखित किसी पद्यवद्ध टीका से ही **नाट्यशास्त्र** का अधिकांश रचा गया है। मातृगुप्त-विषयक विभिन्न अनुमानों के लिए देखिए—JRAS. 1903, p. 570; देखिए—Peterson, सुभाषितावलि, p. 89. यह संभाव्य है कि **नाट्यशास्त्र** मूल सूत्र से उसी प्रकार संवद्ध है जिस प्रकार **अर्थशास्त्र** से **कामन्दकीय नीतिशास्त्र**। मिला कर देखिए—S. K. De, SP. i. 27 ff.

तथा रस। इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर अस्तव्यस्तता, जटिलता और पुनरावृत्ति मिलती है, परंतु इस बात में संदेह नहीं किया जा सकता कि वह सब प्राचीन है। स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसकी रचना विस्तृत नाटक-साहित्य के परीक्षण के आधार पर हुई है। वह साहित्य आज अप्राप्य है, **कालिदास** एवं उनके परवर्ती लेखकों के अधिक उत्कृष्ट नाटकों ने उन नाटकों के यश को आच्छादित कर लिया। ऐसा लगता है कि रूपक की विधाओं के विवरण में अपर्याप्त सामग्री के आधार पर क्षिप्र सामान्यीकरण कर लिया गया है; उदाहरण के लिए, **समवकार** के लक्षण-निरूपण को लीजिए—उसके अंकों में लगने वाले समय की जो निश्चित सीमा निर्धारित की गयी है उसका एक मात्र अर्थ यही निकलता है कि उसका लक्षण केवल एक रूपक पर आश्रित है। डिम की उत्पत्ति भी उसी के सदृश प्रतीत होती है। संस्कृत के रूपकों में पूर्वरंग का एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं है, किंतु **नाट्यशास्त्र** में उसका विस्तृत विवरण दिया गया है; इस तथ्य से कम परिष्कृत रुचि वाले युग का संकेत मिलता है। **अश्वघोष** एवं **भास** की रचनाओं के साथ **नाट्यशास्त्र** की तुलना कर के अधिक निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जिन प्राकृतों से **नाट्यशास्त्र** परिचित है वे स्पष्टतया अश्वघोष की प्राकृतों के बाद की है, और **भास** के नाटकों में उपलब्ध प्राकृतों के साथ उनका अधिक सादृश्य है। पुनश्च, **नाट्यशास्त्र** ने **अर्धमागधी** को मान्यता दी है जो इन दोनों नाटककारों की रचनाओं में पायी जाती है, किंतु पश्चात्कालीन नाटककारों में नही। इसके विपरीत, परवर्ती नाटकों मे पायी जाने वाली **महाराष्ट्री** की इन दोनों नाटककारों की ही भाँति उपेक्षा की गयी है। इसके अतिरिक्त, **भास** ने एक **नाट्यशास्त्र**[1] का स्पष्ट रूप से निर्देश किया है, और बहुत संभाव्य है कि वे और **कालिदास** दोनों वर्तमान ग्रंथ के किसी पूर्वरूप से परिचित थे। **भास** ने अपने नाटकों के उपसंहार के आकार-प्रकार में अथवा रंगमंच से मृत्यु के दृश्यों के बहिष्कार[2] में **नाट्यशास्त्र** के नियमों का आँख मूँद कर पालन नही किया है, इससे इतना ही सूचित होता है कि जिस समय उन्होंने अपने नाटकों की रचना की थी उस समय तक शास्त्र की नियामक-शक्ति प्रतिष्ठित नही हुई थी। इस प्रकार अस्पष्ट रूप से संकेतित रचना-काल[3]

---

१. अविमारक, ii. उन्हें नाट्यशास्त्रीय कृति का रचयिता भी कहा जाता है, **अर्थद्योतनिका**, २.

२. Lindenau ने दिखलाया है कि इस विषय में शास्त्र में ही x. 83-84 और xviii. 19-20 में अंतर्विरोध है, BS., p. 34.

३. मिला कर देखिए—Jacobi, भविसत्तकहा, pp. 83 ff., जिनके अनुमान से तीसरी शताब्दी है; विकास की दृष्टि से उसकी प्राकृत महाराष्ट्री की अपेक्षा पूर्व-

का खंडन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का निरूपण सरल एवं प्रारंभिक है। मूल ग्रंथ में समय-समय पर किये जाने वाले परिवर्धनों एवं परिवर्तनों की सतत संभावना की बात तो दूर रही, संगीत के विषय में की गयी टिप्पणियों से भी प्रस्तुत कृति के रचना-काल के विषय में कोई निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है।

अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए **भरत** के जटिल एवं अस्तव्यस्त ग्रंथ का अधिक सुगम्य तथा सुबोध्य कृतियों के द्वारा विस्थित किया जाना अनिवार्य था। **धारा** के दुर्दैवग्रस्त राजा **मुंज** (९७४-९५) के आश्रित, और **विष्णु** के पुत्र **धनंजय** के **दशरूप** ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। **नाट्यशास्त्र** में मान्यताप्राप्त रूपक के दस मुख्य रूपों के आधार पर इस कृति का नामकरण हुआ है। **धनंजय** ने **भरत** का प्रायः निरंतर अनुकरण किया है; यदि कहीं अंतर है तो वह महत्त्वहीन और नगण्य है, उदाहरणार्थ—नायिकाओं के प्रकारों अथवा शृंगार रस के भेदों का नवीन उपस्थापन। दूसरी ओर, **धनंजय** ने अपने आदर्श-ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषयों के अत्यधिक अंश को छोड़ दिया है। नीरस पद्यों की इस कृति में चार 'प्रकाश' हैं। पहले प्रकाश में विषय-वस्तु और कथानक का निरूपण है; दूसरे प्रकाश में नायक, नायिका तथा अन्य पात्रों और रूपक की भाषा का; तीसरे में प्रस्तावना एवं रूपक की विभिन्न विधाओं का; और अंतिम प्रकाश में भावों तथा रसों का विवेचन है। इस प्रकार लेखक का ध्यान मूल नाटकीय विशेषताओं पर केंद्रित रहा है। यह ग्रंथ अपने में दुर्बोध है, परंतु **नाट्यशास्त्र** के प्रकाश में और **उत्पलदेव** (जो **मुंज** का ही एक उपनाम है) के अमात्य एवं **विष्णु** के पुत्र **धनिक** के **अवलोक** की सहायता से समझा जा सकता है। परवर्ती लेखकों ने **दशरूप** के लेखांशों को **धनिक** के नाम से उद्धृत किया है, और टीका के बिना यह ग्रंथ एक प्रकार से अपूर्ण है; इससे यह अनुमान किया गया है कि ये दोनों लेखक अभिन्न हैं। परंतु, दूसरी ओर, अनेक स्थलों पर टीकाकार का मूल लेखक से थोड़ा-बहुत स्पष्ट मतभेद है। इस तथ्य से (जो पर्याप्त प्रतीत होता है) अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों लेखक संभवतः भाई थे। **मुंज** की मृत्यु के उपरांत ही **अवलोक** की रचना पूरी हुई होगी, क्योंकि उसमें **पद्मगुप्त** के **नवसाहसाङ्कचरित** से उद्धरण दिया गया है जो **सिंधुराज** के शासन-काल में लिखा गया था। इस बात से संदेह उत्पन्न होता

कालिक प्रतीत होती है; महाराष्ट्री और शौरसेनी के सादृश्य को दृष्टि में रखते हुए Jacobi अनुमान करते हैं कि उसकी रचना संभवतः उज्जयिनी में हुई थी। मिला कर देखिए—GIL. iii. 8.

है कि धनिक और धनिक पंडित (जिनके पुत्र **वसंताचार्य** को **मुंज** ने कुछ भूमि ९७४ ई० में अनुदान के रूप में दी थी) अभिन्न नहीं हैं। **धनिक** ने स्वरचित संस्कृत एवं प्राकृत पद्यों के उद्धरण दिये हैं, और **काव्यनिर्णय** नाम के एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है जिसकी कोई सूचना अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।[1]

अनुमानतः चौदहवीं शताब्दी की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं। महत्त्व एवं गुणों की दृष्टि से उनमें समानता नहीं है। **विद्यानाथ** का **प्रतापरुद्रीय**[2] एक मध्यम कोटि की रचना है। उसमें काव्यशास्त्र के सभी विषयों का प्रतिपादन करते हुए **दशरूप** तथा **मम्मट-कृत काव्यप्रकाश** का सार-संग्रह किया गया है। उन्होंने वारंगल के **प्रतापरुद्र** (जिसके अभिलेख १२९८ से १३१४ ई० तक का समय सूचित करते हैं) की प्रशस्ति में एक निकृष्ट नाटक की रचना कर के नाटक के शास्त्रीय नियमों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। **विद्याधर-रचित एकावली**[3] कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। **विद्यानाथ** की भाँति ही इस लेखक ने भी अपने उदाहरणों में अपने आश्रय-दाता उड़ीसा के **नरसिंह** द्वितीय (कदाचित् १२८०-१३१४ ई०) की प्रशस्ति की है। कवि के रूप में उसके गुण नगण्य हैं, परंतु उसने अपने प्रतिपाद्य विषय में जीवंत अभिरुचि एवं विचारों में बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। काव्यशास्त्र पर लिखित सामान्य ग्रंथ **साहित्यदर्पण**[4] के रचयिता **विश्वनाथ** उक्त दोनों लेखकों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं। उनका नाट्यशास्त्रीय विवेचन प्रायः **दशरूप** और उसकी टीका पर आधारित है, परंतु उन्होंने अपने ग्रंथ के षष्ठ परिच्छेद में **नाट्य-शास्त्र** से गृहीत सामग्री का भी बहुत-कुछ उपयोग किया है। उसमें रूपक की विशेषताओं तथा अलंकारों का भी समावेश है जिनको **दशरूप** ने छोड़ दिया है। इससे **विश्वनाथ** की पराश्रितता सूचित होती है, परंतु इस विशेषता ने उनकी कृति को परंपरानिष्ठ सिद्धांतप्रतिपादक ग्रंथ के रूप में और भी मूल्यवान् बना दिया है। उन्होंने अपने पूर्वजों और अपनी रचनाओं का स्वच्छंदतापूर्वक उल्लेख किया है, किंतु उनके समय के विषय में सर्वाधिक निश्चित प्रमाण जम्मू के पुस्तकालय में उपलब्ध उनके ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति है जिसका लिपि-काल १३८३ ई०

---

१. Ed. F. Hall, Calcutta, 1865; trs. G. C. O. Haas, New York, 1912. Jacobi (GGA. 1913, p. 301) दोनों लेखकों की अभिन्नता पर बल देते हैं, किंतु नाम का भेद आपत्तिजनक है.

२. Ed. K. P. Trivedi, Bombay, 1909.

३. Ed. K. P. Trivedi, Bombay, 1903. मिला कर देखिए—R.G. Bhandarkar, Report (1897), pp. lxviii f.

४. Ed. BI. (अनुवाद-सहित), 1851-75; P.V. Kane, Bombay, 1910.

प्रतीत होता है। सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में **रूप गोस्वामी** ने **विश्वनाथ** की कृति में पायी जाने वाली अव्यवस्था और त्रुटियों के आधार पर उसकी आलोचना की है, परंतु उनकी अपनी **नाटकचन्द्रिका** उनके पूर्ववर्ती लेखक की कृति की तुलना में कुछ सुधरी हुई या उत्कृष्ट नहीं है जिससे उन्होंने पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। **नाटकचन्द्रिका** का मुख्य प्रयोजन महाप्रभु **चैतन्य** का गुण-गान करना है जिनके शिष्य **रूप गोस्वामी** थे और जिनके संमान में उन्होंने महत्त्वहीन नाटकों की रचना की। **सुंदरमिश्र** भी **विश्वनाथ** एवं **दशरूप** पर उसी प्रकार आश्रित हैं। उन्होंने १६१३ ई० में **नाट्यप्रदीप** की रचना की। अनेक अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों के नाम ज्ञात हैं अथवा उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं, परंतु वे प्रत्यक्षतः कुछ महत्त्वपूर्ण या प्रसिद्ध नहीं है। लगभग १३३० ई० में राजाचल और विंध्य तथा श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश के राजा **शिग भूपाल** का **रसार्णवसुधाकर**[1] भी चौदहवीं शताब्दी की रचना है जिसमें **विद्याधर** का उल्लेख किया गया है।

नाट्यशास्त्र के विकास की प्रगति काव्यशास्त्र के सामान्य सिद्धांतों के साथ-साथ हुई, क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार नाटक के रसास्वाद और किसी अन्य काव्य-रूप के रसास्वाद में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। अतएव **अभिनवगुप्त** ने काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत ध्वनि के सिद्धांत को नाटक पर पूर्णरूपेण लागू किया। ८०० ई० के आस-पास ध्वनि-सिद्धांत को विशेष बल मिला, और **आनंदवर्धन** ने (८५० ई० के लगभग) तथा उनके **ध्वन्यालोक** पर टीका लिख कर अभिनवगुप्त ने इस मत को लोकप्रिय बनाया। **व्यक्तिविवेक** के लेखक **महिम-भट्ट** (१०५० ई०) ने इस सिद्धांत का घोर विरोध किया। ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में काश्मीरी लेखक **मम्मट**[2] ने विशेष अवधानपूर्वक इस सिद्धांत की पुनः प्रतिष्ठा की। यह सिद्धांत किंचित् परिवर्तित रूपों में **विद्यानाथ**, **विद्याधर** और **विश्वनाथ** की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

ध्वनि-सिद्धांत का विकास महत्त्वपूर्ण है, किंतु नाटक के क्षेत्र में इसका कोई विशेष उपयोग नहीं है। साहित्यशास्त्र में इस विकास के अतिरिक्त कोई अन्य प्रगति नहीं दिखायी देती। बाद के शास्त्रकार **नाट्यशास्त्र** को ही आप्त मान कर चले हैं। उन्होंने **नाट्यशास्त्र** में उपस्थापित काव्यरूपों के विवरणों की बिना सोचे-समझे

---

१. Ed. TSS. no. L, 1916. इसमें **दशरूप** का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग किया गया है। मिला कर देखिए—Seshagiri, *Report for 1896-97*, pp. 7 ff. लेखक के अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं.

२. काव्यप्रकाश के कर्तृत्व के लिए देखिए—Harichand, कालिदास, p. 103 ff.

पुनरावृत्ति की है, उदाहरणार्थ—डिम, समवकार, ईहामृग, वीथी और अंक, जिनका लोक में प्रयोग नहीं रह गया था। बहुत संभव है कि इन उदाहरणों में से प्रत्येक के विपय में **नाट्यशास्त्र** में दिये गये लक्षण एक ही रूपक पर आधारित होने के कारण क्षिप्र सामान्यीकरण के परिणाम हों। अपनी ओर से उन्होंने बस इतना ही किया है कि कहीं पर कुछ छोड़ दिया है अथवा सूक्ष्म विवरणों में परिवर्तन कर दिया है, किंतु वे स्वतंत्र नहीं हैं। सामान्यत: उन परिवर्तनों के दो स्रोत हैं—**नाट्यशास्त्र** के पाठांतर और **भरत** के नाम से प्रचलित उक्तियाँ, यद्यपि वे उक्तियाँ वर्तमान रूप में उपलव्ध ग्रंथ में समाविष्ट नहीं हैं। **नाट्यशास्त्र** में प्रयुक्त वहुत-से शब्दों का अर्थ संदिग्ध है अथवा उनके विभिन्न अर्थ किये जा सकते हैं। उन शब्दों की परिभापाओं में उक्त लेखकों में मतभेद है, जैसा कि संस्कृत में पारिभापिक शब्दों के विपय में प्राय: हुआ है। जिन स्थलों पर विशेपताओं और अलंकारों या नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की विविध युक्तियों की लंवी सूची प्रस्तुत की गयी है उन स्थलों पर प्रमुखतया इस प्रकार की भिन्नता प्राय: पायी जाती है। इन प्रसंगों में निरर्थक उपविभाजन की भारतीय प्रवृत्ति चरम सीमा पर पहुँच गयी है जिसकी उपयोगिता नहीं के वरावर है। इस प्रकार की संदिग्धता के अनेक रूप **अग्निपुराण**[1] के उन पद्यों में मिलते है जिनमें नृत्य और अभिनय के समेत नाटक का निरूपण किया गया है। अग्निपुराणकार ने परा और अपरा विद्याओं का एक वृहद् कोश वनाने का प्रयत्न किया है, और नाटक का निरूपण उसके इस प्रयोजन के अनुरूप है। इस ग्रंथ का प्रमुख महत्त्व इस वात में है कि यह **नाट्यशास्त्र** के पाठांतरों पर यत्र-तत्र प्रकाश डालता है, और अपेक्षाकृत प्राचीन है, क्योंकि यह **साहित्यदर्पण** में प्रोद्धृत है तथा कई शताव्दी पूर्व का है।

२. रूपक का स्वरूप और उसके प्रकार

काव्य-निवद्ध पात्रों की अवस्थाओं के अनुकरण अथवा प्रतिरूपण को 'नाट्य' कहते हैं—**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**।[2] उसमें नटों के द्वारा आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय की सहायता से नाटक-गत पात्रों के साथ तादात्म्य प्रदर्शित किया जाता है। एक मत के अनुसार उक्त परिभापा में यह वात भी जोड़ दी गयी है कि अवस्थानुकृति ऐसी होनी चाहिए जो भावक को सुखात्मक अथवा दु:खात्मक अनुभूति करा सके, अर्थात् उन अवस्थाओं में भावों का पुट होना चाहिए। पूर्वोक्त

१. cc. 337-41. ध्वनि के विपय में देखिए—Keith, Sans. Lit. ch. x.

२. DR. i. 7.; SD. 274; अनर्घराघव, ९ पर रुचिपति की टीका में भरत का उद्धरण.

अनुषंगी तत्त्वों के कारण रूपक सामान्य काव्य से भिन्न होता है; कविता केवल श्रवण-सुखद होती है, रूपक नेत्रों को आनंद देने वाला दृश्य भी है। 'रूप' शब्द मूलतः नेत्रों के विषय का द्योतन करता है, इसलिए दृश्य काव्य के लिए प्रयुक्त जातिवाचक नाम 'रूप' या 'रूपक' है। हाँ, भारतीय परंपरा में इस नामकरण का बनावटी समाधान भी प्रस्तुत किया गया है—दृश्य काव्य को 'रूपक' कहते हैं, क्योंकि उसमें अभिनेता मूल पात्रों का रूप धारण करते हैं।

नृत्त और नृत्य से नाटक की भिन्नता प्रतिपादित कर के 'नाट्य' के स्वरूप पर और भी प्रकाश डाला गया है। गीत एवं वाणी से संयुक्त होने पर नृत्त और नृत्य नाट्य को पूर्णता प्रदान करते हैं।[1] नृत्त ताल एवं लय पर आश्रित होता है, नृत्य भावों अथवा मनोवेगों पर आश्रित है, और नाट्य रसात्मक होता है। वह प्रेक्षक को रसानुभूति कराता है, अतएव अपने परिचारिकावत् सहायक नृत्त और नृत्य की अपेक्षा उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित है। ऐसे भी रूपक हो सकते हैं जिनमें इन सहायक तत्त्वों को प्रथम स्थान दिया गया हो, और इसी तथ्य के आधार पर रूपकों के दो भेद किये गये हैं—मुख्य रूप, रूपक, और गौण रूप, उपरूपक। रूपकों का प्रधान तत्त्व रस है। रूपकों में दस विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। वस्तुतः, नायक या नायिका और रस के भेद के कारण उनमें भिन्नता है।

३. वस्तु और कथानक

रूपक की कथावस्तु का देश भारतवर्ष होना चाहिए, और काल सत्य-युग के परवर्ती युगों में से कोई एक, क्योंकि रूपक के आवश्यक तत्त्व सुख-दुःख का अनुभव भारतवर्ष के अतिरिक्त कहीं नहीं किया जा सकता, और वहाँ भी शुद्ध आनंद के युग में उनका अस्तित्व नहीं है।[2] अन्य अर्थों में नाटककार को कथानक चुनने की स्वतंत्रता है। रूपक की कथावस्तु प्रख्यात हो सकती है, उत्पाद्य (कवि-कल्पित) हो सकती है अथवा मिश्र हो सकती है। परंतु, यदि नाटककार किसी लोक-प्रचलित उपाख्यान का अनुसरण करता है तो यह आवश्यक है कि वह किसी बेतुकी कल्पना द्वारा उसके प्रभाव को नष्ट न करे। उसे अपनी उद्भावना को प्रासंगिक वृत्त तक ही सीमित रखना चाहिए, क्योंकि (इसके विपरीत) परंपरा का उल्लंघन करने पर सामाजिकों को क्लेशजनक विक्षोभ होगा। दूसरी ओर, यदि प्रख्यात

---

१. देखिए—Hall, DR. pp. 6 f. २. N. xviii. 89; xix. 1; AP. cccxxxvii., 18, 27.

वृत्त में नायक के ऐसे कार्य बतलाये गये हैं जो उसके सामान्यतः प्रदर्शित चरित्र से मेल नहीं खाते तो नाटककार के लिए यह केवल उचित ही नहीं अपितु आवश्यक भी है कि वह अपने नायक का उदात्तीकरण करे।[१] इतिहासकाव्य **महाभारत** इस प्रकार के विचारों से भारग्रस्त नहीं था; वह **दुष्यंत** का इस रूप में चित्रण कर सकता था कि वह **शकुंतला** के प्रति की गयी अपनी प्रतिज्ञाओं को भूल गया। परंतु, **कालिदास** के लिए यह आवश्यक था कि वे नायक के चरित्र को इस प्रतीयमान भद्देपन से मुक्त करते। अतएव उन्होंने **दुष्यंत** की विस्मृति के कारण-रूप में उस शाप की निबंधना की जो स्वयं नायिका की असावधानी से प्रेरित हुआ है। **रामायण** धर्मशील **राम** के हाथों वानरराज **वाली** की मृत्यु को स्वीकार करता है और, अप्रत्यायक ढंग से ही सही, उसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। परंतु, **मायूरराज** ने अपने **उदात्तराघव** में इस प्रसंग को चुपचाप छोड़ दिया है, और **भवभूति** ने अपने **महावीरचरित** में अधिक साहस के साथ परंपरा का उल्लंघन कर के **वाली** को **रावण** के मित्र-रूप में चित्रित किया है और दिखलाया है कि **राम** ने औचित्यपूर्वक आत्मरक्षा के लिए उसे मारा है। उन्होंने **कैकेयी** को भी दोष-मुक्त कर दिया है।

कथा-वस्तु के दो रूप हैं—**आधिकारिक** और **प्रासंगिक**। नायक की अभीष्ट फल-प्राप्ति (अधिकार) से संबद्ध होने के कारण वस्तु के प्रथम रूप का नाम 'आधिकारिक' है। वह फल काम हो सकता है, अथवा अर्थ, अथवा धर्म, अथवा उनमें से दो या तीनों। प्रासंगिक वृत्त में जिस फल की प्राप्ति होती है वह नायक का लक्ष्य नहीं है, परंतु वह उसके उद्देश्यों की सफलता में सहायक साधन का काम करता है।[२] प्रासंगिक वृत्त के दो भेद हैं—**पताका** और **प्रकरी**। सानुबंध प्रासंगिक वृत्त 'पताका' है, उदाहरणार्थ, **राम** के सहायक के रूप में **सुग्रीव** का चरित। प्रसंगवश एकदेशस्थ वृत्त 'प्रकरी' है, जैसे—**शकुन्तला** के छठे अंक का वह दृश्य जिसमें दो परिचारिकाओं का संवाद है।[३]

पूर्णतः विकसित कार्य में (जैसा कि रूपक के उत्कृष्टतम रूप 'नाटक' में नियमतः होता है) आवश्यक रूप से विकास की पाँच अवस्थाएँ हैं, जिन्हें **'कार्यावस्था'** कहते हैं।[४] पुरुषार्थ या फल की प्राप्ति की कामना **'आरंभ'** है।

१. DR. i. 15; iii. 20-22.
२. N. xix. 2-6, 25 f.; DR. i. 11, 12, 16; SD. 296 f., 323.
३. N. xix. 23; DR. i. 13; SD. 320-3; R. iii. 13 f.
४. N. xix. 7-13; DR. i. 18-20; SD. 324-9; R. iii. 22-5.

अभीष्ट फल की उपलब्धि के लिए संकल्पपूर्वक किया गया अध्यवसाय 'प्रयत्न' है। आगे चल कर ऐसी अवस्था आती है जिसमें उपलब्ध साधनों और फल-प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा अनुभव होता है कि सफलता संभव है। यह '**प्राप्त्याशा**' या 'प्राप्तिसंभव' है। तदनंतर वह अवस्था आती है जिसमें यदि किसी विशिष्ट कठिनाई को पार कर लिया जाए तो सफलता निश्चित प्रतीत होती है। यह '**नियताप्ति**' है। अंत में फल की प्राप्ति होती है, यह '**फलागम**' है। इस प्रकार **शकुन्तला** के आरंभ में नायक की नायिका-विषयक अभिलाषा का चित्रण है; तदनंतर नायिका से फिर मिलने की युक्ति निकालने की उत्कटता का; चौथे अंक में विदित होता है कि **दुर्वासा** ऋषि का क्रोध अंशतः शांत हो गया है और नायक के साथ **शकुंतला** के पुनर्मिलन की संभावना है; छठे अंक में अँगूठी के मिल जाने पर राजा की स्मृति लौट आती है और पुनर्मिलन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; अंतिम अंक में दोनों का संयोग होता है। रूपक का गौण प्रकार, नाटिका, होने पर भी **रत्नावली** कम उत्कृष्ट उदाहरण नहीं है। उसके आरंभ में नायक और नायिका को मिलाने के लिए मंत्री के उद्देश्य की अभिव्यक्ति की जाती है; जब नायिका फलक पर **वत्स** का चित्र बनाने का निश्चय करती है तब इस लक्ष्य-पूर्ति के विषय में निश्चित प्रयत्न किया गया है; दूसरे अंक में दोनों प्रेमी कुछ समय के लिए मिलते है, किंतु रानी को इस बात का पता लग जाने के कारण खतरा उत्पन्न होता है; तत्पश्चात् राजा यह अनुभव करता है कि उसकी सफलता रानी की प्रसन्नता पर निर्भर है जो अंतिम अंक में सफलता के साथ प्राप्त हो जाती है।

कथानक के भी पाँच तत्त्व हैं। इन्हें '**अर्थप्रकृति**' कहते हैं।[१] नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में इन पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच कार्यावस्थाओं के समांतरण का सटीक निरूपण नहीं है। पहली अर्थप्रकृति '**बीज**' है जहाँ से कार्य आरंभ होता है, उदाहरण के लिए—**रत्नावली** में **यौगंधरायण** द्वारा राजा के लिए राजकुमारी की प्राप्ति की योजना। दूसरी अर्थप्रकृति (भिन्न उपमान द्वारा वर्णित) '**बिंदु**' है, जो जल पर तैल-बिंदु की भाँति फैल जाती है; रूपक के कार्य की गति, जो बाधा

१. N. xiv. 19-21; DR. i. 16 f.; SD. 317-19. अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं का समांतरण सदोष है; पताका या प्रकरी आवश्यक नहीं हैं, और न ही वे प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति अथवा गर्भ एवं विमर्श की समस्थानीय हैं; धनिक (DR. i. 33) वस्तुतः इसको स्वीकार करते हैं; **रत्नावली**, iii में कोई पताका नहीं है; मिला कर देखिए—R. iii. 22.

के कारण अवरुद्ध प्रतीत होती थी, पुनः सक्रियता प्राप्त करती है, इस प्रकार रत्नावली में मदन-महोत्सव की समाप्ति पर राजकुमारी राजा को (जिसको वह अब तक कामदेव समझ रही थी, और जिसकी पत्नी होने के लिए वह पूर्व-निर्दिष्ट थी) पहचान कर नाटिका के कार्य को निश्चित रूप से आगे बढ़ाती है। अर्थप्रकृति के अन्य तीन तत्त्व हैं—**पताका, प्रकरी** और **कार्य** (फल)।

इन दो समांतर या सदृश कुलकों (sets) के आधार पर संधियों का एक तीसरा विभाजन भी किया गया है[1] जो कार्यावस्थाओं को क्रमशः उनके स्वाभाविक अवसान तक ले जाती हैं। संधियाँ भी पांच हैं—**मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **निर्वहण**। ये स्पष्ट तथा घनिष्ठ रूप से पूर्वोक्त कार्यावस्थाओं के अनुरूप[2] चलती हैं। इस प्रकार **शकुन्तला** में मुख-संधि पहले अंक से लेकर दूसरे अंक में उस स्थल तक है जहाँ सेनापति प्रस्थान करता है; **प्रतिमुख-संधि** विदूषक से राजा की अनुराग-विषयक स्वीकारोक्ति से लेकर तीसरे अंक के अंत तक है। **गर्भ-संधि** चौथे और पाँचवें अंक में उस स्थल तक है जहाँ **गौतमी शकुंतला** के मुख पर से अवगुंठन हटा लेती है; उस समय **दुर्वासा** का शाप राजा की स्मृति को आच्छादित कर लेता है, वह अपनी पत्नी के मिलन पर आनंदित होने के बजाय चिंतामग्न हो कर '**विमर्श**' करने लगता है, और यह विमर्श छठे अंक के अंत तक चलता है। अंतिम अंक में **उपसंहार** (निर्वहण) होता है। **रत्नावली** में मुख-संधि दूसरे अंक के उस स्थल तक चलती है जहाँ पर **रत्नावली** राजा को चित्रांकित करने का निश्चय करती है, अपने प्रियतम को देखते रहने का यही एक उपाय है क्योंकि ईर्ष्यालु रानी उसको राजा से दूर ही रखती है। तदनंतर **प्रतिमुख**-संधि अंक के अंत तक चलती है। **गर्भ**-संधि तीसरे अंक में है। रानी के हस्तक्षेप के कारण **विमर्श**-संधि चौथे अंक में प्रासाद की आभासित आग के द्वारा समाप्त होती है। चौथे अंक के शेष भाग में **निर्वहण**-संधि है।

---

१. N. xix. 16, 35 ff.; DR. i. 22 ff.; SD. 330 ff. Hall (DR. p. 11 n.) भूल से 'निर्वहण' को शुद्ध मानते हैं (N. xix. 36).मिला कर देखिए—R. iii. 26-74 **बालरामायण** में संधियों और अवस्थाओं की ठीक-ठीक समांतरता R. iii. 23-5 में बतलायी गयी है.

२. अभिनवगुप्त ने (ध्वन्यालोक, p. 140) कथानक के अंगों के रूप में अवस्थाओं को संधियों के समान ही माना है, और अर्थप्रकृतियों की भिन्नता प्रतिपादित की है। प्रत्येक संधि एक अर्थप्रकृति और एक कार्यावस्था पर आश्रित है—इस सिद्धांत के लिए **दशरूप** उत्तरदायी है, यह मत **प्रतापरुद्रीय** (iii. 3) में स्वीकृत है; GGA. 1913, pp. 306-8; R. iii. 26 f.

प्रत्यक्ष है कि कथा-वस्तु के विश्लेषण में यहाँ तक शक्तिमत्ता और तर्कसंगति है। अनावश्यक रूप से विस्तृत एवं जटिल होने पर भी यह विश्लेषण नाटकीय संघर्ष की, स्थायी संयोग की प्राप्ति के प्रयत्न में नायक-नायिका द्वारा पार की जाने वाली बाधाओं की, मूल आवश्यकता को दृष्टि में रख कर किया गया है। संधियों के अतिरिक्त अर्थप्रकृतियों का वर्गीकरण कदाचित् अनावश्यक है; अन्य दो विभाजनों के साथ इसकी समांतरता दोषपूर्ण है, क्योंकि यह बात स्वीकृत है कि पताका गर्भ-संधि तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि इसे होना चाहिए, अपितु विमर्श-संधि तक और निर्वहण-संधि तक भी चल सकती है।[1] पुनश्च, पताका में **अनुसंधियाँ** बतलायी गयी है जिनकी संख्या संधियों से कम होनी चाहिए, और एक मत के अनुसार प्रकरी में भी **अपूर्ण संधियाँ** हो सकती है।[2] परंतु पाँच संधियों का ६४ अंगों (क्रमशः १२, १३, १२, १३ और १४) में आग्रहपूर्वक उपविभाजन अत्यधिक जटिल है। तथापि, इन **संध्यंगों** के वंटन (बँटवारे) का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। यद्यपि **रुद्रट**[3] का कथन है कि संधिविशेष के अंतर्गत उन्हीं संध्यगों का प्रयोग करना चाहिए जो उसके लिए निर्धारित है, फिर भी अन्य नाट्यशास्त्रियों ने इस मत को अस्वीकार किया है। उनके मत का आधार नाटककारों का व्यवहार है, जो सर्वोच्च मानक (norm) है। सभी संध्यंगों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। **वेणीसंहार** में यह दोष है कि उसके दूसरे अंक में नाटककार ने **भानुमती** से **दुर्योधन** के वियोग में शास्त्रीय नियमों[4] का पालन करने के लिए अनुचित खींचतान की है। प्रयुक्त होने पर संध्यंगों को नाटक के अभीष्ट रस की अभिव्यक्ति में आवश्यक रूप से सहायक होना चाहिए।[5] उनका प्रयोजन है—अभीष्ट वस्तु की रचना, कथा का विस्तार, राग की वृद्धि, आश्चर्य की उत्पत्ति, नाटक के पात्रों के प्रकाशनीय कार्यों का प्रकाशन, और गोपनीय अंशों का गोपन। नायक अथवा प्रतिनायक के द्वारा उनका संपादन किया जाना चाहिए, अथवा किसी प्रकार के बीज से आरंभ हो कर कार्य तक चलते रहें। रूपक में कुछ अंगों का समावेश आवश्यक है, क्योंकि उनके अभाव में रूपक अंगहीन मनुष्य के समान है, और कौशल के साथ प्रयुक्त होने पर वे साधारण कथावस्तु को भी गुण-संपन्न बना देते है। परंतु उनके लक्षणों और वर्गीकरणों का कोई ठोस महत्त्व या मूल्य नहीं है।

---

१. SD. 321. २. N. xix. 28; DR. i. 33.

३. N. xix. 103; SD. 406.

४. N. xix. 50 f.; SD. 407. ५. SD. 342, 407.

जो बातें रंगमंच पर समुचित रूप से प्रदर्शित की जानी चाहिएँ (दृश्य), और जिनकी केवल सूचना दी जानी चाहिए (सूच्य), उन दोनों में स्पष्ट अंतर किया जाना चाहिए।[1] रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये दृश्य को आवश्यक रूप से अभीष्ट रसाभिव्यक्ति का साधक होना चाहिए, और सामाजिकों की भावानुभूति में बाधक नहीं होना चाहिए। अतएव देश-विप्लव, राज्य-भ्रंश, नगरावरोध, युद्ध, वध, मृत्यु आदि दुःखजनक घटनाओं को रंगमंच पर प्रदर्शित करना असंगत है। इसी प्रकार विवाह अथवा अन्य[2] धार्मिक कृत्य, अथवा भोजन, शयन, स्नान, शरीर पर चंदनादिलेपन, सुरत-क्रीड़ा, दंतच्छेद्य, नखच्छेद्य आदि घरेलू बातों, अथवा शाप आदि अशुभ बातों का प्रत्यक्ष निदर्शन वर्जित है। परंतु आरंभिक अथवा बाद के नाटकों में इन नियमों के अपवाद भी पाये जाते हैं। ऊरुभङ्ग में भास ने रंगमंच पर मृत्यु का निदर्शन करने में संकोच नहीं किया है। राजशेखर ने अपनी विद्धशालभञ्जिका के तीसरे अंक में विवाह के अनुष्ठान का वितरण दिया है, और उसके अगले अंक में नारायण की पत्नी सोती हुई दिखलायी गयी है। प्रतापरुद्रीय के लेखक ने शिव-पार्वती-परिणय को ही अपनी रचना का विषय बनाया है। यदि मृत व्यक्ति पुनर्जीवित हो गया है तो नाट्यशास्त्रियों ने मृत्यु के प्रत्यक्ष निरूपण का निषेध नहीं किया है, जैसे नागानन्द में।[3] लंबी यात्रा, और दूर से आह्वान[4] आदि को भी दृश्य के अंतर्गत नहीं रखा गया है। इसका स्पष्ट कारण व्यावहारिक कठिनाई है।

अंक में उपस्थापनीय वस्तु का ही उपस्थापन करना चाहिए। एक अंक में उतनी ही घटनाओं का समावेश करना चाहिए जितनी स्वभावतः, अथवा कवि के प्रबंध-कौशल के द्वारा, एक ही दिन में घटित हुई हों।[1] इतिहासकाव्य के कथानक के संक्षिप्तीकरण की कठिनाई के बावजूद भवभूति ने अपने महावीरचरित में और राजशेखर ने अपनी बालरामायण में इस नियम का पालन किया है। परंतु उक्त नियम के विषय में यह आवश्यक है कि वर्णित घटनाएँ असंबद्ध नहीं होनी चाहिएँ; वे एक ही स्रोत से अथवा एक-दूसरे से स्वभावतः उद्भूत होनी चाहिएँ।

१. N. xviii. 16 ff. DR. i. 51; iii. 31 f.; SD. 278.

२. यह नियम संदिग्ध है। देखिए—DR. iii पर धनिक, जहाँ उन्होंने आवश्यक धार्मिक कृत्यों के पालन की अनुमति दी है.

३. Jackson, AJP. xix. 247 ff.; SD. 278. निस्संदेह अशुद्ध पाठ के कारण.

४. N. xviii. 14 f., 22-4; DR. iii. 27, 30-4; SD. 278; R. iii. 225; JAOS. xx. 341 ff.

अंक में निबद्ध कथानक का रसात्मक विकास होना चाहिए। पात्रों की संख्या तीन या चार होनी चाहिए। उसमें नायक का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। अवांतर कार्य के संपन्न हो जाने पर, अंक के अंत में पात्रों के निष्क्रमण के समय रूपक में नवीन प्रेरणा का समावेश होना चाहिए और नाटक के कार्य की गति को नयी स्फूर्ति मिलनी चाहिए। परंतु बिना किसी मध्यांतर के एक अंक के अनंतर ही दूसरे अंक को आरंभ कर देना न तो आवश्यक है और न परंपरा-सिद्ध ही है। इसके विपरीत, किसी अंक और उसके परवर्ती अंक के वृत्त के बीच एक वर्ष तक का अंतराल हो सकता है। यदि इतिहास के अनुसार उन घटनाओं के घटित होने में उससे अधिक समय लगा हो, उदाहरण के लिए राम के चौदह वर्ष के वनवास में, तो कवि को उनका समय घटा कर एक वर्ष या उससे कम कर देना चाहिए। सामाजिकों को इस प्रकार के मध्यांतर में घटित घटनाओं से अवगत कराने के लिए नाट्यशास्त्र में पाँच प्रकार के **अर्थोपक्षेपकों** का विधान किया गया है। ये अर्थोपक्षेपक उन बातों के वर्णन का भी प्रयोजन सिद्ध करते हैं जिनका रंगमंच पर उपस्थापन नाट्य-रीति के अनुसार वर्जित है।[१]

इन अर्थोपक्षेपकों में से दो विष्कंभ या **विष्कंभक** और **प्रवेशक** हैं। दोनों विवरणात्मक दृश्य है, परंतु नाट्यशास्त्र ने दोनों में सूक्ष्म अंतर बतलाया है। विष्कंभक में दो से अधिक पात्र नहीं होते[२], उनमें से कोई भी उत्तम पात्र नहीं होता। यह अतीत अथवा भविष्य का विवरण प्रस्तुत करता है, और नाटक के आरंभ में इसका प्रयोग किया जा सकता है जहाँ आरंभ में ही रसानुभूति कराना अभीष्ट नहीं है। इसके दो रूप हैं—**शुद्ध और संकीर्ण**। शुद्ध वह है जिसके प्रयोक्ता मध्यम पात्र है और संस्कृत बोलते हैं। **संकीर्ण** वह है जिसके पात्र मध्यम एवं निम्न वर्ग के हैं और प्राकृत का भी प्रयोग करते हैं। **प्रवेशक** की योजना नाटक के आरंभ में नहीं की जा सकती, और वह नीच पात्रों तक सीमित है जो प्राकृत का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार शकुन्तला के तीसरे अंक की प्रस्तावना विष्कंभक द्वारा की गयी है जिसमें कण्व का एक ब्रह्मचारी शिष्य संस्कृत में राजा दुष्यंत के आश्रम-वास की सूचना देता है, इसके विपरीत उसके छठे अंक में प्रवेशक है जिसमें मछुए और

---

१. N. xviii, 28, 34f.; xix. 109-16; DR. i. 52-6; SD. 305-13; R. iii. 178 ff.

२. अनेक स्थलों पर भास ने तीन रखे हैं; Lindenau (BS. p. 40) का कहना है कि प्राकृत का एकांत प्रयोग कहीं नहीं मिलता जैसा कि Lévi (TI. i. 59.) और Konow (ID. p. 13) ने बतलाया है, परंतु देखिए— वत्सराज का त्रिपुरदाह, II.

आरक्षियों का प्रासंगिक वृत्त है। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनाया गया संक्षिप्त रूप **चूलिका**[1] है जिसमें जवनिका के पीछे स्थित पात्र के द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया जाता है, जैसे **महावीरचरित** के चौथे अंक में जहाँ यह सूचना दी जाती है कि **राम** ने **परशुराम** को पराजित कर दिया है। **अंकमुख** में अंक की समाप्ति पर कोई पात्र आगामी अंक की कथा-वस्तु का निर्देश करता है; इस प्रकार **महावीरचरित** के दूसरे अंक के अंत में **सुमंत्र** के द्वारा **वसिष्ठ, विश्वामित्र** और **परशुराम** के आगमन की सूचना दी जाती है, और इन तीनों से तीसरे अंक का आरंभ होता है। **विश्वनाथ** का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार **अंकमुख** अंकविशेष का ही एक भाग होता है जिसमें आगामी अंकों और संपूर्ण कथानक की सूचना दी जाती है, जैसा कि **मालतीमाधव** के पहले अंक में **अवलोकिता** एवं **कामंदकी** के संवाद में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दृश्य के इस रूप के निरूपण का प्रयोजन दो प्रकार से **अंकमुख** के औचित्य का प्रतिपादन करना है--उसमें उन विषय-वस्तुओं की सूचना दी जाती है जो सुविधापूर्वक रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं, और साथ ही वह **अंकावतार** से भिन्न है। **अंकावतार** में पूर्ववर्ती अंक के पात्रों द्वारा सूचित किया गया अगला अंक उन्हीं पात्रों के द्वारा अविभक्त रूप से आगे बढ़ता है। केवल शास्त्रीय नियम का पालन करने के लिए वे पात्र अंक की समाप्ति पर मंच से चले जाते हैं और अगले अंक में फिर लौट आते है, जैसे **मालविकाग्निमित्र** के पहले अंक की समाप्ति पर। प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार के दृश्य द्वारा अर्थोपक्षेपण के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, और इसको उक्त उद्देश्य की सिद्धि का साधन मानना भ्रांतिपूर्ण है।

वस्तु-विन्यास को अग्रसर करने वाली पांच युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। उनमें से पाँच को एक वर्ग के अंतर्गत रख कर **अंतरसंधि**[2] कहा गया है। पहली अंतरसंधि **स्वप्न** है, जैसे **वेणीसंहार** में, जहाँ **भानुमती** उस स्वप्न से भयभीत है जिसमें एक नकुल ने सौ सर्पो को मार डाला है। यह स्वप्न इस भविष्य की सूचना देता है कि नकुल और उसके भाइयों द्वारा सौ कौरव मारे जाएँगे। दूसरी अंतरसंधि **पत्र-लेख** है। **शकुन्तला** के तीसरे अंक में पत्र-लेखन द्वारा नायिका को नायक के प्रति अपने भावों की अभिव्यक्ति का अवसर दिया गया है। वह उस लेख को स्पष्ट

---

१. R. iii. 185 f. में कहा गया है कि यदि किसी अंक के आरंभ में एक पात्र रंगमंच पर हो और दूसरा नेपथ्य में तो उन दोनों के कथोपकथन को **खंडचूलिका** कहते हैं, जैसे **बालरामायण**, vii.

२. **अर्थद्योतनिका**, २० में मातृगुप्त.

स्वर से पढ़ती है, **दुष्यंत** ओट से उसे सुन कर उसके सामने सहसा उपस्थित हो जाता है। प्रायः लेख का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन समाचार भेजना है जिससे नाटकीय व्यापार आगे बढ़ सके। तीसरी अंतरसंधि **दूत** या **संदेश** है। उसका भी प्रयोजन वही है, जैसे **शकुन्तला** के छठे अंक में **मातलि** राजा **दुष्यंत** के पास **इंद्र** का संदेश लाता है जिसमे असुरों के विरुद्ध सहायता करने के लिए प्रार्थना की गयी है। चौथी अंतरसिद्धि **नेपथ्योक्ति** है, जैसे **शकुन्तला** के पहले अंक में आश्रम के मृग को न मारने के लिए **दुष्यंत** को दी गयी चेतावनी। पाँचवीं अंतरसंधि **आकाश-भाषित** है, उदाहरण के लिए, **शकुन्तला** के चौथे अंक में **कण्व** के वापस लौटने पर आकाशवाणी उन्हें **शकुंतला** के विवाह एवं उसके भावी मातृत्व की महत्त्वपूर्ण सूचना देती है। **नाट्यशास्त्र**[1] ने 'अंतरसंधि' शब्द की उपेक्षा की है, परंतु **संध्यंतर** शब्द का प्रयोग किया है। उसके अंतर्गत अन्य फुटकल तत्त्वों के साथ 'स्वप्न', 'लेख' और 'दूत' का समावेश किया गया है। इनमें से दो पूर्वोक्त अंतर-संधियों के समान ही है। **चित्र** का प्रयोग **रत्नावली** में किया गया है जिसके द्वारा नायिका अपनी प्रियतम-विषयक अभिलाषा की तुष्टि करती है। इसके विपरीत, नटखट **सुसंगता** के द्वारा राजा के बगल में अंकित **सागरिका** के चित्र को देख कर **वासवदत्ता वत्स** के अन्यनारीसंबंध को जान लेती है। किसी महत्त्वशाली व्यक्ति के मुख से प्रमादवश किसी बात के प्रकट हो जाने में **मद** का प्रयोग मिलता है, जैसे **मालविकाग्निमित्र** के तीसरे अंक में। युक्तियों की सूची में अन्य बातों का समावेश भी किया जा सकता था, जैसे—रंगमंच पर छद्मवेश-धारण। **हर्ष** ने **रत्नावली** और **प्रियदर्शिका** में चंचलचित्त नायक का उसके अस्थायी प्रेम के आलंबनों के साथ निर्बाध साक्षात्कार कराने के लिए इस युक्ति का प्रयोग किया है। **प्रियदर्शिका** के तीसरे अंक में **गर्भांक**[2] का सुंदर उदाहरण पाया जाता है। नाट्य-शास्त्रियों ने गर्भांक को मान्यता दी है, किंतु उसे संधि की किसी विधा के अंतर्गत नहीं रखा है। उक्त अंक में **वासवदत्ता** अपने सामने अपने **वत्स**-संबंधी आरंभिक चरित का अभिनय कराती है। उसी प्रकार **उत्तररामचरित** में **वाल्मीकि** ने **राम** और **लक्ष्मण** के समक्ष अप्सराओं द्वारा निर्वासित **सीता** के चरित का अभिनय कराया है। उसी रूप में **सीता** के विवाह की घटनाएँ **बालरामायण** के तीसरे अंक में प्रस्तुत की गयी हैं।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्रियों ने **पताकास्थानक**[3] को एक भिन्न नाट्य-तत्त्व के

---

१. xix. 53-7, 105-9; R. iii. 95; 79-92. २. SD. 279.

३. N. xix. 30-4; DR. i. 14; SD. 299-303; R iii. 15-17, जिसमें पाठांतर के साथ नाट्यशास्त्र का प्रोद्धरण दिया गया है.

रूप में स्वीकार किया है। उसमें अन्योक्ति या समासोक्ति के द्वारा प्रस्तुत अथवा आगंतुक वस्तु की पूर्वसूचना दी जाती है। **नाट्यशास्त्र** में **पताकास्थानक** के चार भेद बतलाये गये हैं। पहला पताकास्थानक वहाँ होता है जहाँ उपचारतः नायक के अभीष्ट फल की सहसा प्राप्ति हो। इस प्रकार **रत्नावली** के तीसरे अंक में **वत्स** दौड़ कर **सागरिका** को (जिसे वह **वासवदत्ता** समझ रहा है) कंठपाश से मुक्त करने का प्रयत्न करता है, यह देखकर उसे आनंद और आश्चर्य होता है कि वह अपनी प्रिया **सागरिका** से ही मिल गया है।[1] दूसरा पताकास्थानक वहाँ होता है जहाँ पर श्लिष्ट वचन का प्रयोग किया जाता है और जिसके गूढ़ अर्थ को सामाजिक ही समझ पाता है। इस प्रकार **शकुन्तला** के दूसरे अंक में नेपथ्य से उक्ति सुनायी पड़ती है—चकवी, तू अपने प्रिय से विदा ले। केवल सामाजिक इस आदेश को नायक-नायिका पर लागू कर के इसका तत्काल रसास्वाद करता है। तीसरा पताकास्थानक वहाँ होता है जहाँ ऐसे श्लिष्ट प्रत्युत्तर की योजना की जाती है जिसके शब्द केवल प्रस्तुत अर्थ पर ही लागू नहीं होते अपितु भावी अर्थ का भी निर्देश करते है। **वेणीसंहार** के दूसरे अंक में कंचुकी **दुर्योधन** को सूचना देता है—भीम (भयंकर) वायु ने आपके रथ के ध्वज को तोड़ दिया है। उसके शब्द भविष्य में **भीम** के द्वारा उसके जंघा-भंग का संकेत (अर्थोपक्षेपण) करते हैं। चौथा पताकास्थानक वहाँ होता है जहाँ द्व्यर्थक वचन-विन्यास आगे चल कर एक तीसरे अर्थ का भी उपक्षेप करता है। **रत्नावली** में राजा **वत्स** उल्लासपूर्वक कहता है—विना ऋतु के ही फूली हुई इस लता को देख-देख कर मैं रानी के मन में प्रणय-कोप उत्पन्न करूँगा। उसके द्वारा प्रयुक्त श्लिष्ट विशेषण लता और नायिका पर समान रूप से लागू होते हैं, और आगे चल कर **सागरिका** को वस्तुतः आसक्ति-पूर्वक देखते हुए राजा पर रानी **वासवदत्ता** अत्यंत कुपित होती है। दशरूप में **धनंजय** दो ही भेद बता कर संतुष्ट हो गये हैं—*अन्योक्ति और **समासोक्ति***। परंतु, इस विषय में सभी एकमत हैं कि पताकास्थानक का प्रयोग सभी संधियों में किया जा सकता है और केवल प्रथम चार संधियों में ही नहीं।

उन रूढ़ियों को भी महत्त्व दिया गया है जिनकी सहायता से नाटककार नाट्य-संबंधी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है।[2] सामान्यतः, अभिनेता **सर्वश्राव्य** (प्रकाश) रूप में ही बोलते है ताकि रंगमंच पर उपस्थित पात्र और

---

१. R. iii. 16 में भिन्न प्रकार से बतलाया गया है कि वह वासवदत्ता के भावी कोप का सूचक है.

२. DR. i. 57-61; SD. 425; R. iii. 200 ff.

सामाजिक सभी उन्हें सुन सकें, परंतु **स्वगत** या **आत्मगत** भाषण की भी प्रायः योजना की जाती है जो केवल सामाजिकों के लिए श्रव्य है। इसके अतिरिक्त **जनांतिक** की भी व्यवस्था की गयी है जिसमें किसी अन्य पात्र से गुप्त बात करता हुआ कोई पात्र एक हाथ के अंगूठे तथा अनामिका को वक्र कर के और शेष अँगुलियों को ऊपर उठा कर **त्रिपताका** के संकेत का प्रयोग करता है। यदि किसी पात्र को रंगमंच पर उपस्थित करना अभीष्ट नहीं है तो **आकाशभाषित** से काम चलाया जा सकता है जिसमें मंच पर उपस्थित कोई पात्र किसी अन्य पात्र की उक्ति को सुनता हुआ-सा प्रतीत होता है, उसकी उक्ति को दुहराता है, और फिर उसका उत्तर देता है। इसी प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि **नेपथ्योक्ति** के द्वारा भी की जाती है।

किसी रूपक के अंकों की संख्या उसकी विधा के अनुसार निर्धारित की गयी है। **नाटक** में पाँच से लेकर दस तक अंक हो सकते हैं, कुछ अन्य विधाओं में एक अंक पर्याप्त है। सामान्यतः अंकों की संख्या मात्र का निर्देश किया गया है; कुछ रूपकों में, जैसे **मृच्छकटिका** में, अंकों की पुष्पिकाओं में उनके नाम भी दिये गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये नाम कवि द्वारा नहीं दिये गये हैं।

४. पात्र

नायक शब्द **नी** धातु से बना है, जिसका अर्थ है—ले चलना, आगे बढ़ाना। वह (नायक) कथानक को अपने निर्दिष्ट फलागम तक ले चलता है, वहाँ तक जहाँ तक कि मानवीय दुर्बलता और परिस्थितियों की प्रबलता के बावजूद संभव है। उसके सद्‌गुण असंख्य हैं।[१] उसे विनीत होना चाहिए, जैसे **राम** जो **परशुराम** को पराजित कर देने के बाद भी उनकी तुलना में अपने शौर्य का अवमूल्यन करते हैं। उसे मधुर, **जीमूतवाहन** के सदृश त्यागी, दक्ष, मधुर, लोकप्रिय, कुलीन, वाक्पटु, स्थिर एवं युवा; बुद्धि, उत्साह, स्मृति, कला-कौशल से समन्वित; शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए। विभिन्न प्रकार के नायकों का भेद-निरूपण[२] अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है। सभी प्रकार के नायक **धीर** हैं (यह विशेषता सभी नायिकाओं में समान रूप से नहीं पायी जाती), किंतु उनके चार भेद बतलाये गये हैं—**ललित, शांत, उदात्त** और **उद्धत**।

धीरललित नायक निश्चिंत, कलासक्त और विशेषतया विलासी होता है।

---

१. DR. ii. 1; SD. 64; R. i. 61 ff.

२. N. xxiv. (Hall, xxxiv) 4-6; DR. ii. 3-5; SD. 67-9; R. i. 72-8.

वह सामान्यतः राजा होता है जो अपने सार्वजनिक कर्तव्य का भार दूसरों को सौंप देता है, और जिसका एकमात्र उद्देश्य रहता है अपनी रानी तथा रानियों की स्वाभाविक ईर्ष्या से उत्पन्न बाधाओं को दूर कर के किसी नवीना प्रेयसी का संयोग-सुख प्राप्त करना। इस प्रकार के नायक का उत्कृष्ट उदाहरण भास और हर्ष के नाटकों में चित्रित वत्स है। **धीरशांत** नायक धीरललित नायक से मुख्यतः इस बात में भिन्न है कि वह जन्मना ब्राह्मण अथवा सार्थवाह होता है, जैसे—**मालती-माधव** का **माधव**, और **दरिद्रचारुदत्त** एवं **मृच्छकटिका** का **चारुदत्त**। **प्रकरण** का नायक सामान्यतः इसी वर्ग का होता है। **धीरोदात्त** नायक महासत्त्व, दृढ़व्रत किंतु अहंकार-रहित, क्षमावान् और आत्मश्लाघा न करने वाला होता है; जैसे **नागानन्द** का **जीमूतवाहन**। सेनापति, मंत्री, उच्चपदाधिकारी आदि इस प्रकार के नायक होते हैं। **जीमूतवाहन** के विषय में विचारोत्तेजक विवाद उठाया गया है। तर्क किया गया है कि औदात्त्य में सर्वोत्कृष्ट होने की कामना निहित है, किंतु **जीमूतवाहन** साम्राज्य-संबंधी कामना के विषय में वीतराग है और शम, परमकारुणिकत्व एवं वैराग्य का प्रतिरूप है; केवल **मलयवती** के प्रति उसका राग प्रदर्शित किया गया है जो उसके चरित्र के सामान्य स्वरूप के अनुरूप नहीं है। राजाओं को धीरशांत नायक की कोटि से बाहर रखने वाली निरर्थक रूढ़ि की उपेक्षा कर के **जीमूतवाहन** को वस्तुतः **बुद्ध** के साथ ही धीरशांत नायक की श्रेणी में स्थान देना चाहिए। धनिक[1] ने प्रभावशाली ढंग से **जीमूतवाहन** के इस वर्गी-करण का समर्थन किया है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया है कि आत्म-बलिदान कर के पर-रक्षा की कामना भी कामना है; जिन इच्छाओं का वह त्याग करता है वे स्वार्थ की इच्छाएँ हैं। **कालिदास** ने राजा में पायी जाने वाली इस प्रकार की कामनाओं की उचित निंदा की है। **मलयवती** के प्रति **जीमूतवाहन** का प्रेम शांत के अनुरूप नहीं है। इसके विपरीत, वह वस्तुतः नाटक में वर्णित द्विजों की एक विशेषता है, और इसके परिणाम-स्वरूप **जीमूतवाहन** राग-मुक्त **बुद्ध** से सर्वथा भिन्न श्रेणी का पात्र है। **धीरोद्धत** नायक दर्प और मात्सर्य से युक्त, मायावी, छद्मपरायण, अहंकारी, चंचल, चंड और आत्मश्लाघी होता है, जैसे—**परशुराम**।

नाटक का मुख्य नायक उक्त चारों प्रकारों में से किसी एक प्रकार का अवश्य होना चाहिए। कोई भी परिवर्तन नाटक के विकास की अन्विति के लिए घातक है। यदि आवश्यक हो तो चरित्र की एकान्विति की रक्षा के लिए कथानक में अपेक्षित परिवर्तन करना चाहिए जैसा कि राम के वालि-विषयक प्रसंग में किया

---

१. DR. ii. 4.

गया है। गौण नायक के विषय में इस प्रकार की संगति आवश्यक नहीं है। विभिन्न परिस्थितियों में उसका रूप बदल सकता है, और उसकी समरूपता की कमी नायक की स्थिरता से उत्पन्न प्रभाव को उत्कर्ष प्रदान करती है। इस प्रकार महावीरचरित[1] में परशुराम का दृष्टिकोण दुष्ट रावण के प्रति उतना ही उदात्त है जितना कि अपरीक्षित राम के प्रति उद्धत है, और जितना कि उस नायक के उत्कृष्ट शौर्य का अनुभव कर लेने के बाद शांत है। यह बात स्पष्ट है कि उक्त चार प्रकार के नायकों में से उद्धत प्रकार के मुख्य नायक की संकल्पना करने में कठिनाई है, और नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में उसका उदाहरण नहीं मिला, क्योंकि परशुराम तो गौण नायक मात्र हैं।

संस्कृत-नाटक का सामान्य विषय प्रेम है, अतएव शृंगार की दृष्टि से नायक के प्रकारों का दूसरा वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है।[2] अनेक नायिकाओं से तुल्यानुराग रखने वाला नायक दक्षिण नायक है। वह दूसरी नायिका को पाने का प्रयत्न करके पहली नायिका को व्यथित करता है, किंतु उसके प्रति उसका अनुराग समाप्त नहीं होता। नाटिका के नायक इसी प्रकार के नायक हैं, जैसे—वत्स। वह न तो शठ हो सकता है और न धृष्ट ही, क्योंकि इन दोनों प्रकारों के नायक अपनी पहली नायिका के प्रति अनुराग नहीं रखते, और दक्षिण नायक से इस बात में भिन्न होते हैं कि ये उस नायिका के साथ छल करते हैं, अथवा उसके कोप की उपेक्षा करते हैं और उनके शरीर पर अन्य नायिका के साथ संभोग के चिह्न पाये जाते हैं। वत्स के सदृश पुरुष भावावेग के वशीभूत नहीं होते; यदि कोई नारी उनकी अवहेलना करती है तो वे उसका त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं। चौथे प्रकार का नायक अनुकूल है, जो एक ही नायिका में निरत होता है, जैसे—राम। पूर्वोक्त धीरोदात्त आदि चार प्रकार के नायकों में से प्रत्येक के दक्षिण आदि चार प्रकार हो सकते हैं। इसलिए कुल मिला कर सोलह प्रकार के नायक हो सकते हैं। नाट्यशास्त्रियों ने उनके और भी जटिल भेद किये हैं। ये सोलहों प्रकार के नायक उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से अड़तालीस प्रकार के हो सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्रियों को नायक के सामान्य गुण अपर्याप्त प्रतीत हुए, इसलिए उन्होंने उनके आठ विशिष्ट सात्त्विक गुणों[3] का निरूपण

१. ii. 10, 16; iv 22.

२. DR.ii. 6; SD. 71-5; R. i. 80-2. R.i. 79,83-8 में पति, उपपति और वैशिक के रूप में नायक के तीन भेद बतलाये गये हैं। दक्षिण नायक के लिए देखिए—p. 205.

३. DR. ii. 9-13; SD. 89-95; R. i. 215-19; 64, 69.

किया। ये आठ गुण हैं--**शोभा**, जिसके अंतर्गत नीच के प्रति अनुकंपा, उच्च के प्रति स्पर्धा, शूरता और दक्षता संमिलित हैं; **विलास**, जिसमें धीर गति और दृष्टि तथा स्मित-वचन का समावेश है; **माधुर्य** अर्थात् संक्षोभ का कारण उत्पन्न होने पर भी उद्वेग का न होना; **गांभीर्य** अथवा निर्विकारता; **स्थैर्य** अर्थात् महान् विघ्न होने पर भी अपने कार्य में निरत रहना; **तेज** अर्थात् प्राण जाने पर भी अपमान आदि का सहन न करना, **ललित** अर्थात् वाणी, वेष तथा शृंगार की चेष्टाओं में मधुरता, और **औदार्य** अर्थात् सत्कार्य के लिए आत्मत्याग।

प्रतिनायक[1] नायक का प्रतिपक्षी, धीरोद्धत, लुब्ध, दुराग्रही, पापी और व्यसनी होता है। **राम** और **युधिष्ठिर** के विरोधी **रावण** तथा **दुर्योधन** इसी प्रकार के पात्र हैं। दूसरी ओर, पताका-नायक **पीठमर्द**[2] (नायक का सखा) होता है; उसमें नायक के गुण होते हैं किंतु न्यून मात्रा में; वह विचक्षण और नायक का अनुचर एवं भक्त होता है। रामोपाख्यान पर आश्रित नाटकों में **सुग्रीव** तथा **मालतीमाधव** में **मकरंद** इसी प्रकार के उदाहरण हैं। परंतु, ये नाटक 'पीठमर्द' शब्द से परिचित नहीं हैं, इसके प्रतिकूल **मालविकाग्निमित्र** में तापसी **कौशिकी** 'पीठमर्दिका' कही गयी है, और वह विश्वसनीय दूती का कार्य करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतर नाटकों में चित्रित सामान्य संबंध को नाट्यशास्त्रियों ने रूढ़िबद्ध कर दिया है।

नाटक के संविधान में नायिका[3] की भूमिका भी नायक के समान है, किंतु कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। नायिका के भेदों का मुख्य आधार उसका नायक के साथ संबंध है। उसके तीन भेद हैं—**स्वा** अथवा **स्वीया**, **परकीया** या **अन्या** अथवा **अन्य-स्त्री**, और **साधारणस्त्री** अथवा **गणिका**। स्वीया नायिका ऋजु और शीलवती होती है। उसके तीन भेद हैं—**मुग्धा**, **मध्या** और **प्रगल्भा**। **मुग्धा** नायिका अधिक लज्जावती और मान-जन्य क्रोध में भी मृदु होती है। **मध्या** नायिका यौवन के काम से पूर्ण होती है और सुरत में अचेत हो जाती है। यदि सह **धीरा** हुई तो वक्रोक्तियों द्वारा नायक की भर्त्सना करती है, यदि **अधीरा** हुई तो परुष वचनों का प्रयोग करती है, और यदि **धीराधीरा** हुई तो आँसुओं की सहायता से नायक की भर्त्सना करती है। **प्रगल्भा** नायिका कामोन्मत्त होती है, सुरत के आरंभ में

---

१. DR. ii. 8; SD. 159.

२. DR. ii. 7; SD. 76. मिला कर देखिए—**कामसूत्र**, p.60; R. i. 89, 90.

३. DR. ii. 14 f.; SD. 96-100; R. i. 94-120, जिसका असामान्य मत है कि **मालविकाग्निमित्र** की इरावती गणिका है.

ही अचेत हो जाती है। उसके भी तीन भेद हैं। **धीरा** प्रगल्भा नायिका अवहित्था (भाव-गोपन) के साथ आदर प्रदर्शित करती है, और सुरत के प्रति उदासीन रहती है। **अधीरा** प्रगल्भा नायक का तर्जन और ताड़न करती है। **धीराधीरा** प्रगल्भा वक्रोक्तिपूर्ण वचनों से नायक पर प्रहार करती है। इनका और भी सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है। नायक-विपयक प्रणय के क्रमानुसार उक्त तीनों प्रकार की नायिकाओं के दो उपभेद हैं—**ज्येष्ठा** और **कनिष्ठा**।

परकीया नायिका **परोढा** (दूसरे की विवाहिता) हो सकती है, अथवा **कन्यका**। परोढा नायिका के प्रति किया गया अनुराग अंगी रस का विपय नहीं हो सकता, परंतु कन्यका-विपयक अनुराग मुख्य एवं गौण दोनों रसों में आ सकता है। यदि कन्यका नायिका के माता-पिता या अभिभावक नायक के साथ विवाह करने को प्रस्तुत हों तो भी अन्य प्रकार के विघ्न उपस्थित हो सकते हैं, उदाहरण के लिए—**मालती-माधव** और **वत्स** के अनेक प्रणय-प्रसंगों में। **साधारणी** नायिका कला-कुशल, प्रगल्भ और धूर्त गणिका होती है। वह मूर्ख, स्वतंत्र, स्वार्थी और नपुंसक धनिकों के प्रति तब तक प्रेम प्रदर्शित करती है जब तक उनका धन समाप्त नहीं हो जाता। तत्पश्चात् वह कुट्टिनी का काम करने वाली अपनी माँ के द्वारा उनको बाहर निकलवा देती है। यदि प्रहसन के अतिरिक्त किसी अन्य रूपक में वह नायिका के रूप में चित्रित की जाए तो उसका चित्रण अनुरक्ता के रूप में ही होना चाहिए। प्रहसन में हास्योत्पादन के लिए वह अपने प्रेमियों की वंचना करती हुई दिखलायी जा सकती है। यदि नायक दिव्य पुरुप अथवा राजा हो तो वह नायिका नहीं हो सकती।

नायक के साथ संबंध के आधार पर **नायिका**[1] की आठ अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं। **स्वाधीनपतिका** नायिका का पति उसके वश में रहता है। **वासकसज्जा** नायिका वेप-भूपा से सुसज्जित हो कर प्रिय की प्रतीक्षा करती है। दैववशात् पति के न आने से दुःखार्त नायिका **विरहोत्कंठिता** है। नायक के शरीर में किसी अन्य नायिका के दंतक्षत और नखक्षत के चिह्नों को देख कर क्रुद्ध नायिका **खंडिता** है। **कलहांतरिता** नायिका नायक से कलह कर के वियुक्त होने पर पाश्चात्ताप करती है। जिसका प्रेमी निर्दिष्ट संकेत-स्थल पर आकर उससे नहीं मिलता वह अवमानित नायिका **विप्रलब्धा** है। **प्रोषितप्रिया** वह नायिका है जिसका प्रिय परदेश में है। किसी संकेत-स्थान पर नायक से मिलने के लिए जाने वाली अथवा उसे बुलाने वाली नायिका **अभिसारिका** है। अभिसार के स्थान हैं—भग्न मंदिर, उद्यान,

---

१. N. xxii, 197-206; DR. ii. 22-5; SD. 113-21; R. i. 121-31.

दूती का घर, श्मशान, नदी का तट, अथवा सामान्यतः कोई अँधेरा स्थान। उपर्युक्त प्रथम दो प्रकार की नायिकाएँ उज्ज्वलता और हर्ष से युक्त होती हैं, और शेष नायिकाएँ चिंता के कारण खेद, अश्रु, वैवर्ण्य तथा ग्लानि से युक्त एवं आभूषणों से रहित होती हैं। **परकीया** नायिका के विषय में उक्त सभी अवस्थाएँ संभव नहीं हैं। वह **विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा** अथवा **अभिसारिका** हो सकती है, परंतु स्वाधीनपतिका न होने के कारण खंडिता आदि नहीं हो सकती। इस प्रकार **कालिदास** के **मालविकाग्निमित्र** में **मालविका** के प्रति राजा द्वारा किये गये विनीत व्यवहार को **खंडिता** नायिका को प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं समझना चाहिए।

नायिका के **अलंकारों** (गुणों) का निरूपण जितनी उदारता से किया गया है उतनी उदारता के साथ नायक के गुणों का नहीं।[१] नायिका के प्रथम तीन अलंकार **अंगज** हैं। निर्विकार चित्त में प्रथम उद्‌बुद्ध काम-विकार **भाव** हैं। नेत्रों और भौंहों के व्यापार द्वारा भोगाभिलाप को प्रकट करने वाला भाव ही **हाव** है। वही भाव सुव्यक्त रूप से शृंगारसूचक होने पर **हेला** कहलाता है। अन्य सात **अयत्नज** अलंकार हैं—**शोभा** अर्थात् यौवन और उपभोग से संपन्न शरीर की सुंदरता, **कांति** अर्थात् काम-विलास से वढ़ी हुई शोभा, **माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य** एवं **धैर्य**। इसके अतिरिक्त दस **स्वभावतः** अलंकार हैं—**लीला** (प्रियतम की वेप-भूपा और वचनों का अनुकरण), **विलास** (प्रिय के दर्शन से अंगों, क्रिया और वचन में उत्पन्न विशेपता), **विच्छित्ति** (काति को वढ़ाने वाली अल्प वेप-रचना), **विभ्रम** (त्वरा के कारण भूषणों का स्थान-विपर्यय), **किलकिंचित** (क्रोध, अश्रु, भय, हर्प आदि का संकर), **मोट्टायित** (प्रियतम की कथा सुनने अथवा चित्र देखने पर अनुराग की अतिशय अभिव्यक्ति), **कुट्टमित** (प्रियतम के द्वारा केश, अधर आदि का स्पर्श होने पर दिखावटी कोप), **विव्वोक** (अतिशय गर्व के कारण प्रिय के प्रति अनादर), **ललित** (सुकुमार अंग-विन्यास), और **विहृत** (वोलने का अवसर आने पर भी लज्जावश न वोलना)। **विश्वनाथ** ने नायिका के उक्त वीस अलंकारों के अतिरिक्त आठ अन्य अलंकार भी वतलाये हैं—**मद** (यौवन और सौभाग्य से उत्पन्न मनोविकार), **तपन** (प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेप्टा), **मौग्ध्य** (जानी हुई वस्तु के विषय में भी प्रिय के सामने अनजान वन कर पूछना), **विक्षेप** (भूपणों की अधूरी रचना, अकारण इधर-उधर दृष्टिपात और रहस्यमय वचन), **कुतूहल, हसित** (यौवन के उद्रेक के कारण

---

१. N. xxii. 4-29; DR. ii. 28-39; SD. 126-55; भोज के मत के साथ R. i. 190-214.

अकारण हँसी), चकित (प्रियतम के आगे अकारण ही भयभीत होना), और केलि (प्रियतम के साथ प्रेम-विहार में नायिका की क्रीड़ा)। साहित्यदर्पण में यह भी विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि मुग्धा, कन्यका अथवा मध्या या प्रगल्भा नायिकाएँ अपने अनुराग की किन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति करती हैं। इस विश्लेषण से सूचित होता है कि भारतीय राज-परिवार में पाये जाने वाले अनुराग के इंगितों के विषय में लेखक की कितनी सूक्ष्म तथा गहरी पैठ थी। नायिका-भेद का निरूपण करते समय पहले स्वीया, परकीया और गणिका के कुल सोलह प्रकार बतलाये गये हैं। प्रत्येक की आठ अवस्थाएँ (स्वाधीनपतिका आदि) बतलायी गयी हैं। इस प्रकार कुल मिला कर (१६×८=) १२८ भेद हुए। पुनः उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन का गुणा करने पर नायिकाओं के कुल ३८४ भेद होते हैं। नायिकाओं के विविध प्रकारों के परिगणन की यह अस्वाभाविक कल्पना कुछ विशेष प्रशंसनीय नहीं है।

नाटक में अंकित अन्य सभी पात्रों पर भी इसी प्रकार का वर्गीकरण लागू किया गया है, परंतु लिंग (पुरुष, स्त्री और नपुंसक) के आधार पर किया गया वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत वर्गीकरण है। पात्रों की अधिकतर भूमिकाएँ राजमहल की घटनाओं के अनुरूप हैं क्योंकि सामान्य रूपक का विषय किसी राजा का प्रेम-प्रसंग है, और रूपक के प्रायः सभी सामान्य पात्र राजा तथा रानी के परिचारकगण हैं।

राजा का सहचर और भक्त मित्र विदूषक[१] है। वह ब्राह्मण है; अपनी वेष-भूषा, वाणी और व्यवहार में हास्यकारी है। वह विकृत आकार वाला वामन, खल्वाट, दंतुर और पिंगलाक्ष है; प्राकृत में किये गये अपने मूर्खतापूर्ण वार्तालाप से अपने को हास्यास्पद बना लेता है। सभी प्रकार के उपहारों और भोजन के प्रति उसका लालच हास्यजनक है। रूपक का यह एक नियमित अंग है कि अन्य पात्र उसकी हँसी उड़ाते हैं, परंतु वह सर्वदा राजा के साथ रहता है। अपने गोपनीय विषयों में भी राजा उसे अपना अंतरंग सहचर बनाता है, और वह राजा की सहायता करने को प्रस्तुत रहता है; यह और बात है कि अनेक बार दुर्भाग्यवश वह असमर्थ सिद्ध होता है। नाट्यशास्त्रियों ने इस असंगति का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया है कि एक ब्राह्मण इस विचित्र स्थिति में क्यों रखा गया। अश्वघोष ने इस पात्र की योजना की है, उसी प्रकार भास के नाटकों में भी। (यद्यपि उनके इतिहासकाव्यात्मक नाटकों में नहीं) इसका चित्रण किया गया है। परवर्ती

१. N. xii. 121 f.; xxi. 126; xxiv. 106; DR. ii. 8; SD. 79; R. i. 92.

काल के उन रूपकों में जिनका स्रोत इतिहासकाव्य नहीं है एक आवश्यक विशेषता के रूप में विदूषक का चित्रण पाया जाता है। इसका मुख्य अपवाद **मालतीमाधव** है, जिसमें विदूषक का स्थान नायक के **नर्मसुहृद्** से ग्रहण किया है।

विदूषक की अपेक्षा कम सामान्य किंतु महत्त्वपूर्ण और रोचक चरित्र **विट**[1] का है। यूनानी नाटक के परजीवी (Parasite) से उसका (बहुत दूर का) सादृश्य है। वह कवि, संगीत आदि कलाओं का मर्मज्ञ, और वेश्योपचारकुशल है। संक्षेप में, वह साहित्यिक एवं सांस्कृतिक रुचि वाला लोक-व्यवहार-दक्ष व्यक्ति है। वह **भाण** का अनिवार्य पात्र है, जिसमें वह अपने निकृष्ट साहसकर्मों का वर्णन करता है, किंतु अन्य प्रकार के रूपकों में वह छोटी भूमिका अदा करता है, **कालिदास** और **भवभूति** ने उसकी उपेक्षा की है। यद्यपि **हर्ष** ने **नागानन्द** में उसका चित्रण किया है तथापि उसकी स्थिति प्रासंगिक है। केवल **मृच्छकटिका** में आत्मश्लाघी **शकार** के संबंध से उसका पूर्ण विकास हुआ है। **शूद्रक** के आदर्श **चारुदत्त** में इन दोनों ही पात्रों का चित्रण हुआ है। **शकार**[2] नीच कुल में उत्पन्न पात्र है। वह राजा की रखेल का भाई है, क्षण में रुष्ट होता है और क्षण में तुष्ट; सुंदर वेष-भूषा का प्रेमी, और भ्रष्टाचारी तथा अयोग्य होने पर भी अपने पद का अभिमानी है। वह **शकुन्तला** के प्रासंगिक वृत्त में भी पाया जाता है, किंतु उसके बाद दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे स्पष्टतया सूचित होता है कि उसका इतिहास पुराना है।

अपने प्रेम-प्रसंगों में अधिक गंभीर कार्यों के लिए राजा को **दूत**[3] की भी आवश्यकता पड़ती है। इस भूमिका के पात्र में भक्ति, उत्साह, साहस, स्मृति, कुशलता आदि गुणों का होना अपेक्षित है। दूत तीन प्रकार के होते हैं—**निसृष्टार्थ** दूत वह है जिसे परिस्थिति के अनुसार कार्य करने का पूर्ण अधिकार है; **मितार्थ** दूत वह है जिसका अधिकार सीमित है; जो केवल कहे हुए संदेश को पहुँचा देता है वह **संदेशहारक** दूत है। राजा के अंतःपुर से घनिष्ठतया संबद्ध पात्र है—**चेट**[4], भृत्य, किरात, म्लेच्छ, कंचुकी, ऋत्विज्, पुरोहित आदि। राज्य-शासन के अन्य कर्मचारी भी है जिनकी सहायता का राजा उपयोग करता है।[5] मंत्री या अमात्य

---

१. N. xii. 97; xxiv. 104; DR. ii. 8; SD. 78; कामसूत्र, p.58; Schmidt, Beitrage zur indischen Erotik, pp. 200 ff.

२. N. xii. 130; xxiv. 105; DR. ii. 42; SD. 81.

३. SD. 86 f., 158.

४. N. xxiv. 107; DR. ii. 41; SD. 82.

५. N. xxiv. 60 ff.

कुलीन, बुद्धिमान्, श्रुति-नीति-विशारद, और स्वदेश का शुभचिंतक होता है। सेनापति भी कुलीन, आलस्यरहित, अर्थशास्त्र एवं अर्थतत्त्व का ज्ञाता, प्रियभाषी, शत्रु के छिद्र को समझने वाला और देश-काल का मर्मज्ञ होता है। प्राड्विवाक (न्यायाधीश) व्यवहार (विधि) और न्यायिक प्रक्रिया का ज्ञानी, सर्वथा समदर्शी, धार्मिक, क्रोधरहित, निरभिमान, शांत और संयमी होता है। अन्य पदाधिकारियों में भी बुद्धिमत्ता, उत्साह, धार्मिकता आदि गुणों की अपेक्षा होती है। अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए राजा आटविकों, सामंतों और सैनिकों का उपयोग करता है। **नाट्यशास्त्र** में कुमार और सुहृद् का भी उल्लेख किया गया है, किंतु उनका विस्तृत निरूपण नही है।

नारीपात्रों की भूमिकाओं[1] में महिमा की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका **महादेवी** की है। आयु और पद में वह अपने पति के समान है। पति की अनुराग-विषयक त्रुटि उसे व्यथित करती है, किंतु उसके स्वाभिमान और गौरव को हानि नही पहुँचाती। सुख और दुःख में वह अपने पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई पति की मंगल-कामना करती है। **देवी** भी राजपुत्री है, किंतु उसमें उदात्तता की अपेक्षा गर्व की मात्रा अधिक होती है। वह रूप और यौवन के गुण से उन्मत्त तथा रतिसंभोगतत्पर होती है। **स्वामिनी** सेनापति अथवा अमात्य की पुत्री है। वह रूप और गुण से संपन्न है। राजा तथा अन्य लोग उसका आदर करते हैं। उप-पत्नी के अन्य प्रकार (**स्थायिनी और भोगिनी**) भी बतलाये गये हैं, किंतु उनकी विशेषताएँ विशेष अवेक्षणीय नही है। अंतःपुर में **आयुक्ताएँ** भी होती हैं जो व्यापक रूप से आगार आदि की देख-रेख करती है। सभी अवस्थाओं में राजा के साथ रहने वाली **अनुचारिका** है। प्रसाधन आदि का प्रबंध करने वाली और छत्र धारण करने वाली सेविका **परिचारिका** है। **यवनियाँ** (जो किसी समय यूनानी युवतियाँ होती थीं) राजा के अंगरक्षक का कार्य करती है। पूर्ववर्ती राजाओं की नीति और उपचार से अभिज्ञ **वृद्धाओं** की भी अंतःपुर में नियुक्ति की जाती है। लज्जावती **कुमारियाँ** भी हैं जिन्होंने रति-संभोग नहीं किया है, **महत्तराएँ** हैं जो स्वस्त्ययन आदि के अनुष्ठान आदि की देख-रेख करती है। **शिल्प-कारियों, नाटकीयाओं, नर्तकियों** आदि की भी अंतःपुर में व्यवस्था है। **गणिका** या **नर्तकी** का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है। वह पूर्णतः सुशिक्षित, स्त्रियों के सामान्य दोषों से मुक्त, कोमल हृदय वाली, प्रवीण, आलस्य-

---

१. N. xxiv. 15 ff. **कामसूत्र** में भी निस्संदेह इस विषय का बहुत-कुछ वर्णन है.

रहित, विलासवती, और सभी प्रकार से चित्ताकर्षक है। सभी प्रकार के स्त्री-पात्रों में नायिका की **दूती** की भूमिका को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। वह नायक के सहायक का प्रतिरूप है। नायिका की सखी, दासी, धात्रेयी, पड़ोसिन, शिल्पिका अथवा कारू दूती का कार्य करने वाली हो सकती है। विचित्र बात है कि भिक्षुणी (सामान्यतया बौद्ध भिक्षुणी) भी दूती हो सकती है। इस विलक्षण और रोचक तथ्य से प्रसंगवश बौद्ध-धर्म के अनुयायियों के प्रति भारतीय विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है। अंतःपुर की **प्रतीहारी** राजा के पास जाकर संधि-विग्रह-संबंधी कार्य आदि का निवेदन करती है।

नपुंसक प्रकृति[1] के पात्रों की भूमिकाओं की पूर्ति वे पुरुष करते है जो या तो पुंस्त्वरहित है या स्त्रीभोगवर्जित है। अंत.पुर में ऐसे ही नपुंसक पुरुषों की नियुक्ति की जाती है। **स्नातक** ब्राह्मण है, जिसने वेदाध्ययन पूरा कर लिया है, और धार्मिक तथा सामाजिक विषयों से परिचित है। वह राजप्रासाद में रहता है। **कंचुकी** वृद्ध ब्राह्मण है, जो राजा की सेवा में ही बूढ़ा हुआ है, किंतु बौद्धिक दृष्टि से अब भी चौकस है, और राजा के आदेशों को अंतःपुर में पहुँचाने के कार्य में प्रवीण है। **हिंजड़े** (**वर्षधर**, निर्मुंड, **औपस्थायिक**) स्त्रीस्वभावी और क्लीव है किंतु उनमें कार्य-दक्षता की कमी नहीं है। राजा की काम-क्रीड़ा के प्रसंगों में उनका नियोजन किया जाता है।

पात्रों का नामकरण[2] किसी सीमा तक शास्त्र द्वारा विनियमित है। गणिका के नाम के अंत में **दत्ता**, **सेना** अथवा **सिद्धा** होना चाहिए, जैसे—चारुदत्त की नायिका **वसंतसेना**। सार्थवाह के नाम के अंत में **दत्त** होना चाहिए, जैसे—**चारुदत्त**। विदूषक का नाम वसंत या किसी फूल पर होना चाहिए, परंतु अविमारक में उसकी संज्ञा **संतुष्ट** है। चेट अथवा चेटी का नाम ऋतुओं आदि के वर्णन में आने वाले पदार्थों के आधार पर होना चाहिए, जैसे—**मालतीमाधव** में **कलहंस** तथा **मंदारिका** के नाम। कापालिकों के नाम के अंत में **घंट** आना चाहिए, जैसे—मालतीमाधव में ही **अघोरघंट** है।

विभिन्न पात्रों के **संबोधन** की पद्धति के विषय में पालनीय शिष्टाचार[3] का भी निरूपण किया गया है। ऋषि लोग राजा को 'राजन्' कह कर संबोधित करते

---

१. N. xxiv. 50 ff.

२. SD. 426. R. iii. 323-38 में बहुत विस्तृत निरूपण है.

३. N. xvii. 73 ff.; DR. ii. 62-6; SD. 431ff; Lévi, TI. i.129, संशोधित JA. sér. 9, xix. 97 f.; R. iii. 306-22.

है, और भृत्यजन उसको 'देव' अथवा 'स्वामिन्' कह कर। सूत और ब्राह्मण उसे सामान्यतः 'आयुष्मन्' कह कर आमंत्रित करते हैं, और अवम पात्र 'भट्ट' कह कर। युवराज अपने पिता की भाँति ही 'स्वामिन्' कह कर संबोधित किया जाता है। कुमार को 'भर्तृदारक' कह कर संबोधित करते हैं; जनसाधारण उसे 'हे सौम्य' या 'हे भद्रमुख' कहते हैं। जिसका जो कर्म, शिल्प, विद्या या जाति है उसका उसी नाम से संबोधन किया जाता है।[1] देवों, महात्माओं और महर्षियों के लिए 'भगवन्' संज्ञा उचित है। ब्राह्मण, अमात्य और अग्रज के लिए 'आर्य' का प्रयोग उपयुक्त है। पत्नी अपने पति को 'आर्यपुत्र' कह कर संबोधित करती है। महर्षि लोग तपस्वी के लिए 'साधो' शब्द का व्यवहार करते हैं, और अमात्य के लिए 'अमात्य' या 'सचिव' का। राजा और विदूषक एक-दूसरे को 'वयस्य' कहते हैं। शिष्य अपने गुरु को, पुत्र अपने पिता को और छोटा भाई अपने बड़े भाई को 'सुगृहीताभिध' कह कर संबोधित करता है,[2] और वे लोग बदले में शिष्य आदि को 'तात' या 'वत्स' कहते हैं। ये दोनों शब्द स्नेहपूर्ण एवं कृपायुक्त हैं, और किसी भी पुत्रवत् श्रद्धालु व्यक्ति के लिए प्रयोज्य हैं। विधर्मियों को उनके अनुरूप नाम देना चाहिए; इस प्रकार बौद्धों और क्षपणकों को 'भदंत', 'भद्रदत्त' आदि शब्दों के द्वारा संबोधित करना चाहिए। मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के बीच 'हंहो' संबोधन का, और निम्न वर्ग के व्यक्तियों के बीच 'हंडे' का व्यवहार होना चाहिए। विदूषक रानी और उसकी चेटी को 'भवती' कहता है; अन्यथा रानी को 'भट्टिनी' अथवा 'स्वामिनी' कहा जाता है। पत्नी को 'आर्या', राजकुमारी को 'भर्तृदारिका,' वेश्या को 'अज्जुका', और कुट्टिनी तथा वृद्धा को 'अंबा' संज्ञा दी गयी है। समान सखियों द्वारा परस्पर 'हला' का, और दासियों द्वारा 'हंजा' का प्रयोग किया जाता है।

५. रस

नाट्यशास्त्र का सबसे अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण भाग रस के स्वरूप का उत्तरोत्तर निरूपण है, क्योंकि सामाजिकों को रसानुभूति कराना ही नाटक का लक्ष्य है।[3] नाट्यशास्त्र की उक्ति सरल है। रस की निष्पत्ति विभावों, अनु-

१. नाट्यशास्त्र (निर्णयसागर प्रेस), १७।७४-७५.

२. अन्य संज्ञा के लिए मिला कर देखिए—हास्यचूडामणि, p. 124; उपाध्याय, R. iii. 309.

३. P. Regnaud. Rhétorique Sanskrite. pp. 266 ff.; Jacobi, DMG. lvi. 391 f.; M. Lindenau, Beiträge zur altindischen Rasalehre. Leipzig. 1913. देखिए—N. vi. vii.; DR. iv.; SD. iii.; R. 298—ii. 265.

भावों और **संचारी** भावों के **संयोग** से होती है। आगे चल कर विभावों का वर्गीकरण करते हुए उनके दो भेद बतलाये गये हैं—**आलंबन** और **उद्दीपन**। नायक, नायिका आदि **आलंबन विभाव** हैं, क्योंकि उनके विना सामाजिकों के रति आदि भावों का उद्बोधन नहीं हो सकता। रस का उद्दीपन करने वाली आलंबन की चेष्टाएँ आदि और देश-काल आदि की परिस्थितियाँ **उद्दीपन विभाव** है। उदाहरण के लिए, चंद्रमा, कोकिल की कूक, मंद मलयानिल आदि शृंगार रस के उद्दीपन है। अनुभाव भावों की वाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं जिनके द्वारा अभिनेता नाटक के पात्रों के भावों को सामाजिकों के समक्ष प्रकाशित करते है, जैसे—कटाक्ष, स्मित, हस्त-संचालन, और (यद्यपि पश्चात्कालीन ग्रंथों में इसका किंचित् संकेत मात्र किया गया है) उसके शब्द।[१] आगे चल कर उन अनुभावों का एक विशिष्ट वर्ग भी वनाया गया है जो अनुकार्य (मूल पात्र) के भाव की तदनुरूप अनुभूति करने वाले समाहित मन से उत्पन्न होते हैं। वे **सात्त्विक भाव** कहलाते हैं, क्योंकि वे दूसरे के दुःख, हर्ष आदि भावों की अनुकूल अनुभूति करने वाले सत्त्व (अंतःकरण) से उत्पन्न होते हैं। उनके नाम हैं—**स्तंभ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु** (कंप), **अश्रु** और **स्वरभंग** (वैस्वर्य)। संचारी भाव तेंतीस वतलाये गये हैं—**निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिंता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य** और **चपलता**। किन्तु ये तत्त्व रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, और न तो **नाट्यशास्त्र** का ऐसा तात्पर्य ही है। उसकी मान्यता है कि रसोद्रेक के लिए एक अनिवार्य तत्त्व **स्थायी भाव** है जो नाटक में विभिन्न संचारी भावों के वीच अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है। शास्त्र का मत है कि प्रजा की तुलना में राजा की अथवा शिष्यों की तुलना में गुरु की जो स्थिति है वही स्थिति अन्य तत्त्वों की तुलना में स्थायी भाव की है। **दशरूप** का कथन है कि वह आनंद का हेतु है, और संचारी भावों को अपने साथ एकरूप कर लेता है।

नाट्यशास्त्र के मत से भी स्थायी भाव ही किसी रूप में रस का निर्धारण करते

---

१. मातृगुप्त (Hall, DR., p. 33) रस के तीन भेद वतलाते हैं—**वाचिक**, जिसकी निष्पत्ति शब्दों द्वारा होती है; **नेपथ्य**, जिसकी निष्पत्ति उपयुक्त मालाओं, आभूषणों, वस्त्रों आदि से होती है; और **स्वाभाविक**, जिसकी निष्पत्ति कांति, यौवन, माधुर्य, धृति, प्रगल्भता आदि स्वाभाविक गुणों के द्वारा की जाती है.

है अथवा रस-रूप में परिणत होते हैं, यद्यपि नाट्यशास्त्र के इस रस-प्रक्रिया-संबंधी विवक्षित अर्थ को ठीक-ठीक समझने में निस्संदेह कठिनाई है। भाव और रस शब्दों के गड़बड़ प्रयोग से यह तथ्य स्पष्ट है। भट्ट लोल्लट[1] ने भरत के रस-सिद्धांत के आशय को स्पष्ट करने का सुनिश्चित प्रयास किया है। ललना आदि आलंबन विभावों से जनित, मनोहर उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त, कटाक्ष तथा आलिंगन आदि अनुभावों के द्वारा प्रतीति-योग्य बनाया गया, और अभिलाष[2] आदि संचारी भावों के द्वारा उपचित स्थायी भाव रति मूलतः नाटक के नायक (अनुकार्य) राम आदि में शृंगार रस के रूप में परिणत होता है। सामाजिक नायक के रूप, वेष और कार्य का अनुकरण करने वाले नट पर अनुकार्य राम आदि का आरोप कर लेता है। इस आरोप के परिणामस्वरूप वह चमत्कृत हो कर आनंद का अनुभव करता है। इस मत के विरुद्ध प्रबलतम आपत्ति स्पष्ट है; यह इस तथ्य को मानने में असमर्थ है कि रस का आश्रय सामाजिक है। सामाजिक उस रस की आनंदानुभूति नहीं कर सकता जो मूलतः राम में था और जिसका आनुषंगिक अस्तित्व अनुकर्ता नट में है। इसके अतिरिक्त, जिस नट का उद्देश्य सामाजिकों का मनोरंजन और धनोपार्जन करना है वह राम के भावों की अनुभूति कदापि नहीं कर सकता। इसके विपरीत, यदि वह ऐसी अनुभूति करता है तो वह भी उसी स्थिति में आ जाता है जिस स्थिति में सामाजिक है।

लोल्लट का रस-सिद्धांत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है और वह मीमांसा-संप्रदाय के अंतर्गत माना गया है। श्रीशंकुक ने उसका विरोध किया है। उनका सिद्धांत नैयायिक मत के अनुसार माना गया है। उसके अनुसार रस-निष्पत्ति अनुमान की प्रक्रिया है। यद्यपि रति आदि स्थायी भाव नट में वस्तुतः विद्यमान नहीं होते तथापि उसके कुशल अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव आदि के द्वारा नट में उन भावों का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार अनुमित भाव, सामाजिक के द्वारा भावित होने पर, अपने अतिशय सौंदर्य के कारण एक विलक्षण रमणीयता प्राप्त कर लेता है, और इस प्रकार अंततः विकसित हो कर प्रेक्षक में रसावस्था तक पहुँचता है। परंतु, इस मत के विरुद्ध अकाट्य आक्षेप यह है कि अनुमान

---

१. एकावली, iii, pp. 86 ff.; काव्यप्रकाश (ed. 1889), pp. 86 ff. मिला कर देखिए— R., pp. 173-5.

२. शास्त्र-ग्रंथों के अनुसार 'अभिलाष' वियोग की दस कामदशाओं में से एक है। तैंतीस संचारी भावों में उसकी गणना नहीं की गई है, परंतु डा० कीथ ने यहाँ पर संचारी भाव के रूप में 'अभिलाष' (desire) का उल्लेख किया है.

अथवा किसी अन्य निष्कर्षक प्रमाण के द्वारा चमत्कार की उत्पत्ति नहीं होती, उसका एक मात्र साधन प्रत्यक्ष है। यह बात सर्व-स्वीकृत है, और इस विषय में इस सामान्य वास्तविकता को अमान्य ठहराने के लिए कोई उचित आधार नही है।

भट्ट नायक[1] के सिद्धांत में एक भिन्न दृष्टिकोण मिलता है। उनके मतानुसार **रस** की न तो **उत्पत्ति** होती है, न **प्रतीति** होती है, और न ही **अभिव्यक्ति** होती है। यदि रस की पर-गत (अनुकार्य-गत अथवा नट-गत) रूप में प्रतीति मानी जाए तो उसके साथ सामाजिक का कोई संबंध नहीं रह जाता। **राम**-विपयक काव्य के अनुशीलन के फल-स्वरूप सामाजिक में विद्यमान रस की प्रतीति असंभव है, क्योंकि सामाजिक मे ऐसे तत्त्व नही हैं जो इस प्रकार के परिणाम का प्रादुर्भाव कर सकें। यह मानना भी असंगत है कि **राम** की कहानी को पढ़ कर या देख कर सामाजिक के अपने मन में स्थित स्थायी भाव पुनर्जीवित हो उठता है; यह बात अनुभव-सिद्ध है कि रति-भाव के उद्‌बोधन के लिए सामाजिक की अपनी प्रिया उसकी स्मृति में नही आती, न ही किसी देवी की कथा सामाजिक के लौकिक प्रेम को प्रवुद्ध कर सकती है। इसके अतिरिक्त, **राम**, आदि के अद्‌भुत कार्य सामान्य मानव के प्रयत्नों से सर्वथा भिन्न हैं अतः वे सामाजिक के मन में उसके निजी कार्यो की परिकल्पना को प्रवुद्ध नहीं कर सकते। इस प्रकार, रस प्रतीत नहीं हो सकता। उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। यदि रस की उत्पत्ति होती तो करुण रस का नाटक देखने के लिए कोई प्रेक्षक दुवारा न जाता, क्योंकि उस अवस्था में उसे आनंद-दायक करुण के स्थान पर वास्तविक दुःख की अनुभूति होती। रस शक्ति-रूप में विद्यमान किसी वस्तु की अभिव्यक्ति भी नही है। यदि ऐसा होता तो शक्ति-रूप में पहले से ही स्थित रसों की अभिव्यक्ति होने पर उनकी अनुभूति में न्यूनाधिक तारतम्य होता—इस प्रकार रसानुभूति में तारतम्य मानना रस के अखंड स्वरूप के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति के संबंध में भी वही कठिनाई सामने आती है जो प्रतीति के विषय में है, अर्थात् अभिव्यक्ति का संबंध किससे है—नायक से अथवा सामाजिक से। इस समस्या का सच्चा समाधान यह है कि काव्य की त्रिविध विशिष्ट शक्तियाँ मानी जाएँ। पहली शक्ति **अभिधा** है, जो अर्थ-विषयक व्यापार है, जिससे शब्दार्थ, वाक्यार्थ आदि की प्रतीति होती है। दूसरी शक्ति **भावकत्व** है, जो रस से संबंध रखती है (**साधारणीकरण** करती है)।

१. और भी देखिए—अभिनवगुप्त, ध्वनिसंकेत, pp. 67 f.; अलंकारसर्वस्व, p. 9.

तीसरी शक्ति **भोजकत्व** है, जिसका संबंध सामाजिक से है (जो सामाजिक को रस का आस्वाद कराती है)। यदि अभिधा को ही सब-कुछ माना जाएगा तो काव्यालंकारों एवं शास्त्रों का भेद मिट जाएगा, विभिन्न प्रकार के शाब्दिक एवं ध्वनित अर्थों में कोई अंतर नहीं रहेगा, और कर्णकटु वर्णों का परिहार निरर्थक हो जाएगा। अतएव अभिधा से विलक्षण 'भावकत्व' (रसभावना) नामक दूसरे व्यापार को मानने की आवश्यकता है। भावकत्व शक्ति अभिधा के द्वारा गृहीत अर्थ को रस का आधार बनाती है, और विभावादि को साधारणीकृत रूप प्रदान करती है—विभाव आदि का यह **साधारणीकरण** रस-प्रक्रिया की आवश्यक विशेषता है। इसके परिणाम-स्वरूप सामाजिक रस का आस्वादन करता है। इस अवस्था में चित्त-वृत्ति पूर्णतः सत्त्वमयी और रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त रहती है। चित्त की यह दशा विश्रांति-दशा है, जिसकी तुलना ब्रह्म-समाधि से की जा सकती है। यह अवस्था आवश्यक तत्त्व है। रस-भोग व्युत्पत्ति[1] से (जिसके द्वारा रस की अनुभूति होती है) ऊपर की वस्तु है। **भट्टनायक** का रस-सिद्धांत सांख्य-दर्शन[2] पर आश्रित बतलाया गया है, और उसे **भुक्तिवाद** की संज्ञा प्रदान की गयी है—भुक्तिवाद अर्थात् रस-भोग का सिद्धांत। इस मत के विरुद्ध यह आपत्ति की गयी है कि भावकत्व और भोजकत्व की काव्य-शक्तियों को मानने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है।

काव्यशास्त्रियों ने जिस सिद्धांत को स्वीकार किया है वह **अभिनवगुप्त** द्वारा समर्थित है, किन्तु वे उसके प्रवर्तक नहीं हैं। वह मत काव्यानंद मात्र के मूल में स्थित व्यंजना के सामान्य सिद्धांत पर आधारित है। प्रेक्षक की मनोदशा विचारणीय है। जीवन के अनुभव के परिणाम-स्वरूप सामाजिक में वासनाओं का अस्तित्व होता है। वासना-गत संस्कार ही स्थायी भाव है। ये भाव सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं, और काव्य के अनुशीलन अथवा नाटक के अभिनय के प्रेक्षण से उद्बुद्ध हो जाते हैं। जो लोग इस चित्तवृत्ति-वासना अर्थात् भाव के संस्कारों से शून्य हैं, वे नाटक के आनद का अनुभव नहीं कर सकते। व्याकरण या मीमांसा की गुत्थियों में मन को केंद्रित रखने वाले वैयाकरणों एवं मीमांसकों की यही दशा है। साधारणीकृत रूप में प्रतीत होने के कारण इस प्रकार उद्बुद्ध भाव

---

१. 'व्युत्पत्ति' की व्याख्या के लिए देखिए—अभिनवगुप्त, पूर्वोल्लिखित रचना, p. 70; GGA. 1913, p. 305, n. 1.

२. 'ब्रह्मन्' के निर्देश से सूचित होता है कि यहाँ पर सिद्धांत का उसी प्रकार समेकन किया गया है जिस प्रकार सदानंद के वेदान्तसार में.

विलक्षण होता है। सभी अभ्यस्त सहृदय प्रेक्षकों को इसकी समान रूप से अनुभूति होती है। इसमें स्वगतत्व का अनिवार्यतः अभाव रहता है। अतएव रस सामान्य भाव से बहुत भिन्न होता है। रस सामान्य एवं तटस्थ होता है, इसके विपरीत, भाव व्यक्तिगत और अव्यवहित रूप से स्वगत होता है। पुनश्च, भाव सुखात्मक या दुःखात्मक हो सकता है, परंतु रस का वैशिष्ट्य स्वनिरपेक्ष आनंद है जो स्वगतत्व की भावना से सर्वथा रहित है। यही समाधिस्थ योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानंद की सहोदरा है। वस्तुतः, सहृदय[1] और योगी में घनिष्ठ सादृश्य है; दोनों ही इस आनंद की उपलब्धि कर सकते है, इसे यथार्थ में परिणत कर सकते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि सहृदय को विभावादि का अनुसंधान करना पड़ता है, और योगी को ब्रह्म-समाधि लगानी पड़ती है। रस का यह स्वरूप विलक्षण है, अतएव उसे अभिधा या लक्षणा, प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा स्मृति के फल-स्वरूप उत्पन्न नहीं माना जा सकता। विभावादि के बिना रस का अस्तित्व असंभव है। परंतु, विभावादि सामान्य अर्थ में कारण नहीं हैं। कारणों के तिरोभाव के पश्चात् भी कार्य की सत्ता बनी रह सकती है, किंतु रस का अस्तित्व विभावादि के अस्तित्व की अवधि तक ही रहता है। इसीलिए रस-संबंधी शब्दावली कार्य-कारण-संबंधी सामान्य शब्दावली से सर्वथा भिन्न है। रस अलौकिक है। विभावादि के साथ रस के संबंध की दृष्टि से उसकी उपमा पानकरस से ही दी जा सकती है जो मिर्च, गुड़, कपूर आदि के मिश्रण से तैयार किया जाता है, किंतु पीते समय उसकी प्रत्येक वस्तु के अलग-अलग स्वाद का निर्धारण नहीं किया जा सकता। रस की इस विशेषता के आधार पर हम समझ सकते हैं कि रसों के अंतर्गत बीभत्स, भयानक और करुण रसों की गणना कैसे कर ली गयी है। रसों का उद्‌बोधन उन्हीं पदार्थों के द्वारा होता है जो वास्तविक जीवन में जुगुप्सा (घृणा), भय, शोक आदि के कारण होते हैं, और वास्तविक जीवन में ये भाव 'आनंद' शब्द के किसी भी अर्थ में आनंददायक नहीं है। परंतु, काल्पनिक और साधारणीकृत रूप में संप्रेषित होने पर ये ही पदार्थ अलौकिक आनंद की अनुभूति कराते है, जिसकी तुलना लौकिक आनंद से उसी प्रकार नहीं की जा सकती जिस प्रकार योगी के ब्रह्म-साक्षात्कार के आनंद को सामान्य प्रचलित अर्थ में आनंद नहीं कहा जा सकता। भानुदत्त ने १४३७ ई० के पूर्व रचित अपने 'रसतरङ्गिणी' नामक ग्रंथ में

रस के दो भेद किये हैं—लौकिक रस और अलौकिक रस। लौकिक रस सामान्य जीवन में अनुभूत भाव है। उसको रस से भिन्न रूप में, 'भाव' मानना ही अधिक उपयुक्त है। अलौकिक रस के अंतर्गत स्वप्न, मनोराज्य और काव्यास्वाद में अनुभूत भाव आते हैं। उन्होंने लौकिक और अलौकिक भाव के सर्वथा भिन्न स्वरूप पर अवधानपूर्वक बल दिया है।

अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत दशरूप का भी सिद्धांत है, यद्यपि वहाँ पर प्रतिपादन की संक्षिप्तता के कारण वह अधिक दुरूह हो गया है। भाव की रस-रूप में परिणति की प्रक्रिया का विधिवत् विवरण इस प्रकार दिया गया है—'विभावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों और संचारी भावों के द्वारा आस्वाद्य रूप में परिणत होने पर स्थायी भाव रस कहलाता है।'[1] दशरूप के उसी 'प्रकाश, में आगे चल कर धनंजय ने अपने तात्पर्य को और भी अधिक स्पष्ट किया है[2]—पुष्ट स्थायी भाव रसिक प्रेक्षक के द्वारा आस्वादित होने के कारण 'रस' कहा जाता है। रसानुभूति के समय प्रेक्षक वस्तुतः विद्यमान रहता है। अनुकार्य नायक रस का आश्रय नहीं है, क्योंकि उसका संबंध भूत काल से है। रस काव्यगत भी नहीं है, क्योंकि वह काव्य का विषय नहीं है; काव्य का कार्य विभावादि की निर्बंधना करना है जिनके द्वारा स्थायी भाव उद्बुद्ध हो कर रस-रूप में परिणत होता है। रस नट द्वारा अभिनीत भावों की प्रेक्षक द्वारा की गयी प्रतीति भी नहीं है, क्योंकि उस दशा में प्रेक्षकों को रस की अनुभूति न हो कर भाव की अनुभूति होगी जिसका स्वरूप विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न प्रकार का है। उनकी अनुभूति ठीक उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार वास्तविक जीवन में कांता-संयुक्त नायक को देख कर प्रेक्षकों के मन में अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार लज्जा, असूया, अनुराग, अथवा विराग की अनुभूति होती है। प्रेक्षक की उपमा उस बालक से दी गयी है जो अपने मिट्टी के हाथी (हमारे टिन के सिपाहियों का प्राचीन समरूप) से खेलते हुए अपने ही उत्साह का आनंददायक रूप में आस्वाद करता है। अर्जुन के कार्य प्रेक्षक के मन में उसी के सदृश भावना उद्बुद्ध करते हैं। यह रसास्वाद आत्मानंद की उद्भूति है, और आत्मानंद की उद्भूति प्रेक्षक के अंतःकरण में व्याप्त स्थायी भाव एवं विभावादि के संयोग का परिणाम है।

---

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ (iv.1.)
मिला कर देखिए,—R. ii. 169.

२. iv. 36 ff.

रसास्वाद के क्रम में मानसिक प्रक्रिया के यथार्थ स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न किया गया है, और उसके आधार पर रसों के भेद बतलाये गये हैं। शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र—ये चार रस मूल रस माने गये हैं। इन चारों का संबंध चार **चित्त-भूमियों** से है—**विकास, विस्तर, क्षोभ,** और **विक्षेप**।[1] स्पष्ट है कि इन चित्त-भूमियों तक अंतर्दर्शन के द्वारा पहुँचा जा सकता है। इनकी यह विशेषता **नाट्यशास्त्र**[2] में वर्णित चार मुख्य (मूल) और चार गौण रसों के सिद्धांत का अर्ध-मनोवैज्ञानिक तार्किक आधार प्रस्तुत करती है। **भट्ट नायक** की भाँति **अभिनवगुप्त**[3] रस-प्रक्रिया के अंतर्गत चित्त-भूमियों के तीन रूप स्वीकार करते हैं। वे हैं—**द्रुति, विस्तार** और **विकास**। यह विभाजन काव्यशास्त्र में भी लागू किया गया है। वहाँ पर उसका प्रयोजन शब्दगत तीन गुणों के सिद्धांत का औचित्य प्रतिपादित करता है।[4] **धनंजय** के मतानुसार नाटक में शांत रस नहीं हो सकता[5]; यदि अन्यत्र उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाए तो उसमें पूर्वोक्त चारों विभिन्न चित्त-भूमियों का संयोग मानना चाहिए।

अब नट के साथ प्रेक्षक के आवश्यक संबंध को स्पष्टतया समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम रंगमंच पर **राम** और **सीता** को देखते हैं। **सीता** अनुकूल देश-काल की परिस्थिति में **राम** के अनुराग को उद्बुद्ध करती हैं। वाचिक और आंगिक अभिनय द्वारा यह अनुराग सूचित किया जाता है। उससे स्थायी भाव रति तथा अनुराग की विभिन्न परिस्थितियों में अनुभूत उसके संचारी भाव दोनों सूचित होते हैं। अतीत अनुभव के फल-स्वरूप प्रेक्षक के मन में संस्कार-रूप से स्थित रति भाव इस दृश्य (अभिनय) के द्वारा उद्बुद्ध हो जाता है। इस प्रकार, अलौकिक और साधारणीकृत रूप में भाव के भावन से जिस आनंद की भावना उद्भूत होती है उसको 'रस' कहते हैं। रसास्वाद की पूर्णता प्रेक्षक की प्रकृति तथा अनुभव पर तत्त्वतः निर्भर है; प्रेक्षक नायक अथवा अन्य पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, और इस प्रकार उसके भावों एवं अनुभूतियों का आदर्श-रूप में अनुभव करता है। उसका अनुभव इस सीमा तक भी पहुँच जाता है कि वह अश्रुपात करने लगता है, भयभीत और शोकयुक्त हो जाता है, परंतु उस स्थिति में भी रस का स्वरूप आनंदमय ही रहता है। यह आनंद उस रोमहर्ष के तुल्य कहा जा सकता है

---

१. iv. 41; R., p. 175, l. 1.

२. vi. 39-41.

३. **ध्वनिसंकेत,** pp. 68, 70.

४. आगे देखिए—अनुच्छेद ६.

५. iv. 33. मिला कर देखिए—R., p. 171.

जो किसी अत्यंत भयानक रोमांचकारी कथा को सुन कर उत्पन्न होता है, और यह बात हम सभी जानते हैं कि करुण-कथाओं में भी रमणीयता होती है।

विश्वनाथ का प्रबल आग्रह है कि रसानुभूति के लिए अनुकार्य पात्रों के साथ प्रेक्षक का तादात्म्य आवश्यक है। इस प्रक्रिया के आधार पर वह हनुमंत द्वारा समुद्र-लंघन के समान असाधारण व्यापारों को भी बिना किसी कठिनाई के स्वीकार कर लेता है।[1] प्रेक्षक मूल पात्र (अनुकार्य) के रति आदि भावों का स्वात्मगत रूप में अनुभव नहीं करता, क्योंकि उस अवस्था में वह रस-रूप में कदापि परिणत नहीं हो सकेगा, वह भाव ही बना रहेगा; और भय आदि भावों की स्थिति में उसे दुःख की अनुभूति होगी, आनंद की नहीं। दूसरी ओर, वह भाव को सर्वथा नायकगत (परगत) मान कर भी नहीं चल सकता, क्योंकि ऐसी दशा में वह नायकगत ही रहेगा, और प्रेक्षक से उसका कोई संबंध नहीं होगा, अतः वह भाव रस-रूप में परिणत नहीं होगा। उसी प्रकार, विभावादि को केवल नायक से ही संबद्ध नहीं मानना चाहिए; साधारणीकृत रूप में उनकी प्रतीति की जानी चाहिए। यह **साधारणी कृति** (साधारणीकरण) रस-प्रक्रिया की अनिवार्य विशेषता है जो **भट्ट नायक** द्वारा बतलायी गयी काव्य की भावना-शक्ति की स्थानापन्न है। अब हम नट (अभिनेता) की स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। **नाट्यशास्त्र**[2] का निर्देश है कि अनुकारक अभिनेता अपने को मूल पात्र मान कर अनुकार्य पात्र के भावों को यथासंभव समाचरित करे, और वेष, वाणी, अंग-लीला तथा चेष्टाओं के द्वारा उन्हें व्यक्त करे। परंतु, **विश्वनाथ**[3] ने बल देकर यह प्रतिपादित किया है कि अभिनेता रस का आश्रय हो ही नहीं सकता। वह तो शिक्षा, अभ्यास आदि के अनुसार यंत्रवत् अपनी भूमिका अदा करता है, राम आदि के रूप का अभिनय करता है। यदि वह अनुकार्य पात्र के भावों का आस्वाद करता है (काव्यार्थ की भावना करता है) तो उतनी देर के लिए वह भी प्रेक्षक (सामाजिक) की कोटि में आ जाता है।[4] आगे चल कर उन्होंने यह भी बतलाया है कि विभाव आदि अंगों का एक-साथ सद्भाव आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक के सद्भाव से प्रकरण आदि के द्वारा अन्य अंगों का आक्षेप कर लिया जाता है। उनका यह भी आग्रह है कि रसा-

---

१. SD. 41. भट्टनायक ने इस संभावना को अस्वीकार किया है.

२. xxvi. 18 f. मिला कर देखिए—Aristotle, Poetics, xvii, 1455 a 30.

३. SD. 50 ff. अतएव Sara Bernhardt के समान महती अभिनेत्री अपनी भूमिका के उपार्जन में भावानुभूति कर सकती है, किंतु प्रतिदिन के अभिनय में नहीं.

४. **एकावली**, p. 88; DR. iv. 40.

स्वाद के लिए सामाजिक में अनुभूति और (रति आदि की) वासना का होना आवश्यक है। इस वासना का संस्कार भी अपेक्षित है। पुनर्जन्मवाद के अनुसार पूर्व-जन्म के संस्कार-रूप में—अथवा यदि हम इसका आधुनिकीकरण करना चाहें तो, पैतृक गुण के रूप में—सामाजिक में रसास्वादन की शक्ति के बीज विद्यमान रहते हैं। काव्यानुशीलन के द्वारा उस शक्ति का विकास किया जा सकता है, परंतु यदि सामाजिक व्याकरण अथवा दर्शनशास्त्र के अध्ययन में ही लगा रहता है तो उसकी (रस-) ग्रहणशीलता मर जाती है। एक कठिन समस्या है। काव्य का सम्यक् अनुशीलन करने पर भी कुछ लोग रसास्वादन करने में असमर्थ रह जाते हैं, ऐसा क्यों होता है? इस समस्या का समाधान इस अनुकूल प्राक्कल्पना के द्वारा किया गया है कि पूर्व-जन्म के दोष बाधक हो कर इस जन्म के प्रयत्न को कुंठित कर देते हैं। **महिम भट्ट**[1] ने अपने अनुमान-सिद्धांत के द्वारा काव्य के क्षेत्र में ध्वनि के सिद्धांत को ध्वस्त करने का जो प्रयत्न किया है उसका उन्होंने विस्तारपूर्वक खंडन किया है। इसमें संदेह नहीं कि हम अनुमान के द्वारा नायक के मन में स्थित भाव की प्रतीति कर सकते हैं, परंतु वह अनुमान हमारे भाव को उद्बुद्ध नहीं कर सकता, उसके द्वारा रसोद्रेक नहीं हो सकता। नैयायिक (तार्किक) मूल पात्र के भाव का अनुमान कर सकता है, सही निष्कर्ष निकाल सकता है, किंतु वह रसास्वाद से वंचित और अप्रभावित ही रह जाएगा। उन्होंने बतलाया है कि शब्द-व्यापार और रसाभिव्यक्ति कराने वाली काव्य-विशेषता के रूप में व्यंजना-वृत्ति सर्वथा अनिवार्य है। वाच्यार्थ को तो सभी समझ सकते हैं; ध्वनि का ग्रहण और उसके परिणाम-स्वरूप रस का आस्वाद सहृदय ही कर सकते हैं।

अस्तु। रस एक है, अखंड, अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनंद है। तथापि उसका उपविभाजन किया जा सकता है—उसके निजी स्वरूप के आधार पर नहीं, किंतु उसका उद्बोधन करने वाले भावों के अनुसार। इस प्रकार **नाट्यशास्त्र** ने आठ स्थायी भाव माने हैं—**रति, हास, क्रोध, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा** और **विस्मय**। इन आठ भावों के अनुसार रसों के भी आठ प्रकार हैं। **नाट्यशास्त्र** तथा अधिकांश काव्यशास्त्रियों के मत से शृंगार-रस के दो भेद हैं—**संयोग** (**संभोग**) और **विप्रलंभ**; किंतु **दशरूप**[2] ने उसके तीन भेद बतलाये हैं—**अयोग, विप्रयोग,** और **संभोग**। अनुराग के होने पर भी बाधाओं के कारण दो नवीन प्रेमियों का समागम न हो पाना **अयोग** है। इस अनुराग की दस अवस्थाएँ हैं[3]—**अभिलाष,**

---

१. **व्यक्तिविवेक** (Trivandrum Sanskrit Series, no. 5).

२. iv. 47 ff. मिला कर देखिए—R. ii 170 ff.

३. मिला कर देखिए— Hass, DR. pp. 133, 150; R. ii. 178-201,

चिंतन, स्मृति, गुणकथा (प्रिय की), उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण। विप्रयोग के दो कारण हो सकते हैं—प्रवास अथवा मान। मान-विप्रयोग दो कारणों से होना है—प्रेमियों के प्रणय-कलह के कारण, अथवा अपने प्रेमी की अन्यासक्ति को देख कर, सुन कर या अनुमान द्वारा जान लेने पर उत्पन्न ईर्ष्या के कारण। नायक नायिका के कोप का निवारण छः प्रकार के उपायों द्वारा कर सकता है। वे हैं—साम (प्रिय वचन), भेद (नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेना, दान, नति (प्रणति), उपेक्षा और रसांतर (उसके ध्यान को दूसरी ओर आकृष्ट करना)। प्रवास-विप्रयोग तीन कारणों से हो सकता है—कार्यवश, संभ्रमवश और शापवश। यदि विप्रयोग का कारण मृत्यु है तो, धनंजय के मतानुसार, वहाँ पर शृंगार रस नहीं हो सकता, किंतु दूसरों ने करुण-विप्रलंभ को भी शृंगार रस का एक भेद माना है।[1] संभोग-शृंगार में ग्राम्यता अथवा क्षोभ को नहीं आने देना चाहिए।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। उत्साह के तीन रूप हो सकते हैं—रणोत्साह, (जैसे राम में), दयोत्साह (जैसे जीमूतवाहन में), और दानोत्साह (जैसे परशुराम में)। मति, धृति, गर्व, हर्ष आदि वीर रस के संचारी भाव हैं। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग आदि उसके संचारी भाव हैं। हास्य रस का स्थायी भाव हास है जो अपनी अथवा दूसरे की विकृत आकृति, वाणी अथवा वेष से उत्पन्न होता है।[2] निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि और मूर्च्छा इसके संचारी भाव हैं। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। प्रायः हर्ष, आवेग, धृति आदि उसके संचारी भाव होते हैं। भयानक रस का स्थायी भाव भय है। दैन्य, संभ्रम (आवेग), मोह, त्रास आदि उसके सहोदर (संचारी) भाव हैं। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। उसके संचारी भाव स्वप्न, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिंता आदि हैं। बीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। उसके संचारी भाव आवेग, आर्ति (व्याधि), शंका आदि हैं। शास्त्रकारों ने प्रत्येक रस और भाव के निरूपण में तत्संबंधी विभावों एवं अनुभावों का भी पूर्णतः वर्णन किया है। प्रत्येक रस का विशिष्ट वर्ण बतलाया गया है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि

जहाँ पर अभिलाष, उत्सुकता आदि बारह अवस्थाओं की सूची अस्वीकार की गयी है.

१. मिला कर देखिए—R. pp. 189 f.

२. मिला कर देखिए—Aristotle, Poetics, v. 1449 a 36.

लाल रंग का संबंध रौद्र रस से है, कृष्ण-वर्ण का भयानक रस से। हास्य रस के साथ श्वेत-वर्ण के संबद्ध होने का कारण संभवतः यह है कि हँसते समय ललनाओं के दाँत चमकने लगते हैं। शृंगार रस का श्याम-वर्ण प्रेयसी के मनोहर केशों का प्रतिवर्त है। कपोत-वर्ण करुण रस के अनुरूप है। परंतु अद्भुत रस के साथ पीत-वर्ण का, बीभत्स रस के साथ नील-वर्ण का, और वीर रस के साथ गौर-वर्ण का संबंध स्पष्ट नहीं है। रसों का चार मूल रसों और चार गौण रसों में विभाजन भी कृत्रिम है। ऐसा मना गया है कि शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स मूल रस हैं; इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों का विकास होता है। **नाट्यशास्त्र** ने इन आठ रसों को ही स्वीकार किया है[1], किन्तु पश्चात्कालीन आचार्यों ने **निर्वेद** पर आधारित **शांत** रस को भी मान्यता दी है, यद्यपि नाट्यशास्त्र ने निर्वेद को केवल संचारी भाव ही माना है। **नाट्यशास्त्र** के अनुयायियों का तर्क है कि शांत-जैसा कोई रस नहीं है, क्योंकि अनादि काल से प्रवर्तनशील राग, द्वेष आदि भावनाओं का प्रध्वंस असंभव है। **मम्मट** आदि अन्य आचार्य शांत रस का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। परंतु, वे नाटक में शांत रस नहीं मानते; इस मान्यता का आधार यह है कि निर्वेद का अभिनय नहीं हो सकता। परंतु यह मान्यता भी दोषपूर्ण है। प्रश्न निर्वेद के अभिनय के विषय में अभिनेता की शक्ति का नहीं है, क्योंकि (शांत) रस की अनुभूति प्रेक्षक करता है। दूसरी बात यह है कि **नाट्यशास्त्र** ने संचारी भावों की सूची में निर्वेद को प्रथम स्थान दिया है, यद्यपि सर्वप्रथम निर्वेद का उल्लेख शास्त्र की विधि के अनुसार अशुभ आरंभ है। इस तथ्य से यह सूचित होता है कि **भरत** का अभिप्राय यह प्रतिपादित करना था कि निर्वेद स्थायी और संचारी दोनों का कार्य कर सकता है। आगे चल कर **विद्याधर**, **विश्वनाथ** और **जगन्नाथ** ने इसे भली-भाँति मान्यता दी है। हाँ, **धनंजय** ने इसे स्वीकार भर किया है।[2] रसों के परस्पर संबंध, मिश्रण, मैत्री (अविरोध) और विरोध का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

नाटक में सभी रसों की नियोजना की जा सकती है, परंतु उनका प्रयोग निश्चित नियमों के अनुसार होता है। प्रत्येक रूपक में एक **अंगी** (मुख्य) रस होना चाहिए।

---

१. vi. 15 में पश्चात्कालीन पाठ को छोड़ कर.

२. देखिए—धनिक, *DR.* iv. 33; *SD.* 240; **एकावली**, pp. 56 ff. किसी-किसी ने अन्य रस भी माने हैं, जैसे—सख्य (मैत्री), श्रद्धा और भक्ति, मिला कर देखिए—**रसगङ्गाधर**, p. 45. भोज ने केवल शृंगार को स्वीकार किया है। शांत रस का उदाहरण **प्रबोधचन्द्रोदय** है। मिला कर देखिए— Jacobi ZDMG. lvi. 395; R. p. 171.

नाटक में शृंगार या वीर रस को अंगी रस बनाना चाहिए, अन्य रस सहायक मात्र होते हैं, किंतु अद्भुत रस मुख्य रूप से उपसंहार में उपयुक्त होता है । वस्तुतः कथानक की गुत्थी को सुलझाने के लिए किसी अलौकिक शक्ति का हस्तक्षेप प्रायः सुविधाजनक होता है । रसों का आधिक्य भी दोष ही है । यदि बहुत अधिक रस हों तो वे काव्य की एकान्विति को नष्ट कर देते हैं और उसे अनेक असंबद्ध खंडों में विच्छिन्न कर देते हैं । व्यापार और आलंकारिक प्रपंच का अतिशय प्रयोग भी काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करता है ।

अंगी रस के रूप में शृंगार की निबंधना करने वाले नाटक का अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण **शकुन्तला** है । वीर रस की व्यंजना दूसरे अंक के उन पद्यों में हुई है जिनमें तपस्वियों ने **दुष्यंत** की प्रशंसा की है । बीभत्स रस छठे अंक के उस दृश्य में पाया जाता है जहाँ पर **मातलि** ने विदूषक को डराया है । तीसरे अंक के अंत में संध्या-वर्णन द्वारा भयानक रस की अभिव्यक्ति की गयी है । चौथे अंक में **कण्व** के आगमन से लेकर शकुंतला की बिदाई तक करुण रस है । छठे अंक में विदूषक की निराश चीत्कार से लेकर **मातलि** के प्रवेश करने तक रौद्र रस है । अंत में नाटक के उपसंहार में, जहाँ राजा बालक के (जिसके विषय में वह इस बात से अनभिज्ञ है कि वह अनजान में तिरस्कृत उसकी पत्नी से उत्पन्न उसका अपना ही पुत्र है) हाथ से गिरे हुए रक्षाकरडक (गंडा) को उठा लेता है, उस स्थल पर अद्भुत रस की व्यंजना हुई है । नाटिकाओं में शृंगार रस के उत्तम उदाहरण मिलते हैं । नाट्यशास्त्रीय नियमों का पूर्णतः अनुसरण करते हुए **हर्ष** ने अपनी दोनों नाटिकाओं **रत्नावली** तथा **प्रियदर्शिका** में अद्भुत रस के व्यंजक प्रसंगों की योजना कर के कथानक को पुष्ट किया है । **रत्नावली** में सागरिका के बंदीकरण पर करुण रस की प्रतीति होती है, और दूसरे अंक में राजकीय पिंजड़े से बंदर के भाग निकलने पर मची हुई खलबली के वर्णन से भयानक रस का उद्रेक होता है । **महावीरचरित** और **वेणीसंहार** में रौद्र रस की प्रायः अभिव्यक्ति हुई है । **मालतीमाधव** में बीभत्स रस के बहुत उत्कृष्ट उदाहरण हैं, और **महावीरचरित** वीर रस से व्याप्त है । **नागानन्द** वीर रस के एक भिन्न रूप की (जिसमें दया और उदारता की पराकाष्ठा है) अभिव्यंजना करता है, क्योंकि (जैसा कि हम देख चुके हैं) **जीमूतवाहन** को ऐसा नायक नहीं माना जा सकता जिसमें शम की प्रधानता हो ।

इसमें संदेह नहीं कि रस-सिद्धांत में अतिशास्त्रवादिता है । स्थायी भाव आठ माने गये हैं, संचारी भावों को उनके अधीन बताया गया है, विभावों एवं अनुभावों का परिगणन प्रायः अनुभववाद से अभिभूत है । न तो उसके कारण की व्याख्या की गयी है और न ही उसका औचित्य सिद्ध किया गया है । परंतु यह माना जा

सकता है कि अपने मूल रूप में यह सिद्धांत किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है, यह एक प्रौढ़ प्रयत्न है जो नाटक के भावात्मक प्रभाव के तात्त्विक स्वरूप का निदर्शन करता है ।

६. नाट्य-वृत्तियाँ और भाषाएँ

कथानक, पात्र और रस ही नाटक के संघटक तत्त्व नहीं हैं। कवि को नायक के प्रत्येक व्यापार के लिए उपयुक्त वृत्ति[1] के प्रयोग में भी निपुण होना चाहिए। वृत्ति नाटक को उत्कृष्टता का वह अनिर्वचनीय तत्त्व प्रदान करती है जो आकृति अथवा वेष-भूषा के उत्तम सौंदर्य में विद्यमान है । नाट्यशास्त्र में चार वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं—**कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी** और **भारती**। अन्य वृत्तियों के विसदृश **भारती** का नामकरण नायक के व्यापार पर न आश्रित हो कर शब्दों पर आश्रित है।

कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगार रस में उपयुक्त है। यह वृत्ति गीत, नृत्त और मनोहर नेपथ्य (वेष-रचना) से पूर्ण होती है; इसमें पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के पात्रों की योजना की जाती है, और शृंगार, विलास, कामोपभोग तथा हास्य का चित्रण किया जाता है। कैशिकी के चार भेद हैं। पहला भेद **नर्म** है, जो अभिनेताओं के **वचन, वेष** तथा **चेष्टा** से उत्पन्न परिहास पर आधारित है। नर्म की भी तीन विधाएँ हैं—**शुद्धहास्य, शृंगार-मिश्रित** और **भय-मिश्रित**, जैसे—उस अवसर पर जब **सागरिका** से परिहास करती हुई सुसंगता कहती है कि यह चित्र की बात मैं जाकर रानी से कह दूँगी।[2] शृंगार-मिश्रित नर्म अनुराग-निवेदन, अथवा संभोगेच्छा-प्रकाशन, अथवा प्रिय पर दोषारोपण के कारण कई प्रकार का होता है। वेष-नर्म **नागानन्द** में उस स्थल पर पाया जाता है जहाँ वेष के कारण भ्रांतिवश विट विदूषक को स्त्री समझ बैठता है। चेष्टा-नर्म **मालविकाग्निमित्र** में वहाँ पर मिलता है जहाँ **निपुणिका** विदूषक को दंड देने के लिए उस पर लकड़ी का (टेढ़ा-मेढ़ा) डंडा डाल देती है, और वह स्वभावतः भ्रमवश उसे साँप समझ

---

१. N. xx. 25-62; DR. ii. 44-57; iii. 5; SD. 285, 410-21; R. i. 244-94, जिसने इन चारों के मेल से बनी हुई पाँचवीं वृत्ति को स्पष्टतया अस्वीकार किया है.

२. रत्नावली ii. R. 275 में भय-मिश्रित वाचिक हास्य की व्यंजना का उदाहरण दिया गया है—**पा पा पाहि हि होति.** . . .

लेता है। कैशिकी का दूसरा भेद **नर्मस्फूर्ज**[1] है जिसमें प्रेमियों के प्रथम समागम के अवसर पर सुख किंतु अंत में भय होता है, उदाहरण के लिए—**मालविकाग्निमित्र** के चौथे अंक में राजा और **मालविका** का मिलन। कैशिकी वृत्ति का तीसरा भेद **नर्मस्फोट** है जिसमें अनुभावों के द्वारा नवीन अनुराग सूचित होता है[2]। चौथा भेद नर्मगर्भ है जिसमें नायक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रच्छन्न रूप धारण करता है, उदाहरण के लिए—**प्रियदर्शिका** का वह स्थल जहाँ पर **वत्स मनोरमा** का वेष धारण कर के आता है।[3]

सात्त्वती वृत्ति वीर, अद्भुत एवं रौद्र रसों के अनुकूल है; कुछ न्यून मात्रा में करुण और शृंगार के भी उपयुक्त है। इसके विषय सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव हैं, शोक नहीं। इसके चार अंग है। पहला अंग **उत्थापक** है जिसमें वाणी द्वारा शत्रु को उत्तेजित किया जाता है, जैसे—**महावीरचरित** के पाँचवें अंक में **वाली राम** को चुनौती देता है। दूसरा अंग **सांघात्य** है जिससे शत्रु के संघ का भेदन किया जाता है। यह संघभेदन विचारित कूट-युक्ति (**मंत्रशक्ति** और **अर्थशक्ति**) के द्वारा किया जाता है, जैसे **मुद्राराक्षस** में, अथवा **दैव-शक्ति** के द्वारा, जैसे **राम**-विषयक नाटकों में **विभीषण** स्वयं ही **रावण** से अलग हो कर आ मिलता है। तीसरा अंग **परिवर्तक** प्रारब्ध कार्य का परित्याग कर के अन्य कार्य का संपादन है, उदाहरणार्थ—**महावीरचरित** में, जब **राम** को उखाड़ फेंकने के लिए आये हुए **परशुराम** उनका आलिंगन करना चाहते है। चौथा अंग **संलाप** वीरों का गंभीर संवाद है, जैसे—**महावीरचरित** में ही **राम** और **परशुराम** का संवाद।

आरभटी वृत्ति रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों के अनुरूप है। इसमें माया, इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध और छलपूर्ण युक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसके चार अंग है—**संक्षिप्ति**, **वस्तूत्थापन**, **संफट** और **अवपात**। शिल्प के द्वारा किसी वस्तु की संक्षिप्त रचना **संक्षिप्ति** है, जैसे **उदयन** के आदमियों को रोकने के लिए लकड़ी से बनाया गया हाथी। परंतु अन्य आचार्य नेता के परिवर्तन में भी **संक्षिप्ति** मानते है—वह परिवर्तन यथार्थ हो सकता है, जैसे **वाली** के स्थान पर **सुग्रीव** का ग्रहण; अथवा नायक की प्रवृत्ति मात्र का, जैसे **राम** के प्रति **परशुराम** का आत्म-

---

१. अथवा 'नर्मस्फिञ्ज'.

२. आकस्मिक संयोग-सुख इसका वैकल्पिक रूप है, जैसे **रत्नावली**, २।१७ में; R. i. 278.

३. R. i. 279 में भरत के नाम से पाठांतर मिलता है, जहाँ एक नायक की मृत्यु पर दूसरा उसकी स्थान-पूर्ति करता है, उदाहरणार्थ—रावण का स्थानापन्न विभीषण.

निवेदन। दोनों ही स्थितियों में केवल गौण नायक का परिवर्तन अभीष्ट है, अन्यथा नाटक की एकान्विति समाप्त हो जाएगी। माया आदि के द्वारा किसी वस्तु की रचना **वस्तूत्थापन** है। परस्पर प्रहार करने वाले दो क्रुद्ध व्यक्तियों का संघर्ष **संफेट** है, जैसे—**मालतीमाधव** में **माधव** और **अघोरघंट** का घात-प्रतिघात-वर्णन। हलचलपूर्ण खलबली का दृश्य **अवपात** है, उदाहरण के लिए—**रत्नावली** का वह दृश्य जब बंदर भाग निकलता है, अथवा **प्रियदर्शिका** के पहले अंक में **विंध्यकेतु** पर आक्रमण।

भारती वृत्ति शब्द (वाणी) पर आश्रित है, जब कि अन्य तीन वृत्तियाँ अर्थ पर आधारित है। इसकी अभिव्यंजना का एक मात्र साधन वाग्व्यापार है। यह वृत्ति स्त्रियों के द्वारा अप्रयोज्य है, और पुरुषों को संस्कृत का व्यवहार करना चाहिए। 'भरत' अभिनेता की संज्ञा है, तदनुसार इसका नाम **भारती** वृत्ति है। यह वृत्ति सभी रसों में प्रयोज्य है, अथवा, **नाट्यशास्त्र** के अनुसार, केवल करुण और अद्भुत रसों में[1]। शुद्ध शास्त्रीय रीति से इसके भी चार अंग बतलाये गये हैं—**प्ररोचना, आमुख, वीथी** और **प्रहसन**। इनमें से प्रथम दो तत्त्वतः नाटक के आमुख से संबद्ध हैं, और उस प्रसंग में उन पर विचार किया जाएगा। अन्य दो अंग वीथी और प्रहसन रूपक की दो विधाएँ (प्रकार) हैं। परंतु शास्त्रकार इस बात में एकमत हैं कि वीथी के अंगों का प्रयोग[2] रूपक के किसी भी भाग में, मुख्यतया पहली संधि में, किया जा सकता है, और वे अंग भारती वृत्ति के आवश्यक भाग हैं।

वीथी के तेरह अंग होते हैं। पहला अंग **उद्घात्य** है। इसके दो रूप होते हैं—किसी वस्तु के अनिश्चित अर्थ के निर्धारण के लिए प्रयुक्त प्रश्नोत्तरात्मक उक्ति-प्रत्युक्ति अथवा प्रश्नोत्तरात्मक एकालाप। दूसरा अंग **अवलगित** वहाँ होता है जहाँ एक कार्य में दूसरे का समावेश कर के उसे सिद्ध किया जाए, जैसे उस प्रसंग में जब **सीता** मनबहलाव के लिए वन में जाने का निश्चय करती हैं, **राम** उन्हें जाने देने को सहमत हो जाते हैं, किंतु निर्वासन के रूप में। केवल **धनंजय** प्रस्तुत कार्य के रूप में अप्रस्तुत कार्य की सिद्धि को भी 'अवलगित' मानते हैं।[3] तीसरा

---

१. भरत के **नाट्यशास्त्र** में 'करुणाद्भुत' का उल्लेख है (निर्णयसागर सं०, २०।६३)। डा० कीथ ने सात्त्वती वृत्ति के रसों वीर, अद्भुत और रौद्र (heroism, wonder, and fury) का उल्लेख किया है.

२. N. xviii. 106-16: DR. iii. 11-18;SD. 289, 293, 521-32: R. i. 164-74.,

३. पहले प्रकार का उदाहरण उन्होंने **उत्तररामचरित**, i से दिया है, और दूसरे प्रकार का **छलितराम** के उद्धरण द्वारा.

अंग **प्रपंच** हास्यकारी कथोपकथन है जिसमें दो पात्र एक-दूसरे के अवगुणों का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं,[1] अथवा, विश्वनाथ के अनुसार वह चतुराई-युक्त प्रपंच है, जैसे **विक्रमोर्वशी** के दूसरे अंक में **निपुणिका** का प्रपंच जहाँ वह धीरे-धीरे विदूषक से राजा की आसक्ति का रहस्य जान लेती है। चौथा अंग **त्रिगत** (जो आमुख-विषयक नियम के संदर्भ में एक भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) अनिश्चितार्थक शब्दों की अर्थ-योजना का द्योतक है; उन शब्दों के अनेक रूप हो सकते हैं जैसे—भौरों की गुंजार, कोकिल-कूजन, अथवा अप्सराओं का संगीत।[2] पाँचवाँ अंग **छल** है। इसका अभिप्राय है प्रिय प्रतीत होने वाले वस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा किसी की वंचना, जैसे—**वेणीसंहार** के पाँचवें अंक में **भीम** और **अर्जुन** द्वारा अपने शत्रु **दुर्योधन** के विषय में की गयी पूछताछ। छठा अंग **वाक्केलि** (वचन-क्रीड़ा) हास्यजनक प्रश्नोत्तरात्मक उक्ति-प्रत्युक्ति है, परंतु **धनंजय** के अनुसार उसका अभिप्राय साकांक्ष वाक्य की समाप्ति है, और **विश्वनाथ** ने अनेक प्रश्नों के एक उत्तर को भी 'वाक्केलि' माना है। सातवाँ अंग **अधिबल** (या **अतिबल**) परस्पर स्पर्धापूर्वक बढ़-चढ़ कर किया गया कथोपकथन है, जैसे—**वेणीसंहार** के पाँचवें अंक में **अर्जुन, भीम** और **दुर्योधन** की उक्ति-प्रत्युक्ति। आठवाँ अंग **गंड** प्रस्तुत कथा से संबद्ध किंतु विरुद्धार्थक वचन का सहसा उपन्यास है; इस प्रकार **उत्तररामचरित** में **राम** ने ज्यों ही कहा कि सीता का वियोग मेरे लिए असह्य है, त्यों ही प्रतीहारी आकर सूचना देती है कि उपस्थित है—राजा का चर दुर्मुख (जो उसकी सुख-शांति नष्ट करने के लिए आया है)। अपने अर्थ के प्रकाशक वचन का अन्यथा व्याख्यान **अवस्यंदित** (नवाँ अंग) है; इस प्रकार **छलितराम** में **सीता** असावधानी-वश अपने पुत्रों से कहती हैं कि **अयोध्या** में जाकर अपने पिता से विनयपूर्वक मिलना, और अपनी इस भूल का सुधार वे यह कह कर करती हैं कि राजा सारी प्रजा का पिता है। दसवाँ अंग **नालिका** हास्य-युक्त पहेली है। उत्स्वप्नायित, मदोन्मत्त, सुप्त अथवा बालिश जनों का असंबद्ध प्रलाप **असत्प्रलाप** (ग्यारहवाँ अंग) है; **विक्रमोर्वशी** के चौथे अंक में नायक की उक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरे अर्थ में, जैसा कि विश्वनाथ ने माना है, इसका अभिप्राय नासमझ व्यक्ति के आगे हितकारक वचन का उपन्यास है, जैसे—**वेणीसंहार** के पहले अंक में **दुर्योधन** के प्रति **गांधारी** की सीख। दूसरे के लाभार्थ हास्यजनक वचन-विन्यास **व्याहार** (बारहवां अंग) है, उदाहरणार्थ—**मालविकाग्निमित्र** के दूसरे अंक में वह स्थल जहाँ विदूषक अपनी उक्ति द्वारा

---

१. जैसे, **वीरभद्रविजृम्भण** में, R. i. 168.

२. जैसे, **अभिरामराघव** में.

नायिका को हँसाता है, और इस प्रकार राजा को उसके सौंदर्य को देर तक निरखने का अवसर मिलता है। तेरहवाँ अंग **मृदव** वह वचन-विन्यास है जिसमें दोष गुण-जैसा अथवा गुण दोष-जैसा प्रतीत हो, जैसे **शकुन्तला** के दूसरे अंक की वह उक्ति जिसमें धार्मिक दृष्टि से दोषपूर्ण मानी जाने वाली मृगया का गुण-गान किया गया है।

भारतीय शास्त्र का एक प्रधान दोष यह है कि उसमें अनावश्यक तथा भ्रामक विभाजन एवं वर्गीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। वीथी के तेरह अंगों के अतिरिक्त तेंतीस **नाट्यालंकारों**[1] और छतीस **नाट्य-लक्षणों**[2] का भी वर्णन मिलता है जिनका दो भिन्न वर्गों के रूप में भेद-निरूपण किसी अवधारणीय सिद्धांत के अनुसार संभव नहीं है,[3] क्योंकि दोनों के अंतर्गत प्रायः अभिव्यंजना की रीतियों एवं अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का वर्णन है, और, जैसा कि धनंजय ने माना है, उनमें अनेक भावों का भी समावेश है जो रस-निरूपण की परिधि में आते है। **आशीः, आक्रंद, प्रहर्ष, उपपत्ति** (किसी मत के पोषण के लिए तर्क का प्रयोग), **याच्ञा, अध्यवसाय** (दृढ़ निश्चय की अभिव्यक्ति), **परिवाद** (भर्त्सना), **उत्तेजन, अर्थविशेषण** (उपालंभ देने के उद्देश्य से लोकमत का निर्देश), **उल्लेख, उत्कीर्तन, युक्ति, आख्यान** आदि **नाट्यालंकार** हैं। **नाट्य-लक्षण** है—**भूषण** (अलंकार-सहित गुणों का योग), **अक्षर-संघात** (श्लिष्ट शब्द-प्रयोग द्वारा वर्णना), **शोभा** (सादृश्य), **उदाहरण, दृष्टांत** (अशुद्ध मत के खंडन के लिए स्वीकृत तथ्य का निदर्शन), **पदोच्चय** (अर्थ के अनुरूप पदों का गुंफन), **तुल्यतर्क** (तर्क के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रकाशन), **दिष्ट** या '**दृष्ट**' (किसी वस्तु का देश, काल या रूप के अनुसार वर्णन), **विशेषण** (अन्य बातों में सदृश होने पर दो वस्तुओं का भेद-निरूपण करने वाली विशेषता का कथन) **निरुक्त** या **निरुक्ति** (पूर्वसिद्ध अर्थ का कथन), **सिद्धि** (किसी जीवित व्यक्ति की प्रशस्ति में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामों का प्रयोग), **भ्रंश** (आवेश के कारण अनजान में अभिप्रेत अर्थ के विपरीत अर्थ का वर्णन), **माला** (अभीप्ट अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक अर्थों या प्रयोजनों का क्रमवद्ध प्रतिपादन), **अर्थापत्ति** (एक वस्तु के वर्णन से दूसरी वस्तु की प्रतीति), **गर्हण** (भर्त्सना), **पृच्छा, प्रसिद्धि, गुणकीर्तन, लेश** (अनभिधेय अर्थ की व्यंजना

---

१. SD. 471-503.

२. N. xvii. 6-39; SD. 435-70; ३६ भूषणानि, R. iii. 97-127.

३. संगीतरत्नाकर ने दोनों को एक में मिला दिया है (Lévi. TI. i. 101) मिला कर देखिए— DR. iv. 78.

के लिए सादृश्य का प्रयोग), **मनोरथ** (गूढ़ अभिप्राय की व्यंजना), **प्रियोक्ति** (आदर-व्यंजना), **अनुनय** (स्निग्ध वचन) आदि। दुर्भाग्य की बात है कि इन सब विषयों के आधारभूत सिद्धांतों के व्यवस्थित प्रतिपादन अथवा परीक्षण का वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं किया गया है।

नाट्यशास्त्र[1] में चार अन्य **नाटकालंकारों** का भी विवरण दिया गया है। **दशरूप** में उनकी उपेक्षा की गयी है। इसका असंदिग्ध रूप से उचित कारण यह है कि उनका संबंध सभी प्रकार के काव्य से है, और काव्यशास्त्र के ग्रंथों में उनका विस्तृत निरूपण किया गया है। पहला अलंकार **उपमा** है। उसका लक्षण है—दो पदार्थों के साधर्म्य (गुण-साम्य) पर आश्रित सादृश्य-निरूपण। इसके पाँच भेद हैं—**प्रशंसा, निंदा, कल्पिता** (जैसे, जंगम पर्वत के समान विराजमान हाथी), **सदृशी** और **किंचित्सदृशी**, जैसे—उसका वदन पूर्णचंद्र के समान है और उसके नेत्र नील कमल के समान। उपमा का संक्षिप्त रूप **रूपक** है जिसमें दो पदार्थों का अभेद निरूपित किया जाता है, जैसे—*'मछुआ कामदेव इस संसार-सागर में नारी का चारा डालता है'*। **दीपक** वह अलंकार है जिसमें अनेक कारकों और गुणों का संबंध व्यक्त करने के लिए एक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। **यमक** वह शब्दालंकार है जिसमें भिन्नार्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की आवृत्ति होती है। उसके दस भेद बतलाये गये हैं। यह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में शाब्दिक झंकार को विशेष महत्त्व दिया गया था।

नाट्यशास्त्र[2] ने रस-व्यंजना के संबंध से इन अलंकारों तथा छंदों के प्रयोग के विषय में अस्पष्ट और महत्त्वहीन निर्देश भी दिये हैं। शृंगार रस में **रूपक** और **दीपक** का प्रयोग अपेक्षित है, और **आर्या** छंद उसके अधिक अनुकूल है। वीर रस के काव्य में लघु अक्षरों, **उपमाओं** और **रूपकों** का प्रयोग करना चाहिए; रोचक संवाद के स्थलों पर **जगती, अतिजगती** और **संकृति** छंदों[3] का प्रयोग वांछनीय है। रौद्र रस में भी उन्हीं छंदों का प्रयोग होना चाहिए; लघु अक्षर, उपमाएँ और रूपक उसके भी अनुकूल हैं। **शक्वरी** और **अतिधृति** छंद करुण रस के उपयुक्त हैं। उसमें गुरु अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए, उसी के समान वीभत्स में भी।

पश्चात्कालीन काव्यशास्त्रियों ने गुण-सिद्धांत को रस-सिद्धांत पर लागू करने का प्रयत्न किया है। समान्यतः **दंडी, वामन, भोज** और अन्य आचार्यों ने गुणों

---

१. xvii. 40 ff. अलंकारवाद का आगे चल कर विपुल विस्तार हुआ है, मिला कर देखिए—Jacobi, GN. 1908, pp. 1 ff.

२. xvii. 99 ff. ३. देखिए—Weber, IS. viii. 377 ff.

का प्रतिपादन किया है। **दंडी**[1] ने **वैदर्भी** रीति के विविध गुणों का वर्णन किया है। वे संख्या में दस है, जिनके अंतर्गत शब्दगुण भी है और अर्थगुण भी। उनके लक्षण ऐसे शब्दों में निरूपित किये गये है जो कहीं-कहीं दुरूह तथा असंतोषजनक हैं। वे गुण हैं—**ओज, उदारत्व, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कांति, माधुर्य, समाधि, समता, सुकुमारता** और **श्लेष**। **गौड़ी** रीति को **वैदर्भी** की विरोधी रीति बतलाया गया है। अस्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि इसकी विशेषताएँ वैदर्भी की विशेषताओं के विपरीत है। **गौड़ी** रीति में दीर्घ समासों के बहुल प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है (इसके विपरीत **वैदर्भी** में कम से कम पद्य-रचना में इस प्रकार के समासों की संघटना वर्जित है), और अनुप्रास का वैशिष्ट्य रहता है। **वामन**[2] ने गुण-सिद्धांत का विकास कर के दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों का भेद निरूपित किया। उन्होंने **वैदर्भी** को समस्त गुणों से युक्त बतलाया। **गौड़ी** रीति को उन्होंने ओज और कांति गुणों से युक्त बतला कर उसमें माधुर्य और सुकुमारता का अभाव माना है। इनके अतिरिक्त उन्होंने **पांचाली** नाम की तीसरी रीति भी मानी है। उसमें माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का वैशिष्ट्य होता है, अतएव वह कुछ निर्बल होती है। **मम्मट**[3] और उनके परवर्ती आचार्यों ने गुणों के विषय में एक नया मत प्रस्तुत किया। उन्होंने अर्थगुणों को दोषों का अभाव मात्र बतला कर उनको गुण-कोटि में नहीं रखा। इस प्रकार गुणों की परिधि शब्द तक ही सीमित रह गयी। इस विषय में भी उनकी संख्या दस से घटा कर तीन कर दी गयी—**माधुर्य, ओज** और **प्रसाद**। इन गुणों का रसों के साथ प्रभावशाली संबंध स्थापित किया गया।

माधुर्य आनंद का स्रोत है। वह सहृदय के चित्त को द्रवीभूत-सा कर देता है। वह संभोग-शृंगार, करुण, विप्रलंभ-शृंगार और शांत के उपयुक्त है। संयोग-शृंगार में वह सामान्य रहता है, और अन्य तीन रसों में उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। अन्य रसों में वह अमिश्रित रहता है, किंतु शांत में ओज से किंचित् युक्त होता है, क्योंकि शांत रस के साथ निर्वेद का भाव संबद्ध है। **ओज** चित्त का विस्तार

---

१. i. 41. ff.

२. iii. 1 और 2; मिला कर देखिए— Regnaud, Rhétorique Sanskrite, ch. v.

३. **काव्यप्रकाश**, pp. 512 ff.; **एकावली**, pp. 117-9: **अलंकारसर्वस्व**, pp. 20 f. R. i. 229-43 में दस गुण, और **कोमला, कठिना** तथा **मिश्रा** तीन जातियां (वृत्तियां) बतलायी गयी हैं.

करता है। वीर, वीभत्स और रौद्र में उसकी दीप्ति उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती है। भयानक रस में भी वह पाया जाता है। **प्रसाद**-गुण की स्थिति सभी रसों में विहित है। 'प्रसाद' वह गुण है जो अर्थ को बोधगम्य बनाता है। उसके द्वारा शब्दों के श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाती है। वह चित्त को उसी प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार आग सूखे ईंधन को अथवा जल वस्त्र को। समास-रहित एवं अल्पसमासवती रचना, अपने-अपने वर्ग के अंत्य वर्ण से युक्त (टवर्ग को छोड़ कर) स्पर्श वर्ण और ह्रस्व स्वर से युक्त **र** तथा **ण** माधुर्य गुण के व्यंजक हैं। दीर्घसमासवती रचना, संयुक्त वर्ण, द्वित्व-वर्ण, रेफ-सहित संयुक्त व्यंजन, **ट-ठ-ड-ढ, श** और **ष** ओज-गुण के व्यंजक है। अब **वैदर्भी, गौडी** और **पांचाली** के प्राचीन नामों का त्याग कर दिया गया है। उनके स्थान पर तीन **वृत्तियाँ** स्वीकार की गयी हैं—**उपनागरिका, परुषा** और **कोमला**। परंतु **मम्मट** ने इस बात का स्मरण दिलाया है कि नाटक में दीर्घ समास अवांछनीय है। पश्चात्कालीन नाटककारों ने इस नियम की प्रायः उपेक्षा की है।

इन शास्त्रीय सूक्ष्म विवरणों के उदाहरण पश्चात्कालीन नाटककारों द्वारा रचित पद्यों में प्रायशः पाये जाते हैं, और वे निस्संदेह पर्याप्त प्राचीन है। परंतु, नये अर्थ में रसों के साथ गुणों के संबंध की स्थापना का नवीन सिद्धांत[1] अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। रस काव्य की आत्मा है, और उसके साथ काव्य-गुणों के संबंध की उपमा आत्मा के साथ शौर्य आदि गुणों के संबंध से दी जा सकती है। वे आत्मभूत रस के उत्कर्ष के हेतु है, अतएव रसों के घनिष्ठ संबंध के बाहर उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। किसी रचना का वर्ण-विन्यास चाहे जितना कोमल और मधुर हो, किंतु उसमें माधुर्य-गुण तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसमें कोई ऐसा रस न हो जिसके अनुकूल माधुर्य की स्थिति मानी गयी है। माधुर्योचित रस के अभाव में सुकुमार वर्ण-विन्यास मात्र को मधुर कहना वैसा ही है जैसा किसी विशालकाय व्यक्ति के आकार मात्र को देख कर उसे शूर कहना। अतएव उपकरण के रूप में ही वर्ण गुणों के व्यंजक हैं, क्योंकि वास्तविक कारण रस है—उसी प्रकार जिस प्रकार आत्मा किसी व्यक्ति के शौर्य आदि गुणों का कारण है।

शब्दगत अथवा अर्थगत अलंकारों का निरूपण भी कुछ उसी प्रकार किया गया है। अलंकारों की उपमा मनुष्य के शरीर पर धारण किये गये आभूषणों से दी गयी है। जिस प्रकार शरीर के अलंकार व्यक्ति के संयोग से आत्मा के उप-

---

१. मम्मट, **काव्यप्रकाश**, viii. 1 ff.; **एकावली**, v.; **साहित्यदर्पण**, viii; **अलंकारसर्वस्व**, p. 7.

कारक होते हैं, उसी प्रकार काव्यालंकार काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ से संयुक्त हो कर उसकी शोभा-वृद्धि करते हैं, और यदि वहाँ पर रस का अस्तित्व है तो उसे उत्कर्ष प्रदान करते हैं। यदि कवि की अकुशलता के कारण रस नहीं है तो अलंकार उक्ति-वैचित्र्य मात्र में पर्यवसित होते हैं, और रस होने पर भी संभव है कि वे रस के उपकारक न हो सकें। अतएव अलंकार और गुण दोनों ही रस से घनिष्ठ-तया संबद्ध हैं, परंतु इसका यह अर्थ नही है कि दोनों अभिन्न हैं।

वामन[1] ने प्रतिपादित किया था कि **रीति** काव्य की आत्मा है, **गुण** काव्य के शोभाकारक धर्म हैं, और **अलंकार** उस शोभा के उत्कर्षक हेतु हैं। रस को काव्य का अनिवार्यतः मुख्य तत्त्व मानने वाले उक्त सिद्धांत के अनुसार **वामन** का मत आवश्यक रूप से अयुक्त माना गया है। यदि काव्य-व्यवहार के लिए समस्त गुणों का होना अनिवार्य है तो फिर (असमस्तगुणा) **गौड़ी** और **पांचाली** रीतियाँ काव्य की आत्मा नहीं मानी जा सकतीं। यदि काव्य कहलाने के लिए एक गुण या कतिपय गुणों का होना आवश्यक है तो ओज गुण से युक्त किंतु सर्वथा रसहीन रचना को भी काव्य मानना पड़ेगा, और उस गुण-रहित पद्य को काव्य-परिधि के बाहर रखना पड़ेगा जिसमें ललित अलंकारों का संनिवेश है, जिसके लिए इस तथ्य के आधार पर 'काव्य' का व्यवहार किया जाता रहा है और जिसे वस्तुतः काव्य मानना चाहिए।

जहाँ तक भाषा का संबंध है, एक ही रूपक में संस्कृत और प्राकृत के भिन्न प्रयोग मिलते हैं। जैसा कि शास्त्र-ग्रंथों में प्रायः हुआ है, उस विषय में भी किसी सर्वमान्य सिद्धांत की कारणनिर्देशपूर्वक व्याख्या नहीं प्रस्तुत की गयी है। यह बात मान्य नहीं है कि जब **दशरूप** आदि में नाट्यशास्त्र का विकास किया गया, और बहुत संभव है कि स्वयं **नाट्यशास्त्र** में, तब वास्तविक जीवन में व्यवहृत भाषा के अनुकरण-रूप में ही रूपकों की भाषा का प्रयोग निर्धारित किया गया। सामान्य रूप में यह माना जा सकता है कि उद्भव-काल में ऐसा हुआ होगा। **मृच्छकटिका** में विदूषक संस्कृत का प्रयोग करने वाली स्त्री को नाथी हुई बछिया के सदृश बता कर उसका उपहास करता है; परंतु इस बात का साक्ष्य मौजूद है कि **कामशास्त्र**[2] के समय में ही प्राकृत का प्रयोग कृत्रिम था। उसमें बतलाया गया है कि शिष्टाचार-विषयक प्रतिष्ठा-प्राप्ति के अभिलाषी नागरक को केवल संस्कृत अथवा केवल देशभाषा के प्रयोग से ही नियंत्रित नही होना चाहिए। इस बात का संकेत मिलता

१. iii. 1. 1-3.
२. pp. 57, 60. मिला कर देखिए—Jacobi, भविसत्तकहा, pp. 68 f.

है कि कामशास्त्र के समय में भी भाषा के व्यवहार की प्रायः वही स्थिति थी जो आधुनिक भारत में है जहाँ देशभाषा (जनभाषा) के साथ संस्कृत-शब्दों का प्रयोग शिक्षित होने का पक्का लक्षण समझा जाता है। **वात्स्यायन** ने बतलाया है कि इस प्रकार की गोष्ठियों में गणिकाएँ, विट, विदूषक और पीठमर्द, संक्षेप में दरबारी रसिक ही प्रायः जाया करते थे, और शास्त्र में उनके लिए **शौरसेनी** तथा उसकी सजातीय प्राकृतों का प्रयोग निर्धारित किया गया है। अतएव यह मानना न्यायसंगत है कि **वात्स्यायन** के युग में रंगमंच की रूढ़ियों के विपरीत वास्तविक जीवन में प्राकृतों का व्यवहार निश्चित रूप से अप्रचलित हो गया था। **काम-शास्त्र** में ही बतलाया गया है कि गणिकाओं के लिए स्थानीय बोलियों का ज्ञान अपेक्षित है। इसमें संदेह नहीं है कि **वात्स्सायन** को आंध्र राजाओं की जानकारी थी, अतएव यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस प्रसिद्ध स्थल पर जहाँ **सोमदेव** ने **बृहत्कथा**[1] के प्राकृत में लिखे जाने का कारण बतलाया है उन्होंने **सातवाहन** की (जिसके नाम से उसका आंध्रों के साथ संबंध सूचित होता है) समसामयिक मानव-भाषा के तीन रूप बतलाये हैं—संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा।

इस प्रकार **वात्स्यायन** का रचना-काल महत्त्वपूर्ण है, परंतु दुर्भाग्य से अभी तक उनका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं हो पाया है।[2] परंतु यह अवश्य प्रतीत होता है कि **कालिदास** किसी ऐसे ग्रंथ से परिचित थे जो **कामशास्त्र** के बहुत सदृश और कदाचित् उससे अभिन्न था। इस प्रकार ४०० ई० को औचित्यपूर्वक इस ग्रंथ की अव.सीमा माना जा सकता है। **वात्स्यायन** ने **कौटिलीय अर्थशास्त्र** का उपयोग किया है, किंतु उसके रचना-काल के ठीक-ठीक निर्धारण की कठिनाई के कारण इस तथ्य से कुछ परिणाम नहीं निकलता। **वात्स्यायन** ने आभीरों तथा आंध्रों का उल्लेख किया है[3] और गुप्तवंशीय राजाओं के विषय में मौन हैं। इन दोनों बातों से यह सूचित होता है पश्चिमी भारत में गुप्त-राजाओं के प्रभुत्व की स्थापना के पूर्व उन्होंने अपने ग्रंथ की रचना की, और हम उसे लगभग ३०० ई० की कृति मान सकते हैं। यदि ऐसा मानें तो विश्वास किया जा सकता है कि **कालिदास** के युग में ही उनके पात्रों की प्राकृतें न्यूनाधिक मात्रा में कृत्रिम थीं, और इस बात से इस तथ्य की ठीक संगति बैठती है कि उन्होंने उन पात्रों के पद्यों

---

१. vi. 147. मिला कर देखिए—**काव्यमीमांसा**, pp. 48 ff.

२. Jacobi, GN. 1911, pp. 962 f.; 1912, pp. 841f.

३. Jacobi, **भविसत्तकहा**, pp. 74, 76, मिला कर देखिए—Haranchandra Chakladar, **वात्स्यायन**, (1911).

में **महाराष्ट्री** का प्रयोग किया है जिनके गद्य में **शौरसेनी** प्रयुक्त हुई है। स्पष्ट है कि यह प्रयोग साहित्य-कौशल की दृष्टि से किया गया है।

पात्रों के द्वारा भाषा-प्रयोग[1] के विस्तृत नियम **नाट्यशास्त्र** में दिये गये हैं, और कम विस्तार के साथ **दशरूप** में। संस्कृत का प्रयोग राजाओं, ब्राह्मणों, सेना-पतियों, मंत्रियों और सामान्यतः विद्वानों के द्वारा किया जाना चाहिए। महादेवी (राजमहिषी) और मंत्रियों की पुत्रियों के लिए भी संस्कृत का विधान है, परंतु व्यवहार में इस नियम का निर्वाह नहीं किया गया है। दूसरी ओर, परिव्राजिकाएँ, गणिकाएँ, शिल्पकारियाँ आदि भी अवसरानुकूल संस्कृत का प्रयोग करती हैं। युद्ध, संधि और शुभाशुभ के वर्णन में संस्कृत का नियमतः प्रयोग करना चाहिए, और **भास**-रचित **पञ्चरात्र** के **बृहन्नला** ने ऐसा किया है। प्राचीन एवं पश्चात्कालीन दोनों ही प्रकार के नाटकों में साध्यवसान (allegorical) नारी-पात्रों के द्वारा भी संस्कृत का प्रयोग पाया जाता है।

स्त्रियों तथा नीच[2] पात्रों के विषय में सामान्य नियम यह है कि वे प्राकृत का व्यवहार करें, परंतु उत्तम पात्रों के द्वारा भी कार्यवश प्राकृत का प्रयोग किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रकार की प्राकृतों के प्रयोग के विषय में जो विवरण दिया गया है वह बहुत गड़बड़ है, और विभिन्नता का परिमाण बहुत अधिक है। इस प्रकार **नाट्यशास्त्र** में बर्बरों, किरातों, आंध्रों और द्रविड़ों की देशभाषा के स्थान पर शौरसेनी प्रयोज्य मानी गयी है, यद्यपि आवश्यकतानुसार उनका भी प्रयोग किया जा सकता है। **नाट्यशास्त्र** ने सात विभिन्न प्राकृतों की चर्चा की है। **शौरसेनी** गंगा और यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश **दोआब** की भाषा है। उसका प्रयोग रूपक के नारी-पात्रों, उनकी सहेलियों तथा दासियों, सामान्यतः कुलीन स्त्रियों, और मध्य-वर्ग के अनेक पुरुषों के द्वारा किया जाना चाहिए। विदूषक को **प्राच्या** का व्यवहार करना चाहिए, किंतु वास्तव में वह प्रायः **शौरसेनी** बोलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत शब्द किसी प्राच्य **शौरसेनी** प्राकृत का सूचक है। धूर्तों की भाषा **आवंती** होनी चाहिए, परंतु वह उज्जैन में बोली जाने वाली **शौरसेनी** का ही एक रूप है, और प्राकृत-वैयाकरण **मार्कंडेय**

---

१. N. xvii. 31 ff.; DR. ii. 58-61; SD. 432; R. iii. 299-305.

२. इस प्रकार की भूमिका ग्रहण करने वाले पात्र भी इसके अंतर्गत हैं, जैसे—**प्रतिज्ञायौगन्धरायण** और **मुद्राराक्षस** में। नारियों द्वारा (जैसे, **मृच्छकटिका** में वसंतसेना द्वारा), सामान्यतया पद्य में, संस्कृत के प्रयोग के विषय में देखिए—Pischel, Prākrit Grammatik, pp. 31 f.

ने उसे **शौरसेनी** तथा **महाराष्ट्री** के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था बतलाया है। **नाट्यशास्त्र** में **महाराष्ट्री** का उल्लेख नहीं है। **दशरूप** के अनुसार, शौरसेनी-भाषी पात्रों के पद्यों में उसका प्रयोग होना चाहिए, और **साहित्यदर्पण** में वह स्त्रियों के ही पद्यों तक परिसीमित कर दी गयी है। सामान्यतः, किंतु एकांततः नहीं, वह सभी पद्यों में प्रयुक्त हुई है[1], यद्यपि यत्र-तत्र **शौरसेनी** के पद्य भी मिलते हैं, और संभवतः प्रारंभिक काल में वे प्रायः प्रयुक्त होते थे। **अश्वघोष** और **भास** के प्राचीनकालीन नाटकों में महाराष्ट्री का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। **नाट्यशास्त्र** के अनुसार, **अर्धमागधी** चेटों, राजपुत्रों तथा श्रेष्ठियों द्वारा प्रयोक्तव्य है, परंतु, **अश्वघोष** के नाटक और कदाचित् **भास**-रचित **कर्णभार** को छोड़ कर, उपलब्ध नाटकों में उसका प्रयोग नहीं पाया जाता। दूसरी ओर, शास्त्र में **मागधी** का स्थान गौरवपूर्ण है, और व्यवहार में भी वह कुछ महत्त्व रखती है। **नाट्यशास्त्र** का मत है कि अंतःपुर-निवासियों, सुरा-विक्रेताओं, रक्षकों और आपत्काल में नायक के द्वारा उसका प्रयोग विहित है। शकार को भी उसका व्यवहार करना चाहिए। **दशरूप** ने **मागधी** और **पैशाची** को अत्यंत नीच पात्रों द्वारा प्रयोक्तव्य बतलाया है। उसकी यह मान्यता **मागधी** के विषय में तो तथ्य-समर्थित है, किंतु **पैशाची** का स्पष्ट रूप नाटकों में उपलब्ध नहीं होता।

नाट्यशास्त्र के अनुसार सैनिकों, नागरकों (police officers) और जुआरियों के द्वारा **दाक्षिणात्या** (वैदर्भी) प्रयुक्त होनी चाहिए। **मृच्छकटिका** में इस प्राकृत के अस्तित्व के कुछ लक्षण पाये जाते हैं। **नाट्यशास्त्र** ने **बाह्लीका** को खसों और उत्तर के लोगों की भाषा बतलाया है, किंतु किसी नाटक में इसका पता नहीं चलता।

नाट्यशास्त्र और विशेष कर **मार्कंडेय** से हमें अनेक विभाषाओं[2] का भी पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे नाटकों में कतिपय पात्रों के प्रयोग के लिए रूढ़िबद्ध सामान्य प्राकृतों के परिवर्तित रूप हैं। इस प्रकार **नाट्यशास्त्र** में **शाकारी** शकों, शबरों आदि की भाषा बतलायी गयी है, और **साहित्यदर्पण** ने उसका अनुसरण किया है। **नाट्यशास्त्र** के अनुसार अंगारकारों (कोयला फूंकने वालों अथवा

---

१. R. iii. 300 में यह नीच पात्रों और जैनों की प्राकृत बतलायी गयी है। उसके अनुसार अपभ्रंश चांडालों, यवनों आदि की भाषा है, परंतु यह स्वीकार किया गया है कि दूसरों के अनुसार मागधी आदि हैं.

२. Grierson, JRAS. 1918, pp. 489 ff. मिला कर देखिए—R. i. 297 जिसमें सात हैं—शबर, द्रमिल, आंध्रज, शकार, आभीर, चांडाल, वनेचर.

लोहारों), व्याधों और अंशत: वनेचरों की भाषा **शावरी** होनी चाहिए। आभीरों को **आभीरी** अथवा **शावरी** का, चांडालों को **चांडाली** का, और द्रविड़ों को **द्राविड़ी** का प्रयोग करना चाहिए। **नाट्यशास्त्र** में उल्लिखित **औड्री** के बोलने वालों का निर्देश नहीं किया गया; अनुमान किया जा सकता है कि वह उड़िया लोगों की बोली थी। इस प्रकार की कुछ बात **मृच्छकटिका** में देखी जा सकती है, जिसमें **शाकारी**, **चांडाली** और एक अन्य बोली **ढक्की** अथवा **टाक्की** पायी जाती हैं। जहाँ तक उनकी विशेषताओं का संबंध है, उनमें कोई बहुत ध्यान देने योग्य बात नहीं है। प्रथम दो **मागधी** से संबद्ध मानी जा सकती हैं, और अंतिम अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध है।

नाटकों की हस्तलिखित प्रतियों में प्राकृत को समझाने के लिए संस्कृत में उसकी छाया जोड़ने की प्रथा रही है, और यह प्रथा निश्चित रूप से प्राचीन है, क्योंकि **राजशेखर** ने अपने **बालरामायण** में इसका निर्देश किया है। स्पष्ट है कि ९०० ई० में ही ऐसे सामाजिक नहीं थे जो संस्कृत-व्याख्या के बिना प्राकृत का आदर करते।

यह बात बड़ी विचित्र और अप्रत्याशित है कि गद्य के विरुद्ध पद्यों के विषय में शास्त्र-ग्रंथ मौन हैं।[1] इससे सूचित होता है कि शास्त्रकार कितने अधिक अनुभूतिवादी थे। प्रत्यक्ष है कि नाटकों में प्राकृतों के विविध रूपों का प्रयोग होता था, और इस विषय में कुछ कहना अपेक्षित था, परंतु गद्य और पद्य के एकांतरण (alternation) को सिद्ध वस्तु मान लिया गया था और उस पर टिप्पणी करना अनावश्यक समझा गया। उन्होंने तथ्य को समझा है, परंतु उसके निहितार्थ और प्रयोजन की छान-बीन नहीं की है। यह बात स्पष्ट है कि स्वयं पद्यों में भी **गेय** और **पाठ्य** पद्यों का भेद है। पाठ असंदिग्ध रूप से पद्यों के प्रयोग का सामान्य रूप रहा होगा और **गेय** पद्यों में से तो प्रसामान्य रूप से कुछ ही पद्य **महाराष्ट्री** में हैं जो नारी-पात्रों के मुख से गवाये गये हैं। दूसरी ओर, अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी-पद्यों का पाठ किया जाता था, परंतु यह भेद परिरक्षित ग्रंथों ने प्रायः लुप्त हो गया है।

७. नृत्य, गीत और वाद्य

यद्यपि यह निर्विवाद है कि नृत्य और गीत दोनों ही रस-निष्पत्ति के अत्यंत

---

१. प्रगीतात्मक वृंदगान के विषय में अरिस्तू के सिद्धांत से तुलना कीजिए; Poetics, 1456 a 25 ff.; G. Norwood, Greek Tragedy, pp. 75-80; Haigh, The Tragic Drama of the Greeks, ch. v, §6.

महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे तथापि शास्त्रकारों ने गीत, वाद्य और नृत्य द्वारा नाटक में अदा की गयी भूमिका के विषय में (सापेक्ष दृष्टि से) महत्त्व की बात बहुत कम कही है। नाट्यशास्त्र में नृत्य के दो प्रकार माने गये हैं—शिव द्वारा आविष्कृत **तांडव**, जो पुरुषों का उद्धत नृत्य है, और पार्वती का सुकुमार एवं विलास-युक्त **लास्य**। उसके विशिष्ट महत्त्व के कारण केवल **लास्य** के दस अंगों का **नाट्यशास्त्र**[1] के द्वारा अवधानपूर्वक विश्लेषण किया गया है। इससे नृत्य और गीत का आवश्यक संबंध सूचित होता है। उक्त दस अंग इस प्रकार हैं—१. **गेयपद** बैठे हुए व्यक्ति के द्वारा वीणा आदि के साथ गाया जाता है। २. **स्थितपाठ्य** वह लास्यांग है जिसमें काम-पीड़ित स्त्री आसनस्थ[2] हो कर प्राकृत-पाठ करती है। अभिनवगुप्त के अनुसार क्रोधाभिभूत व्यक्ति का प्राकृत-पाठ भी **स्थितपाठ्य** ही है। ३. **आसीन-पाठ** शोकमग्न लेटी हुई कामिनी के द्वारा बिना किसी बाजे की सहायता के किया जाता है। ४. **पुष्पगंडिका** में विभिन्न छंदों का प्रयोग होता है; संस्कृत का व्यवहार किया जा सकता है; स्त्रियाँ पुरुषों की और पुरुष स्त्रियों की चेष्टा करते है, और वाद्य की संगत रहती है। ५. **प्रच्छेदक** में अपने प्रेमी की अन्यासक्ति के कारण अनुतप्त स्त्री वीणावादनपूर्वक गान करती है। ६. स्त्रीवेषधारी पुरुष का नाट्य **त्रिगूढक** है, जैसे **मालतीमाधव** के छठे अंक में **मकरंद** का। ७. **सैंधव** वह गीत है जो उस स्त्री की संगत में गाया जाता है जिसका प्रेमी संकेत का निर्वाह नहीं कर सका है। ८. **द्विगूढक** रसभावपूर्ण, संवादात्मक और चौरस गीत है। ९. **उत्तमोत्तक** क्षुब्ध प्रेम की कटुता से पूर्ण गान है। १०. **उक्तप्रत्युक्त** वह संभाषण (उक्ति-प्रत्युक्ति) है जिसमें प्रेमपात्र को अलीकवत् प्रतीत होने वाला उपालंभ दिया जाता है। इन लास्यांगों का निरूपण करते हुए उनके नृत्य-स्वरूप की उपेक्षा की गयी है, किंतु यह स्मरणीय है कि नटों की चेष्टाएँ नाट्य के लिए अनिवार्य हैं।

---

१. N. xviii, 117-29; DR. iii. 47 f.; SD. 504-9, मुद्राओं के विषय में नंदिकेश्वर का **अभिनयदर्पण** द्रष्टव्य है, trs. Cambridge, Mss., 1917. R. iii. 236-48 में **शृङ्गारमञ्जरी** से लास्य के अन्य सूक्ष्म विवरण दिये गये हैं; सैंधव में देशभाषा का प्रयोग विहित है। **नाट्यशास्त्र** के अनुसार उसमें त्रिमूढक को पुरुषभावव्यंजक एवं कोमल शब्दों से युक्त बतलाया गया है, और द्विमूढक का भी उल्लेख है.

२. 'स्थितपाठ्य' के लिए डा० कीथ ने 'recitation standing' का प्रयोग किया है। **नाट्यशास्त्र** में प्रयुक्त शब्द 'आसनसंस्थिता' बैठी हुई स्त्री का ही द्योतक प्रतीत होता है.

पश्चात्कालीन नाट्यशास्त्रियों ने नाटकोपयोगी वाद्य का विस्तृत विवरण नहीं दिया है। यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक रस के अनुकूल उसका विशिष्ट संगीत होता है, और प्रत्येक नाट्य का अपना विशिष्ट संगत-वाद्य। इस प्रकार पीड़ित; दुःखी और खिन्न व्यक्तियों की भूमिका के अभिनय के साथ **द्विपदिका** की योजना की जाती थी; सामाजिकों को रंगमंच पर प्रवेश करने वाले नवागंतुओं की विशेषता की तत्काल सूचना देने के लिए **ध्रुवा** का प्रयोग किया जाता था।[1]

८. पूर्वरंग और प्रस्तावना

नाट्यशास्त्र[2] में **पूर्वरंग** का सांगोपांग वर्णन है। वास्तविक नाटक का आरंभ करने के पहले पूर्वरंग-विधि का पालन अपेक्षित है। उसका प्रयोजन अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवताओं की कृपा प्राप्त करना है। पूर्वरंग की प्रत्येक विधि का निश्चित फल है। पूर्वरंग-विधि हमें संगीत-मिश्रित आरंभिक नाट्य की संस्मृति दिलाती है। सर्वप्रथम पटह-नाद के द्वारा नाट्य-प्रयोग का आरंभ सूचित किया जाता है और वादक-वृंद के लिए दरी विछा दी जाती है, इसको **प्रत्याहार** कहते है। तदनंतर गायक और वादक आकर अपना स्थान ग्रहण करते है, यह **अवतरण** है। तब गायक-वृंद आलाप करते हैं, इसका नाम **आरंभ** है; वादक अपने बाजों का सुर मिलाते है, यह **आश्रवणा** है। वे अपने भांड-वाद्यों एवं तंत्री-वाद्यों को ठीक करते है, और वादन-कार्य के लिए अपने हाथों को साधते है। तब समवेत-वादन होता है। उसके बाद नर्तकों का आगमन और नृत्त होता है।[3] तत्पश्चात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गीत गाया जाता है। फिर सूत्रधार **जर्जर** (इंद्र-ध्वज) का उत्थापन करता है, उसके साथ गीत भी होता है। एक अनुचर (पारिपार्श्विक) कलश लिए रहता है जिसमें से जल लेकर सूत्रधार अपने को पवित्र करता है और फूल बिखेरता है। दूसरा अनुचर ध्वज को थामे रहता

१. Lévi, TI. ii. 18 f. N. xxviii के विषय में देखिए— J. Grosset, Contribution a l'étude de la musique hindoue, Paris, 1888. **विक्रमोर्वशी**, iv और **गीतगोविन्द** में वाद्यों की संगत के विषय में उपलब्ध संकेत दुर्भाग्यवश दुर्बोध्य हैं। और भी मिला कर देखिए—**नागानन्द**, i. 15 पर शिवराम.

२. v. 1 ff.; Konow, ID., pp. 23 ff.

३. ये नौ विधियाँ अप्सराओं, गंधर्वों, दैत्यों, दानवों, राक्षसों, गुह्यकों और यक्षों को प्रसन्न करती हैं। कोनो के अनुसार वे नेपथ्य में संपन्न की जाती हैं, परंतु मिला कर देखिए—Lévi, TI. i. 376.

है। तदनंतर रंगमंच की प्रदक्षिणा की जाती है, लोकपालों की वंदना, और ध्वज की स्तुति की जाती है। उसके पश्चात् **नांदी** का विधान है। तब सूत्रधार एक श्लोक का पाठ करता है जिसमें किसी राजा, ब्राह्मण अथवा उस देवता की स्तुति की जाती है जिस देवता का उत्सव मनाया जा रहा है। उसके अनंतर **रंगद्वार** का विधान है जो अभिनय के आरंभ का सूचक होने के कारण 'रंगद्वार' कहलाता है। सूत्रधार दूसरे श्लोक का पाठ करता है, और इंद्र-ध्वज को प्रणाम करता है। तत्पश्चात् **उमा** की स्तुति में शृंगारप्रधान **चारी** (अंगहार) का, और भूतगणों की स्तुति में रौद्रप्रधान **महाचारी** की विधि का पालन किया जाता है। तब सूत्रधार; असंबद्धप्रलापी विदूषक और पारिपार्श्विक का परिसंवाद चलता है। अंततः **प्ररोचना** होती है जिसमें नाटक का विषय सूचित किया जाता है। सूत्रधार और उसके दोनों पारिपार्श्विक रंगमंच से चले जाते हैं। **पूर्वरंग** समाप्त हो जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार तदनंतर ही सूत्रधार के सदृश गुण और आकृति वाला दूसरा पात्र रंगमंच पर आता है। वह आकर नाटक की स्थापना करता है (परिचय देता है)। इस कार्य के कारण ही उसकी संज्ञा **स्थापक**[1] है। उसका नेपथ्य-विधान ऐसा होना चाहिए जिससे नाटक का स्वरूप सूचित हो सके कि उसका विषय देव-संबंधी है अथवा मानव-संबंधी। एक उपयुक्त गीत (**ध्रुवा**) के द्वारा उसका स्वागत किया जाता है। वह **चारी**-नृत्य करता है, देवताओं तथा ब्राह्मणों की स्तुति करता है, नाटक के विषय का निर्देश करने वाले श्लोकों के द्वारा सामाजिकों को प्रसन्न करता है, नाटक तथा लेखक के नाम का उल्लेख करता है, और भारती वृत्ति का आश्रय लेकर किसी ऋतु का वर्णन करता है। इस प्रकार वह नाटक की प्रस्तावना[2] करता है। **प्रस्तावना** अथवा **आमुख** की आवश्यक विशेषता किसी व्यक्तिगत विषय पर पारिपार्श्विक, नटी अथवा विदूषक के साथ सूत्रधार का संवाद है जो अप्रत्यक्ष रूप से नाटक के विषय में संकेत करता है। **नाट्यशास्त्र** के अनुसार **धनंजय** ने **प्रस्तावना** के तीन प्रकार बतलाये है। जिसमें नाटक का कोई पात्र सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर के रंगमंच पर प्रवेश करता है वह **कथोद्घात** है; उदाहरण के लिए—**रत्नावली** में **यौगंधरायण** नटी को दिये गये आश्वासन के वाक्य को ग्रहण करता है जो उसकी अपनी योजना पर भी

---

१. N. V. 149.; DR. iii. 2 ff.; SD. 283 ff. मिला कर देखिए—R. iii. 150 ff.

२. प्रस्तावना और स्थापना के भेद-निरूपण का प्रयत्न किया गया है, R. iii. 158.

लागू हो रहा है, और वेणीसंहार में भीम ने शत्रु-विषयक आशीर्वचन की अक्खड़-पन के साथ भर्त्सना की है; जिसमें सूत्रधार द्वारा किसी ऋतु का वर्णन किये जाने पर उस वर्णन-साम्य के आधार पर कोई पात्र प्रवेश करता है वह प्रवृत्तक है, जैसे—प्रियदर्शिका में; जिसमें सूत्रधार नाटक के किसी पात्र के प्रवेश का वस्तुतः उल्लेख करता है वह दशरूप के अनुसार प्रयोगातिशय है; जैसे—शकुन्तला के आरंभ में जहाँ वह नटी को यह कह कर आश्वस्त करता है कि तुम्हारे गीत-राग ने मुझे उसी प्रकार आकृष्ट कर लिया है जिस प्रकार इस मृग ने दुष्यंत को; और तभी दुष्यंत प्रवेश करता है। विश्वनाथ ने इसको अवलगित का उदाहरण माना है। उन्होंने इस शब्द की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि जिस प्रस्तावना में सूत्रधार के एक प्रयोग में दूसरे का समावेश कर के किसी पात्र का प्रवेश सूचित किया जाए वह अवलगित है। इस प्रकार अनुपलब्ध[1] कुन्दमाला में नटी को नृत्य के लिए बुलाने वाला सूत्रधार यह वाक्य सुनता है—'देवि, उतरिए,' और समझ जाता है कि इसका निर्देश सीता की ओर है जो निर्वासित की जा रही हैं। विश्वनाथ ने उद्घात्य को भी आमुख का एक भेद माना है; इस प्रकार मुद्राराक्षस में सूत्रधार चंद्र (चंद्रमा) को अभिभूत करने के इच्छुक राहु का निर्देश करता है, और नेपथ्य से चाणक्य बोल पड़ता है—'वह कौन है जो मेरे जीवित रहते हुए चंद्र (चंद्रगुप्त) को अभिभूत करने की इच्छा करता है?' उसके क्षण भर बाद ही वह रंगमंच पर प्रवेश करता है। आचार्य भट्टतौत का भी मत है कि मुख्य पात्र का प्रवेश कराने के लिए नेपथ्योक्ति या आकाश-भाषित का प्रयोग किया जा सकता है।

पूर्वरंग और आमुख का यह विवरण स्वयं अपने नट और नाटक के वास्तविक नमूनों के संबंध में प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। दशरूप और विश्वनाथ ने एक-समान ही पूर्वरंग का विवरण नहीं दिया है, और नाट्यशास्त्र ने उस बात का संकेत किया है कि पूर्वरंग के पूर्ण रूप के अतिरिक्त उसका संक्षिप्त रूप भी हो सकता है और कुछ अतिरिक्त अनुष्ठानों के साथ उसका विस्तृत रूप भी हो सकता है। पूर्वरंग तथा शेष प्रयोग में परस्पर अतिव्याप्ति है, क्योंकि पूर्वरंग का अंतिम अंग (नाटक के विषय का निर्देश) तत्त्वतः प्रस्तावना का अंग है। विश्वनाथ ने निश्चित रूप से बतलाया है कि उनके समय में पूर्वरंग की विधि का पूर्णतः प्रयोग नहीं किया जाता था। अतएव जब हम भास के नाटकों में यह देखते हैं कि उनमें नाटक अथवा लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है तब हम औचित्यपूर्वक

---

[1]. प्रतीत होता है कि डा० कीथ को कुन्दमाला की प्रति नहीं मिली थी। यह नाटक प्रकाशित हो चुका है.

अनुमान कर सकते है कि **प्ररोचना** की वस्तु को **पूर्वरंग** (जो कवि द्वारा रचित नहीं होता था) से हटा कर कवि-निर्मित प्रस्तावना में निबद्ध करने की परिपाटी उनके बाद से चली। यह भी ज्ञात होता है कि **विश्वनाथ** के समय में नाट्यशास्त्र द्वारा सूत्रधार एवं स्थापक के लिए निर्धारित विधियों का प्रयोग सूत्रधार किया करता था। परंतु यह कहना अत्यंत कठिन है कि उसका आरंभ कब से हुआ। उपलब्ध नाटकों में केवल सूत्रधार का उल्लेख मिलता है। **राजशेखर-रचित कर्पूरमञ्जरी** और **माधव-कृत सुभद्राहरण** के समान रूपक इसके अपवाद हैं।[1] **बाण** ने उल्लेख किया है कि **भास** के नाटकों का आरंभ सूत्रधार से होता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए **पिशेल**[2] ने अनुमान किया है कि **भास** ने ही **स्थापक** का बहिष्कार किया। परंतु यह संदिग्ध है कि **बाण** के उक्त उल्लेख का ठीक तात्पर्य क्या है। **दशरूप** ने सुव्यक्त रूप में स्थापक के कार्य का उल्लेख किया है, किंतु आगे चल कर उसे सूत्रधार की उपाधि दी है। इस विषय में मतैक्य है कि उसमें सूत्रधार के गुण होने चाहिएँ, जिससे इस आधार पर उसके लिए 'सूत्रधार' नाम के प्रयोग का औचित्य बताया जा सके। इसकी निश्चित पुष्टि **साहित्यदर्पण** और **दशरूप** से होती है— पहले ग्रंथ में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि एक सूत्रधार ही स्थापक का भी कार्य करता है, और दूसरा ग्रंथ इस विषय में मौन है। यदि इससे यह तात्पर्य निकाला जाए कि **भास** ने नाटक के अंग-रूप पूर्वरंग का त्याग किया तो इस बात का अवश्य महत्त्व होगा; परंतु इसकी ओर संकेत करने वाली कोई भी बात नहीं मिलती। जैसा कि हम देख चुके है, **भास** के द्वारा अपने या अपने नाटक के नाम का अनुल्लेख इस मत का प्रबल समर्थन करता है कि उनके युग में प्ररोचना के प्राचीन रूप का ही प्रयोग किया जाता था।

नांदी का प्रश्न कहीं अधिक जटिल है। अधिकांश नाटकों का प्रारंभ इस प्रकार के पद्य या पद्यों से होता है और उसके अनंतर यह उक्ति मिलती है—'नांदी

---

१. पूर्वधारणा के विपरीत ये उदाहरण अधिक सामान्य हैं। **प्रह्लादन** के **पार्थपराक्रम** और **वत्सराज** के **किरातार्जुनीय, रुक्मिणीहरण** तथा **समुद्रमथन** के विभिन्न प्रसंगों में स्थापक दृष्टिगोचर होता है। परन्तु **रसार्णवसुधाकर** ने उसकी उपेक्षा की है। **नागानन्द**, i. 1 पर शिवराम की टीका से विदित होता है कि उस समय पूर्वरंग, और सूत्रधार, सूचक, अथवा स्थापक के स्वरूप के विषय में बहुत अनिश्चितता थी.

२. GGA. 1883, p. 1231; 1891, p. 361. भास ने 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' का प्रयोग किया है। **दशरूप** का मत इसके अनुसार प्रतीत होता है।

के अंत में सूत्रधार प्रवेश करता है।' परंतु, भास के नाटकों में, **विक्रमोर्वशी** की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में, और कभी-कभी **नागानन्द**, **मुद्राराक्षस** तथा अन्य अपेक्षाकृत आधुनिक नाटकों[1] की दाक्षिणात्य हस्तलिखित प्रतियों में नाटक का प्रारंभ इसी उक्ति से होता है और तदनंतर पद्य या पद्यों का प्रयोग मिलता है। इस विषय में विश्वनाथ का सीधा साक्ष्य भी मौजूद है। उनका कथन है कि कतिपय विद्वानों के मतानुसार **विक्रमोर्वशी** का प्रारंभिक श्लोक, जिसे सामान्यतः 'नांदी' कह दिया जाता है, वस्तुतः नांदी नहीं है। वह **रंगद्वार** है जिससे, नाट्यशास्त्र के अनुसार, वास्तविक नाटक का आरंभ होता है; क्योंकि इसी में सबसे पहले वाणी और व्यापार के संयुक्त रूप में अभिनय उपलब्ध होता है। उन विद्वानों का तर्क है कि वह श्लोक **नाट्यशास्त्र** में दिये गये नांदी के लक्षण के साथ मेल नहीं खाता। परंतु अन्य लेखकों ने **अभिनवगुप्त** की प्रामाणिकता के आधार पर इस तर्क का खंडन किया है। विश्वनाथ ने नांदी का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है कि वह किसी देवता, ब्राह्मण, राजा आदि की स्तुति है जो आशीर्वचन से संयुक्त, और बारह पदों (सुबंत या तिङंत शब्दों) अथवा आठ पदों (पद्य के चरणों) से युक्त हो। इसके अनुसार **विक्रमोर्वशी** का प्रारंभिक अंश नांदी के बहिर्गत हो जाएगा, परंतु अभिनवगुप्त ने उसकी अनेकरूपता स्वीकार की है। विश्वनाथ के मतानुसार नांदी पूर्वरंग का अंग है; पूर्वरंग को बनाये रखना आवश्यक है—उसे चाहे जितना संक्षिप्त कर दिया जाए। अतएव यह बात स्पष्ट है कि सामाजिकों के कल्याण की कामना के आकर्षण के कारण प्ररोचना की भाँति नांदी भी धीरे-धीरे स्वयं नाटककार के द्वारा नाटक के अंतर्गत ही निबद्ध की जाने लगी,[2] यद्यपि निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इस प्रथा ने नियमित रूप कब ग्रहण किया, और ऐसा प्रतीत होता है कि कम-से-कम दक्षिण भारत में नांदी का कार्य सूत्रधार के लिए छोड़ देने की प्रथा का किसी समय अनुसरण किया जाता था। हां, यह बात अवश्य असंदिग्ध हो सकती है कि जिस परिमाण में पूर्वरंग का प्रयोग होता रहा उसमें समय-समय पर अंतर आता गया। **विश्वनाथ** ने उसके अभाव की ओर स्पष्ट संकेत किया है, किंतु सोलहवीं शताब्दी के **गोकुलनाथ** ने

---

१. उदाहरणार्थ—**तपतीसंवरण** और **सुभद्राधनंजय**, जहां 'स्थापना' का प्रयोग हुआ है.

२. इस स्थल पर कवियों द्वारा अभिव्यक्त आत्मविश्वास के आधार पर R. i. 216 f. में कवियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है; **मालविकाग्निमित्र** में कालिदास उदात्त है; **मालतीमाधव** में भवभूति उद्धत है, करुणाकन्दला का कवि **प्रौढ** है, **रामानन्द** का कवि विनीत है. . . . .

अपने **अमृतोदय** में उसका सद्भाव स्वीकार किया है। **नाट्यशास्त्र**-जैसे आप्त ग्रंथ में उसका प्रबल समर्थन किया गया है, और नाटकों के आमुख में प्रायशः प्रयुक्त यह पिष्टपेषित उक्ति 'अलमतिप्रसंगेन' (यह प्रसंग बहुत हो चुका) असंदिग्ध रूप से नाटक की प्रस्तावना में प्रयुक्त नृत्य, गीत एवं वाद्य का निर्देश करती है।[1]

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि नांदी-पाठ करने वाले नट के विषय में शास्त्रकारों के कथनों में गड़बड़ी क्यों है। कहा गया है कि **भरत** के मतानुसार **नांदी** (नटविशेष) को नांदी-पाठ करना चाहिए, अथवा इस कार्य का संपादन सूत्रधार द्वारा किया जाना चाहिए। दूसरा मत यह है कि सूत्रधार अथवा कोई अन्य अभिनेता नांदी-पाठ कर सकता है। एक नियम इस स्थिति को और भी जटिल बना देता है। वह नियम यह है कि पूर्वरंग के समाप्त होने पर सूत्रधार को चला जाना चाहिए और रंगमंच पर स्थापक का प्रवेश होना चाहिए। इसके विपरीत, उपलब्ध नाटकों में नांदी-पाठ के बाद सूत्रधार का प्रवेश नियमतः पाया जाता है, अथवा एकाध में, जैसे **पार्थपराक्रम** में स्थापक का प्रवेश मिलता है। अतएव शास्त्र से यह सूचित होता है कि सूत्रधार या स्थापक (जो रूप और गुण के सादृश्य के कारण सूत्रधार कहलाता है) नेपथ्य से नांदी-पाठ करता है और तब रंगमंच पर आता है। नाटकों में समाविष्ट गर्भांकों की प्रयोग-पद्धति से इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता। **बालरामायण** के अंतर्गत निबद्ध गर्भांक में सूत्रधार द्वादशपदा नांदी का पाठ करता है और अविच्छिन्न रूप से आमुख का आरंभ करता है। **रविवर्मा के प्रद्युम्नाभ्युदय** की भाँति **जानकीपरिणय** में यह कार्य एक नट द्वारा किया जाता है, तदनंतर सूत्रधार नाटक का आरंभ करता है। **चैतन्यचन्द्रोदय** में नेपथ्य से नांदी-पाठ किया जाता है, परंतु उसका कारण यह बतलाया गया है कि प्रयोज्य अंक भाण या व्यायोग है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि अन्य नाटकों में नांदी-पाठ रंगमंच पर ही नियमतः किया जाता था, अनुमानतः सूत्रधार के अतिरिक्त किसी नट के द्वारा।

जैसा कि हम देख चुके हैं, नांदी का परिमाण विवादग्रस्त था।[2] भरत का

---

१. Konow, ID. p. 25.

२. Lévi, TI. i. 135, 379; ii. 26 f., 64, 66. मिला कर देखिए—**हरिवंश**, ii. 93; **कुट्टनीमत**, 856 ff.

३. Lévi, TI. i. 132 f.; ii. 24 f.; Hall. DR. pp. 25 f. **वेणीसंहार** में छः (?) पद्य हैं. R. iii. 137 f. में 'पद' को शब्द-वाचक माना गया; ८, १० और १२ पदों के उदाहरण-रूप में **महावीरचरित**, **अभिरामराघव** और **अनर्घराघव** का उल्लेख किया गया है.

नियम आठ या बारह पदों तक ही सीमित नहीं है। ऐसा कहा गया है कि उन्होंने चार और सोलह का उल्लेख भी संभावित संख्याओं के रूप में किया है। 'पद' के अनेक अर्थ हो सकते हैं---विभक्ति-युक्त शब्द, पंक्ति (चरण), अथवा वाक्य। अभिनवगुप्त के अनुसार **त्र्यश्र नांदी** में तीन, छः अथवा बारह पद हो सकते हैं; **चतुरश्र** नांदी में चार, आठ अथवा सोलह। उन्होंने 'पद' को निश्चित रूप से (अवांतर) वाक्य के अर्थ में ग्रहण किया है। अभिनवगुप्त और भरत ने इस प्रकार की अष्टपदा और द्वादशपदा नांदी के उदाहरण दिये हैं। नाटकों में भिन्नता है; **शकुन्तला** में आठ वाक्यों या चार पंक्तियों की नांदी है, **रत्नावली** में चार पद्य है, **मालतीमाधव** और **मुद्राराक्षस** में आठ-आठ पंक्तियाँ है, **उत्तररामचरित** में बारह शब्द है।

यह स्वाभाविक है कि शास्त्र के अनुसार नांदी तथा नाटक के स्वरूप में संगति अपेक्षित है, और व्यवहार में इसका निर्वाह किया गया है। इस प्रकार दार्शनिक नाटक **प्रबोधचन्द्रोदय** ब्रह्म की स्तुति से आरंभ होता है, राजनैतिक कूटप्रबंध का नाटक **मुद्राराक्षस** चाणक्य की कूटनीति के सदृश वक्रतापूर्ण श्लोक से। भारतीय शास्त्र की यह विशेषता है कि उसमें किसी बात को चरम सीमा तक पहुँचाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके परिणामस्वरूप नांदी की केवल (नाटक के) विषय के साथ संगति बिठाने का ही नहीं अपितु उसमें से प्रमुख पात्रों एवं मुख्य प्रसंगों के निर्देश खोज निकालने का भी प्रयत्न किया गया है।[1]

९. रूपक के प्रकार

रूपकों में प्रयुक्त नाट्य-तत्त्वों (वस्तु, नेता और रस) के आधार पर शास्त्रकारों ने उनका भेद-निरूपण किया है। दस मुख्य रूपों (रूपकों) मे नाटक उत्कृष्टतम है। 'नाटक' शब्द जातिवाचक है। सामान्य रूप से वह मूकनाट्य, चित्रनाट्य आदि किसी भी प्रकार के नाट्य का द्योतक हो सकता है, परंतु रूपकविशेष के अधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट अर्थ में भी उसका प्रयोग होता है।

नाटक[2] का वृत्त (कथानक) प्रख्यात होना चाहिए, उत्पाद्य (कल्पित) नहीं। कोई राजा, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष उसका नायक हो सकता है। वीर अथवा शृंगार ही अंगी रस हो सकता है। अंग-रूप में अन्य रसों की निबंधना की जाती

---

१. सामान्य निर्देश के लिए देखिए—पञ्चरात्र, 1.1. **मोहराजपराजय**। जैन जैन-नाटक की नांदी में तीन तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है, नागानन्द में बुद्ध की.

२. N. xviii. 10 ff, DR. iii. 1-34; SD. 278, 493, 510., R. iii. 130 ff.

चाहिए। अद्‌भुत रस निर्वहण के विशेष उपयुक्त है। वस्तु-विन्यास में पाँचों कार्यावस्थाओं और पाँचों संधियों की योजना की जानी चाहिए। उपसंहार सुखद होना चाहिए; त्रासदी (tragedy) का निषेध है, यद्यपि इस निषेध का कारण नहीं बतलाया गया है। जटिल समासों से रहित सरल गद्य का, प्रसादगुणपूर्ण मधुर पद्यों का, विविध प्राकृतों का, और गीत, नृत्य तथा वाद्य के आकर्षणों एवं सुंदरताओं से युक्त उदात्त और रसोचित शैली का प्रयोग करना चाहिए। अंकों की संख्या पाँच से दस तक हो सकती है। सभी प्रकार के पताकास्थानकों से युक्त और दस अंकों में निबद्ध नाटक **महानाटक** कहलाता है। सामान्यतः शास्त्रीय नियम का पालन किया गया है, किंतु अपने को 'नाटक' कहने वाले ऐसे भी पश्चात्कालीन रूपक ज्ञात है जो एक (रविदास का **मिथ्याज्ञानविडम्बन**), दो (वेदांतवागीश का **भोजचरित**), तीन, अथवा चार अंकों[1] में लिखित हैं; और एक अपेक्षाकृत प्राचीन रूपक **महानाटक** भी पाया जाता है जिसके एक संस्करण में चौदह अंक है तथा प्राकृत का प्रयोग नहीं हुआ है। **कविभूषण** के **अद्‌भुतार्णव** में बारह अंक हैं। नायक अथवा कथावस्तु के आधार पर नाटक का नामकरण होना चाहिए, और इसका नियमतः पालन किया गया है। उसमें चार या पाँच प्रधान पात्रों का वर्णन हो सकता है।

प्रकरण[2] सामंती कामदी (bourgeois comedy) है। उसमें राजपद की अपेक्षा निम्न वर्ग की सामाजिक रीति का चित्रण किया जाता है। उसका रचना-विधान मुख्यतया नाटक के अनुसार होता है। उसकी कथा-वस्तु कवि-कल्पित होती है। कोई ब्राह्मण, अमात्य अथवा वणिक् उसका नायक होता है। वह विपत्तिग्रस्त है और कठिनाइयों में रह कर अर्थ, काम अथवा धर्म की प्राप्ति का प्रयत्न करता है जिसमें उसे अंततः सफलता मिलती है। नायिका के तीन प्रकार हो सकते हैं। कहीं पर वह कुलस्त्री होती है, जैसे अनुपलब्ध **पुष्पदूषित** (पुष्पभूषित) में। कहीं पर वेश्या होती है, जैसे अप्राप्य **तरङ्गदत्त** में। कहीं पर दोनों होती हैं, और संभव है कि कुलस्त्री वेश्या नायिका के संपर्क में न आए, जैसे **चारुदत्त** तथा **मृच्छकटिका** में। उसमें (प्रकरण में) चेटों, विटों, द्यूतकरों, धूर्तों आदि का पर्याप्त

---

१. घनश्याम के **नवग्रहचरित** में तीन अंक हैं; मधुसूदन के **जानकीपरिणय** (१७०५ ई०) में चार अंक हैं.

२. N. xviii. 41ff., DR. iii. 35-8.; SD. 511f.; R. iii. 214-18. जिसमें एक गणिका-विषयक रूपक का नाम **कामदत्त** दिया गया है.

चित्रण होता है। उसका अंगी रस शृंगार होता है, यद्यपि धनंजय ने वीर को भी मान्यता दी है। उसके रचना-विधान में पाँचों संधियों की योजना की जाती है। अंकों की संख्या नाटक के समान ही होनी चाहिए। उसका नामकरण नायक या नायिका अथवा दोनों के आधार पर किया जा सकता है, जैसे **मालतीमाधव** में और अश्वघोष के **शारिपुत्रप्रकरण** में। परंतु, यह बात ध्यान देने योग्य है कि **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** में केवल चार अंक हैं, और नामकरण के विषय में **चारुदत्त** के विसदृश **मृच्छकटिका** ने नियम का पालन नहीं किया है।

शास्त्र-ग्रंथों में अतिप्राकृत रूपक समवकार[1] का लक्षण-निरूपण एक ही रचना के आधार पर किया गया है। वह रचना है **अमृतमन्थन**[2]—अमृत की प्राप्ति के लिए समुद्र का मंथन जिसमें भाग लेने वालों को अभीष्ट फलों की प्राप्ति हुई थी। उसमें तीन अंक होते हैं। प्रत्येक अंक का समय क्रमशः बारह, चार और दो नाडिका (४८ मिनट) बतलाया गया है। उसमें **विमर्श** संधि नहीं होती, और अर्थ-प्रकृति **बिंदु** अनावश्यक है। नायकों की संख्या बारह हो सकती है। प्रत्येक का अपना प्रयोजन होता है, तदनुसार उसे फल-प्राप्ति होती है। वीर रस उसका मुख्य रस है। प्रत्येक अंक में **कपट**, **विद्रव**, और शृंगार के एक-एक प्रकार का चित्रण होता है। **कैशिकी** वृत्ति नहीं होती, अथवा मंद होती है। **अनुष्टुभ्**, **उष्णिक्** और **कुटिल** छंद उसके अनुकूल हैं। यह विवरण **भास** के **पञ्चरात्र** के साथ कुछ-कुछ ठीक बैठता है। वही एकमात्र प्राचीन रूपक है जिसके लिए 'समवकार' का कुछ औचित्य के साथ व्यवहार किया जा सकता है।

ईहामृग[3] का कोई प्राचीन उदाहरण नहीं मिलता। **दशरूपावलोक** के अनुसार, इस रूपक में नायक मृग की भाँति अलभ्य नायिका को पाने की ईहा (कामना) करता है, अतएव इसको **ईहामृग** कहते हैं। इसका इतिवृत्त अंशतः प्रख्यात और अंशतः कवि-कल्पित होता है। विशेष बात यह है कि यदि किसी महान् पुरुष का वध हुआ हो तो भी उसका वर्णन नहीं करना चाहिए। एक मत के अनुसार देव अथवा मानव इसका नायक हो सकता है, दूसरे मत के अनुसार केवल देव। ईहा-

---

१. N. xviii. 57-70; xix. 43f.; DR. iii., 56-61: SD. 515 f; R. iii. 249-64.

२. इस प्रसंग में स्मरणीय है कि समवकार के उदाहरणरूप में धनंजय ने '**अम्भोधिमन्थन**' का, धनिक ने '**समुद्रमन्थन**' का, और सागरनंदी ने 'शक्रानन्द' का उल्लेख किया है। वत्सराज का '**समुद्रमथन**' प्रकाशित रूप में उपलब्ध है। (अनुवादक

३. N. xviii. 72-6: xiv. 44f. : DR. iii. 66-8: SD. 518: R. iii. 264-8 (प्रकार—**मायाकुरङ्गिका**).

मृग का सार यह है कि प्रतिनायक नायक को दिव्यांगना से वंचित करना चाहता है, उसके परिणामस्वरूप घोर संघर्ष होता है, परंतु कौशल के द्वारा किसी व्याज से वास्तविक युद्ध का निवारण करना चाहिए। नायक और प्रतिनायक दोनों ही ख्यात एवं धीरोद्धत होते हैं। प्रतिनायक भ्रांतिवश अनुचित कर्म करता है। इसमें केवल तीन संधियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता। इसमें चार अंक होते हैं, परंतु **विश्वनाथ** ने बतलाया है कि अन्य आचार्यों के मतानुसार ईहामृग की रचना के लिए एक अंक पर्याप्त है, देवता ही नायक होता है, अथवा छः प्रतिस्पर्धी नायक किसी दिव्यांगना की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते है।

डिम[1] भी बहुत कम प्रसिद्ध है। हाँ, **नाट्यशास्त्र** ने उसके उदाहरण-रूप में किसी **त्रिपुरदाह** का उल्लेख किया है। उसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है; विमर्श-संधि नहीं होती। देवता, यक्ष, गंधर्व, राक्षस आदि सोलह नायक होते हैं, वे सब-के-सब अत्यंत उद्धत होते है। उसमें माया, इंद्रजाल, संग्राम, सूर्यग्रहण और चंद्र-ग्रहण का चित्रण किया जाता है। वह हास्य और शृंगार रसों से रहित होता है। उसका अंगी रस रौद्र है। उसमें चार अंक होते हैं, विष्कंभक-प्रवेशक नहीं होते, किंतु **राम** के उत्तरकालीन डिम **मन्मथोन्मथन** में उनका प्रयोग हुआ है। उसमें कैशिकी वृत्ति का निषेध किया गया है। यह बात स्पष्ट है कि उसका निरूपण अपर्याप्त सामग्री के आधार पर किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनो-विनोद के एक ऐसे लोकप्रिय रूप का प्रतिनिधान करता है जिसे पूर्ण मान्यता नहीं प्राप्त हुई। 'डिम' शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात है, क्योंकि संस्कृत में **डिम्** (चोट करना) धातु का प्रयोग नहीं मिलता, यद्यपि धनिक ने उसका दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया है (**डिम संघाते**)।

व्यायोग[2] नाम से ही सूचित होता है कि वह युद्धविषयक रूपक है। उसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है; नायक कोई देवता अथवा राजर्षि होता है, परंतु धनंजय के अनुसार उसका नायक नर होता है। वह एक अंक का रूपक है। उसमें एक दिन की घटना का चित्रण किया जाता है। वह कलह और संग्राम से पूर्ण होता है, किंतु कोई स्त्री इस संग्राम का कारण नहीं होती। उसमें केवल मुख, प्रतिमुख

---

१. N. xviii. 78-82; xix. 43f.; DR. iii 51-3; SD. 517; R. iii. 280-4 (**प्रकार—वीरभद्रविजृम्भण**).

२. N. xviii. 83-5; xix. 44 f.; DR. iii. 51 f.; SD. 514; R. iii. 229-32 (**प्रकार—धनञ्जयविजय**).

तथा निर्वहण संधियों का विधान किया जाता है; शृंगार एवं हास्य रसों और कैशिकी वृत्ति का निषेध है। रूपक का यह प्रकार प्राचीन है, क्योंकि भास का व्यायोग उपलब्ध है, और बाद में भी उसकी रचना हुई है।

अंक अथवा उत्सृष्टांक[1] एकांक (एकांकी) रूपक है। उसका दीर्घतर आकार सामान्य नाटक के अंक से उसकी भिन्नता सूचित करना है। उसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है, परंतु कवि अपनी कल्पना से उसका विस्तार कर सकता है। उसमें केवल दो संधियाँ होती हैं—मुख और निर्वहण। पश्चात्कालीन शास्त्रकारों के अनुसार प्राकृत (साधारण) पुरुष उसका नायक होता है। उसमें करुण रस और भारती वृत्ति की निबंधना की जाती है। संघर्षों और युद्धों के चित्रण में नारी-विलाप का वर्णन होना चाहिए, किंतु उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करना वर्जित है। **विश्वनाथ** ने अंक के उदाहरण-रूप में **शर्मिष्ठाययाति** का उल्लेख किया है, किन्तु प्राचीन काल में रूपक के इस प्रकार की कोई प्रतिनिधि-रचना नहीं मिलती।

दूसरी ओर **प्रहसन**[2] में इस बात के सभी लक्षण पाये जाते हैं कि वह लोक में उत्पन्न हुआ और लोक-प्रचलित था। उसका विषय कवि-कल्पित होता है। उसमें अधम श्रेणी के विभिन्न पात्रों की धूर्तता और झगड़ों का वर्णन किया जाता है। वह एक अंक का रूपक है। उसमें केवल पहली और अंतिम संधियाँ होती हैं। उसका अंगी रस हास्य है। **दशरूप** के अनुसार प्रहसन के तीन प्रकार हैं। शुद्ध प्रहसन में पाखंडियों, ब्राह्मणों, चेटों, चेटियों और विटों का हास्योपयुक्त वेष तथा भाषा द्वारा चित्रण किया गया है। विकृत प्रहसन में कामुकों के वेष और भाषा से युक्त नपुंसकों, कंचुकियों तथा तापसों का वर्णन होता है। संकीर्ण प्रहसन धूर्त-संकुल होता है, **वीथी** के संकर (मिश्रण) के कारण उसे 'संकीर्ण' कहते हैं। **नाट्यशास्त्र** ने प्रथम और अंतिम भेदों को ही स्वीकार किया है। **भरत** के मतानुसार संकीर्ण में विकृत का भी अंतर्भाव है। **विश्वनाथ** ने इस मत को भी मान्यता दी है कि संकीर्ण प्रहसन में एक या अनेक नायक हो सकते हैं, और तदनुसार उसकी रचना दो अंकों में की जा सकती है, जैसे **लटकमेलक** की। प्रहसन में कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ नहीं होनी चाहिएँ।

भाण[3] एकालाप है। स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वह भी लोकधर्मी था।

---

१. N. xviii. 86-9; xix. 45f.; DR. iii. 64f.; SD. 519; R. iii. 224-8 (प्रकार—करुणाकन्दल) का मत इससे भिन्न है.

२. N. xviii. 93-8; xix. 45f.; DR. iii. 49f; SD. 534-8; R. iii. 268-79 (प्रकार—आनन्दकोश).

३. N. xviii. 99-101; xix. 45f.; DR. iii. 44-6; SD. 513; R. iii. 232-5.

उसका इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है। उसमे कोई विट भारती वृत्ति के द्वारा स्वानुभूत अथवा परानुभूत धूर्त-चरित का वर्णन करता हुआ शौर्य तथा सौभाग्य के निरूपण द्वारा वीर एव शृगार रसो की व्यजना करता है। उसमे प्रथम और अतिम सधियाँ होती है, और केवल एक अक। नायक किसी अन्य पात्र और उसके उत्तर की कल्पना कर के उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप मे आकाशभाषित करता है। उसमे लास्य के सभी अगो की विशेष रूप से योजना की जाती है। इस तथ्य से यह सूचित होता है कि **भाण** आदिम स्वाँग का शास्त्रीय रूप है। विश्वनाथ ने उसके उदाहरण-रूप मे **लीलामधुकर** का उल्लेख किया है। **शारदातिलक** उसका अत्यत उत्कृष्ट उदाहरण है।

वीथी[1] कुछ बातो मे **भाण** के समान है: उसमे आकाशभाषित का बहुल प्रयोग होता है, और एक ही अक होता है। परतु उसमे एक या दो पात्र होते है, अथवा, **नाट्यशास्त्र** मे उल्लिखित मत के आधार पर **विश्वनाथ** के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के तीन पात्र होते है। उसमे विशेष रस शृगार होता है, परतु अन्य रसो की भी व्यजना की जाती है। **नाट्यशास्त्र** ने कैशिकी वृत्ति की योजना का निषेध किया है, किंतु अन्य आचार्यो ने उसका समर्थन किया है। **वीथी** मे उसके अगो का निवेश अपेक्षित है। उसमे केवल मुख तथा प्रतिमुख सधियाँ किंतु पाँचो अर्थप्रकृतियाँ होती है। आचार्य लोग 'वीथी' की व्युत्पत्ति बतलाने मे असमर्थ है। एक सुझाव यह है कि उसमे वीथी (माला) की भाँति अनेक रसो की निबधना की जाती है; दूसरा सुझाव यह है कि वीथी (मार्ग) की भाँति वक्रतापूर्ण होने के कारण उसको 'वीथी' कहते है। **विश्वनाथ** ने उसके एकमात्र उदाहरण के रूप मे **मालविका** का उल्लेख किया है जो **मालविकाग्निमित्र** से भिन्न है। **मालतीमाधव** के पहले अक को '**बकुलवीथी**' कहा गया है, किंतु वह अपने-आप मे किसी भी प्रकार वीथी का उदाहरण नही है।

उपर्युक्त रूपको के अतिरिक्त, **विश्वनाथ**[2] आदि आचार्यो ने अठारह उपरूपको का भी वर्णन किया है जिसमे रूपको के भेद-निरूपण की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है। कहने की आवश्यकता नही है कि यद्यपि **नाट्यशास्त्र** मे उपरूपको के भेदो का प्रतिपादन नही किया गया है तथापि इस मत के समर्थन मे **भरत** के नाम से दिये गये उद्धरण मिलते है जिनमे उन्होने बहुतो के नामातर[3] के

---

१. N. xviii 102f.; xix 45f; DR. iii. 62f.; SD. 520. **नाट्यशास्त्र** के विषय मे कोनो ने भूल की है (ID. p. 32). R. iii. 265-70 मे **माधवीवीथिका** का उल्लेख है.

२. SD. 276

३. Hall, DR., p. 6.

साथ केवल पंद्रह का उल्लेख किया है। **अग्निपुराण**[1] में कुछ के नामांतर के साथ अठारह का उल्लेख किया गया है। **धनिक**[2] ने एक पद्य उद्धृत कर के नृत्य के सात भेदों के नाम गिनाये हैं जिनको उन्होंने भाणवत् माना है। अतएव उपरूपकों के भेद-निरूपण का समय अनिश्चित है। **दशरूप** में केवल नाटिका का उल्लेख किया गया है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि **धनंजय** को अन्य भेदों की जानकारी है। जैसा कि पुस्तक के नाम (दशरूप) से ही सूचित होता है, उन्होंने अपनी कृति को रूपकों तक ही परिसीमित रखा है।

नाट्यशास्त्र[3] में एक स्थल पर (जिसके क्षेपक होने का संदेह होता है, किंतु इस बात का कोई विशेष कारण नहीं है) रूपक के एक प्रकार 'नाटी' का उल्लेख किया गया है जिसको परवर्ती काल में **नाटिका** की संज्ञा प्राप्त हुई। इस मत के अनुसार उसका इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कवि-कल्पित हो सकता है। उत्तरकालीन आचार्यों के मतानुसार उसकी कथावस्तु प्रकरण की भाँति कवि-कल्पित होनी चाहिए जो इस विषय में नाटिका का आदर्श है। नाटक की भाँति उसका नायक प्रख्यात और धीरललित होता है। उसकी नायिका नृपवंशजा और मुग्धा होती है। उसमें अनुरक्त नायक उससे विवाह करने का प्रयत्न करता है। वह नायिका से विवाह करने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है जो संयोगवश अथवा किसी योजना के अनुसार एक निम्न श्रेणी के पात्र के रूप में अंतःपुर से संबद्ध कर दी गयी है। ज्येष्ठा, प्रगल्भा और पतिव्रता रानी की ईर्ष्या के विरुद्ध नायक-नायिका को संघर्ष करना पड़ता है। अंत में रानी (देवी) दोनों के विवाह की अनुमति प्रदान करती है। अंतःपुर के जीवन से संबद्ध होने के कारण उसमें मनोरंजन के साधन-रूप में गीत, नृत्य और वाद्य के संनिवेश का पर्याप्त अवसर मिलता है। उसका अंगी रस शृंगार है। कैशिकी वृत्ति उसके उपयुक्त है। शास्त्रानुसार चार अंकों की नाटिका के प्रत्येक अंक में कैशिकी वृत्ति के एक-एक अंग की निबंधना अपेक्षित है। **धनंजय** ने उसमें चार से कम अंक भी माने हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सामान्य नाटिका और **मालविकाग्निमित्र**-जैसे नाटक में कोई विशेष अंतर नहीं है, केवल विस्तार का अंतर है जो अंकों की संख्या में दृष्टिगोचर होता है। यह एक तथ्य है कि **प्रियदर्शिका** एवं **रत्नावली** दोनों में ही कवि ने पर्याप्त स्वच्छंदता के साथ प्रसंगों की कल्पना की है, और यह तथ्य विभेद का औचित्य सिद्ध करता है।

---

१. cccxxxvii. 2-4. R. iii. 218-23 में नाटिका और प्रकरणिका का स्वतंत्र रूप अस्वीकार किया गया है.

२. DR. i. 8.

३. xviii. 54-6 ; DR. iii. 39-43; SD. 539.

प्रकरणिका[1] में ठीक वे ही विशेषताएँ पायी जाती हैं जो नाटिका में मिलती हैं, अंतर केवल इतना ही है कि उसके नायक और नायिका सार्थवाह-वंशज हैं। यह बात स्पष्ट है कि प्रकरणिका का भेद-निरूपण सममिति की झूठी आकांक्षा का परिणाम है, क्योंकि रूपक-भेदों के तीनों निर्धारक तत्त्वों : वस्तु, पात्र और रस की दृष्टि से वह प्रकरण ही है। **धनिक** द्वारा रूपक की एक स्वतंत्र विधा के रूप में उसका अस्वीकार किया जाना उचित है, यद्यपि **विश्वनाथ** ने उसको स्वीकार किया है।

सट्टक[2] नाटिका का ही रूपांतर है। वह नाटिका से इस बात में भिन्न है कि उसमें प्रवेशक-विष्कंभक नही होते, उसकी रचना प्राकृत में की जाती है, और उसके अंकों को **जवनिकांतर** कहा जाता है। उसका नाम नृत्य के प्रकार का द्योतक है, बहुत संभव है कि इन रूपकों में इस प्रकार के नृत्यों के प्रयोग से उपरूपकों के एक भेद के रूप में 'सट्टक' का आरंभ हुआ हो। सट्टक का उदाहरण **राजशेखर**-रचित **कर्पूरमञ्जरी** है।

त्रोटक[3] अथवा **तोटक** नाटक का ही एक भिन्न रूप है। **विक्रमोर्वशी** का केवल बंगाली संस्करण में (जिसमें अपभ्रंश के पद्यों और विरह-व्याकुल राजा के उपयुक्त नृत्य का समावेश है) उसको त्रोटक नाम दिया गया है। 'त्रोटक' शब्द नृत्य और क्षुब्ध वाणी का द्योतक है। इस विशिष्टता को ही उसके नामकरण का हेतु मानना चाहिए। उसकी अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उसको नाटक कहा गया है।

उपरूपक के जिन अन्य भेदों का निरूपण किया गया है उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ प्राचीन साहित्य में नही मिलती। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनमें वास्तविक रूपक की अपेक्षा गीत, नृत्य और वाद्य से युक्त मूकनाट्य की विशेषता कही अधिक पायी जाती है। **गोष्ठी**[4] में पुरुष-पात्रों की संख्या नौ या दस और स्त्री-पात्रों की पाँच या छः होती है। **हल्लीश**[5] स्पष्टतया उदात्तीकृत नृत्य है। **नाट्यरासक**[6] सांगीत-रास है। **प्रस्थान**[7] का नायक दास है और नायिका

१. SD. 554.

२. SD. 542. मिला कर देखिए—भारहुत में प्राप्त साडिक नृत्य का अर्ध्युच्चित्र (bas-relief); Hultzsch, ZDMG. xl. 66, no. 50.

३. SD. 540.

४. SD. 541. मिला कर देखिए—Hall, DR., p. 6.

५. SD. 555. ६. SD. 543. ७. SD. 544.

दासी है, वह नाट्य-नृत्य पर आश्रित है। एकांकी भाणिका[1] और काव्य भी उसी प्रकार के प्रतीत होते हैं। उसी सामान्य प्रकार का उपरूपक रासक है जिसकी भाषा में विभाषा का भी प्रयोग होता है। उल्लाप्य एक या तीन अंकों की रचना है; उसका नायक उदात्त होता है; उसमें संग्राम आदि का वर्णन किया जाता है। संग्राम आदि संलापक के भी वर्ण्य विषय हैं; उसमें एक, तीन या चार अंक हो सकते हैं। विलासिका एक अंक की रचना है, परंतु वह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें विदूषक ही नहीं विट और पीठमर्द भी नायक के सहायक-रूप में चित्रित किये जाते हैं। उसमें शृंगार रस की बहुलता रहती है। दुर्मल्लिका में चार अंक होते हैं; उसका नायक निम्न प्रकृति का व्यक्ति होता है; उसके अंकों की अवधि की समय-सारिणी सुनिश्चित हुआ करती है। शिल्पक का स्वरूप अस्पष्ट है; उसमें चार अंक होते हैं, सभी वृत्तियाँ होती हैं, ब्राह्मण उसका नायक होता है तथा निम्न वर्ग का व्यक्ति उपनायक, शृंगार और हास्य रस नहीं होते, और विभिन्न प्रकार के सत्ताइस अंग होते हैं। यदि उसे स्वाँग माना जाए तो स्पष्ट है कि वह मनोरंजक नहीं था। प्रेङ्खण अथवा प्रेक्षण एकांकी उपरूपक है; अधम पात्र उसका नायक होता है, वह द्वंद्व और संफेट (रोषपूर्ण भाषण) से युक्त होता है; उसमें प्रवेशक-विष्कंभक नहीं होते; नांदी और प्ररोचना दोनों ही नेपथ्य से की जाती हैं; परंतु बाद की जिन रचनाओं पर यह नाम अंकित मिलता है उनमें से कोई भी उपरूपक के इस प्रकार के अनुरूप नहीं है। श्रीगदित भी एकांकी है; उसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है; उसमें उदात्त नायक और नायिका का चित्रण किया जाता है; भारती वृत्ति की बहुलता रहती है; 'श्री' शब्द का प्रायः उल्लेख किया जाता है अथवा श्री-वेष-धारिणी नटी आसीन हो कर कोई पद गाती है। उस नाम का एकमात्र ज्ञात उपरूपक माधव-रचित सुभद्राहरण है जो १६०० ई० से पूर्व की रचना है और बहुत-कुछ सामान्य रूपक के ही सदृश है, किंतु उसमें एक वर्णनात्मक पद्य पाया जाता है जो छाया-नाट्य से उसका संबंध सूचित करता है।

१०. शास्त्र का प्रयोग पर प्रभाव

यद्यपि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि नाट्यशास्त्र को निश्चित रूप कब प्राप्त हुआ तथापि यह बात असंदिग्ध है कि कालिदास के समय तक वह

---

1. SD. 556. अन्य उपरूपकों के लिए देखिए—516 ff. उपरूपकों के नाम दिये गये हैं, परंतु ये अनुपलब्ध हैं, और संभवतः उत्तरकाल में लिखे गये थे.

केवल ज्ञात ही नहीं था अपितु उसकी आप्तता स्वीकृत हो चुकी थी और कवियों के लिए उसका अनुसरण आवश्यक था। कालिदास के नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों की अद्भुत अभिव्यक्ति पायी जाती है। इस तथ्य के समाधान में यह मत कहीं अधिक ग्राह्य है कि नाट्यशास्त्र ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन में कालिदास के नाटकों का लक्ष्य-ग्रंथों के रूप में उपयोग किया, न कि कालिदास ने शास्त्र को दृष्टि में रख कर नाटकों की रचना की। परंतु अपने महाकाव्यों में सर्वदर्शी कवि के कर्तव्य के सर्वथा अनुरूप उन्होंने शास्त्रीय शब्दावली पर अपने व्यापक अधिकार की सशक्त व्यंजना की है। कुमारसंभव[1] में शिव तथा पार्वती ने अपने विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में अभिनीत नाटक देखा जिसकी नाट्य-संधियों में विभिन्न (कैशिकी आदि) वृत्तियों की निबंधना की गयी थी, रसानुकूल रागों का प्रयोग किया गया था, और अप्सराओं ने ललित अंगहार का प्रदर्शन किया था। रघुवंश[2] में भी इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती लेखकों ने भी शास्त्र-ज्ञान का परिचय दिया है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस[3] में चित्रित राक्षस नाटक के रचना-विधान की योजना का संक्षेप में उल्लेख करते हुए नाटक-कार के कार्य के साथ राजनैतिक योजना की तुलना करता है। भवभूति[4] और मुरारि[5] नाट्यशास्त्र की शब्दावली और उसके नियमों से परिचित दिखायी देते हैं। परंतु, नाटक-रचना में मौलिक उद्भावना का अभाव इस बात का पक्का प्रमाण है कि शास्त्र ने नाटककारों को अभिभूत कर दिया था। इसमें संदेह नहीं कि एक समय ऐसा रहा होगा जब भारतीय कवियों की प्रतिभा नाटक के नवीन उप-करण के प्रयोग और विकास में सक्रिय रही होगी, परंतु नाट्यशास्त्र के प्रकाश में आने के बाद यह रचनात्मक युग सर्वथा समाप्त हो गया। आभिजात्य संस्कृत-नाटक के लेखकों ने शास्त्र द्वारा निर्धारित रूपों को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया है, यद्यपि वह आप्त शास्त्र किसी तार्किक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है, अपितु रूपकों की सीमित संख्या के आधार पर सामान्य सिद्धांतों का उपस्थापन करता है और वह सामान्यीकरण भी प्रायः क्षिप्र है।

अतएव नाटक रूपक का उत्कृष्टतम रूप रहा है। उसकी उत्कृष्टता के दो कारण हैं—वह संकुचित प्रतिबंधों से अपेक्षाकृत मुक्त रहा है और नाटककारों ने निष्ठापूर्वक शास्त्र का अनुवर्तन किया है। नाटक ने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति की

---

१. vii. 90f. ; xi. 36.　　२. ii. 18.

३. iv. 3.　　४. मालतीमाधव, p. 79.

५. vi. 48, और देखिए—pp. 118f. ; Lévi, TI. ii. 38.

है। वह कालिदास के लालित्य और सौंदर्य की अभिव्यंजना के ही उपयुक्त नहीं है, अपितु **भवभूति** की अपरिमित एवं स्वच्छंद प्रतिभा के भी उपयुक्त है। वह **विशाखदत्त** के राजनीति-विषयक रूपक, **कृष्णमिश्र** के दार्शनिक निरूपण, और **कविकर्णपूर-रचित चैतन्यचन्द्रोदय** की भक्तिपरायणता के भी अनुकूल है।

नायक-नायिका की सामाजिक स्थिति मात्र को छोड़ कर अन्य बातों में **प्रकरण** तत्त्वतः नाटक के समान ही है। **मालतीमाधव** और एक नाटक में जो सादृश्य है उसकी अपेक्षा दोनों का भेद कम महत्त्वपूर्ण है। **मृच्छकटिका** प्रकरण के निर्धारित प्रकार से वस्तुतः भिन्न है, किंतु अब यह आश्चर्य की बात नहीं है। कारण स्पष्ट है। उसका आधार **भास** का **चारुदत्त** है जो केवल असाधारण प्रतिभा के नाटककार की कृति ही नहीं है, अपितु उसकी रचना नाट्यशास्त्र की नियामक-शक्ति की प्रतिष्ठा के पूर्व हुई थी। परंतु **नाटिका**, जो प्रकरण की भाँति ही नाटक के समान है, आरंभिक अवस्थान में रूढ़िबद्ध हो गयी, और किसी महत्त्वपूर्ण उद्भावना के लिए अवकाश नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि गीत और नृत्य का आकर्षण अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ जिसके कारण नाटककारों में वस्तुगत मौलिकता लाने की प्रवृत्ति नहीं रही। व्यायोग भी नाटक का ही एक पक्ष या रूप है। **महावीरचरित** और **वेणीसंहार** में अनेक स्थलों पर **भास** के व्यायोग के सदृश रूपकों का भाव प्रतिबिंबित है।

प्रहसन और **भाण** (जिनके अनेक उदाहरण परवर्ती नाटक-साहित्य में पाये जाते हैं) जीवन के निम्नतर तथा अपरिष्कृत पक्ष के चित्रण तक परिसीमित हैं। परंतु बड़ी विचित्र बात है कि वे सामाजिक नाटक के उचित लक्ष्य की प्राप्ति में, अपने समसामयिक समाज की जीवन-पद्धतियों तथा रीति-रिवाजों के जीवंत चित्रण में, सर्वथा असफल रहे हैं। वे नाटककार परंपरा का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं; उनकी रचनाओं में पात्रों के प्रकारों का चित्रण किया गया है, व्यक्तियों का नहीं। दूसरी ओर, शास्त्र-प्रतिपादित अन्य पाँच रूपक-विधाओं **डिम, समवकार, ईहामृग, वीथी** और **उत्सृष्टिकांक** की वस्तुतः कोई प्रचलित परंपरा नहीं पायी जाती। अतएव यह मान लेना असंगत न होगा कि रूपक के ये प्रकार जिस आधार पर निर्मित हुए थे उसमें तथ्य का अंश बहुत कम था, और यह कि शास्त्र कवि-कर्म को नियंत्रित तो कर सकता था किंतु उन नाट्यरूपों में प्राण-संचार नहीं कर सकता था जो स्वयं वस्तुतः सजीव नहीं थे। उत्तरकालीन कवियों ने इन रूपों को कभी-कभी आश्रय दिया है। केवल इस तथ्य से ही नाट्यशास्त्र की प्रबल आप्तता प्रमाणित होती है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि शुद्ध प्रहसन (pure comedy) की रचना का गंभीर प्रयत्न नहीं किया गया; संस्कृत के

प्रहसन और भाण उसके किनारे तक भले ही पहुँच जाते हों किंतु उसके रूप की उपलब्धि कदापि नहीं कर पाते।

अनुमान किया जा सकता है कि परंपरा के प्रबल प्रभाव के कारण संस्कृत-नाटककार त्रासदी (दुःखांत नाटक) की रचना की ओर नहीं प्रवृत्त हुए। यह और बात है कि त्रासदी का अभाव भारतवासियों के बौद्धिक दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन से मेल खाता है। इस बात का दावा किया गया है कि **भास** त्रासदीकार (tragedian) थे, किंतु यह मत तथ्यों की सर्वथा उपेक्षा का परिणाम है। उनके नाटकों में वस्तुतः इस नियम की अवहेलना की गयी है कि रंगमंच पर वध का दृश्य नहीं उपस्थित किया जाना चाहिए, परंतु उनके नाटकों में निहत पात्र पापी हैं जिनका वध उनको दिया गया उचित दंड है। हम लोगों की दृष्टि में **उरुभङ्ग** त्रासद (tragic) हो सकता है, लेकिन उसका कारण यह है कि हम **विष्णु-भक्त** नहीं हैं, वैष्णव लोग **विष्णु-द्रोही** पापी **दुर्योधन** की मृत्यु पर आनंद का अनुभव करते हैं। उसमें कहीं भी करुण रस की प्रतीति नहीं होती। खेद का विषय है कि 'रौद्र' शब्द का प्रायः अर्थ किया गया है—tragic sentiment (करुण रस, त्रासद भाव); यथार्थ यह है कि रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है, और उसमें त्रासदी का तत्त्व नहीं है। वस्तुतः त्रासदी की कल्पना न तो संस्कृत-नाटक के प्रयोग में पायी जाती है और न ही नाट्यशास्त्र में।

भारत की विकसित विचारधारा (जैसी कि उस नाटक-रचना-काल में प्रचलित थी) यूनानी त्रासदी का निर्माण करने वाले तत्त्वों को आत्मसात् नहीं कर सकती थी। यूनानी त्रासदी का स्रोत इस संकल्पना में निहित है कि क्रिया-शील मनुष्य परिस्थितियों से संघर्ष करता है, और अंत में सर्वनाश को प्राप्त होता है, परंतु फिर भी आत्मसंमान पर आँच नहीं आने देता। इस प्रकार की अवधारणा भारतीय विचारधारा के विपरीत थी। उनके अनुसार नियति मनुष्य के बाहर की वस्तु नहीं है; मनुष्य अपने से अलग शक्तियों के अधीन नहीं है; उसने अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के द्वारा स्वयं ही अपने स्वरूप का निर्माण किया है; यदि वह दुःख भोगता है तो वह उसी का पात्र है, वह उसके पापों का प्रतिफल है; और उसके प्रति सहानुभूति अथवा उसकी दशा पर करुणा का अनुभव करना वस्तुतः अकल्पनीय है। अतएव किसी पात्र का वध उसके अपराध का उचित दंड है। रंग-मंच पर वध के दृश्य का निषेध करने वालों ने **भास** की अपेक्षा अधिक परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है। यह दृश्य एक गंभीर नाटक[1] की सुरुचि और शिष्टा-

---

१. मिलाइए—रोम में प्रचलित उत्तरकालीन मत, जिसके अनुसार रंगमंच

चार के उतना ही अनुपयुक्त है जितना कि प्रहसन अथवा भाण के अपरिष्कृत मनोरंजन के अननुरूप है।

११. अरिस्तू और भारतीय काव्यशास्त्र (नाट्यशास्त्र)

यह बात स्वाभाविक है कि भारतीय नाटक का यूनानी मूल सिद्ध करने के प्रयत्न के समकाल में ही अरिस्तू के नाटक-सिद्धांत[1] के प्रति नाट्यशास्त्र की ऋणिता सिद्ध करने का प्रयत्न[2] किया जाता। इसमें संदेह नहीं कि दोनों शास्त्रों में अनेक बातों का सादृश्य है। नाट्यशास्त्र ने कार्यान्विति (unity of action) को सम्यक् मान्यता दी है। एक अंक में वर्णित घटनाएँ एक दिन की अवधि से अधिक की नहीं होनी चाहिएँ—इस नियम का अरिस्तू[3] द्वारा प्रतिपादित कालान्विति (unity of time) से बहुत-कुछ सादृश्य है। जिस प्रकार की समानता देशान्विति (unity of place) के विषय में पायी जाती है उसकी अपेक्षा यह सादृश्य अधिक ध्यान देने योग्य है। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् का सिद्धांत अरिस्तू के अनुकरण (Mimesis) के सिद्धांत से भिन्न नहीं है, परंतु अनुकार्य के विषय में दोनों में तात्त्विक भेद है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार अवस्था की अनुकृति नाट्य है, अरिस्तू के अनुसार कार्य का अनुकरण नाटक है। यह भेद भारतीयों और यूनानियों की भिन्न प्रकृति के सर्वथा अनुरूप है। दोनों ही पद्धतियों में अभिनय को महत्त्व दिया गया है, किंतु अरिस्तू ने नृत्य को गौरव नहीं दिया है। दोनों ने कथानक पर बल दिया है जिसको नाट्यशास्त्र ने नाटक का शरीर माना है। उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में पात्रों का भारतीय विभाजन अरिस्तू द्वारा प्रतिपादित चरित्र-चित्रण के तीन प्रकारों आदर्श, यथार्थ और निकृष्ट के साथ बहुत-कुछ सादृश्य रखता है। अरिस्तू की भाँति ही नाट्यशास्त्र ने पुरुष-पात्रों और स्त्री-पात्रों के भेद का अनुभव किया

पर मृत्यु का प्रदर्शन वर्जित है, Horace, Ars Poetica, 183ff.; Aristotle, Poetics, 1452b 10ff. (जिसमें रंगमंच पर वध आदि कार्यों के प्रस्तुतीकरण का समर्थन किया गया है).

१. Poetics, 1449b sq. (Butcher के अनुवाद और Bywater की टिप्पणी के साथ).

२. M. Lindenau, Festschrift Windisch. pp. 38ff.

३. Poetics, 1449b 13. कालिदास के नाटकों में काल-विश्लेषण के लिए देखिए—Jackson, JAOS. xx. 341-59; हर्ष के नाटकों में, xxi. 88-108.

है। नाट्यशास्त्र ने नाटक में संघर्ष की आवश्यकता को, और करुण रस एवं **विद्रव** नामक संध्यंग में करुणा तथा भय के भावों को मान्यता दी है। अरिस्तू के **काव्यशास्त्र** (poetics) की भाँति **नाट्यशास्त्र** ने अभिनेता और सामाजिक के मन में उद्‌बुद्ध भावों के संबंध पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। दोनों ने अर्थसूचक नामों का उपयोग स्वीकार किया है, और शैली के भाषा-संबंधी पक्ष का निरूपण किया है।

यूनानी प्रभाव के अन्य तत्त्वों का भी अनुमान किया जा सकता है। **नाट्यशास्त्र** में प्रेक्षागृह के वर्णन में **सालभञ्जिका** का उल्लेख मिलता है; ऐसा प्रतीत होता है कि उसका ग्रहण यूनानी caryatides (पुत्तलिकाओं या परी-खंभों) से किया गया है। **भाण** का आधार यूनानी Mime (स्वाँग) हो सकता है। **नाट्यशास्त्र** में एक स्थल पर यवनों का वस्तुतः उल्लेख किया गया है। विट के वर्णन से सूचित होता है कि वह यूनानी parasite (परजीवी) से लिया गया है। परंतु साक्ष्य के इन उदाहरणों को उधार के विषय में निर्णायक प्रमाण मानना असगत है। वस्तुतः इस संबंध में भी हमें पहले की-सी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यदि भारत ने यूनान से उधार लिया हो तो प्रतिभाशाली भारतीय लेखक यह जानते थे कि उधार ली गयी वस्तु को किस प्रकार चतुराई से नये साँचे में ढाला जाए और सफलता के साथ अनुकूल बना लिया जाए जिससे ऋणिता सिद्ध करने वाले चिह्नों का पता ही न चले। इसमें संदेह नहीं कि पूर्वोक्त सभी उदाहरणों में सादृश्य है, किंतु ऐसा तात्त्विक भेद भी है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय सिद्धांत का स्वतंत्र विकास कम-से-कम उतना ही संभाव्य था जितना कि उसका यूनान से ऋण-ग्रहण ।

: १४ :

भारतीय रंगशाला

१. प्रेक्षागृह

नाट्यशास्त्रियों द्वारा निरूपित संस्कृत-नाटक, अपनी जटिलता के बावजूद तत्वतः अभिनेय नाटक है। इस विषय में भी कोई संदेह नहीं है कि प्रारंभिक नाटककारों ने केवल पाठ्य नाटकों की रचना कदापि नही की थी। निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वे नाट्य-कृतियों को उत्कर्ष प्रदान करने वाली कलाओं नृत्य वाद्य, गीत और अभिनय के कुशल पारखी थे। उदाहरण के लिए **विक्रमोर्वशी** में संगीति-नाट्य की पर्याप्त रमणीयता है, और केवल साहित्यिक कृति के रूप में उसकी उत्कृष्टता बहुत कम है।

दूसरी ओर, नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों से अनुमान होता है कि नाटकों के प्रदर्शन के लिए स्थायी प्रेक्षागृह नहीं थे। यह बात स्पष्ट है कि नाटक का अभिनय सामान्यतः किसी हर्षोल्लास और धार्मिक पर्व के अवसर पर किया जाता था; जैसे—किसी देवता का महोत्सव, राजकीय विवाह अथवा विजयोत्सव। इस प्रकार स्वभावतः किसी देवता के मंदिर अथवा राजप्रासाद में अभिनय की योजना की जाती थी। नाटकों और कथाओं से प्रायः ज्ञात होता है कि राजप्रासाद में नृत्यशालाएँ एवं संगीत-कक्ष थे जिनमें अंतःपुर की स्त्रियों को इन ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। उनमें से किसी को भी सरलता से नाटकीय प्रयोग के अनुकूल बनाया जा सकता था। परंतु दूसरी शताब्दी ई० पू० की एक गुफा का अवशेष मिला है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि नाटक के अभिनय के लिए नहीं तो कविता-पाठ या इस प्रकार के किसी अन्य कार्य के लिए उसका उपयोग किया जाता था। वह गुफा छोटा नागपुर में रामगढ़ पर्वत[1] की है। यद्यपि नाटक के अभिनय के साथ उसका संबंध सिद्ध करना सर्वथा असंभव है, तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाट्य-शास्त्र के कथनानुसार प्रेक्षागृह पर्वतीय गुफा की आकृति वाला और दोतल्ला होना चाहिए।

नाट्यशास्त्र[1] के अनुसार अभिनय के लिए निर्मित प्रेक्षागृह तीन प्रकार का हो सकता है। पहला (**ज्येष्ठ**) प्रेक्षागृह देवताओं के लिए होता है। उनकी लंबाई १०८ हाथ होती है। दूसरा (**मध्यम**) आयताकार होता है। उसकी लंबाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती है। तीसरा (**कनीय**) त्रिभुजाकार होता है जिसकी लंबाई ३२ हाथ होती है। ध्वनि के आधार पर (पाठ्य और गेय के सुखश्रव्य होने के कारण) दूसरा प्रेक्षागृह प्रशस्त है। संपूर्ण रंगशाला के दो भाग हैं—**प्रेक्षकोपवेश** (दर्शकों के बैठने का स्थान) और **रंगपीठ** (रंगमंच)। प्रेक्षकोपवेश (दर्शक-कक्ष) में स्तंभों की स्थापना की जाती है। श्वेत स्तंभ के सामने ब्राह्मणों के बैठने का स्थान होता है। उसके बाद लाल स्तंभ क्षत्रियों के लिए होता है। पश्चिमोत्तर भाग में पीले स्तंभ के पास वैश्यों के बैठने का स्थान रहता है। उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिए नीला स्तंभ होता है। बैठने के आसन लकड़ी और ईंटों के बने होते हैं। वे पंक्तिबद्ध कर के रखे जाते हैं। दर्शक-कक्ष के सामने रंगपीठ के पास **मत्तवारणी** (veranda) होती है जिसमें चार खंभे होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेक्षकों द्वारा भी उसका उपयोग किया जाता था। दर्शक-कक्ष के सामने नाना प्रकार के चित्रों एवं उच्चित्रों (reliefs) से अलंकृत रंगपीठ होता है। मध्यम वर्ग के प्रक्षागृह का रंगपीठ आठ हाथ लंबा और आठ हाथ चौड़ा होता है। रंगपीठ के अंत में **रंगशीर्ष** होता है जो सालभंजिकाओं (पुत्तलिकाओं) से अलंकृत रहता है। वहीं पर पूजा की जाती है।[2]

रंगपीठ के पीछे[3] चित्रित **यवनिका** (पटी, अपटी, तिरस्करिणी, प्रतिसीरा) होती है। उसे 'यवनिका' (प्राकृत, जवनिका) नाम दिया गया है जो केवल इस बात का सूचक है कि उसके उपादान का बाहर से आयात हुआ है। उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलना चाहिए कि यवनिका अथवा प्रेक्षागृह का मूल-स्रोत यूनान है।

---

१. N. ii; मिला कर देखिए— JPASB. v. 353ff; **शिल्परत्न** (ed. TSS.), pp. 201ff. मिला कर देखिए—**काव्यमीमांसा**, p. 54.

२. यूनानी नाट्यशाला (जिसमें कतिपय सादृश्य की, किंतु बहुत-सी भिन्नता की, बातें पायी जाती हैं) के लिए देखिए—Dorpfeld, Das griechische Theater; Haigh, Attic Theatre (3rd ed.); Norwood ने संक्षिप्त सारांश दिया है, Greek Tragedy, pp. 49ff.

३. तिरस्करिणी-विषयक मत (Wilson, I. lxviii) की पुष्टि किसी प्रकार के स्पष्ट प्रमाण द्वारा नहीं होती.

जब कोई पात्र सहसा प्रवेश करता है तब यवनिका वेग से हटा दी जाती है, इसको अपटीक्षेप कहते हैं। यवनिका के पीछे नेपथ्यगृह होता है। यहीं से होहल्ला और कोलाहल सूचित करने के लिए आवश्यक शब्द किये जाते है। जिन पात्रों की रंगमंच पर उपस्थिति असंभव या अवांछनीय है उनके तथा देवताओं के वचनों की अनुकृति भी यहीं से की जाती है।

यवनिका के रंग के विषय में कतिपय आचार्यों का कथन है कि वह नाटक के अंगी रस के अनुरूप नियमतः होना चाहिए, जैसा कि विभिन्न रसों के वर्गीकरण के प्रसंग में बतलाया जा चुका है। परंतु अन्य आचार्यों के अनुसार प्रत्येक स्थिति में लाल रंग का प्रयोग किया जा सकता है। सामान्यतः दो युवतियों द्वारा यवनिका खिंचवा कर पात्र का प्रवेश कराया जाता है। अपनी सुंदरता के कारण वे इस कार्य में नियुक्त की जाती हैं। 'नेपथ्य' शब्द के आधार पर रंगपीठ और नेपथ्य-गृह की सापेक्ष ऊँचाई के विषय में गलत निष्कर्ष निकाला गया है। यह बात समझ में आने योग्य है कि 'नेपथ्य' निपथ (नीचे जाने वाले मार्ग) का द्योतक है। इससे यह निष्कर्ष[1] निकाला गया है कि नेपथ्यगृह का तल रंगपीठ के स्तर से नीचा होता था। परंतु रंगमंच पर अभिनेता के प्रवेश के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय शब्द 'रंगावतरण' इसके ठीक विपरीत अर्थ का सूचक है—नेपथ्यगृह से रंगमंच पर अवतरण (उतरना)। प्रायः अस्थायी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही शीघ्रता के साथ रंगमंच का निर्माण किया जाता था। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में किसी स्थायी पद्धति की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि रंग-पीठ की सामान्य ऊँचाई क्या हुआ करती थी। राजशेखर के बालरामायण के अंतर्गत निबद्ध गर्भांक से विदित होता है कि रंगमंच और नेपथ्यगृह दोनों ही मूल रंगपीठ पर बनाये गये थे। हाँ, यह माना जा सकता है कि इनकी बनावट बहुत सादी और सरल थी।

रंगमंच से नेपथ्यगृह में जाने के लिए दो[2] द्वारों का उल्लेख नियमतः पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वादक-वृंद का स्थान उनके बीच में था।

---

१. Weber. IS. xiv. 225. मिला कर देखिए—Lévi. TI. i. 374; ii. 62.

२. यूनान में उनकी संख्या तीन थी, आगे चल कर पांच। चीनी रंगमंच में (जिसका आरंभिक स्वरूप भारतीय रंगमंच के सदृश है, किंतु यवनिका का प्रयोग नहीं पाया जाता) दो द्वारों का उल्लेख मिलता है, एक प्रवेश के लिए और दूसरा बाहर जाने के लिए; Ridgeway, Dramas, etc., pp. 271f.

२. नट (अभिनेता)

अभिनेता के लिए 'नट' शब्द का सामान्यतः प्रयोग किया गया है। यह शब्द अपने विस्तृत अर्थ में **नर्तक** और **बाजीगर** का भी वाचक है। **भरत, भारत, चारण**[1], कुशीलव, शलूष अथवा **शौभिक** आदि शब्द वस्तुतः नाटक के इतिहास की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। **सूत्रधार** मुख्य अभिनेता है। 'सूत्रधार' शब्द से सूचित होता है कि वह मूलतः रंगशाला का शिल्पी है जो अस्थायी रंगमंच का निर्माण करता है। कभी-कभी उसे '**नटग्रामणि**'[2] (नट-समुदाय का मुखिया) कहा गया है। वह वस्तुतः अन्य अभिनेताओं को नाट्यकला की शिक्षा देने वाला **नाट्याचार्य** है। इस प्रकार उसकी 'सूत्रधार' उपाधि का प्रयोग प्रकरणानुसार 'आचार्य' (professor) के तुल्य किया जा सकता है। इस उच्च पद के अनुरूप उसमें अनेक गुणों का होना अपेक्षित है। उसे सभी कलाओं तथा शास्त्रों का पंडित और सभी देशों के रीति-रिवाजों से परिचित होना चाहिए। उसमें शास्त्रीय ज्ञान और व्यावहारिक कुशलता का समन्वय होना चाहिए। उसे भारतीय आदर्शों के अनुसार परिगणित सभी नैतिक गुणों से संपन्न होना चाहिए। उसे केवल नाटक की प्रस्तावना का महत्त्वपूर्ण कार्य ही नहीं निभाना पड़ता, अपितु कोई-न-कोई मुख्य भूमिका भी ग्रहण करनी पड़ती है। इस प्रकार वह **रत्नावली** में **वत्स** की भूमिका अदा करता है, और **मालतीमाधव** में **कामंदकी** की, जिसने रूपक की धारा को अत्यंत प्रभावित किया है। वह सामान्यतः किसी **नटी** का पति होता है जो नाटक की प्रस्तावना में उसकी सहायता करती है। नटी को, बेचारी स्त्री को, एक अभिनेत्री के कठोर जीवन के साथ ही अपने पति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की देख-रेख का उत्तरदायित्व भी सँभालना पड़ता है। वह पतिव्रता के रूप में अंकित की गयी है, जो अगले जन्म में अपने पति को पुनः पाने के लिए व्रत करती है। वह उसके लिए भोजन बनाती है, अपने सत्प्रयत्नों से उसके ऊपर आने वाली आपत्तियों का निराकरण करती है, और उद्विग्न होने पर भी उसे अभिनय करना पड़ता है—जैसे **रत्नावली** में (जहाँ उसकी उद्विग्नता का कारण यह है कि देशांतर में स्थित वर के साथ उसकी कन्या का विवाह संपन्न करने में बड़ी कठिनाई है), अथवा **जानकी-परिणय** में (जहाँ उसकी व्यग्रता का कारण यह है कि कोई दुष्ट अभिनेता उसकी पुत्री को उससे अलग करना चाहता है)।

---

१. W. Crooke, The Tribes and Castes of the N. W. Provinces and Oudh, ii. 20 ff.

२. Hillebrandt. AID., p. 12; मिला कर देखिए—नटग्राम Epigr. Ind. i. 381.

नाट्य-शास्त्र के अनुसार **स्थापक** को गुण और रूप में सूत्रधार के अनुरूप होना चाहिए। यह कहना कठिन है कि उपलब्ध नाटकों में सूत्रधार से भिन्न रूप में उस का वस्तुतः कहाँ तक नियोजन किया जाता था। इस विषय की चर्चा पहले की जा चुकी है। 'स्थापक' नाम से सूचित होता है कि वह रंगमंच के निर्माण में सूत्रधार की सहायता करता था, और फिर अभिनय के कार्यों में। परंतु यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि आभिजात्य संस्कृत-नाटक के पूर्व ही उसके जीवंत रूप का वास्तव में लोप हो गया था। यदा-कदा वास्तविक नाटकों में तथा नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में उसके उल्लेख को काल्पनिक नहीं समझना चाहिए। परंतु सूत्रधार के अधिक सामान्य अनुचर के रूप में **पारिपार्श्विक** का चित्रण किया गया है। वह अनेक रूपकों के आमुख में दृष्टिगोचर होता है, और उसके अतिरिक्त मध्यम पात्रों की भूमिका भी ग्रहण करता है। वह सूत्रधार के आदेशों को अन्य अभिनेताओं तक पहुँचाता है, और उसके निर्देशन में संगीत का प्रवर्तन होता है, जैसे—**वेणीसंहार** में। सूत्रधार उसको **मार्ष** कह कर संबोधित करता है, और वह सूत्रधार को **भाव** कह कर।

अन्य अभिनेताओं में भी यथासंभव सूत्रधार के समान गुणों का होना वांछनीय है। अनेक पात्र ऐसे होते हैं जो जनसमूह के साथ अभिनय में भाग लेते हैं। नाना प्रकार के पात्रों को उनके शील और गुण के अनुसार तीन वर्गों में रखा गया है—उत्तम, मध्यम और अधम।[१] परंतु, किसी भी नाटक में प्रधान भूमिकाएँ बहुत थोड़ी होती हैं; नायक, विदूषक, विट, नायिका और उसकी एक सखी ये रूढ़िबद्ध प्रमुख पात्र हैं। वास्तविक प्रयोग (अभिनय) के विषय में अधिकांश जानकारी का विवरण प्रस्तुत करने वाली प्रस्तावनाओं में भूमिकाओं के वितरण का उल्लेख कभी-कभी ही किया गया है। **रत्नावली** तथा **प्रियदर्शिका** में सूत्रधार **वत्स** की भूमिका अदा करता है, उसका छोटा भाई रत्नावली में **यौगन्धरायण** की और **प्रियदर्शिका** में **दृढवर्मा** की; **मालतीमाधव** में सूत्रधार और पारिपार्श्विक क्रमशः **कामंदकी** तथा **अवलोकिता** की भूमिका अदा करते हैं। पुरुषों के द्वारा स्त्रियों की भूमिका ग्रहण करना किसी भी प्रकार नियमित प्रथा नहीं है; सामान्यतः नटी किसी महत्त्वपूर्ण नारी-पात्र की भूमिका ग्रहण करती है।[२] **प्रियदर्शिका** के गर्भांक में हम देखते हैं कि नायिका की भूमिका आरण्यका अदा करती है, और नायक का अभिनय एक अन्य युवती **मनोरमा** को करना था; किंतु रानी के अनजान में ही राजा ने उस दृश्य में अपने को साक्षात् प्रस्तुत कर

---

१. xxiv 83f.

२. मिला कर देखिए—**कर्पूरमञ्जरी**, i. 12-13.

दिया। भरत ने लक्ष्मीस्वयंवर का जो प्रयोग किया था उसके उपाख्यान में बतलाया गया है कि अप्सरा उर्वशी ने नायिका की भूमिका ग्रहण की थी। दामोदरगुप्त के कुट्टनीमत में रत्नावली के अभिनय का वर्णन मिलता है; उससे विदित होता है कि राजकुमारी की भूमिका किसी स्त्री द्वारा ग्रहण की गयी थी। नाट्यशास्त्र[1] ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि प्रतिरूपण के तीन प्रकार हो सकते हैं—१. जिसमें अभिनेत्रियाँ और अभिनेता लिंग तथा आयु के अनुसार भूमिका ग्रहण करते हैं, अर्थात् अभिनेत्रियाँ नारियों का एवं अभिनेता पुरुषों का अभिनय करते हैं; २. जिसमें बालक वृद्ध की और वृद्ध बालक की भूमिका ग्रहण करते हैं; ३. जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों की और पुरुष स्त्रियों की भूमिका ग्रहण करते हैं। बड़ी विलक्षण बात है कि पुरुषों द्वारा स्त्रियों की भूमिका ग्रहण किये जाने के विषय में एक बहुत प्राचीन साक्ष्य उपलब्ध है, क्योंकि महाभाष्य ने नारी का अभिनय करने वाले पुरुष के लिए प्रयुक्त 'भ्रू कुंस' शब्द का उल्लेख किया है।[2]

स्पष्टतया अनुमान किया जा सकता है कि सूत्रधार के नेतृत्व में नटों की मंडली अपनी व्याख्यान-शक्ति के प्रदर्शन के अनुकूल अवसर की खोज में इधर-उधर घूमा करती थी। स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाटक का अभिनय (कम-से-कम परवर्ती काल में) किसी धार्मिक पर्व, राजा के राज्याभिषेक, विवाह, नगर या राज-संपत्ति के स्वायत्तीकरण, यात्री के प्रत्यागमन और पुत्र-जन्म आदि के आनंदप्रद अवसरों पर शोभा-वृद्धि का उपयुक्त साधन समझा जाने लगा। नटों के सर्वोत्तम संरक्षक (आश्रयदाता) राजा थे, परंतु राजाओं से निम्न श्रेणी के किंतु संपन्न लोगों के बीच भी उनके गुणग्राहकों की कमी नहीं थी। पश्चात्कालीन नाटकों की प्रस्तावनाओं से विभिन्न नट-मंडलियों के बीच चलने वाली प्रतिस्पर्धा का विवरण प्राप्त होता है। अनर्घराघव की प्रस्तावना में नट बतलाता है—मैं किसी प्रतिस्पर्धी द्वारा अभिनीत नाटक की तुलना में उत्कृष्टतर नाटक का अभिनय करने जा रहा हूँ। उसका कथन है कि सामाजिकों की परितुष्टि और उनकी खोयी हुई प्रीति को वापस लाना ही रंगोपजीवी नट का सर्वा य कर्त्तव्य है। राजशेखर ने इस अभिप्राय का दो बार संनिवेश किया है कि एक नटी का (जिसका विवाह उसका पिता उसके निपुणतम प्रेमी से करना चाहता है) पाणिग्रहण करने के लिए नटों में परस्पर स्पर्धा होती है। जयदेव ने एक नट की मनोरंजक कहानी की कल्पना की है जिसने बड़ी सफलता और ख्याति प्राप्त की थी। उससे प्रभावित हो कर एक दाक्षिणात्य नट ने अपने को उसी नाम (गुणाराम) और ख्याति (रंग-

---

१. xxvi. मिला कर देखिए—xii. 166f. २. Weber, IS. xiii. 493.

विद्याधर) का अभिनेता कहना आरंभ किया। उस नट (गुणाराम) ने इसके प्रतिशोध के लिए दक्षिण की यात्रा की, और एक गायक के साथ मैत्री कर के दाक्षिणात्य राजाओं के दरबारों में यश और धन प्राप्त किया।

समाज में नटों और नटियों की ख्याति निकृष्ट तथा अरुचिकर थी। प्रसिद्ध है कि नट लोग अपनी स्त्रियों का सतीत्व बेच कर जीविकोपार्जन करते थे। इसीलिए उन्हें 'जायाजीव' या 'रूपाजीव' कहा गया है। मनु ने नटियों के साथ अनैतिक संबंध रखने वालों के लिए बहुत मामूली दंड की व्यवस्था की है, क्योंकि नट स्वेच्छा से अपनी पत्नियों को दूसरों के हाथों में अर्पित कर देते थे और उनके इस आचरण से लाभ उठाते थे।[1] इसी प्रकार की स्पष्टता के साथ **महाभाष्य** में भी साक्ष्य मिलता है कि नटियों (अभिनेत्रियों) में सतीत्व की कमी थी।[2] **विष्णु**[3]-स्मृति में रंगोपजीवियों को '**आयोगव**' कहा गया है। 'आयोगव' का तात्पर्य है—शूद्र और वेश्या के अनुचित तथा अवांछनीय संबंध के फलस्वरूप उत्पन्न वर्ण-संकर संतान। **बौधायन**-स्मृति[4] में नट या नाट्याचार्य होना अपेक्षाकृत छोटा पाप माना गया है। **कुशीलव** का शूद्र के रूप में वर्णन किया गया है जिसको निर्वासित कर देना चाहिए।[5] उसका और वस्तुत: किसी भी नट का साक्ष्य न्यायालय में स्वीकार्य नहीं है।[6] ब्राह्मण को किसी नट के द्वारा दिया गया अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए।[7] यह तथ्य **मृच्छकटिका** की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा प्रमाणित है—उसे **उज्जयिनी** में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता जो उसका आतिथ्य ग्रहण करे। **मनु** ने नटों को भी मल्लों तथा मुष्टियोद्धाओं के वर्ग में रखा है। नटी (आवश्यक रूप से न सही) प्राय: रूपाजीवा (वेश्या) होती थी। **चारुदत्त** एवं **मृच्छकटिका** की गणिका **वसंतसेना** स्वयं अभिनय में निपुण थी, और उसके यहाँ अभिनय सीखने वाली युवतियाँ भी थीं। **दशकुमारचरित** में दंडी ने गणिकाओं की पूर्ण शिक्षा के विवरण में नाट्य-कला का भी समावेश किया है।

दूसरी ओर, अभिनय-वृत्ति के उत्कृष्ट पक्ष के लक्षण भी पाये जाते हैं। इस तथ्य का संबंध असंदिग्ध रूप से और औचित्यपूर्वक नाटक के क्रमिक उन्नयन के साथ जोड़ा जा सकता है। मूल रूप में निकृष्ट नाटक क्रमश: कलात्मक और परिष्कृत काव्य के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। **नाट्यशास्त्र** के कथित प्रवर्तक **भरत**

---

१. viii. 362., मिला कर देखिए—**रामायण**, ii. 30 8.; **कुट्टनीमत**, 855.

२. vi. 1. 13. ३. xvi. 8. ४. ii. 1. 2. 13.

५. **कौटिलीय**, p. 7. ६. मनु०, viii. 65; याज्ञ०, ii. 70.

७. मनु० iv. 215; याज्ञ० i. 161.

को मुनि का पद दिया गया है, और देवलोक की अप्सरा उर्वशी एक नटी के रूप में वर्णित है। उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर्षचरित में बाण ने निश्चित रूप से एक नट और एक नटी की गणना अपने मित्र-वर्ग में की है। भर्तृहरि[1] ने राजाओं के साथ अभिनेताओं की मैत्री का उल्लेख किया है। यह बात कालिदास-रचित मालविकाग्निमित्र के नायक अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र के उपाख्यान से प्रमाणित है जो अपने अभिनेताओं के बीच शत्रु द्वारा मारा गया था। कालिदास ने रघुवंशी राजा अग्निवर्ण का चित्रांकन करते हुए बतलाया है कि वह नाट्य-कला में (प्रयोग-निपुण) नटों से होड़ करता था। प्रियदर्शिका में वत्स अभिनय करने के लिए असंदिग्ध रूप से उद्यत है। भवभूति ने अपने दो रूपकों की प्रस्तावनाओं में नटों के साथ अपनी मैत्री का उल्लेख किया है। वस्तुतः, भवभूति के पद्यों का सफलता के साथ वाचिक अभिनय करने वाले अभिनेता (नट) अवश्य ही बहुत सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत रहे होंगे। वे उन बाजीगरों, जादूगरों और नर्तकों आदि से बहुत भिन्न रहे होंगे जिनके निकृष्ट व्यवसाय के कारण स्मृतियों एवं अर्थशास्त्र ने उनकी निंदा की है।

३. नाटक की दृश्य-सज्जा और अभिनय

अभिनय के साथ अपेक्षित दृश्य-सज्जा के विषय में नाटककारों ने कोई निर्देश नहीं दिया है। यवनिका ही आदि से अंत तक पृष्ठभूमि का कार्य करती थी। किसी स्थिति की सुंदरताओं की संकल्पना प्रेक्षकों की प्रतिभा पर छोड़ दी दी जाती थी। कवि द्वारा किये गये वर्णन की सहायता से प्रेक्षक अपने समक्ष प्रस्तुत्य रमणीय-दृश्यों की कल्पना कर लिया करता था। यदि शास्त्र-ग्रंथों के मौन के अतिरिक्त किसी प्रमाण की आवश्यकता हो तो इस बात का निर्णायक प्रमाण नाटकों में दिये गये रंग-निर्देशों में द्रष्टव्य है। ये रंग-निर्देश (अभिनय-निर्देश) अश्वघोष के नाटक के खंडित अंशों में भी उपलब्ध हैं। जब किसी नटी के द्वारा पौधे सींचने आदि कार्यों का अभिनय कराना होता था तब रंगमंच पर पौधे को लाने और सिचाई का कार्य वस्तुतः संपन्न कराने का प्रयत्न नहीं किया जाता था; इसके विपरीत, नटी पौधे सींचने की प्रक्रिया की अनुकृति मात्र प्रस्तुत करती थी और उसका यह अभिनय सामाजिकों को परितुष्ट करने के लिए पर्याप्त था। राजा रथ पर सवार हो सकता है, परंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रंगमंच पर रथ को ले आने का प्रयत्न नहीं किया जाता; वह भूतल से उठने की चेष्टा के

---

१. iii. 57.

द्वारा कलात्मक ढंग से रथ पर सवार होने का स्वांग मात्र करता है, और सहृदय तथा बुद्धिमान् सामाजिक इस बात की प्रतीति कर लेता है कि वह रथ पर सवार हो गया है। **शकुन्तला** नाटक के आरंभ में **दुष्यंत** जिस मृग का पीछा करता है वह वास्तविक मृग नहीं है, किंतु सूत्रधार हमें बतलाता है कि राजा मृग का पीछा कर रहा है, और राजा की भूमिका ग्रहण करने वाला अभिनेता अपनी बँधी हुई दृष्टि तथा अंगहार (मुद्रा) से ऐसा अभिनय करता है मानो वह मृग पर प्रहार कर रहा हो। रंगमंच पर फूल चुनना वस्तुतः फूल चुनने वाले व्यक्ति की चेष्टा का अनुकरण मात्र है। एक कुशल अभिनेत्री बिना किसी कठिनाई के आवेग-सूचक अनुभावों द्वारा सामाजिकों को इस बात की प्रतीति करा सकती है कि वह भौंरे के आक्रमण से बचने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार, यथार्थवाद के प्रति कोई श्रमसाध्य प्रयत्न नहीं किया गया है। यह दूसरी बात है कि रूढ़ि का निर्वाह करते हुए नाटककारों ने हास्यास्पदता (असंगति) से बचने का प्रयास किया है। इस विषय में कोई अधिक सावधान है, कोई कम। सामाजिकों की विश्वासशीलता पर बहुत बोझ डालने की प्रवृत्ति की अतिशयता भास की कृतियों में निस्संदेह पायी जाती है। पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण प्रायः सहसा एवं अस्वाभाविक ढंग से होता है, परंतु घटनाओं की यथार्थवत् प्रतिकृति प्रस्तुत करना नाटक का प्रमुख उद्देश्य नहीं था, सामाजिक असंदिग्ध रूप से इस बात को असंतोषजनक नहीं मानते थे। यह भी स्मरणीय है कि किसी भी प्रकार के समारोह में उसके भिन्न-भिन्न अंगों की निष्पन्नता ने भारतीयों के मन को कभी मुग्ध नहीं किया है; अत्यंत शानदार समारोहों में पाश्चात्य सुरुचि और लालित्य से भिन्न ऐसी विचित्र बातें मिलेंगी जो उनके मन में विस्मय या टीका-टिप्पणी की कोई भावना नहीं उद्दीप्त करती।

परंतु, सीमित रूप में कुछ गौण रंगमंचीय-सामग्री भी प्रयुक्त होती थी जिसे 'पुस्त'[1] का सामान्य नाम दिया गया है। (भरत ने पुस्त का उल्लेख चतुर्विध नेपथ्य के प्रसंग में किया है।) नाट्यशास्त्र में पुस्त के तीन भिन्न रूप बतलाये गये हैं—१. संधिम, बांस से निर्मित और चर्म अथवा वस्त्र से आच्छादित; २. व्याजिम, यंत्रों की सहायता से निष्पन्न; ३. वेष्टिम, जिसमें केवल वस्त्रों का प्रयोग किया गया हो। उदयनचरित में हाथी की रचना का उल्लेख मिलता है;

मृच्छकटिका के नामकरण का आधार उसमें दिखलायी गयी मिट्टी की गाड़ी है; **वालरामायण** में यंत्र-चालित गुड़ियाँ पायी जाती हैं। इस बात में संदेह नहीं है कि रंगमंच पर घरों, गुफाओं, रथों, चट्टानों, घोड़ों आदि का भी प्रतिरूपण किया जाता था। अनेक भुजाओं तथा पशुओं के शिरों वाले दानव संभवतः मिट्टी तथा वाँस से वनाये जाते थे और उन्हें वस्त्रों से आच्छादित कर दिया जाता था। स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि शस्त्रों की रचना कठोर उपादानों से नहीं की जानी चाहिए, बल्कि उनको बनाने के लिए घास-फूस, बाँस और लाख का प्रयोग करना चाहिए। यह बात सर्वथा स्वाभाविक है कि प्रबल प्रहारों के स्थान पर अंग-विक्षेप मात्र से काम चलाया जाता था।

अभिनेताओं की वेष-भूषा[1] का व्यवस्थित विधान किया गया है। रंग पर विशेष ध्यान रखा गया है, क्योंकि रस के विषय में वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व समझा जाता था। तापस लोग चीर और वल्कल धारण करते हैं, अंतःपुर में नियुक्त पुरुष काषाय-कंचुकी; राजा **चित्र**-वेष धारण करता है, अथवा (यदि अपशकुन आदि का वर्णन किया जा रहा हो तो) केवल **शुद्ध** वेष। आभीर-युवतियाँ नीले वस्त्र पहनती हैं, अन्य स्थितियों में **मलिन** और सादे वस्त्रों का विधान है। **मलिन** वेष उन्माद, वियोग, दुःख, यात्रा आदि का सूचक है। **शुद्ध** (सादा) वेष पूजा अथवा धर्म में प्रवृत्त व्यक्ति के उपयुक्त है। दानव, उरग, गंधर्व, यक्ष और राक्षस तथा प्रेमी और राजा चित्र-वेष धारण करते हैं।

रंग[2] की बात केवल वस्त्रों तक ही सीमित नहीं है। अभिनेताओं को ग्रहण की गयी भूमिका के अनुरूप वर्णों की रचना से अलंकृत होना चाहिए। एक मत के अनुसार चार **स्वभावज** (मूल) वर्ण हैं—श्वेत, नील, पीत और रक्त। अन्य वर्ण इनके संयोग से उत्पन्न (**संयोगज**) होते हैं, उदाहरण के लिए—श्वेत और नील के संयोग से कपोत-वर्ण, पीत और रक्त के संयोग से गौर-वर्ण उत्पन्न होता है। गौर अथवा श्याम वर्ण राजाओं के अनुरूप है, और आनंद का सूचक है। किरातों, बर्बरों, आंध्रों, द्रविड़ों, काशी-कोसल-वासियों, पुलिंदों और दाक्षिणात्यों का वर्ण असित (काला) होना चाहिए। शक, यवन, पह्लव और वाह्लिक[3] गौर वर्ण के माने गये हैं। पांचाल, शूरसेन, माहिष, उड्र, मागध, अंग, वंग और कलिंग

---

१. N. xxi.

२. N. xxi. 62ff.; Lévi, TI. i 388; ii. 69. मिला कर देखिए—**महाभाष्य**, iii. 1. 26; **याज्ञवल्क्य**, iii. 162.

३. 'पाह्लव' और 'वाह्लिक' पाठ भी है, मिला कर देखिए—**काव्यमीमांसा**, pp. 96f.

श्याम होते हैं। वैश्यों तथा शूद्रों का वर्ण श्याम, और ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का वर्ण गौर होना चाहिए।

केश[1] स्वभावतः ध्यानाकर्षक होता है। पिशाच, उन्मत्त और भूत लंबकेश होते हैं। विदूषक खल्वाट होता है। बालक तीन शिखाएँ रखते हैं, और यदि मुंडित न हों तो चेट भी। अवंती और सामान्यतः गौड देश की युवतियों के कुंतल अलक-युक्त (घुंघराले) होते हैं; उत्तर की स्त्रियों के सिर पर उठा हुआ जूड़ा होता है; अन्य स्त्रियाँ सामान्य प्रचलित रीति के अनुसार वेणी धारण करती हैं। मूँछ-दाढ़ी (श्मश्रु) शुक्ल वर्ण की, श्याम अथवा रोमश (bushy) हो सकती है। इसी प्रकार, विभिन्न पात्रों तथा गृहीत मालाओं, और लाख, अभ्रक अथवा ताँबे के बने हुए आभूषणों को रूढ़िबद्ध करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। विद्याधरियाँ, यक्षिणियाँ, अप्सराएँ और नागबालाएँ मुक्ता-मणि धारण करती हैं। यक्षिणियों के सिर पर रची गयी शिखा और नागबालाओं के सिर पर उठे हुए फण उनकी तत्काल पहचान करा देते हैं।

अभिनेताओं का नेपथ्य-विधान उनके अभिनय-कार्य के संपादन में, अनुकार्य पात्रों की अवस्थाओं को प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करने में, बहुत-कुछ सहायक सिद्ध होता है। यह आहार्याभिनय है, जो नाट्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित चार प्रकार के अभिनयों में से एक है। वह (अभिनेता) वाचिक अभिनय के द्वारा भी अपने कार्य को संपन्न करता है, नाटककार की उक्तियों के संप्रेषण के लिए वाणी का प्रयोग करता है। वह मूल पात्रों के भावों तथा भावनाओं के अनुरूप सात्त्विक भावों का अभिनय करता है। यह सात्त्विकाभिनय है। अंत में, अनुकार्य पात्रों के भावों का अनुभव-सा करता हुआ वह उन अनुभूतियों की प्रमुखतया अंग-विक्षेप के द्वारा अभिव्यक्ति करता है। यह आंगिक अभिनय है। इस विषय में नियमों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह बात स्वाभाविक प्रतीत होती है कि परवर्ती काल की अपेक्षा उस युग में आंगिक अभिनय को अधिक महत्त्व दिया जाता था। प्रत्येक अंग का अलग-अलग विवरण दिया गया है। सिर हिलाने, दृष्टिपात करने या भ्रू-संचालन के विशिष्ट प्रकार में गहन अर्थ निहित है। सूक्ष्म अर्थों के संप्रेषण के लिए कपोल, नासिका, ठुड्डी, गर्दन आदि सबका प्रयोग किया जा सकता है। भाव-व्यंजना की दृष्टि से हाथों का अत्यंत महत्त्व है। नाट्यशास्त्र से भली-भांति परिचित प्रेक्षक (अभिनेता की) उँगलियों के कलात्मक संचालन द्वारा संप्रेषित अर्थों को सरलता से ग्रहण कर सकता है। परंतु शरीर के पैर आदि अन्य अंगों

१. N. xxi.

का भी महत्त्व है। अंगों की भंगिमाओं पर विशेष ध्यान दिया गया है, और विभिन्न प्रकार के पात्रों तथा उनके कार्यों का अंतर सूचित करने के लिए चारी (गति) अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। रंगमंच पर कृत्रिम रूप से अंधकार करना आवश्यक नहीं है; अँधेरे में टटोलने का भाव सूचित करने के लिए हाथों और पैरों की गति पर्याप्त है। एक प्रकार के गति-प्रचार से रथ पर चढ़ने का व्यापार सूचित होता है, दूसरे से प्रासाद की छत पर चढ़ने का। यदि वस्त्रों को थोड़ा ऊपर खींच लिया जाए तो नदी पार करने के कार्य का स्पष्ट प्रदर्शन हो जाता है। यदि तैरने के अनुरूप अंग-विक्षेप का अनुकरण किया जाए तो उससे स्पष्टतया सूचित हो जाता है कि नदी जल-विहार के लिए आवश्यकता से अधिक गहरी है। हाथों की गति से हाँकने के कार्य का अभिनय किया जाता है, और उसी प्रकार हाथी या घोड़े पर सवार होने के कार्य का भी अभिनय किया जा सकता है।[1]

भारतीय नाट्यशास्त्र की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि उसमें प्रतिपाद्य विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किये गये हैं तथापि सात्त्विक और आंगिक कहे जाने वाले अभिनय-भेदों के संबंध में अपेक्षित निरूपण की उपेक्षा की गयी है। वास्तविक संबंध यह है कि **सात्त्विक अभिनय** के अंतर्गत भावों तथा अनुभूतियों के अनुरूप शारीरिक अवस्थाओं का निरूपण किया गया है, और **आंगिक अभिनय** के अंतर्गत उन सुनिर्दिष्ट अंग-विक्षेपों का वर्णन है जो रंगमंच पर सुविधापूर्वक प्रस्तुत न की जाने योग्य मानसिक अवस्थाओं एवं शारीरिक चेष्टाओं इन दोनों की अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यंजना करते हैं। अतएव यह विभाजन अवैज्ञानिक है, और **नाट्यशास्त्र** में उसकी जो छान-बीन की गयी है वह कुल मिला कर संतोषजनक नहीं है।

मातृगुप्त ने माला, आभूषण, उपयुक्त वेष आदि (अभिनय के) सहायक तत्त्वों के महत्त्व पर बल दिया है। उन्होंने रस के तीन प्रकार बतलाते हुए **नेपथ्य-रस** को उसका एक विशिष्ट प्रकार माना है। यह तथ्य इस बात का निदर्शक है कि दृश्य-रचना की प्रत्येक सजावट प्रेक्षक के मन पर विशेष प्रभाव डालती है। इसी प्रकार की धारणा नाटकों में दिये गये विस्तृत रंग-निर्देशों से भी बनती है, उदाहरण के लिए—श्री **बर्नार्ड शा** की रचनाओं में। यह बात स्पष्ट है कि नाटकों के वास्तविक अभिनय के संबंध में अभिनेताओं का निर्देशन करना ही इन रंग-निर्देशों का एक मात्र उद्देश्य नहीं था, अपितु उनकी सहायता से नाटक

---

१. मिला कर देखिए—नंदिकेश्वर का **अभिनयदर्पण**, अनु० A. Coomaraswamy और G. K. Duggirala, Cambridge, Mass., 1917.

का पाठक भी उसके अभिनय के रूप की कल्पना कर के अधीत नाटक के नाटकीय गुणों और तदनुरूप रस की अनुभूति कर सकता था। ऐसा स्वतंत्र साक्ष्य भी उपलब्ध है जिसकी सहायता से हम इन निर्देशों की पूर्णता का अनुमान कर सकते हैं। सौभाग्य से आठवीं शताब्दी में काश्मीर के **जयापीड** के शासन-काल में **दामोदरगुप्त** द्वारा लिखित **कुट्टनीमत**[1] में हर्ष-रचित **रत्नावली** के अभिनय का विवरण उपलब्ध है। वह विवरण अधूरा है, परंतु यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि उसका अभिनय संप्रति उपलब्ध नाटिका में पाये जाने वाले रंग-निर्देशों के अनुसार किया गया था।

नाटक के शास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में बतलाया जा चुका है कि नाटक के वास्तविक अभिनय के पहले **पूर्वरंग** की विधि का पालन किया जाता था। उसका मुख्य प्रयोजन अभिनेय नाटक की सफलता के लिए देवता की कृपा प्राप्त करना था। पूर्वरंग के विविध अंगों में से दिक्पालस्तुति और जर्जर (इंद्र-ध्वज) की स्तुति को विशेष महत्त्व दिया जाता था। 'जर्जर' बाँस का एक टुकड़ा होता है जिसमें पाँच पर्व (गाँठ) होते है; उसके पाँच प्रभागों को श्वेत, नील, पीत, लाल और चित्र (मिश्रित) रंगों से रँग दिया जाता है; इन पर्वों के साथ सभी रंगों की ध्वजाएँ बाँध दी जाती हैं। विघ्न-विनाशक तथा वाङ्मय के रक्षक देवता **गणेश** और दिक्पालों की वंदना की जाती है।

रंगों के मिश्रण को भी धार्मिक रूप दिया गया है। (पीत, नील, रक्त आदि) रंगों के उपादान हैं—हरिताल, काजल, लाल रंग के पदार्थ आदि। हरिताल को पहले अभिमंत्रित किया जाता है। इस क्रम में बतलाया जाता है कि वर्ण के रूप में उसके उपयोग के लिए **स्वयंभू** ने उसका निर्माण किया था। फिर हरिताल को ईंट के टुकड़ों के सहित एक पट्टी पर रखा जाता है। उनको पीस कर बारीक चूर्ण बना लिया जाता है और आवश्यकतानुसार मिश्रण कर के उनका उपयोग किया जाता है।[2]

बहुत-से नाटकों में उनके अभिनय का समय नहीं बतलाया गया है; परंतु **मालतीमाधव**, **कर्णसुन्दरी** आदि कतिपय रूपकों तथा **प्रियदर्शिका** के गर्भांक से विदित होता है कि जिस समय उनका अभिनय किया गया था उस समय सूरज निकल ही रहा था।[3] पटह-नाद नाटक का आरंभ सूचित करता है, पूर्वरंग (जिसका

---

१. 856ff. मिला कर देखिए—**हरिवंश** में दिया गया विवरण, ii. 88-93.

२. **संगीतदामोदर**, 39.

३. मिला कर देखिए—**मृच्छकटिका** के कथित संक्षेप के विषय में नीलकंठ द्वारा दिया गया तर्क (Lévi, TI. i. 210.)

संक्षिप्त रूप गीत और वाद्य की अल्पकालिक संगीत-गोष्ठी से अधिक कुछ नहीं है) संपन्न किया जाता है, नांदी-पाठ होता है, तत्पश्चात् नाटक की प्रस्तावना होती है और फिर वास्तविक नाटक का अभिनय आरंभ होता है।

४. सामाजिक (प्रेक्षक)

संस्कृत-नाटक के जैसे नाट्य-साहित्य के लिए सुशिक्षित सामाजिक का मनोयोग अपेक्षित था, और यह मान लिया गया है अथवा स्पष्ट रूप से कह दिया गया है (जैसा कि कालिदास, हर्ष और भवभूति के नाटकों में) कि उसके प्रेक्षक अनुभवी, आलोचनशील और गुणग्राही हैं। **नाट्यशास्त्र**[1] का कथन है कि आदर्श प्रेक्षक में अभिनेताओं द्वारा अनुकृत पात्रों के भावों तथा अनुभूतियों को स्वकीय बना सकने की योग्यता के साथ ही तीव्र ग्रहणशीलता और उत्कृष्ट निर्णय-शक्ति का होना अपेक्षित है। परंतु यह स्वीकार किया गया है कि प्रेक्षकों की भी *यथारीति तीन कोटियाँ है—उत्तम, मध्यम और अधम। नाटक की सफलता* का प्रश्न प्राश्निक (critic) के निर्णय पर निर्भर है जिसमें इस मार्मिक कार्य के अनुरूप आलोचक के सभी संभव गुणों का होना आवश्यक है। पात्रों के भावों की-सी अनुभूति करने वाला प्रेक्षक सामान्य बाह्य चिह्नों के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति करता है; हास, अश्रुपात, आक्रोश, रोमांच, उछल पड़ना, ताली पीटना और हर्ष, जुगुप्सा, भय तथा अन्य भावों की उचित एवं स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ।

नाटक के अभिनय का आदेश देने वाले संरक्षक—सभापति—और उसके सभासदों (अतिथियों) के बैठने की व्यवस्था का भी विस्तृत निरूपण किया गया है।[2] संरक्षक स्वयं राजासनमंच (royal box) के तुल्य सिंहासन पर बैठता है। उसकी बायीं ओर उसके अंतःपुर की महिलाएँ बैठती हैं। उसकी दाहिनी ओर अत्यंत गौरवशाली व्यक्ति बैठते हैं, उदाहरण के लिए—हर्ष-सरीखे महाराजा के सामंत। उन पुरुषों के पीछे कोषाध्यक्ष आदि पदाधिकारी बैठते हैं। उनके समीप राजसभा के विद्वज्जन, व्यवहारज्ञ, धर्मशास्त्री तथा कवि, और उन्हीं के बीच ज्योतिषी एवं वैद्य बैठते हैं। उनकी बायीं ओर मंत्री, दरबारी

---

१. xxvii. 51ff. ; Lévi, TI. ii. 62ff.

२. **संगीतरत्नाकर**, 1327ff. ; Lévi, TI. i. 375ff. मिला कर देखिए—**काव्यमीमांसा**, pp. 54f.

('विलासी') लोग और चारों ओर विलासिनियाँ बैठनी हैं। सामने ब्राह्मण बैठते है; पीछे रूप-यौवन-संपन्न चामरधारिणियाँ रहती हैं। बायीं ओर सामने वचन-विदग्ध एवं बुद्धिमान् कथक और बंदी-जन रहते है। उस अवसर पर अंग-रक्षक भी उपस्थित रहते हैं जो संमानित राजा की रक्षा का उत्तरदायित्व सँभालते हैं।

कहा नहीं जा सकता कि सामान्य जनता कहाँ तक उन नाटकों को देखती थी। नाट्यशाला-विपयक नियमों से सूचित होता है कि प्रेक्षकों में शूद्र भी उपस्थित रहते थे; परंतु 'शूद्र' शब्द का अर्थ संदिग्ध है, संभव है कि उसका प्रयोग राजाश्रित पिछलग्गुओं के लिए किया गया हो। इस विपय में सामान्य नियम[1] यह है कि बर्वरों, मूर्खो, पाखंडियों और अधम व्यक्तियों का नाट्यशाला में प्रवेश वर्जित है, परंतु इस प्रकार के नियमों का अर्थ नगण्य है। यह बात स्पष्ट है कि अभिनय के स्थान और परिस्थितियों के अनुसार प्रेक्षकों के प्रकार में अत्यधिक अंतर होता रहा होगा। महोत्सवों के अवसर पर मंदिरों में अभिनय का आयोजन होने पर अधिक-से-अधिक लोगों को प्रवेश मिलता रहा होगा; किंतु असार्वजनिक प्रदर्शनों में चुने हुए लोग ही प्रेक्षक होते रहे होंगे। इस बात का कोई विशेप महत्त्व नहीं है कि वे नाटक कुछ चुने हुए प्रेक्षकों को छोड़ कर शेप लोगों के लिए प्रायः दुर्बोध्य रहे होंगे। नाटक तत्त्वतः दृश्य काव्य था। प्रेक्षक अधिकांश नाटकों की कथावस्तु से परिचित थे, और अभिनेताओं द्वारा किये गये रूढ़िगत संकेतों के परिष्कृत प्रयोग से प्रेक्षकों को कार्य-क्रम के स्वरूप को स्थूल रूप से समझने में पर्याप्त सहायता मिलती रही होगी।

यह बात ज्ञात नही है कि इस प्रकार के नाट्य-समारोह कब से विरल हो गये। यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर में नाटकों का अभिनय विरल नहीं था। क्षेमेंद्र ने कवि के यश के अभिलापी रचनाकारों को परामर्श दिया है कि उन्हें इस प्रकार के अभिनयों के प्रेक्षण से अपने रसबोध का परिष्कार करना चाहिए।[2] इस तथ्य में संदेह नहीं है कि मुसलमानों की विजय से आभिजात्य (संस्कृत-) नाटक के प्रचलन को गहरा धक्का लगा। भारत की राष्ट्र-भावना और जातीय धर्म से घनिष्ठतया संबद्ध होने के कारण संस्कृत-नाटक को धर्मांध मुसलमानों ने बेहूदा समझा। राजा लोग ही अभिनेताओं और कवियों के (समान

---

१. Tagore, Eeight Principal Rasas, p. 61. महिलाओं का प्रवेश वर्जित था (Wilson, ii. 212), यह बात प्रारंभिक नाट्यशाला के विपय में मान्य नहीं हो सकती.

२. कविकण्ठाभरण, p. 15.

रूप से) आश्रयदाता थे, वे राज्य-च्युत हो गये अथवा उन्हें घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा। नाटकों के अभिनय की परंपरा क्रमशः लुप्त हो गयी। संस्कृत-नाटक के ह्रास के अन्य कारण भी थे। कालक्रमानुसार अभिनय की भाषा एवं जन-भाषा का पार्थक्य धीरे-धीरे बढ़ता गया जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत-नाटक जनता से अधिकाधिक दूर होता गया, और मुसलमानों ने संस्कृत को उच्चतर वर्ग के दरबारी जीवन तथा राजकाज की भाषा के प्रतिष्ठित पद से नीचे उतार दिया।[1]

---

१. उन्नीसवीं शताब्दी में नाटकीय अभिनय का कुछ पुनः प्रचलन हुआ; उदाहरणार्थ—लगभग १८२० ई० में नदिया के राजा के अनुरोध पर गोविंद-महोत्सव के लिए वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य द्वारा लिखित **चित्रयज्ञ**। मलाबार के चक्क्यार शक्तिभद्र-रचित **आश्चर्यमञ्जरी**, कुलशेखरवर्मा के रूपकों, **मंत्राङ्कनाटक** के नाम से **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** के तीसरे अंक, और **नागानन्द** का अब भी अभिनय करते हैं; JRAS. 1910, p. 637; **प्रतिमानाटक** (ed. TSS,) p. xl; A. K. और V. R. Pisharoti का (Bulletin of School of Oriental Studies, III. i. 107ff.) असंगत मत है कि **चारुदत्त** शूद्रक-लिखित **मृच्छकटिका** का संक्षिप्त रूपांतर है, **प्रतिमानाटक** कालिदास के बाद की तथा **अविमारक** दंडी के बाद की रचना है, और इसलिए भास के नाटक आठवीं शताब्दी में किये गये संकलन अथवा रूपांतर हैं। **प्रतिमानाटक** (iv. 9f.) में दी गयी राम की वंशावली कालिदास-संमत है, किंतु साथ ही पौराणिक भी है, और दंडी निश्चय ही 'कथा' के आविष्कारक नहीं है। Barnett (Bulletin, III. i. 35) मेधा तिथि के **नाट्यशास्त्र** को (**प्रतिमा**, v. 8-9) **मनुभाष्य** (दसवीं शताब्दी) मानते हुए Pisharoti के मत को स्वीकार करते है, किंतु यह बात प्रसंग के सर्वथा विरुद्ध है, और स्वयं Barnett द्वारा स्वीकृत (**मृच्छकटिका** से) **चारुदत्त** की पूर्ववर्तिता, एवं महाराष्ट्री के अभाव के साथ उनके मत की कोई संगति नहीं बैठती।

अनुबंध-१

अनुक्रमणिका

(अनुक्रम में अनुस्वार-युक्त वर्ण पहले रखे गये हैं)

इ

उ

क्ष

घ

च

छ

ज

झ

ट

ठ

ड

ढ

ण

त

त्र

ध

न

प

फ

ब

य

र

ल

ष

स

रोमन

अनुबंध–२

शब्द-सूची

अंक	Act
अंकमुख	Anticipatory scene
अंकावतार	Continuation scene
अंकित	Recorded
अंग	Base, constituent, element, factor, member
अंगज (अलंकार)	Physical
अंगरक्षक	Body-guard, guard
अंगरूप	Subsidiary
अंग-लीला	Movement
अंग-विक्षेप	Gesture, physical movement, motion
अंगस्थिति	Position
अंगारकार	Charcoal-burner
अंगी	Predominant
अंगुलिमुद्रिका	Signet ring
अंतरंग	Private
अंतरसंधि	Internal juncture
अंतराल	Interstice
अंतर्ज्ञान	Intuition
अंतर्दृष्टि	Insight
अंतर्वस्तु	Content
अंतर्विरोध	Contradiction
अंतस्साक्ष्य	Internal evidence
अंतःपुर	Court, harem, inner appartment, womens' apartment
अंत्यानुप्रास	Rhyme
अंत्येष्टि-संस्कार	Disposal of the dead
अंधविश्वासी	Pagan
अंश	Share
अकारांत प्रातिपदिक	Stem in *a*
अक्षम	Incompetent
अक्षमता	Incompetency
अक्षर	Syllable
अक्षर-संघात	Grouping of letters
अकृत्रिम	Genuine, simple
अखाड़ा	Amphitheatre
अग्निपरीक्षा	Fire ordeal
अग्राह्य	Inadmissible
अघोषीकरण	Hardening
अतिक्रामक	Violator
अतिनिर्वहण	Carry to excess
अतिप्राकृत, अलौकिक	Supernatural
अतिमानव	Superhuman
अतिशय	Excessive
अतिशयोक्ति	Hyperbole
अतिशास्त्र-वादिता	Pedantry
अत्याचारी शासक	Tyrant
अद्भुत (रस)	Marvellous
अद्भुत रस	Sentiment of wonder
अधःसीमा	Lower limit
अधिकरण	Court
अधिकरण-कारक	Locative
अधिकार	Right, command
अधिवल	Outvying
अधिमान	Preference

अधिमूल्यन करना	Appreciate
अधिराज्य	Dominion
अधिष्ठातृ-देवता	Deity, tutelary deity
अधीनता	Subordination
अधीरा	Uncontrolled, lacking in self-control
अधोमूल्यन करना	Underrate
अध्ययन-विधि की त्रुटि	Error of method
अध्यवसाय	Expression of resolution
अध्यापक	Professor
अध्युच्चित्र	Bas-relief
अननुकरणीय	Inimitable
अननुकूलता	Faithlessness
अननुरूप	Inconsistent
अनपत्यता	Childlessness
अनाटकीय	Undramatic
अनामक	Anonymous
अनामिका	Ring-finger
अनियत यति	Abnormal caesura
अनियत रूप	Abnormal form
अनियमित	Irregular
अनिर्वचनीय	Ineffable
अनिवार्य	Essential, obligatory
अनिश्चायक	Inconclusive
अनुष्ठित	Performed
अनुकंपा	Compassion
अनुकरण-कला	Mimetic art
अनुकरण-सिद्धांत	Doctrine of Mimesis
अनुकरणात्मक	Mimic
अनुकार्य	Person portrayed
अनुकूल करना	Adapt
अनुकूल (नायक)	Loyal, faithful
अनुकृति	Imitation, mimicry, representation
अनुज्ञा करना	Allow
अनुज्ञा-पत्र	Permit
अनुतप्त	Repentant
अनुत्तम	Inferior
अनुदान	Grant
अनुनय	Address of gratitude
अनुपात	Proportion
अनुपालन करना	Observe
अनुप्रास	Accumulation of similar sounds
अनुबंध	Continuation
अनुभववाद	Empiricism
अनुभाव	Consequents, physical effect
अनुभूति	Feeling
अनुमति	Assent
अनुमति देना	Permit
अनुमान	Calculation, conjecture, inference
अनुमिति-ज्ञान	Inferential knowledge
अनुमोदन	Approval
अनुयायी	Follower
अनुरक्षक	Escort
अनुरणन	Reverberation
अनुराग-निवेदन	Evince affection
अनुरूप होना	Conform
अनुरूपता	Agreement, correspondence
अनुवृत्ति	Continuation
अनुषंगी	Ancillary

अनुषक्ति Adherence
अनुष्ठान Rite
अनुशोक Penitence
अनुसंधान Research
अनुसंधान करना Investigate
अनुसंधि Subjuncture
अनुसरण Obedience
अनुहरण Imitation
अनूठापन Novelty
अनैतिकता Immorality
अन्योक्ति Equivocation of situation, equivocal speech
अन्विति Unity
अन्वेषक Discoverer
अपकर्ष Deterioration
अपकृष्ट Degraded
अपकृष्ट स्थिति Humble rank
अपटी (चित्र-जवनिका) Tapestry
अपिनिहित (स्वर) Epenthetic
अपिनिहिति Epenthesis
अपमान Dishonour
अपराधी Criminal
अपरा विद्या Popular learning
अपरिवर्तनीय Inexorable
अपरिष्कृत Rough, course
अपरूप Fantastic
अपवर्जन Exclusion
अपवर्तन करना Forfeit
अपवाद Exception
अपवारितक Asides
अपस्मार Epilepsy
अपेक्षा Requirement
अप्रत्यक्ष Indirect
अप्रत्यय Diffidence
अप्रत्यायक Unconvincing
अप्रभावी Ineffective
अभिकथन Allegation
अभिकथित Alleged
अभिकर्ता Agent
अभिकल्पना Design
अभिजातवर्गीय Aristocratic
अभिधा Power of denotation
अभिधान Designation, nomenclature
अभिधारणा Postulate
अभिनंदन Compliment
अभिनंदनकला Mimetic art
अभिनय Action, dramatic action, gesture, representation
अभिनिर्धारण Identification
अभिनिश्चित करना Ascertain
अभिनेता Actor, player
अभिनेत्री Actress
अभिनेय संस्करण Acting edition
अभिप्राय Motif, significance
अभिप्रेत अर्थ Implication
अभिभावन Domination
अभिभावी होना Prevail
अभिमंत्रित Addressed
अभियोक्ता Accuser
अभिरुचि Taste, fondness
अभिलाष Longing
अभिलिखित Recorded
अभिलेख Edict, inscription
अभिवंदन Homage
अभिवचन Remark
अभिव्यंजना Expression
अभिव्यक्ति Expression, revelation
अभिसारिका Lady seeking an interview with her beloved
अभिस्वीकरण Adoption

अभिहित Addressed
अभ्यनुकूलन Adaptation
अभ्यर्थना Appeal
अभ्यस्त Cultivated, habitual
अभ्यागमन Visit
अभ्युक्ति Remark
अभ्युदय Temporal preferment
अभ्रक Mica
अमर्ष Anger, indignation
अमात्य Councellor
अमायिकता Sincerity
अमूर्त Abstract
अयत्नज-अलंकार Inherent characteristics
अयोग Privation
अर्थ Meaning, sense
अर्थ Material interest, wealth
अर्थ-गुण Quality of sense
अर्थ-गौरव Depth of meaning
अर्थ-ग्रहण Borrowing
अर्थच्छाया का सूक्ष्म अंतर Nuance
अर्थव्यक्ति Precision of expression
अर्थसूचक Significant
अर्थापत्ति Equivoke
अर्थालंकार Figure of thought
अर्थोपक्षेपक Entr' acte, scene of introduction
अर्धमनोवैज्ञानिक Quasi-psychological
अर्धसम वृत्त Varied form
अलंकृत पात्र, कलश Vase
अलंकार Poetic figure, figure of speech
अलंकार Jewel, ornament
अलंकार, स्वभावज Grace
अलंकार (नायिका के गुण) Excellency
अलंकारशास्त्र Rhetoric
अलक Ringlet
अल्पतम Minimum
अवकाश Leisure
अवगुण Demerit
अवज्ञा Defiance
अवतार Incarnation
अवतार लेना Descend
अवधारणा Conception
अवधि Duration
अवनति Decline
अवमानन Humiliation
अवमानित Disgraced
अवर Inferior
अवलंगित Continuance
अवशेष Relic, · remains, remnant
अवस्था, अवस्थान Stage
अवहित्था Deliberation, haughty reserve
अवेक्षणीय Remarkable
अव्यवहित संतान Immediate child
अव्यावहारिक Quixotic
अशुद्धता Incorrectness
अशुद्ध पाठ Corrupt text
अश्लील Abusive
अश्वमेध Horse-sacrifice
अश्रु Weeping
असंकल्पनीय Inconceivable
असंगत Incongruous, inconsistent
असंभव Impossible
असंभाव्य Improbable
असत् non-existing

असत्प्रलाप Incoherent talk
असमर्थ Incapable
असमानता Disparity
असाधारण Conspicuous, extra-ordinary
असाधारण उपचय Special development
असुर Demon
अस्तित्व Existence
अस्थायी Temporary
अस्थि संचय करना Collect ashes
अस्पष्ट Obscure, vague
अस्वीकृत Disapproved
अहंकार Egoism, vanity
अहंकारी Self-assertive
आँकना Weigh
आंगिक अभिनय Gestures
आकर्षण Appeal
आकार Form
आकार-प्रकार Formal mode
आकाश-भाषित Voice in the air, speaking in the air
आकाशीय Ethereal
आकृति Appearance
आक्रंद Lamentation
आख्यान Narrative, tale
आगंतुक-वस्तु Distant event
आचरण Conduct
आचार्य Master, professor, teacher, theorist
आडंबर Pretension
आडंबरपूर्ण Grandiose, pretentious
आतिथेय Host
आतिथ्य Hospitality, reception
आत्मगत Aside
आत्मचेतन Self-conscious
आत्मनिवेदन Submission
आत्मने-पद Middle form
आत्मसात् करना Assimilate
आदर्श Model
आदर्शवादी Idealistic
आदिम Initial, primitive
आदिम मिथुन Primeval twins
आदि रूप Prototype
आदिवासी जातियाँ Aborigines
आदेश Precept
आधार Base, ground
आधारभूत Fundamental
आधार-सामग्री Data
आधिकारिक Principal
आधुनिक Modern
आध्यात्मिक Spiritual
आनुवंशिक Genetic
आनुवंशिकता Heredity
आप्त, आप्तता, आप्त प्रमाण Authority
आभास Appearance
आभासित Apparent
आभासेन Seemingly
आभिजात्य Classical
आमुख Introduction, Opening, preface, prologue
आयतन Sanctuary
आयताकार Rectangular
आयाम Dimension, extent
आरक्षक Policeman, police officer
आरक्षित Reserved

आरती Waving of a lamp in honour
आरभटीवृत्ति Violent manner
आरोप करना Impose
आरोप लगाना Impute
आर्जव Righteousness
आर्ति Sickness
आलंकारिक Ornamental
आलंबन Object
आलंबन-विभाव Fundamental determinants
आलस्य Indolence
आलाप करना Try voice
आलिखित Sketched
आलोचक Critic
आलोचन Observation
आलोचनशील Critical
आवश्यक Essential
आविष्कर्ता, आविष्कारक Inventor
आवृत्ति Frequency, recurrence
आवृत्तिलोपी Haplological
आवेग Agitation
आशय Import
आशावाद Optimism
आशीर्वचन Benediction
आशुरचित Improvised
आश्रम Hermitage, rank
आश्रयदाता Patron
आश्रय या प्रश्रय देना Patronize
आश्रित Protégé
आसनवेदी Pavilion
आसीन पाठ Recitation sitting
आसुरी शक्ति Spirit of evil
आस्वादबोध Appreciation
आहार्य Costume
ओज Fire, force, majesty, power, strength, vigour
औचित्य Justification, propriety
औत्सुक्य Impatience
औदार्य Dignity, nobility
औद्धत्य Hauteur
औपचारिक Official
इंद्रजाल Charm, conjuration, magic result, sorcery
इंद्रिय Organ, sense
इंद्रिय-निग्रह Restraining senses
इष्टदेव Favourite deity
इतिहास History, tradition
ईर्ष्य Enviable
ईर्ष्या Envy
ईर्ष्या-मान Indignation
उक्ति Expression, phrase
उग्रता Cruelty
उच्चित्र Relief
उज्ज्वल वेष Resplendent attire
उत्तर कांड Late book
उत्तम Of chief rank
उत्तरदायी Responsible
उत्तरवर्ती Following, later
उत्तराधिकार Right of succession
उत्तराधिकारी Heir, successor, inheritor
उत्तरानुबंध Continuation
उत्तरोक्त Latter
उत्तेजना Provocation
उत्कट भाव Strong emotion
उत्कीर्तन Narrative
उत्कृष्ट Superior
उत्पत्तिवाद View of production
उत्थापक Challenge

उत्सव मनाना	Celebrate
उत्सवाग्नि	Bonfire
उत्साह	Energy, fervour
उदात्त	Elevated, noble of high rank
उदात्तीकृत	Glorified
उदार	Exalted, moderate
उदारचित्तता	Magnanimity
उदारता	Elevation
उदाहरण	Example, instance
उदीयमान	Nascent
उद्दीपन	Stimulus
उद्दीपन करना	Foster (sentiments)
उद्दीपन-विभाव	Excitant determinants
उद्दीप्त	Excited, influenced
उद्देश्य	Purpose
उद्देश्यपूर्ण	Deliberate
उद्गाता	Singer
उद्गार	Effusion
उद्घोषित करना	Proclaim
उद्धत	Haughty, vehement
उद्घात्य	Abrupt dialogue
उद्धारक	Rescuer
उद्बुद्ध	Aroused, excited
उद्बोधन	Evoking
उद्भावना	Invention
उद्भूति	Manifestation
उद्यम	Enterprise
उद्यान	Park
उद्वेग	Distress
उधार	Borrowing
उन्माद	Insanity
उन्मोचन	Discharge
उपकल्पित	supposed
उपकरण	Apparatus, instrument
उपचयन	Heightening
उपचार	Ambiguous situation, equivocal situation
उपचित	Strengthened
उपनागरिका	Refined
उपनाम	Alias, sobriquet
उपनिषद्	Theology
उपपति	Adulterer
उपपत्ति	Proof, reason, theory
उपपत्नी	Concubine
उपमा	Metaphor, simile
उपमान	Object of comparison
उपयुक्त	Appropriate
उपयोजित	Exploited
उपरि सीमा	Upper limit
उपलब्धि	Achievement
उपविभाजन	Subdivision
उपसंहार	Close
उपस्थापन	Presentation
उपाख्यान	Episode
उपादान	Material
उपाधि	Appellations, style, title
उपालंभ	Rebuke, reproach
उपासना	Service
उपासना-पद्धति	Cult
उपोद्घात	Exordium
उपेक्षा	Indifference
उभयनिष्ठ	Common
उर्फ	Alias
उलटा	Converse
उल्लिखित	Cited, mentioned
उल्लेख	Mention, reference
ऊष्म	Sibilant
ऋचा	Stanza

ऋणिता Indebtedness
ऋषि Saint, seer
एकरूप, एकस्वर Monotonous
एकवचन Singular
एकांक, एकांकी One-act, single-act
एकांततः Absolutely
एकांतरण Alternation
एकान्विति Unity
एकाधिपत्य Sovereignty
एकालाप Monologue
ऐंद्रजालिक Magician
ऐकांतिक Conclusive
ऐतिहासिक संकेत Historical allusion
कंचुकी Chamberlain
कक्ष Chamber
कठपुतली Marionette
कथक Reciter
कथा Romance
कथानक Plot, story
कथावाचक Reciter
कथास्थिति Situation
कथित Alleged
कथोपकथन Conversation
कदलीगृह Grove
कनिष्ठा नायिका Later heroine
कन्यका Maiden
कपट Cheating
कपट-गज Counterfeit elephant
कपटयोग Intrigue
कपटोपाय Plot
कपाल Skull
कपोत (वर्ण) Grey
कमलिनी Water-lily
करण-कारक Instrumental
करुण-रस Pathetic sentiment, sentiment of pathos, tragic sentiment
करुण-वात्सल्य Tender sorrow
कर्तव्य, कर्तव्य-भार Duty
कर्ता-कारक Nominative
कर्ता बताना Ascribe
कर्तृत्व Authorship
कर्मकांड, कर्मकांड-संबंधी Ritual
कर्म-कारक Accusative
कर्म-सिद्धांत Law of the act
कलवार Keeper of drink shop
कलश Vase
कलह Quarrel
कला Digit
कलाकार Artist
कलानिर्मित Artificial
कलाबाज Acrobat
कल्पना Idea, ingenuity, imagination, supposition
कल्पनाशील Inventive
कल्प-साहित्य Ritual literature
कल्पित Feigned, imaginary
कल्पित दाह Imaginary conflagration
कवि Poet
कविता (—कामिनी) —विलास Grace of poetry
कसौटी Touchstone, criterion
कांति Loveliness, radiance of appearance, beauty, attractiveness
कांतियुक्त ओज Grandiose
कापालिक Mendicant of the skull-bearing order
काम Love

काम-चरित्र Love intrigue
कामदेव God of love
कामार्त Love-sick
कामुक Lover
कामोन्मत्त Frantically in love
कामोपभोग Coquetry
कायस्थ Scribe
कायिक चेष्टा Posture
कारक Subject
कारु, कारू Artiste
कार्य Effect, function, action, business, end
कार्य-कलाप Activity
कार्य-क्रम Proceeding
कार्य-दक्षता Savoir faire
कार्य-प्रणाली Working
कालक्रम-संबंधी Chronological
कालदोष Anachronism
कालान्विति Unity of time
कालोचितता Expediency
काल्पनिक Ideal, mythical
काव्यशास्त्र Theory of poetics, theory of poetry
काषाय-कंचुकी Red jacket
किलकिंचित Hysteria
कुंड Reservoire
कुटनी, कुट्टनी Go-between
कुबेर Millionaire
कुब्जा Female dwarf
कुमार Royal prince, youthful
कुमार-वन Grove of Kumara
कुल Tribe
कुलक Set
कुलगुरु Family preceptor
कुशलता Ability
कुशलप्रश्न Greeting

कूटनीति Diplomacy
कूटप्रबंध Machination, management of plot
कूटयुक्ति Strategem, artifice
कृतसंकल्प Resolved
कृत्रिम Artificial
कृत्रिम-साधन Artificial means
कृदंत Gerund
कृषि-देवता Vegetation deity
कृष्ण Black
केलि Sportive play
केवली विद्या Supernatural knowledge
कैशिकी वृत्ति Graceful manner
कोटि Category, rank
कोप Anger
कोमला Soft
कोमलीकरण Softening
कोषाधिप, कोषाध्यक्ष Treasurer
कौटुंबिक व्यभिचार Incest
कौमुदी-महोत्सव Moon-festival
कौशलपूर्ण Skilful
क्रमभंग Hiatus
क्रिया-विधि Procedure
क्रियाशीलता Activity
क्रोध Fury
क्र्यादि-गण Ninth class
क्लिष्ट-कल्पना Elaborate invention, farfetched
क्लीव Cowardly
क्वाचित्क Sporadic
क्षणिक Fleeting
क्षतिपूर्ति करना Compensate
क्षतिमूल्य Damages
क्षत्रिय Warrior caste
क्षपणक Monk

क्षमता Capacity
क्षमा Patience
क्षमावान् Forbearing
क्षितिज Horizon
क्षिप्र Rapid
क्षिप्र सामान्यीकरण Hasty generalization
क्षेपक Interpolation
क्षोभ Agitation
खंडन करना Contradict
खंडवाक्य Clause
खप्पर Begging bowl
खलनायक Villain
खाँच खाँचा Groove
गंड Abrupt remark
गंतव्य स्थान Destination
गंधर्व Demi-god
गंभीर Profound
गंभीरता Depth
गण Tribrach
गणिका Courtesan, hetaera
गणित-ज्योतिष Astronomy
गति, गतिविधि Movement
गति-प्रचार Set of movements
गरिमा Dignity
गर्भ (संधि) Development
गर्भांक Embryo act, embryo drama
गर्व Arrogance
गर्हण Reproach
गल्प Fiction
गांभीर्य Impassivity
गीतिनाट्य Opera
गुण Excellency, merit of style, qualification, strand
गुणकथा Enumeration of merits
गुणकीर्तन Eulogy
गुण गाना Glorify
गुणग्राहकता Appreciation of merits
गुणीभूत करना Subordinate
गुरु Preceptor
गेयपद Song proper
गोप Herdsman
गोपी Cowherdess, shepherdess
गोष्ठी Social intercourse, social meeting
गौण Auxiliary, minor, secondary
गौण वादपद Minor issue
गौर Orange, white
गौरव Weight
गौरवग्रंथ Classic, masterpiece
ग्रंथ Text, treatise
ग्रह Planet
ग्रहण Eclipse
ग्रहणशीलता Susceptibility
ग्राम्यता Homliness, vulgarity
ग्राम्य बनाना Vulgarise
ग्राह्य Plausible
ग्लानि Weakness
घटना Incident
घटनास्थल Scene
घनिष्ठ Intimate
घिसा-पिटा Outworn
घोष व्यंजन Soft consonant
घोषीकरण Softening
चंचलता Inconstancy
चंडता Impetuousity
चक्र Discuss
चक्रवर्ती Emperor
चक्रवर्ती-पद Imperial rank
चपलता Inconstancy
चमत्कार Miracle
चर Emissary, spy

चाटूक्ति	Compliment
चामरधारिणी	Bearer of fan
चारी	Steps and movements
चाल-ढाल	Demeanour
चिंता	Anxiety
चिता	Funeral pyre
चित्त-प्रेरक	Inspiring
चित्त-भूमि, चित्त-वृत्ति	Mental condition
चित्तवृत्ति-वासना	Emotional complex
चित्र	Picture
चित्रकार	Painter
चित्रकारी	Painting
चित्रगत	Pictured
चित्रण	Delineation
चित्रपट	Convas
चित्र-वीथी	Picture gallery
चित्र-वेष	Gay garment
चित्रित करना	Depict
चिरप्रतिष्ठित	Classical
चीर	Rag
चेट	Slave, servant, man servant
चेटी	Maid servant
चेतना	Consciousness
चेला, चेली	Acolyte
चेष्टा	Action, gesture
चेष्टा-नर्म	Comedy of action
चेहरा, मुखौटा	Mask
चौकस	Alert
चौकसी	Vigilance
चौरस, चतुरस्र	Harmonious
चौर्य	Theft
छंद	Metre
छंद-परिवर्तन	Change of form
छंदःशास्त्र	Prosody
छंदोबद्ध	Metrical
छद्मपरायण	Adept in ruses
छद्मयुवक	Pretended boy
छद्मवेष	Disguised
छल	Cheating, ruse
छलन	Deception
छांदसिक	Metrical
छानबीन	Investigation
छाप अंकित करना	Impress
छाया-नट	Shadow-player
छाया-नाटक	Shadow-drama
छाया-नाटककार	Shadow-dramatist
छाया-नाट्य	Shadow-play
छाया-प्रक्षेप	Shadow projection
छाया-प्रयोग	Shadow device
छिन्न	Truncated
जगण	Cretic
जटिल	Complex
जड़ता	Numbness, stupor
जन-नाट्य-शाला	Popular theatre
जनपदीय भाषा	Vernacular
जनमनोवृत्ति	City of Man's Mind
जनसाधारण	Populace
जनश्रुति	Rumour
जनांतिक	Private conversation
जवनिका, यवनिका	Curtain
जाति	Name, race
जातीय	National
जातीय धर्म	National religion
जातियाँ	Peoples
जादू	Magic
जादूगरी	Juggling
जिज्ञासा	Questioning
जिज्ञासु	Inquirer
जीवंत	Vivid
जीवन	Existence, life
जीवन-दर्शन	Philosophy of life

जीवहिंसा Killing of animals
जुआरी Gambler
ज्ञान Knowledge
ज्येष्ठा नायिका Earlier heroine
ज्योतिष-तंत्र, ज्योतिष-विद्या Astrological lore
झाँकी Spectacle, tablean
टंकार Twang
टकसाली Classical
टिप्पणी Note
टीकाकार Commentator
टीका-टिप्पणी करना Comment
टेक Refrain
टोटका Charm, spell
डोल Bucket
ढंग Manner, mode
ढालना Turn
णिजंत Causative
तंत्र System
तंत्री-वाद्य String-instrument
तटस्थ Disinterested
तत्त्व Element, factor, nature
तत्त्वतः Essentially, substantially
तत्त्वमीमांसा Metaphysics
तत्संवादी Corresponding
तथ्य Fact
तनाव Tension
तपन Ennui
तपश्चर्या Act of penance
तपस्विनी Nun
तमोगुण Element of dullness
तर्क Argument, contention, reasoning
तर्क-विरुद्ध Illegitimate
तर्कसंगत Logical
तर्कसंगति Plausability
ताँता Series
तांत्रिक Magician
ताऊ Uncle
ताडपत्र Palmleaf
तात्कालिक वस्तुस्थिति Immediate reality
तादात्म्य Identification
तादात्म्य, स्थापित करना Identify
ताप Torment of fire
तापस Ascetic
तापसी Lady of the hermitage
तार्किक Logician
तार्किक आधार Rationale
ताल Time
तालमेल Harmony
तिङंत With verbal ending
तिरस्कार Contempt
तिरस्करिणी, तर्यक् यवनिका Traverse curtain
तीव्रता Intensity, rapidity
तुक Rhyme
तुकांत Rhymed
तुमुन् Infinitive
तुलनात्मक Comparative
तुल्य Equivalent
तेज Sense of honour
तेजस्वी Glorious
तोरण Arch
त्यागी Generous
त्रास Fright
त्रिगत Triple explanation
त्रिपताका Holding up three fingers
त्रिभुजाकार Trianguar
त्रिमात Trimeter
त्रिमूर्ति Trinity
त्रिशूल Trident
दंड Penalty

दंडादेश Condemnation
दंत्य Dental
दंभ Falsity
दक्ष Prompt and skilled
दक्षिण Courteous, inconstant
दखल करना Occupy
दत्तकपुत्री Adopted daughter
दर्पण Mirror
दयोत्साह Courage in compassion
दर्शक Audience
दर्शक-कक्ष Auditorium
दर्शन Philosophy
दल Party
दांडपाशिक Headsman, police-officer
दाक्षिण्य Candour
दान Gift
दानोत्साह Courage in liberty
दाय Heritage
दायित्व Obligation
दार्शनिक Philosopher, philosophical
दावँ-पेच Strategy
दावा Claim
दावेदार Claimant
दिव्य Celestial, divine
दिव्य आत्मा Divine spirit
दिव्य मणि Magic stone
दिव्य रथ Celestial car
दिव्यास्त्र, दिव्यायुध Celestial weapon, magic arms
दीक्षा Sacrament
दीक्षित Consecrated
दीपक Illumination
दीप्तरस Sentiment of excitement
दीप्ति Radiance, Vehemence
दीर्घ Long
दुंदुभी Trumpet
दुःखांत Tragic
दुर्दिन Storm
दुर्दैव Cruel fate
दुर्बोध Obscure, unintelligible
दुर्व्यवहृत Mishandled, misused
दूत Ambassador, messenger
दूतत्व Mission
दृढ़ Firm
दृढ़ कथन Assertion
दृढ़व्रत Firm of purpose
दृष्टांत Instance
दृष्टि View
दृश्य Scene
दृश्य-सज्जा Mise-en-scene
दृश्यावली Scenery
देवता God, spirit
देववाणी Sacred language
देव-वास्तु-शिल्पी Divine architect
देवायतन Shrine
देवी Goddess, queen
देश Country
देशज Native
देशभाषा Local speech
देशश्री Fortune of the country
देशान्विति Unity of place
देहात्मवादी Materialist
दैन्य Depression
दैवी शक्ति Spirit of good
दो नगण Six short syllables
दोष Demerit
दोषक्षालन Excuse
दोषी ठहराना Condemn
द्यूत Gambling
द्यूतकार Chief gambler

द्योतन करना Denote
द्विजाति Three higher castes
द्वित्व-व्यंजन Double consonant
द्विपाशक Dilemma
द्व्यर्थकता Double entendre
धनपरायण Mercenary
धर्म Duty, righteousness, religion
धर्मदर्शन Religion, theology
धर्मनिरपेक्ष Secular
धर्मपत्नी Lawful wife
धर्म-विधि Injunction of the law
धर्मसूत्र Canon
धर्मशास्त्र Law book
धर्मांधता Fanaticism
धर्माधर्मविचारण-विद्या Casuistry
धर्माध्यक्ष Court chaplain
धातु Root
धारणा Impression
धार्मिक Devoted to duty, observer of law
धार्मिक नृत्य Cult dance
धीर Noble, selfcontrolled
धीरललित Noble and gay
धीरा Self-controlled
धीराधीरा Partly self-controlled, Partly controlled
धीरोदात्त Noble
धूर्त Rogue
धृति Contentment
धृष्ट Shameless
धैर्य Self-control
ध्यान-परंपरा Thought continuum
ध्वनि Suggestion, sound
ध्वनि आभास Sound effects
ध्वनित करना Indicate, suggest
ध्वनितार्थतः Tacitly
ध्वनि-शृंखला Concatenation of sounds
ध्वनि-सिद्धांत Theory of suggestion
ध्वन्यात्मकता Suggestiveness
नकल उतारना Satyrize
नकारात्मक Negative
नगरश्री Fortune of the city
नट Actor, comedian, dancer
नटी Actress
नति, प्रणति Humility
नमूना Specimen
नया रूप देना Recast
नर्तक Dancer
नर्मगर्भ Development of affection
नर्मसचिव, नर्मसुहृद् Boon companion, friend in sport
नर्मस्फूर्ज Outburst of effection
नर्मस्फोट Manifestation of a recent love
नवरत्न Nine jewels
नवोढा Newly made bride, newly made love
नांदी Benediction
नाग Serpent
नागरक Cultured man about town, police officer
नागरिक Citizen
नाच Nautch
नाटक Drama, heroic drama
नाटक के पात्र Personae dramatis
नाटकगत कविता Dramatic poetry

नाटक-रचना Dramatic form
नाटकालंकार Ornament of the drama
नाटकीकरण Dramatization
नाटकीकृत रूप Dramatized version
नाटकीय Dramatic, theatrical
नाटकीय गुण Dramatic merit
नाटिका Lesser heroic comedy, short heroic comedy
नाट्य Mimetic act
नाट्य-कला Mimetic art
नाट्य-धर्म Convention of dramatic form
नाट्य-नृत्य Mimetic drama
नाट्य-रास (क) Pantomime
नाट्य-रूप Dramatic form
नाट्यलक्षण Dramatic beauty, dramatic characteristic
नाट्य-वृत्ति Dramatic style
नाट्यशाला Theatre, theatrical building
नाट्यशास्त्र Dramaturgy, theory of dramatic art
नाट्यशास्त्री Theorist on the drama
नाट्यशिल्पी Dramatic artist
नाट्य-समारोह Dramatic exhibition
नाट्य-सिद्धांत Theory of dramatic art
नाट्य-स्पर्श Dramatic touch
नाट्याचार्य Dancing-master
नाट्याभिनय Dramatic action
नाट्यालंकार Dramatic ornament
नाम name, title
नामकरण Nomenclature
नायक Hero
नायिका Heroine, queen, wife
नालिका Enigma
नास्तिक Atheist
निकष Criterion, touchstone
निजंधरी कथा Legend
निजंधरी Legendary
नित्य Constant
निदर्शक Exponent
निदर्शन करना Illustrate
निदेशक Director
निद्रा Sleeping
निपथ Descending way
निपात Particle
निपुण Accomplished
निपुणता Skill
निबंधना Treatment
निम्न श्रेणी Lower rank
नियंत्रण Control
नियत Fixed
नियति Doom
नियम Prescription, rule
नियमतः Normally
नियम-पुस्तिका Manual
नियमित Regular
नियोजन Employment
निरत Devoted, intent
निरसन करना Eliminate
निराशावाद Pessimism
निरीक्षण करना Visit
निरीश्वरवादी Atheist
निरोध Detention
निर्णय Decision
निर्णायक Conclusive, decisive

निदश	Instruction, reference
निर्देशक	Director
निर्देग करना	Mention, refer
निर्धारित करना	Determine
निर्भरता	Dependence
निर्माण	Creation
निर्वचन	Interpretation
निर्वहण	Conclusion, denouement
निर्वाण	Release
निर्वासन	Exile
निर्वेद	Discouragement, indifference to worldly things
निवारण करना	Counteract
निवृत्ति	Inactivity
निवेदन	Pleading
निवेदित	Proffered
निपादराज	Forest chief
निपेध	Prohibition
निपेध करना	Forbid
निष्कर्प	Conclusion
निष्कर्पक	Derivative
निष्क्रमण	Exit
निष्क्रय करना	Purchase the freedom
निष्क्रयमूल्य	Ransom
निष्ठाहीनता	Disloyalty
निष्पक्षता	Impartiality
निष्पत्ति	Effect
निष्पन्न	Produced, perfect
निस्सदिग्ध	Unquestionable
निहितार्थ	Implication
नीच	Of inferior rank
नीति	Policy
नीति देवी	Polity
नीतिवाक्य	Maxim
नीरसता	Flatness
नील	Dark blue
नूतन संस्करण	Redaction
नूतनरीति-प्रवर्तक	Innovator
नृत्य	Dance, pantomime, mimetic art
नेत्र	Sight
नेपथ्य	Raiment, stage property
नेपथ्य-गृह	Actors' quarter, foyer, tiring room
नेपथ्य-विधान	Dress and appearance
नेपथ्योक्ति	Voice from behind the scene
नैतिकता	Morality
नैयायिक	Logician
नौटंकी	Dramatic sketch
नौसिखिया	Untried
न्याय	Logic
न्यायिक प्रक्रिया	Judicial procedure
न्यास	Deposit
पक्षपोपक	Supporter
पक्षपोपण	Defence
पक्षपोपण करना	Advocate
पक्ष, विपक्ष	For, against
पट्टी	Board
पताका	Episode
पताका-स्थानक	Equivoke, proepisode
पद	Office, position, rank
पदाधिकारी	Officer
पदोच्चय	Fitting of expression
पद्य	Stanza, verse
पद्य-प्रबंध	Verse narrative
परंपरा	Tradition
परंपरागत	Conventional

परंपरानिष्ठ Orthodox
परंपरा-
निष्ठता Orthodoxy
परजीवी Parasite
परब्रह्म Absolute
परम-धर्म Highest duty
परमार्थ-तत्त्व Supreme Reality
परमेश्वर Supreme Lord
परवर्ती Posterior
परस्पर-
विरोधी Contradictory
परस्मै-पद Active form
पराभव Overthrow
परा विद्या Divine learning
पराश्रयता Dependence
परिक्रय Ransom
परिगणना Enumeration
परिचर,
परिचारिका Attendant
परिज्ञान Familiarity
परिणाम Consequence, transformation
परित्याग Omission
परिदान Gift
परिनिष्ठित Classical
परिप्रेक्ष्य Perspective
परिमाण Extent, measure
परिमितता Moderation
परिमित मात्रा Modest dimension
परिरक्षण Preservation
परिरक्षित Preserved
परिवर्तक Change of action
परिवर्तन Change
परिवर्तन की
अवस्था Plane of change
परिवर्तित रूप Modified form
परिवाद Complaint
परिवार Entourage
परिवेश Surrounding
परिशुद्धता Accuracy, precision
परिशुद्धि Vindication
परिष्कार Refinement
परिष्कृत Finished, refined
परिसंवाद Discussion
परिसर Range
परिसीमित Limited
परिहार Avoidance
परिहास Comic, humour
परीक्षा Ordeal
परीवाद Reproach
परुष Hard
परुषा (वृत्ति) Harsh
परोक्ष Indirect
परोढा Wife of another
पर्याय Synonym
पर्व Knot
पश्चात्कालीन Posterior, later
पहचान Identity
पहचान
करना Identify
पांडुलिपि Manuscript
पाखंड Hypocrisy
पाखंडी Heretic
पाठ Text, recitation
पाठ करना Pronounce, recite
पाठ-कर्ता Reciter
पाठ-विधि Mode of recitation
पठ्य-तत्त्व Element of recitation
पाठ्य-पुस्तक Text-book
पाणिनीय
शिक्षा Panini's rules
पातिव्रत Fidelity
पात्र Eligible, figure
पादपीठ Fort-stool
पादुका Shoe
पानक-रस Beverage
पापकर्मा Criminal
पारखी Connoisseur
पारदारिकत्व Adultery
पारिपार्श्विक Attendant

पारिभाषिक Technical
पारिभाषिक शब्द Technical term
पार्थिव Terrestrial
पार्श्वटिप्पणी gloss
पार्षद Entourage
पिंड Mass
पिशाच Ghoul, demon
पीठमर्द Parasite
पुंस्त्व Viriliy
पुजारी Priest
पुतली, पुत्रक Puppet
पुत्रकृतक Foster-child
पुनरुज्जीवन, पुनरुत्थान Revival
पुनर्ग्रहण Resume
पुनर्जन्मवाद Doctrine of transmigration
पुन:प्रतिष्ठा Re-establishment
पुन:प्रवर्तन Revival
पुनर्मेल करना Reconcile
पुराकालीन Of antiquity
पुरातनता Antiquity
पुरातन लक्षण Archaic features
पुराविद् Antiquarian
पुरुष Being
पुरुषार्थ Aim of man
पुरोहित Domestic priest, priest
पुल्लिग Masculine
पुष्टि Confirmation
पुष्पिका Colophon
पुस्त Model work
पूर्वगामी Precursor
पूर्वग्रह Prejudice
पूर्वदिनांकित Antidated
पूर्वपरिस्थिति Antecedent
पूर्वरंग Preliminaries

पूर्वरूप Premonition
पूर्ववर्तिता Priority
पूर्ववर्ती Predecessor, antecedent, Prior
पूर्वसूचना Presage
पूर्वाधिकारी Predecessor
पूर्वाभासित Foreshadowed
पूर्वोक्त Former
पूर्वोदाहरण Precedent
पूर्वोपाय Precaution
पृच्छा Question
पेशा और व्यवसाय Profession and occupation
पैमाना Scale
पोतभंग Shipwreck
पोष्यपुत्री Foster-daghter
पौराणिक Mythical
पौराणिक कथा Legend
पौराणिक पात्र Mythical figure
पौरुष Manliness
प्रकरण Comedy of manners
प्रकरण Context, topic
प्रकरणिका Little bourgeois comedy
प्रकरी Incident
प्रकल्पित Devised
प्रकार Mode, type
प्रकारात्मक Typical
प्रकाशित होना Appear
प्रकृति Nature, temperament
प्रक्रिया Process
प्रक्षिप्त Interpolated
प्रक्षेप Projection
प्रगत Advanced
प्रगल्भता Courage

प्रगल्भा Bold, fully experienced
प्रगीत,
प्रगीतात्मक Lyric
प्रचलित Current, extant
प्रचार Propaganda
प्रच्छन्न-श्रवण Eaves' dropping
प्रजेता Champion
प्रज्ञा Judgement, talent
प्रणति Submission
प्रणय-कलह Quarrel between lovers
प्रणय-कोप Love quarrel
प्रणय-प्रसंग Amourette
प्रताप Splendour, Valour
प्रति Copy
प्रतिकार करना Counteract
प्रतिकूल Adverse
प्रतिकृति Copy, reproduction
प्रतितुलन Counterpoise
प्रतिद्वंद्विता Contest, rivalry
प्रतिनायक Enemy of the hero
प्रतिनिधि Representative
प्रतिनिधान करना Represent
प्रतिनिहित Represented
प्रतिपादन Exposition
प्रतिबंध Restriction
प्रतिबद्ध Restricted
प्रतिबिंबित Reflected
प्रतिभा Imagination, genius
प्रतिमा Image, statue
प्रतिमान Model
प्रतिमुख Progression
प्रतियोगिता Competition
प्रतियोजना Counter-plot
प्रतिरुद्ध Obviated
प्रतिरूप Counterpart, parallel, representative
प्रतिरूपण Representation
प्रतिरूपण करना Represent
प्रतिरूपित Represented
प्रतिरोध Resistance
प्रतिलिपिक Copyist
प्रतिलेख Transcript
प्रतिलोम Reverse
प्रतिवर्त Reflex
प्रतिवाद Contention
प्रतिवाद करना Contradict
प्रतिषेध करना Forbid
प्रतिष्ठापित Established
प्रतिष्ठित प्रकार Standing type
प्रतिस्पर्धा Rivalry
प्रतीक Sign, symbol
प्रतीति Apprehension, perception
प्रतीति-योग्य Cognizable
प्रतीहार, प्रतीहारी Doorkeeper
प्रत्यक्ष Direct, obvious
प्रत्यक्ष Perception
प्रत्यक्षतः Prima facie
प्रत्यभिज्ञान Identification, recognition
प्रत्यय Suffix
प्रत्यर्पण Restoration
प्रत्याख्यान Denunciation
प्रत्याख्यान करना Contradict
प्रत्यायक Convincing
प्रत्यास्मरण करना Recall
प्रथा Custom
प्रथित Celebrated

प्रदक्षिणा Perambulation
प्रदर्शन,
प्रदर्शनी Exhibition
प्रदर्शन करना Display
प्रदर्शित Exemplified
प्रबोध Knowledge
प्रभाग Section
प्रभाव Effect, influence
प्रभावान्विति Total effect
प्रभुता,
प्रभुसत्ता Sovereignty
प्रभुत्व Control
प्रभेद Distintion
प्रभेदक Distinctive
प्रमा Knowledge
प्रमाण Mode of knowledge
प्रमाण-शक्ति Probative power
प्रमाणाभासरूप Plansible
प्रमाणित
करना Attest, prove, testify
प्रमाद Negligence
प्रमुख Leading
प्रयाण March
प्रयाण-गीत Marching song
प्रयोक्ता Performer
प्रयोग Action, practice, usage, use
प्रयोग करना Use, represent
प्रयोगातिशय Excess of representation
प्ररोचना Propitiation
प्रलय Fainting
प्रलाप Raving
प्रवर्तक Founder, author
प्रवर्तन Operation
प्रवर्तनशील Operative
प्रवहण Car, vehicle
प्रवास Absence
प्रविधि Technique

प्रवेश Admission, entry, introduction
प्रवेशक Prelude
प्रवृत्त होना Engage
प्रवृत्ति Activity, tendency, trend
प्रशस्ति Eulogy, panegeric
प्रसंग Connection, context, episode, incident
प्रसन्न मुद्रा Glad appearance
प्रसाद Clearness, perspiquity, simplicity
प्रसादगुणपूर्ण Simple and clear
प्रसाधन Toilet
प्रसामान्य Normal
प्रसिद्धि Commonplace
प्रस्ताव Proposition
प्रस्तावना Prelude, prologue
प्रस्तावित Proposed
प्रस्तुत वस्तु Event near at hand
प्रस्तुतीकरण Exposition, presentation
प्रस्थान Exit
प्रस्थापना Thesis
प्रहर्ष Raillery
प्रहसन Farce
प्रहेलिका-रूप Enigmatic type
प्राकार Rampart
प्राक्कल्पना Hypothesis
प्राक्तनमा-
र्गानुसारी Primitive
प्राचीनतर Older
प्राणदंड Sentence of death
प्राणांतक Mortal
प्राणिजगत् Animal world
प्राणी Being
प्रातिपदिक Stem
प्राथमिक Primary
प्राथमिकता Priority

प्राप्य Due
प्रामाणिकता Authenticity
प्रायोजक Sponsor
प्रायोजना Project
प्रावारक Cloak
प्राश्निक Critic
प्रासंगिक Incidental
प्रासंगिक वृत्त Episode
प्रियंवद Affable
प्रिय, प्रिया Beloved
प्रियोक्ति Compliment
प्रीति Pleasure
प्रेक्षकोपवेश Place for the audience, auditorium
प्रेक्षागृह Play-house, auditorium, theatre
प्रेतकर्म Funeral rite
प्रेमलीला Flirtation
प्रेम-व्यापार Intrigue
प्रेरणार्थक Causative
प्रेरित करना Induce, inspire
प्रोद्धरण Citation
प्रोद्धृत Cited
प्रौढ़ Advanced, self-assertive
प्रौढ़ता Maturity
फल (अधिकार) Attainment
फलित-ज्योतिप Astrology
फुलवारी Park
फलागम Ending
वंदरगाह Port
वंदीकरण Imprisonment
वंदी-जन Panegyrist
वँधे-वँधाये ढंग का Setreotyped
वदले का Compensatory
दीर्घभाव lengthening
वल देना Emphasize
वलाघात Accent
वलिवेदी, वध्यशिला Place of offering
वहिष्कारा-वृत्ति Exclusiveness
वहुपत्नीक Much married
वहुपत्नी-कता Polygamy
वहुमान Appreciation
वहुव्याप्त Wide-spread
वाजीगरी Jugglery
वाला Maiden
वालिश Childish
वाहरी चौकी Outpost
विंदु Drop
विंव Image, orb
विंव-विधान Imagery
विठा देना Fit
वीज Germ
वीज-रूप में In nuce
वीभत्स रस Sentiment of horror, sentiment of odium, horrible sentiment
वुद्धि Intellect, intelligence, mind
वुद्धिगम्य Intelligible
वुद्धिगम्यता Intelligibility
वुद्धि-सामर्थ्य Genius
वुद्धि-सूक्ष्मता Ingenuity
वूर्जुआ Bourgeois
वेतुका Incongruous
वोलचाल Speech usage
वोली Dialect
वौद्ध त्रिपिटक Buddhist canon
वौद्धधर्मदर्शन Buddhism
वौद्धिक दृष्टिकोण Mental outlook
ब्रह्म Supreme Being

ब्रह्मचर्य Religious pupilship
ब्रह्मचारी Religious pupil, student
ब्रह्मवाद Doctrine of the Absolute
ब्रह्मांड-रचना Cosmic creation
ब्राह्मणजातीय, ब्राह्मणवादी Brahminical
ब्राह्मण-व्यवस्था Brahminical order
भंगिमा Posture
भक्ति Trust
भक्ति-परायणता Devotional fervour
भगोड़ा Runaway
भयानक रस Sentiment of fear, violence
भरतवाक्य Final benediction
भर्त्सना Admonition, reproach, upbraiding
भविष्य-विप्रलंभ Coming parting of lovers
भविष्यवाणी Prophesy
भांड-वाद्य Wind-instrument
भाण Monologue
भाभी Sister-in-law
भारती वृत्ति Verbal manner
भाराक्रांत करना Encumber
भाव Emotion, display of emotion, state of feeling, sentiment
भावकत्व-शक्ति Power of enjoyment
भावना feeling, spirit, sentiment
भावना-शक्ति Generic power
भाव, विरुद्ध Diverse sentiment
भावावेग Passion

भावुकतापूर्ण Sentimental
भावोद्बोधन Creation of sentiment
भाषा Speech, language
भाषा-व्यतिक्रम Transformation of language
भाष्यकार Commentator
भिक्षु Monk
भित्ति-चित्र Fresco
भिन्नता Divergence
भूमि Stage
भूमिका Part, rôle
भूमिगत Subterranean
भूर्जपत्र Birch-bark
भेंट Interview
भेद्य Vulnerable
भोग Fruition
भोजकत्व Power of realization
भौतिक Material
भ्रमण Excursion, visit
भ्रष्ट Corrupt
भ्रांति Illusion, mistake
भृत्य Courtier, mercenary
मंगलश्लोक Verse of benediction
मंडल Book, circle, orb
मंडली Group
मंडूक-सूक्त Frog hymn
मंत्र Hymn, magic art, magic formula, magic spell
मंत्री Minister
मकरसंक्रांति Winter solstice
मणिकार Jeweller
मत Belief, doctrine, dogma
मत्तवारणी Varanda
मत-परिवर्तन Conversion
मतांतर Variant theory
मतांधता Fanaticism

मति Assurance, reason
मतैक्य Agreement
मद Intoxication, pride
मदनमहोत्सव Spring festival of Kāma
मदिरा Alcohol
मद्य (पान) Drinking
मधुर Handsome
मध्यम Medial, of middle rank
मध्यमावस्था Mediocrity
मध्यस्थ Arbitrator
मध्यस्थता Intercession
मध्यस्थ-निर्णय Arbitration
मध्यांतर-दृश्य Entr' acte
मध्या Partly experienced
मध्यावकाश Interval
मध्यावस्था Intermediate stage
मन Mind, spirit
मनोज्ञ Pleasant
मनोभाव Sentiment
मनोविनोद Amusement
मनोवृत्ति Temper
मनोराज्य Building of castles in the air
मनोवेग Emotion
मनोवैज्ञानिक Psychological
मरण Death
मर्त्य Mortal
मल्ल Wrestler
मसी Lamp black
महाकाव्य,
महाकाव्यात्मक Epic
महाकाव्य-पाठक Rhapsode
महाचारी Violent movements
महादेवी Chief queen
महान् धर्म Great law
महानृत्य Cosmic dance
महाप्राण Aspirate
महाभैरवी Demoness
महामांस-विक्रय Offering of fresh flesh
महामोह Confusion
महोत्साही Indefatigable
मांस (भक्षण) Flesh-eating
मातम Mourning
मातृभक्ति Obedience to mother
मात्रा Length, mora
मात्रिक Measured by morae
माधुर्य Elegance, melody, sweetness, grace
माध्यम Medium
मान Just pride, resentment
मानक Norm
मानभंग Humiliation
मानवजातिविज्ञान Ethnology
मानवजातिविज्ञान-संबंधी Ethnological
मानवीकरण Personification
मानसिक Psychic
मानसिक अवस्था Psychic state
मानसिक पीड़ा Tribulation of spirit
मानिनी Disdainful
मान्य Recognized, tenable
मान्यता Recognition, validity
मान्यपंडित Authority
मामा Uncle
माया Illusion, magic
माया-पाश Magic-noose
माया-मुद्रिका Magic ring
माया-मृग Magic gazelle
मायावी Adept in magic arts
माया-शक्ति Magic power
मायिक आयुध Magic weapon

मारि Slaughter
मार्मिक Vital
माल Cargo
माला Series
मालोपमा Series of similes
मिथुन Pair
मिथ्या-दृष्टि Heresy
मिला-जुला Composite
मिश्रित Blended
मीन-कंटक Fish-bone
मीमांसा Exegesis
मुकुटमणि Jewelled diadem
मुख (संधि) Opening
मुखौटा Mask
मुख्य-कथापुरुष Chief subject
मुख्य भाव Leading idea
मुख्य रस Leading sentiment
मुग्ध करना Fascinate
मुग्धा Inexperienced
मुद्रा Seal
मुष्टियुद्ध Boxing
मुष्टियोद्धा Boxer
मूक-अभिनेता Mummer, pantomime
मूकनाट्य Mummery, pantomime
मूर्त Concrete
मूर्धन्य Cerebral
मूर्धन्यीकरण Crebralize
मूल Origin, root; original, primary
मूलकारण Ultimate origin
मूलतत्त्व Essentials
मूलभूत, मौलिक Fundamental
मूल्यांकन Estimate
मृदव Mildness
मृदु Courteous
मेरुमंदर Mountains of the gods
मेल खाना Accord
मैत्री Harmony
मोक्ष Release
मोदक Cake
मोह Destraction, fatuation
मोहन-मंत्र Love-charm
मोहराज Confusion
मौग्ध्य Naïveté
मौलिक Original
मौलिकता Originality
मौसा Aunt's husband
मौसेरी बहन Causin
यक्ष Demi-god
यज्ञ Sacrifice
यज्ञविद्या Cult
यज्ञोपवीत Sacred thread
यत्न Exertion
यथारीति Usual
यथार्थ Genuine, real
यथार्थ और आदर्श Real and ideal
यथार्थतः Genuinely
यथार्थता Reality
यथार्थवाद Realism
यम Death
यमक Alliteration
यवनिका Curtain
यांत्रिक Mechanical
याज्ञिक Sacrificial
याज्ञिक उपयोग Ritual use
यात्रा Procession
युक्त Apt
युक्ति Artifice, device, ingenuity, reason, reasoning
युग Age, date
युद्धोत्साह Heroism
युवराज Heir apparent

योगदान Contribution
योगदान करना Contribute
योगी Adept, magician
रंग-निर्देश Stage direction
रंगपीठ Stage platform, stage
रंगमंच Stage
रंग-मंडप Play-house
रंगशाला Theatre
रंगोपजीवी Player
रक्षक Guardsman
रगण Amphimacer
रचना Composition, structure
रजोगुण Element of passion
रजोगुणी Passionate
रणोत्साह Courage in battle
रति भाव Erotic sentiment, love, desire
रति-संभोग Pleasure of love
रमणीयता Charm, sweetness
रस Sentiment
रसज्ञता Taste
रस-निष्पत्ति Creation of sentiment
रस-प्रतीति, रस-भावना Realization of sentiment
रस-सामग्री Aesthetic equipment
रसांतर Distracting attention
रसात्मक Effective
रसायन Elexir
रसास्वाद Aesthetic pleasure
रसास्वाद करना Appreciate
रसास्वादन Appreciation of sentiment, appreciation
रहस्य Mystery
रहस्यमय वचन Truant words
रहस्य-रूपक Mystery play
राग Mode of music
राग-रागिनी Modes of singing
राजधर्म Duty of a king
राजनय Diplomacy
राजनीति Politics
राजनैतिक Political
राजनैतिक योजना Political combination
राजपद Kingship, imperial rank
राजप्रतिनिधि Viceroy
राजभक्ति Loyalty
राजभाषा Official language
राजमर्मज्ञ Statesman
राजर्षि Royal sage
राजवंश Dynasty
राजसभासद् Courtier
राजसेवक Officer
राजस्व Revenue
राजासन-मंच Royal box
राज्यतंत्र Polity
राज्यपाल Governor
राज्यभ्रंश Deposition
राज्याभिषेक Cornation
राज्यसात् करना Confiscate
राशिचक्र Zodiac
राशिफल-संबंधी Judicial
राष्ट्रभावना National spirit
राष्ट्रीय National
रास Ballet
रासलीला Erotic game
राहु Demon of eclipse
रिक्थ Inheritance
रीति Fashion, manner, style

रीतिवद्ध Usual, regular
रीतिमुक्त Irregular
रीति-रिवाज Practices and customs
रुदन Lamentation
रूढ़ Conventional, established
रूढ़ि Convention
रूढ़िवद्ध Stereotyped
रूढ़िवद्धता Conservation
रूप Aspect, fashion, form
रूपक Drama, metaphor
रूपक-प्रकार Dramatic type
रूपगत दोष Defect in form
रूप चलाना (क्रिया का) Conjugate
रूपचित्र Portrait
रूपचित्रण Portrayal
रूप देना Fashion
रूप-भेद Variant
रूपभेद करना Modify
रूपांतर Adaptation, version
रूपांतरण Transformance
रूपांतरित करना Transform
रूपाजीवा Courtesan
रूपात्मक Formal
रूपात्मक भेद Formal distinction
रेखा Line
रेखाचित्र Sketch
रोचक Interesting, lively
रोपना Plant
शोभन-वेष Fairly attired
रोमश Bushy
रोमांच Horipilation
रोषपूर्ण Indignant
रोशनी करना Illuminate
रौद्रता Harshness
रौद्र-रस Sentiment of fury, terror, violent emolution

लक्षण Mark, trace, trial, sign
लक्षणा Indication by speech
लघूकृत Reduced
लङ् Imperfect tense
लय Rhythm
ललित Gay, light-hearted
ललित Light-heartedness
ललित कला Pleasing art
ललित अंगहार Grace of form
लाक्षणिक Metaphorical
लालित्य Grace, elegance
लिंग Gender, sex
लिंग-पूजा Phallic orgies
लिंगमूलक Phallic
लिपिक, लिपिकार Scribe
लीला-भाव Sportive mood
लुप्त Elided
लुप्त होना Disappear
लेखांश Passage
लेखांश-माला Sets of extracts
लेखा Record
लोकधर्मी Popular, mundane
लोकपाल World guardian
लोकप्रचलित पर्व Popular festival
लोकमत Common opinion
लोक-रूढ़ Popular
लोकोक्ति Proverb
लोकोत्तर Transcendal
लोग People
लोप Eliding, loss
लोप करना Omit
लौकिक Popular
लौकिक आनंद normal pleasure
वंटन (बँटवारा) Distribution
वंदना Salutation
वंश Family, line, stock

वंशज Descendant
वंशानुगत Hereditary
वंशावली Geneology
वक्ता Speaker
वक्रोक्ति Reparttee, double entendre, equivocalism
वक्रोक्तिपूर्ण वचन Equivoke
वचन Promise
वज्र Adamant
वज्रलेप से जोड़ना Cement with adament
वणिक् Merchant
वधू Newly made bride
वनदेवता, वनदेवी Spirit of the wood
वनस्पति-याग Vegetation ritual
वर्ग Class, genus, square
वर्ण Caste, colour
वर्णन करना Narrate
वर्ण-व्यवस्था Rules of caste
वर्ण-संकर Mixed caste
वर्णिका, वर्ण Pigment
वर्तिका Pencil
वलय Bracelet
वल्कल Bark
वश्यवाक् Master of eloquence
वसंतोत्सव Spring festival
वस्तुविचार Contemplation
वस्तु-विधान Management of plot
वाक्केली Repartee
वाक्पटु Ready of speech
वाग्दत्त Fiance
वाग्व्यापार Voice
वाङ्मय Belless letters
वाचिक (अभिनय) Speech
वाचिक हास्य Comic in speech
वाणी Speech
वाणी की उदारता Elevation of expression
वातावरण Milieu
वात्सल्य Natural affection, tander emotion
वादपद Issue
वाद-विवाद Dibate
वादानुवाद Controversy
वादावसान Nonsuit
वाद्य Music
वाद्य की गत पर Accompanied by music, to music
वाद्यवृंद Orchestra
वार्तालाप Conversation
वार्तालाप करना Converse
वासना-रूप से स्थित स्थायी Emotional complex
वास्तविक Actual, genuine
वास्तविकता Genuineness
वास्तुशिल्प Architecture
विकत्थन Egotism
विकत्थनभट, शकार Miles gloriosus
विकल्प Dilemma
विकास Growth, unfolding
विकासशील Nascent
विकृत Modified
विक्षेप Distraction, movement to and fro
विचार Thought, idea
विचार-क्रम Train of thought
विच्छिन्न Isolated
विट Parasite
विडंबना Mocking
वितर्क-बुद्धि Questioning mind
विदग्धता Ingenuity

विदग्धतापूर्ण Ingenious
विदग्धप्रयोग Manoeuver
विदूषक Jester
विद्या Learning, Judgment, science
विद्रव Tumultous action
विद्रोही Rebel
विधर्मी Heretic
विधि Law, method, ritual
विनिमय Exchange
विनियमित Regulated
विनियोग करना Appropriate, employ
विनीत Modest, courteous
विनीतता Politeness, submission
विनोद Mirth
विनोद और परिहास Wit and humour
विनोदी Witty
विपर्यय Inversion
विपरीत Contrary
विप्रयोग Sundering
विप्रतीप Perverse
विप्रलंभ Love in suparation
विबोध Awakening
विभाजन Division
विभाव Determinants
विभाषा Dialect
विभेद Discrimination
विभेद करना Discriminate
विभ्रम Studied confusion
विमान Magic car
वियोग-विधुर Desolated
विरल Rare
विरलीकरण Rarefy
विराम Pause
विरूप करना Disfigure
विरोध Conflict, objection
विरोधमूलक Paradoxical
विलक्षण Curious, bizarre
विलय करना Merge
विलाप Lament
विलास Vivacity
विलास-युक्त Voluptuous
विलासिनी Maiden of the court
विलासी Courtier
विवक्षित अर्थ Signification
विवरण Description, detail, version, report
विवरण देना Describe
विवरणात्मक Descriptive
विवाद करना Dispute
विवाह-मंडप Nuptial chamber
विवाह-संस्कार Marriage ritual
विविध Miscellaneous
विविधता Variety
विवेक Discrimination, examination
विवेकचंद्र Discrimination
विशद Vivid
विशदता Purity
विशारद Skilled
विशिष्टता Characteristic, merit, distinction
विशिष्ट-पदयोजना Diction
विशेषता Feature, speciality, characteristic
विश्लेषण Analysis
विश्वकोश Encyclopaedia
विश्वजनीन Cosmopolitan
विश्व-नागरिक Citizen of the world
विश्वरूप Manifestation
विश्व-व्यवस्था World order
विश्वास Conviction
विश्रंभालाप Confidence

विश्रांत — Entirely free from desire
विपकन्या — Poison girl
विपम-अलंकार — Figure of discrepancy
विपम वृत्त — Irregular form, irregular stanza
विपय — Object, subject, topic, object of desire, theme
विपय-क्षेत्र — Scope
विपय-प्रवेश — Introduction
विपयावेग — Sensual passion
विपाद — Depression, despair
विष्कंभक — Interlude
विष्कंभक, प्रवेशक — Introductory scene
विसंगति — Discrepancy
विसंवादी — Disparate
विसदृश — Unlike
विसर्जन करना — Lay away
विस्तार — Extension, expansion
विस्तृत — Elaborate
विस्तृत-विवरण देना — Dilate
विस्थित — Superseded
विस्मय — Astonishment
विस्मयादि-बोधक — Interjection
विस्मयजनक — Curious
विहार — Monastery
विहित — Lawful, legitimate, prescribed
वीथी — Gallery ; garland
वीर — Heroic
वीरता — Courage
वीर-भाव — Martial spirit
वीर-रस — Heroic sentiment
वीरोचित कार्य — Heroics
वृंदगान — Chorus
वृत्त — Action, circle, orb
वृत्तांत — Account
वृत्ति — Career, profession; commentary; manner, style
वृद्धि और विकास — Growth and development
वेणी — Plait
वेद — Sacred texts
वेदांतविद्या — Theology
वेपथु (कंप) — Trembling
वेप, वेश — Costume
वेश्याव्यसन — Concubinage
वेप-नर्म — Comedy of costume
वैकल्पिक — Alternative
वैतालिक — Bard, herald
वैदग्ध्य — Wit
वैदग्ध्य-प्रयोग — Intrigue
वैदिकरचना — Vedic text
वैदिकसंहिता — Vedic Text
वैद्य — Dector, physician
वैध — Legal
वैधता — Legality
वैयक्तिक — Private, individual
वैयक्तिकता — Individvality
वैयाकरण — Grammarian
वैयासिकी सरस्वती — Doctrine of Vyāsa
वैराग्य — Freedom from passion
वैवर्ण्य — Change of colour
वैशिक — Connoisseur of hetaerae
वैशिष्ट्य — Characteristic
वैपम्य — Contrast

हिन्दी	English
वैषम्य-चित्रण करना	Contrast
वैस्वर्य	Change of voice
व्यंग्य	Suggestion
व्यंग्योक्ति	Satire
व्यंजकता	Suggestiveness
व्यंजन	Consonant
व्यंजन-संधि	Consonantal combination
व्यंजना	Suggestion
व्यंजना-शक्ति	Power of suggestion
व्यक्त	Explicit
व्यक्त करना	Express
व्यक्ति	Individual, person
व्यक्तिता	Individuality
व्यक्तित्व	Personality
व्यक्तिवाचक नाम	Proper name
व्यतिक्रम	Deviation, variation
व्यवसाय	Business, occupation
व्यवसायी	Professional
व्यवहार	Usage, practice, law
व्यवहार-सिद्ध	Sanctioned by usage
व्यसन	Vice
व्याकरण	Grammar
व्याख्या	Explanation, interpretation
व्याख्या करना	Explain, interpret
व्याख्याता	Interpreter
व्याघात	Interruption
व्याधि	Complaint, sickness
व्यापार	Action, function, trade
व्यापारी	Merchant
व्यामोहित	Reduced to confusion
व्यास	Diameter
व्युत्पत्ति	Etymology, aesthetic equipment
व्रत	Vow
व्रीड़ा	Shame
शंका	Apprehension
शकुन	Presage
शक्ति	Power, potency
शक्ति-रूप से	Potentially
शक्ति-रूप से स्थित रस या भाव	Potential emotion
शठ	Deceitful
शपथ	Oath
शपथ लेना	Swear
शब्द	Term, word
शब्दकोश	Lexicon
शब्दक्रीड़ा	Paronomasia
शब्द-गुण	Quality of sound
शब्द-चित्र	Word painting
शब्द-प्रयोग	Expression
शब्दाडंबरपूर्ण	Sonorous
शब्दानुशासन	Grammar
शब्दालंकार	Figure of sound, figure of speech
शम	Calm
शयनगृह	Bedchamber
शय्या	Couch
शरण	Refuge
शरद्	Autumn
शर्त	Term
शलाका	Pencil
शांत, शांति	Calm
शांति	Piety
शाखा	School
शाब्दिक	Philological
शाब्दिक विवृति	Literal interpretation
शारीरिक	Manual
शाश्वत	Eternal
शासन-सूत्र	Rein of government
शास्त्र	Science, Theory
शास्त्रकार	Theorist
शास्त्रज्ञ	Skilled in sciences
शास्त्र-ग्रंथ	Text-book

शास्त्रत: Theoretically
शास्त्रार्थ Polemic
शास्त्रीय Technical, formal
शास्त्रीय नियम Formal rule
शास्त्रीय प्रणाली Scholastic fashion
शास्त्रीय रूप Formal version
शाही पूर्वज Royal ancestors
शिक्षक Teacher
शिक्षा Instruction
शिखा Tuft of hair
शिरस्त्राण Helmet
शिलाभिलेख Epigraphic record
शिलालेख Inscription
शिलालेख-भाषा Epigraphic language
शिल्पकार, शिल्पकारी Artiste
शिल्पिका Work woman
शिविर Camp
शिष्टाचार Courtesy, etiquette
शिष्य Disciple, pupil
शील Character
शुक्ल Bright
शुचिता Chastity
शुद्ध Pure
शुद्ध गान Song proper
शूर Hero
शूली Impalement
शृंखला Series
शृंगार-रस Erotic sentiment
शृंगारिक Voluptuous
शैतान Devil
शैली Style, genre, character
शैलीबद्ध Stylized
शोक Sorrow, tragic sentiment
शोकगीत Dirge
शोभा Brilliance
शौर्य courage
श्मशान Cemetery
श्याम Dark
श्रद्धा Faith
श्रम Weariness
श्रमपूर्वक निष्पादित Elaborate
श्राद्ध Sacrifice for the dead
श्रुति-नीति Human and divine affairs
श्रेष्ठ Superior
श्रेष्ठता Preeminence
श्रेष्ठी Guildsman
श्लिष्ट उक्ति Equivocalism
श्लेष Pun, *Paronomasia*
श्लेष Natural flow
श्लोक Verse
षड्यंत्र *Plot*
षोडशधा Sixteenfold
संकलन Compilation
संकल्प Determination, Purpose, will
संकल्प करना Determine
संकल्पना Conception
संकल्पना करना Conceive
संकीर्ण Mixed
संकेत Allusion, hint, indication
संकेत Tryst
संकेत-मिलन, संकेत-स्थल Rendevous
संकेतित Expressed
संक्रमण Transition
संक्रमण-कालीन Transitional
संक्षिप्त Abbreviated

संक्षिप्त रचना — Immediate construction
संक्षेप — Abbreviation, summary
संगणना — Reckoning
संगति — Consistency, harmony
संगीत — Music
संगीत-गोष्ठी — Concert
संग्रह — Anthology
संघ — Fraternity, order
संघटक — Constituent
संघनित — Condensed
संघ-भेदन — Breach of alliance
संघर्ष — Conflict
संचारी — Transient
संचारी भाव — Evanescent feeling, transitory feeling, transitory state, associated state
संजल्प — Nonsense
संजीवन-मंत्र — Magic spell to revive the dead
संज्ञा — Noun, title, style
संज्वर — Fever
संतोष — Acquiescence, contentment
संदर्भ — Context, reference
संदिग्ध — Implausible
संदेहवादी — Sceptical
संधि — Contraction, juncture
संधि (वार्ता) — Peace negotiation
संध्यंग — Division of juncture, element of the development
संध्यंतर — Special juncture
संनिवेश करना — Introduce
संन्यास — Life of calm
संन्यास लेना — Retire
संन्यासी — Ascetic
संपर्क — Contact
संपत्ति — Porperty
संपात — Coincidence
संपूर्ति करना — Supplement
सँपेरा — serpent-charmer
संप्रदाय — Cult, sect, school
संप्रसारित — Epenthetic
संप्रेषण करना — Direct
संबंध-कारक — Genetive
संबोधन — Addressing
संबोधन-कारक — Vocative
संबोधित करना — Address, apostrophise
संभव — Possible
संभाव्य — Probable
संभाषक — Interlocutor, speaker
संभोग-शृंगार — Love in enjoyment
संभ्रम — Accident, confusion
संमत — Allowed
संमति — Assent
संमान — Compliment
संमिलित — Combined
संयुक्त — Conjunct
संयोग — Union, coincidence
संयोगवश — Incidentally
संयोग-शृंगार — Love in union
संयोजन — Combination
संयोजित — Wielded
संरक्षक — Guardian, patron
संलाप — Dialogue
संवत् — Era
संवाद — Dialogue, conversation
संवाद, सूचना — Report
संवादी होना — Correspond
संवाहक — Shampooer

संविधान करना	Constitute
संवेदन	Perception
संशयालुता, संदेहवाद	Scepticism
संशोधित	Revised
संश्रय	Alliance
संश्रित	Allied
संश्रित राजा	Ally
संस्करण	Edition, recension
संस्कार	Impression, rite, sacrament
संस्कृत-व्याकरण	Classical grammar
संस्कृति	Culture
संस्थापक	Founder
संस्मरण, संस्मृति	Reminiscence
संस्वीकृति	Confession
सकारात्मक	Positive
सक्रियता	Activity
सखी	Maiden
सगी ममेरी वहन	Full cousin
सचेत	Conscious
सच्चरित्र	Good Conduct
सज्जा-सामग्री	Equipment
सतर्क	Alert
सत्ययुग	Golden Age
सत्त्व (गुण)	Element of goodness, element of truth
सत्त्व	Virtue
सदस्य	Member
सदाशय	Well-meaning
सदृश उदाहरण	Parallel
सदोप	Fallacious
सनातन धर्म	Ancient law
सपाट	Flat
सबल	Strong
सबल अंग	Strong base
सभासद् (अतिथि)	Guest
सभ्यता	Civilization
समंजस	Harmonious
समकरण	Equalisation
समकालीन	Contemporary
समझना	Comprehend
समता	Homogeneity
समतुल्य	Parallel
समदर्शी	Impartial
सममिति	Symmetry
समय-सारणी	Time-table
समरूप	Analogous, equivalent, parallel
समरूपता	Coincidence, similarity
समरूप होना	Correspond
समर्थक प्रमाण	Corroboration
समर्थन	Support
समर्पण	Resignation
सववर्गी	Allied
समवेत-गान	Chorus
समवेत-वादन	Instrumental concert
समव्युत्पत्तिक	Doublet
समसामयिक	Contemporaneous, contemporary
समसामयिकता	Contemporaneity
समांतर	Parrallel
समागम	Union
समाज	Concourse, festival
समानता, सादृश्य	Parallelism
समान रचना	Identic structure
समानुभूतिपूर्ण	Sympathetic
समाधान	Solution
समाधि	Concentration, meditation

समाधि Metaphorical language
समाधि-दशा State of trance
समारोह Ceremonial, party
समास Compound
समासोक्ति Equivocal speech, deliberate equivocation of phrase
समाहित मन से उत्पन्न Involuntary product
समीकृत करना Equate
समेकन Fusion
सरसता Piquancy
'सरस्वती' Doctrine
सरूपता प्रदर्शित करना Portray
सरोवर Sea
सर्ग Canto
सर्वव्यापी Universal
सर्वशक्तिमान् Omnipotent
सर्वात्मवाद Animism
सर्वोच्च Supreme
सर्वोत्कृष्ट कृति Masterpiece
सहचर, सहचरी Confidante
सहजबुद्धि Instinct
सहपलायन करना Elope
सहमति Consent
सहयोगी Collaborator
सहानुभूति-मूलक Sympathetic
सहायक Tributory
सहृदय Cultivated spirit, man of taste
सांगीत Opera
सांगीत-पाठ Libretto
सांघात्य Breach of alliance
सांचा Pattern
सांनिध्य Proximity
सांप्रदायिक Sectarian
साक्षात् Direct
साक्षात्कार Interview, visit
साक्षात् स्वयं In propria persona
साक्षी Witness
साक्ष्य Evidence, testimony
सात्त्वती वृत्ति Grand manner
सात्त्विक अभिनय Expression
सात्त्विक भाव Physical counterparts of feelings and emotions
साथी comrade
सादृश्य Parallel, similitude
साधन Means, source
साधन-तंत्र Machinery
साधारण क्रिया Simple verb
साधारण स्त्री, साधारणी Woman common to all
साधारणीकरण Generic action
साधारणीकृत Appropriated as universal, universal
साधारणीकृत, स्वनिरपेक्ष Impersonal
साधारणी कृति Generic action
साधर्म्य Similarity of characteristics
साध्य End
सापेक्ष Relative
सामंजस्य Harmony
सामंत Vassal prince
सामंती Bourgeois
साम Conciliation
सामरस्य Harmony
सामाजिक रीति Manners

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१८	Phallie	Phallic
६	अंतिम	Suparṇarage	Suparṇasage
२१	१०	बेवर	वेवर
२६	१२	बर्णान्यित्वम्	वर्णान्यित्वम्
३७	२४	ब्राह्मणेत्तर	ब्राह्मणेतर
५३	७	सिकंदरिता	सिकंदरिया
५४	२२	के माल को	को माल की भाँति
६३	११	चाटन	चष्टन
६७	१८	प्रगती	प्रगीत
७८	१६	शृण्वन्पुष्पा	शृण्वम्पुष्पा
७८	२२	[illegible]	घोषीकरण
७८	२७	र्जं	यँ
८०	१७	मड्ड	मद्द
१०३	१४-१५	घण्णा	धण्णा
१०३	१५	सञ्ञाविदा	सञ्ञाविदा
१०४	२६	पञ्चराज	पञ्चरात्र
१०५	५	,,	,,
१०७	१७	,,	,,
११७	२१	ज्ज	ञ्ञ
११८	१०	अत्ताणअं	अत्ताणअं
११९	११	पञ्चराज	पञ्चरात्र
१२४	२-३	सौमिल	सौमिल्ल
१२४	५-६	सौमिल	सोमिल
१४०	१५	पृथ्वीराज	पृथ्वीधर
१४१	११	हारिणी	हरिणी
१७५	२०	ने रुमण्वान्	रुमण्वान् ने
१८५	१९	हारिणी	हरिणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८७	२६	शांतिभिक्षु	शाक्यभिक्षु
१८८	२३	शिक्षापाद	शिक्षापद
१९५	११	गृद्धों	गृध्रों
१९८	अंतिम	Matrgupta	Mantragupta
२११	४	हारिणी	हरिणी
२६४	२७	गंगादासप्रतापविलास	गङ्गदासप्रतापविलास
२६८	७	यशदेव	यशःपाल
२६८	१२	महावीरविहार	कुमारविहार
२७१	२०-२१	सदृक	सट्टक
२७६	१०	हर्रसिह	हरिसिंह
२८०	११	चंद्रावली	चंद्रावती
२८६	४	सीता	द्रौपदी
२८९	६	वन्द्रिका	गोपालकेलिचन्द्रिका
३०६	१	[illegible]ारण	दशपुर
३१७	११	मायूरराज	मायूराज
३३१	१६	स्वभावतः	स्वभावज
३५०	२२	संफट	संफेट
३८८	४	शलूए	शैलूष